श्री गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति-ग्रन्थ

सम्पादक

डा० पन्नालाल साहित्याचार्य,

नीरज जैन, एम ए

⊙

प्रकाशक

श्री भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

⊙

वर्णी जन्म शताब्दी २०३१ विक्रमाब्द,

वीर निर्वाण स० २५००, सन् १९७४ ईस्वी

प्रकाशक
डा. पन्नालाल साहित्याचार्य
मन्त्री
भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

मूल्य
पच्चीस रुपया

मुद्रक
सिघई प्रिंटिंग प्रेस
मढ़ाताल, जबलपुर

श्रद्धासुमन और संकल्पपूर्ति

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् ने लगभग पांच वर्ष पूर्व संकल्प किया था कि इस बीसवीं शती के अनेक शिक्षा-संस्थाओं के जन्मदाता, सैकड़ों विद्वानों की सन्तति के जनक और महान् आध्यात्मिक सन्त **श्री गणेशप्रसाद वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति)** महाराज की जन्मशती आश्विन कृष्णा ४ विक्रम संवत् २०३१ को समारोहपूर्वक देश में मनायी जाय और इस अवसर पर एक वर्णी स्मृति-ग्रन्थ का भी प्रकाशन किया जाय।

हमें प्रसन्नता है कि आश्विन कृष्णा ४ विक्रम संवत् २०३१ दिनांक ५ अक्टूबर १९७४ को देश के अनेक भागों में वर्णी शती के समारोह आयोजित हो रहे हैं और जनसमूह एवं विद्वद्वर्ग इस पावन प्रसङ्ग पर अपने श्रद्धासुमन, कृतज्ञता-स्वरूप, पूज्य वर्णीजी के प्रति समर्पित करने का आयोजन कर रहा है। बड़े प्रमोद का विषय है कि इसी अवसर पर यह **'वर्णी स्मृति ग्रन्थ'** भी प्रकट किया जा रहा है। वर्णीजी जितने महान् थे और उन्होंने जितने महान् कार्य किये उतनी कृतज्ञता का ज्ञापन तो इस छोटे से ग्रन्थ में नहीं हो पाया, फिर भी उनके महान् गुणों के प्रति अल्पानुराग एवं भक्तिका यह विनम्र प्रतीक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पूज्यश्री के जीवन की एक संक्षिप्त किन्तु सारपूर्ण झाँकी देने का प्रयत्न किया गया है। आशा है इस प्रयत्न से जहाँ हमने वर्णी जी की पावन स्मृति कर अपने को कृतार्थ किया वहाँ पाठक भी इस ग्रन्थ के माध्यम से उनका स्मरण करके लाभन्वित होंगे। हमारी उन्हें अनन्त श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित हैं।

दरबारी लाल कोठिया

अध्यक्ष

भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

प्रकाशक की ओर से

इस शताब्दी में पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी ने जैनधर्म और जैन समाज के उन्नयन में जो कार्य किया है उसका मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। उनके प्रति तो विनम्र मस्तक से कृतज्ञता ही ज्ञापित की जा सकती है। वर्णीजी की जन्म शताब्दी के पावन अवसर पर भारत वर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् का यह प्रकाशन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का एक लघु प्रयास मात्र है।

जैन शासनके संरक्षण और विद्वानोंकी सामयिक उन्नतिका उद्देश्य लेकर सन् १९४४ में वीरशासन महोत्सवके अवसर पर कलकत्ता में भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की स्थापना हुई थी। विद्वत्परिषद् अपनी कार्यप्रणाली से रुचिकर संस्था सिद्ध हुई। अल्प समय में ही अनेक विद्वान् उसके सदस्य हो गये। श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीकी छत्र-छाया में कटनी में इसका प्रथम अधिवेशन हुआ। अनेक सदस्य एकत्रित हुए और वर्णीजी की प्रेरणा पाकर उन्होंने चार हजार रुपये एकत्रित कर परिषद्का कार्य आगे बढ़ाया। श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसी ने अपने मन्त्रित्वकाल में संस्थाको अच्छी प्रगति दी। कटनी, मथुरा, सोनगढ़, बरुवा-सागर, सोलापुर, खुरई, द्रोणगिरि, मढ़िया, जबलपुर, ललितपुर, सिवनी, सागर और शिवपुरी में इसके अधिवेशन तथा श्रावस्ती और खतौली में नैमित्तिक अधिवेशन हुए। कार्यकारिणी की बैठकें अनेक स्थानों पर सम्पन्न हुईं। जहां भी अधिवेशन होते थे वहां का वातावरण आस्थामय तथा जागृति से युक्त हो जाता था।

विद्वत्परिषद्ने अपने सिवनी अधिवेशन में गुरूणां गुरु श्री गोपालदासजी बरैया की शताब्दी मनानेका प्रस्ताव पारित किया था। तदनुसार श्रीमान् स्व. डा. नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा के सम्पादन में ६०० पृष्ठ के गोपालदास बरैयास्मृतिग्रन्थका प्रकाशन करके दिल्ली में उक्त शताब्दी समारोह मनाया गया था। इस समारोहकी अध्यक्षता श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजी ने की थी। गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ एक ऐतिहासिक प्रकाशन सिद्ध हुआ और उसकी समस्त प्रतियां अल्प समय में ही समाप्त हो गयीं। विद्वत्परिषद् की ओर से भारतवर्ष के समस्त विश्व विद्यालयों को उसकी प्रतियां निःशुल्क भेजी गईं।

इसी शृङ्खला में विद्वत्परिषद् ने शिवपुरी में सम्पन्न रजतजयन्ती अधिवेशन के समय श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज का शताब्दी समारोह मनाने के लिये निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया था।

"आगामी सन १९७४ में पूज्य श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजका जन्म-शताब्दी समारोह अखिल भारतीय स्तर पर मनाया जाय। इसे 'वर्णि जन्म-शताब्दी समारोह-सप्ताह' या पक्ष के रूप में विविध कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न किया जावे। इस अवसर पर पूज्य श्री वर्णीजीके व्यक्तित्व, कृतित्व एवं विचारधारा से सम्बद्ध ग्रन्थ तैयार कराया जावे तथा उसका अच्छे स्तर पर प्रकाशन और प्रचार हो।"

अधिवेशनके उक्त प्रस्तावको क्रियान्वित करनेके लिये कार्यकारिणी ने पूज्य वर्णीजीके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालने वाले एक स्मृतिग्रन्थके प्रकाशनकी योजना बनायी। उसी योजना के अनुसार यह 'श्री गणेशप्रसाद वर्णी--स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित किया जा रहा है। इस ग्रन्थ में पूज्य वर्णीजी के प्रति श्रद्धालु भक्तजनों के हृदयोद्‌गार, पूज्य वर्णीजी का जीवनपरिचय, उनके प्रवचन तथा अन्य क्रियाकलापों का संकलन किया गया है। ग्रन्थकी सामग्रीको व्यवस्थित करने तथा सुन्दरतासे उसे प्रकाशित कराने में श्री नीरज जी ने पर्याप्त श्रम किया है। श्री नीरज जी पूज्य वर्णीजी के सम्पर्क में रहने वालों में से एक हैं। बहुत भारी श्रद्धा, वर्णीजीके प्रति इनके हृदय में है।

ग्रन्थके प्रकाशनमें आर्थिक सहयोगके रूपमें जिनसे जितना सहयोग प्राप्त हुआ है उनका आभार मानता हूं। विद्वत्‌परिषद्‌की ओर से इस समय श्रीमान् स्व. डा. नेमिचन्द्रजी शास्त्री आरा के द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' नामक ग्रन्थ दो हजार पृष्ठके चार भागों में प्रकाशित हो रहा है। इसका प्रकाशन भगवान् महावीर २५०० वें निर्वाण समारोह के उपलक्ष में किया जा रहा है। विद्वत्‌परिषद्‌ की समग्र शक्ति इसके प्रकाशन में लग रही है। फिरभी हमें हर्ष है कि हम यह प्रकाशन भी समय पर प्रस्तुत कर रहे हैं।

ग्रन्थ में प्रकाशित चित्रों में से गया के चातुर्मास के दोनों चित्रों के लिये हम डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी के अनुग्रहीत हैं। अन्य सभी चित्र श्री नीरज जैन के कैमरे की कृति हैं। ग्रन्थ की रूप-सज्जा तथा ब्लाक निर्माण की दिशा में राज ब्लाक वर्क्स के संचालक श्री राजेन्द्रकुमार जी से उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त हुआ है। परिषद इन सभी सहयोगियों के प्रति आभारी है।

इस स्मृतिग्रन्थ का मुद्रण श्री अमृतलालजी परवार ने अपने सिंघई प्रेस जबलपुर में बड़ी तत्परता और लगनके साथ किया है। कागज की मँहगाई और मुद्रणकी कठिनाईके कारण हम ग्रन्थ को जितनी सुन्दरताके साथ प्रकाशित करना चाहते थे उतना नही कर सके हैं, इसका खेद है। श्री पं. मोहनलाल जी शास्त्री जबलपुर ने प्रूफ देख कर प्रकाशनमें अच्छा सहयोग दिया है। अन्तमें समस्त सहयोगियों के प्रति नम्र आभार प्रकट करता हुआ आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ समाज में सुरुचिपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

विनीत

पन्नालाल साहित्याचार्य

मन्त्री

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्

सागर

सम्पादकीय

श्रीमान् पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी वह सोलह वानी के सुवर्ण थे, जो त्याग की आग में अपनी किट्टकालिमा को भस्म कर चुके थे। एक अजैन कुल में उत्पन्न हो कर भी उन्होंने अपनी परीक्षा-प्रधानता से लोक-कल्याण-कारी जैनधर्मको स्वीकृत किया और उसके आचार विचार तथा सिद्धान्तोंके अनुरूप अपना आचरण बनाया। जो पुरातन इतिवृत्त को नहीं जानते वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि कभी वर्णीजी अजैन थे।

आज जन्मजात धर्मको छोड़ कर दिगम्बरधर्म में आये हुए कितने ही लोगों के अपने पुरातन संस्कार नहीं छूट रहे हैं। उनके खान-पान तथा रहन-सहन आदिके वही संस्कार बने हुए हैं जो पूर्व में थे, परन्तु पूज्य वर्णीजी अङ्गीकृत परीक्षित धर्मके आचार विचार और संस्कारोंमें इतने रच पच गये थे कि उनमें पूर्वधर्मके संस्कार अंशमात्र भी नहीं रह गये थे।

जहां तहां भ्रमण कर जब वे जैनधर्म का सर्वाङ्गीण अध्ययन कर चुके तब समाजके उन्नयन में उन्होंने पग बढ़ाया। शिक्षा ही मनुष्य का आत्मबल बढ़ाती है तथा उसकी आन्तरिक निर्बलता दूर करती है। यही विचार कर उन्होंने जैनसमाज में शिक्षाप्रसार का काम हाथ में लिया। मात्र स्वाध्यायकी शैलियों में शिक्षाका सर्वतोमुखी विकास नहीं हो सकता। उसके लिये तो संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओंका यथाविधि ज्ञानार्जन करना आवश्यक होता है। यही सब मन में रख कर उन्होंने वाराणसी में स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर में सत्तर्कसुधातरङ्गिणी पाठशाला की स्थापना की। इन पाठशालाओंके साथ उन्होंने छात्रावास भी रक्खे जिससे ग्रामीण बालकोंको उच्चस्तरीय अध्ययन करनेका प्रसङ्ग मिलने लगा। इन विद्यालयों में धर्मशास्त्र के साथ न्याय, व्याकरण तथा साहित्य आदि का भी साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कराया जाता था इसलिये इनमें अध्ययन कर निकले हुए विद्वान अजैन विद्वानों की टक्कर में कम नहीं उतरे। उन्होंने अनेकों शास्त्रार्थ जीते तथा प्राचीन साहित्यको सम्पादन तथा अनुवाद आदि से अलंकृत कर प्रकाशित किया।

विद्वानोंकी इस श्रेणीको देख पूज्य वर्णीजी का रोम-रोम विकसित हो जाता था और हृदय में वे भारी आनन्दका अनुभव करने लगते थे। देहातोंमें भ्रमण कर वे साधन विहीन प्रतिभाशाली बालकोंको ले आते थे और इन पाठशालाओं में प्रविष्ट कराकर उन्हें उत्तम विद्वान् बना देते थे। मेरे जैसे साधन-विहीन कितने बालकोंको उन्होंने सहीरूप में विद्वान बनाया है यह कह सकने की मुझमें क्षमता नहीं है।

मैं अपने जीवननिर्माणमें पूज्य वर्णीजी का महान् उपकार मानता हूँ। यही कारण है कि उनसे सम्बद्ध किसी कार्यके करने में मुझे असीम आनन्द होता है। पूज्य वर्णीजीकी 'मेरी जीवन गाथा' दोनों भाग तथा समयसार-प्रवचन के सम्पादन में मैं रात दिन का विभाग ही भूल गया था। बड़ी तन्मयताके साथ ये तीनों कार्य हुए थे।

अभी पिछले दिनों शिवपुरी में जब विद्वत्परिषद्ने पूज्य वर्णीजीकी जन्म शताब्दी मनानेका निश्चय किया और मड़ावरा की कार्यकारिणी में ग्रन्थसम्पादन का कार्य मुझे सौंपा गया तब वर्णी

जीके अनन्त उपकार एकबार फिर हृदय में स्मृत हो उठे और कार्य-कारिणीका आग्रह मैंने नतमस्तक होकर स्वीकृत कर लिया। विद्वानों से सम्पर्क स्थापित कर कार्य प्रारम्भ किया गया।

इच्छा थी कि वर्णीजीकी स्मृति में निकलने वाला यह सम्भवतः अन्तिम ग्रन्थ है अतः उनकी बिखरी हुई सामग्री इस ग्रन्थ में व्यवस्थित रूपसे संकलित की जाय। विविध विषयोंके लेख 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' में पहले प्रकाशित किये जा चुके थे इसलिये उनकी ओरसे व्यामोह छोड़ मात्र वर्णीजीसे सम्बद्ध लेख प्रकाशित किये जांय और उनके विषय में भक्तजनों के श्रद्धापुष्प प्रकट किये जावें।

पूज्य वर्णीजीके समाधिमरणका 'आंखों देखा हाल' मैं प्रकाशित करना चाहता था और उसके लिये जीवनगाथा द्वितीयभागके आगे तृतीयभाग प्रकाशित करने हेतु उनकी डायरियाँ आदि एकत्रित करली थीं परन्तु समय और साधनके अभाव में इच्छा पूर्ण नहीं कर सका था। उनकी समाधिके समय नीरज जी ईसरीमें ही थे अतः मैंने उनसे आग्रह किया कि समाधि का वृतान्त आप अपनी लेखिनी से लिख दीजिये। उन्होंने सहर्ष स्वीकृत किया और 'कथा का विसर्जन, और विसर्जन-की कथा' शीर्षक से एक सुन्दर लेख लिखकर भेज दिया।

श्री डा० नरेन्द्र विद्यार्थी वर्णी-साहित्य के अनुपम अध्येता विद्वान हैं। उनके द्वारा संकलित और सम्पादित वर्णीवाणी (४ भाग) तथा पत्रपारिजात (५ भाग) में अधिकांश वर्णी साहित्य प्रकाशित होकर समाज के हाथों में पहुँच चुका है। इस ग्रन्थ के तृतीयखण्ड की अधिकांश सामग्री विद्यार्थी जी के द्वारा सम्पादित ग्रन्थों में से चुनी गई है जिसके लिये विद्यार्थीजीका आभार मानना मेरा कर्त्तव्य है। पूज्य वर्णीजीके प्रमुख भक्त समुदायमें विद्यार्थी जीका महत्त्वपूर्ण स्थान उनके विद्याध्ययन काल से सतत ही रहा है।

श्री कपूरचन्द्र जी बरैया एम. ए. लश्कर ने 'सुख की एक झलक' नाम से वर्णीजी महाराज के प्रवचन १०–१५ भागों में प्रकाशित किए हैं। नीरज जी के प्रयत्न से वर्णी अध्यात्म पत्रावली' तथा 'समाधिमरण पत्रपुञ्ज' का प्रकाशन वर्णी स्नातक परिषद के लिए ग्रन्थमाला ने किया था। इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही महानुभावोंके पास वर्णीजीके पत्र आदि संकलित है। इस बहुविध सामग्रीके विविधभाँति उपयोग से इस ग्रन्थको महत्त्वपूर्ण बनाया गया है। उन सबका मैं आभारी हूँ। श्री वर्णी-ग्रन्थमालाके द्वारा प्रकाशित मेरी जीवन गाथा के दो भाग तथा समयसार से भी यथेच्छ उपयोगी सामग्री इसमें ली गयी है। पूज्य वर्णीजीकी वाणी जिन्होंने साक्षात् सुनी है वे तो आनन्दका अनुभव करते ही हैं परन्तु उनकी प्रकाशित वाणीका जो स्वाध्याय करते हैं वे भी कम आनन्द का अनुभव नहीं करते। पूज्य वर्णीजीकी वाणीको मैं मिसरीकी डलीके समान समझता हूँ जिसमें सदा माधुर्य विद्यमान रहता है। संस्मरणों और लेखों के विद्वान् लेखकों ने जो भी तथ्य या घटनायें अपने शब्दों में बाँधी हैं वे स्वतः ही उनकी प्रामाणिकता के लिये उत्तरदायी हैं। लेखकों की विचारधारा के साथ भी सम्पादक या विद्वत् परिषद् की अनुमोदना अनिवार्य नहीं।

इस सब बिखरी सामग्री को संकलित और समलंकृत करने का कार्य श्री नीरजजी ने किया है। आप प्रतिभाशाली लेखक हैं। यदि मुझे इनका सक्रिय सहयोग प्राप्त न होता और ग्रन्थ की सामग्री संवारने से लेकर मुद्रण तक के लिये वे इतनी दौड़ धूप नहीं करते तो अल्प समयमें इस ग्रन्थका प्रकाशन सम्भव नहीं था।

यह ग्रन्थ चार खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में पूज्य वर्णीजी की लेखनी से प्रसूत पांच पत्रों को 'उनके अक्षर उनकी बात' शीर्षक के अन्तर्गत प्रारम्भ करके उनके श्रद्धालु भक्तों की अड़सठ श्रद्धांजलियां और संस्मरण प्रकाशित किये गये हैं। इस खण्ड के अन्त में दस संस्कृत की और तीस हिन्दी की वर्णीजी विषयिक कविताओं का संकलन 'काव्य कुसुमांजलि' के अन्तर्गत किया गया है। इस प्रकार श्रद्धाञ्जलियोंकी इस माला में एक सौ आठ पुष्प पिरोये गये हैं।

द्वितीय खण्ड में छोटे-बड़े उन्नीस रेखाचित्रों के माध्यम से पूज्य वर्णीजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। इसी खण्ड में सागर की संस्थाओं और मड़ावरा के इतिहास की भी झांकी प्रस्तुत की गयी है।

तृतीय खण्ड में पूज्य वर्णीजी के प्रवचन और चिन्तन की गहन गंगा को इक्कीस अलग-अलग शीर्षकों के अन्तर्गत डेढ़ सौ पृष्ठ की छोटी सी गागर में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

अन्तिम चौथे खण्ड में भगवान महावीर की देशना को गुम्फित करने वाले पांच लेख प्रस्तुत किये गये हैं।

जिन लेखकों और कवियों ने अपनी सारगर्भित तथा ललित रचनाएं भेज कर ग्रन्थको गौरवान्वित किया है उन सबके प्रति मैं विनम्र शब्दों में आभार प्रकट करता हूँ साथ ही उन लेखक तथा कवियों से क्षमायाचना भी करता हूँ कि जिनकी रचनाओं को मैं विलम्ब से प्राप्त होने तथा कागज की महर्घताके कारण ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं कर सका हूँ। उन अर्थ दाताओं के प्रति भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनसे पत्रं पुष्पं फलं तोयं के रूप में प्राप्त अर्थराशि से ग्रन्थ के प्रकाशन में कुछ भी सहयोग प्राप्त हुआ है।

अन्त में पूज्य वर्णीजीकी दिवंगत आत्मा से निम्नांकित कामना करता हुआ प्रस्तावना लेख समाप्त करता हूँ।

येषां कृपा - कोमलदृष्टिपातैः,
सुपुष्पिताभून्मम सूक्तिवल्ली।
तान् प्रार्थये वर्णिगणेश - पादान्,
फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना॥

❋

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

श्रद्धाञ्जलियाँ, संस्मरण और काव्य-कुसुमाञ्जलि

काव्य-कुसुमांजली—

द्वितीय-खण्ड—व्यक्तित्व और कृतित्व

तृतीय-खण्ड—प्रवचन और चिन्तन

चतुर्थ-खण्ड—लेख माला

*

प्रथम खण्ड

श्रद्धाँजलियाँ संस्मरण

और

काव्य-कुसुमाञ्जलि

ममता ममता क्षमता की, शुचि धाराओं के संगम ।
तुम्ही कर सके महावीर की, वाणी को हृदयगम ।।

—नीरज जैन

उनके अक्षर उनकी बात

अगाध विद्वत्ता, असाधारण अनुभव और अनेक महानताओं के पुञ्जीभूत व्यक्तित्व का नाम था गणेश प्रसाद वर्णी। उनका कहा एक एक वाक्य और उनका लिखा एक एक अक्षर अपनी जगह 'गागर में सागर' की उपमा का सशक्त उपमेय होता था। उनके प्रत्यक्ष दर्शन का जैसे एक अद्भुत प्रभाव मन पर पड़ता था, उसी प्रकार उनकी पावन लेखनी से प्रसूत उनकी बात को, उन्हीं की लिपि में पढ़कर एक अनोखे ही आनन्द की अनुभूति होती थी।

यह बड़े सौभाग्यकी बात मानी जानी चाहिए कि पूज्य वर्णीजीका लेखन आज भी हजारों पत्रों के रूप में, सैकड़ों नोट्स तथा दैनन्दिनी के पृष्ठोंके रूप में और समयसार-प्रवचन की विस्तृत पाण्डुलिपिके रूप में आज भी हमें उपलब्ध है। इस अनमोल सामग्रीको संकलित, सुरक्षित और सुनियोजित करने का कार्य जितना श्रम-साध्य है, उतना ही व्यय-साध्य भी है। यह एक कटु सत्य है कि इस दिशा में कोई प्रयत्न अब तक हम नहीं कर पाये हैं। यह भी आशंका अब लगने लगी है कि यदि समय रहते पर्याप्त प्रयत्न नहीं किये गये तो यह अनमोल निधि हमारी उपेक्षा और काल-दोष से नष्ट या विलुप्त हो जाने में अधिक विलम्ब अब नहीं लगेगा।

आज उनकी जन्म-शताब्दीके अवसर पर हम अपने अशक्त हाथों में जब उनके लिए थोड़े से शब्द-प्रसून सजाने बैठे तब हमें यही उपयुक्त लगा कि उनकी हस्त-लिपि में ही थोड़े से अक्षर प्रस्तुत करके इस अञ्जलि का आरम्भ किया जाय। इस मालाका वही पहिला गुरिया हो।

सर्व प्रथम हम दे रहे हैं वह दुर्लभ पत्र जो पूज्य वर्णी जी ने अपने प्रशंसक श्री खिस्ते महोदय को उनकी जीवन संगिनी के चिर विछोह के अवसर पर संवेदना देने हेतु लिखा था।

इस ऐतिहासिक पत्र के लिए हम डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी के आभारी हैं। उनसे प्राप्त सामग्री का उपयोग अन्यत्र भी इस ग्रन्थ में किया गया है।

श्रीयुत महानुभाव ज़िलस्ते कल्याणभाजनभवत्

आप की धर्मपत्नी का वियोग होने से आप को
शोक होना तो अनिवार्य है ही परन्तु हम को भी
वह हुवा - परन्तु क्या उपाय है जो नहीं तव जिस
का वियोग हुवा उस का संयोग होना तो असम्भ
व है हां यह हो सकता है जो हम उस वियोग का
स्मरण न करें यह होना असम्भव नहीं और आप
बहुज्ञानी हैं मैं आप को क्या लिखूं - आप ही के
द्वारा कुछ जाना है आप ही कहते थे

शरीरं श्रीयते नाशा गलत्यायुर्न पापधीः
मोहः स्फुरति नात्मार्थः पश्य वृत्तं शरीरिणाम्

आ. शु. चिं
गणेश वर्णी

ज्ञान बाबा जी की दृष्टि में चारित्रका प्राण ही था। शान्तिको वे ज्ञान का फल कहा करते थे। डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी को एक बार उन्होंने लिखा—

श्रीयुत चिरंजीवी नरेन्द्र कुमार जी योग्य आनन्द रहो
ज्ञानार्जन का चरम फल शान्ति है चारित्र का कारण ज्ञान है -
ज्ञान का लाभ करने वाले को अपने कल्याण का सर्वदा
ध्यान रहना चाहिए जगत का कल्याण आज तक न कोई
कर सका और न कर सकेगा - आप का निरन्तर कल्याण
हो जावेगा - विशेष क्या लिखें

आ. शु. चि
का. सु. ३ गणेश वर्णी
सं. २००९

पारस प्रभुके पाद मूल में जाकर बस जाने के बाद उनकी लगन वहीं सिद्ध भूमि में ही देहोत्सर्ग करनेकी लग गई थी। बीच बीच में जब भी उन्हें बुन्देलखण्ड वापस लानेके प्रयत्न किये गये, पूज्यश्री ने सदैव निरुत्साहित ही किया। सं० २०१२ में श्री नीरज जैन के एक पत्रके उत्तर में उन्होंने अपना संकल्प इन शब्दों में प्रकट किया—

श्रीयुत महाशय नीरजजी योग्य
कल्याण भाजन हो

अब हमारा शरीर इतना दुर्बल हो गया है जो २ मील गमन करने में भी असमर्थ है — कैसे इतनी यात्रा कर सकता हूं — अब स्वतन्त्र स्वाध्याय करने का अवसर है — यदि किसी को कुछ सुना नहीं सके केवल भारभूत होके रहना उचित नहीं आप तो विज्ञ हैं केवल आज कल निरपेक्ष उपकार करना कठिन है अतः आप बुलाने का प्रयास मत करिए — यहीं पर अभी २ पर्व दिया है और यहीं स्थिर रहने का यत्न कीजिए अब ऐसे सज्जन नहीं जो निरपेक्ष वैयावृत्त्य करने में उत्साही हों —

आ. शु. चि.
गणेश वर्णी

[illegible]
आ शु. चि.
सं० २०१२

बुन्देलखण्डके उत्कर्षके नाम पर एक बार पुनः ऐसी ही प्रार्थना किये जाने पर उन्होंने अपना निश्चय दोहराते हुए एक बड़ी मार्मिक बात लिखी कि—"संगठन होता तो ऐसा (बुन्देल खण्ड सा) सदाचारी प्रान्त इस दशा में न रहता—

कल्याणभाजन हो— पत्र आया समाचार जाने— अब हमारी अवस्था पक्कपान सदृश है— न जाने कब पात हो जावे अतः यातायात प्रयास से कोई जनता को लाभ नहीं— हमारी भावना निरन्तर प्रान्त के उत्कर्ष की रहती है परन्तु प्रान्त मे संघटन नहीं— अन्यथा ऐसा सदाचारी प्रान्त इस दशा मे न रहता।

गणेश वर्णी

वर्णीजीके प्रायः सभी पत्र छोटे-छोटे उपदेशों से भरे रहते थे। पत्र का एक एक शब्द अपने में न जाने क्या कुछ समेटे रहता था। अपने एक भक्त श्री भागचन्द्र इटौरया दमोहको लिखा गया उनका एक पत्र इस संदर्भ में दृष्टव्य है।

कल्याणभाजन हो— जहां तक बने आपकी जो वृत्ति है उसकी रक्षा करना— थोडा स्वाध्याय अवश्य करना— कल्याण का मार्ग उदारता है वह आप में है पर्वाधिराज में रात्रि को कुछ भी अशन पान करना चाहिए— आत्म की दया जिसके होती है वही परकी दया कर सकती है— पडोसी यदि दुखी हो तब प्रथम उसके ऊपर दया करना चाहिए चाहे कोई हो— जो उदारता आप में है वह गृहिणी को भी सिखाना चाहिए—

आ शु. चि
जेठ सुदि १४ सं २०१२ गणेशवर्णी

✽

स न्दे श

श्री सत्यनारायण सिंह
राज्यपाल,
भोपाल, मध्यप्रदेश

हार्दिक प्रसन्नता की बात है कि भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद द्वारा संत श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का शताब्दि महोत्सव आयोजित किया जा रहा है, तथा इस अवसर पर वर्णी-स्मृति-ग्रंथ का भी प्रकाशन किया जा रहा है।

श्री वर्णीजी द्वारा संस्कृत तथा जैन साहित्य के अध्ययन तथा प्रचार-प्रसार के लिये उल्लेखनीय प्रयास किये गये हैं। आशा है, शताब्दि-महोत्सव के आयोजन तथा स्मृतिग्रंथ के माध्यम से, संत श्री वर्णीजी के विचारो और आदर्शों के अधिकाधिक प्रसार का अवसर सुलभ होगा।

शुभ कामनाओ सहित।

—सत्यनारायण सिंह

❀

श्री प्रकाशचन्द्र सेठी
मुख्यमंत्री,
भोपाल, मध्यप्रदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता है कि श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद, सत-प्रवर श्रद्धेय श्री गणेशप्रसाद वर्णी महाराज का शताब्दी महोत्सव आयोजित करने जा रही है। परमतपस्वी, विद्वत्-शिरोमणि, श्रद्धेय वर्णीजी महाराज ने अपना समस्त जीवन शिक्षा के प्रसार तथा धर्म के उन्नयन मे लगाया। उनका त्याग एवं तपस्यामय जीवन आगे आने वाली पीढ़ी को सतत प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

इस पावन अवसर पर श्रद्धेय वर्णीजी के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हुआ मैं आयोजन की सफलता की कामना करता हूँ।

— प्रकाशचन्द्र सेठी

❀

स

न्दे

श

श्री जगजीवनराम
रक्षामंत्री, भारतशासन,
नयी दिल्ली

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर द्वारा श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज का शताब्दी महोत्सव आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर एक वर्णी-स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, यह ज्ञात हुआ।

आशा है, ग्रन्थ में वर्णी जी की जीवनी, उनकी आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सामाजिक सेवाओं का समुचित दिग्दर्शन होगा।

आयोजन सफल हो एवं ग्रन्थ जनोपयोगी सिद्ध हो।

—जगजीवनराम

⁂

श्री विद्याचरण शुक्ल
रक्षा उत्पादन मंत्री
नई दिल्ली,

यह जानकर हर्ष हुआ कि भारतवर्षीय दिगम्बर-जैन-विद्वत्परिषद् द्वारा आध्यात्मिक संत श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का शताब्दि-महोत्सव मनाया जा रहा है। अहिंसा के प्रचारक स्वामी वर्णीजी ने मनुष्य-मात्र के शत्रु काम, माया, मोह, लोभ से बचने के लिए संसार को सन्मार्ग दिखाया। ऐसी त्याग तपस्या की मूर्ति को श्रद्धांजलि अर्पित करना हमारा पुनीत कर्तव्य है। मुझे विश्वास है, परिषद् द्वारा आयोजित यह महोत्सव, संग्रह-लोलुप जीवों को संतोष प्राप्ति के लिए पथ-प्रदर्शक होगा।

आयोजन की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएं।

— विद्याचरण शुक्ल

'सौख्य चतुर्दिक् वितरनहारा'

—पं. द्वारकाप्रसाद मिश्र
(भूतपूर्व उपकुलपति, सागर-विश्व-विद्यालय)

श्री वर्णीजी की मेरे निवास-नगर जबलपुर पर बहुत वर्षों से कृपा रही है। परन्तु मुझे उनके दर्शन करने का अवसर १९४५ मे जेल से निकलने के पश्चात ही प्राप्त हुआ। उनकी विद्वत्ता तो असंदिग्ध है ही, परन्तु मुझ पर उनके सरल स्वभाव का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। वृद्धावस्था को अंग्रेजी मे लोग द्वितीय बाल्यकाल कहते हैं, इसका कारण उस अवस्था मे उत्पन्न होने वाली शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता है। परन्तु वर्णीजी मुझे बालक के समान भोले लगे, अपने चरित्रबल के कारण। अपने ग्रन्थ 'कृष्णायन' मे मैंने जीवन्मुक्त का जो वर्णन किया है उसकी निम्नलिखित चौपाइयाँ मुझे वर्णीजी को देखते ही याद आ जाती थी —

जिमि वितरत अनजाने लोका,
सुमन सुरभि, तारक अलोका,
तिमि जीवन कम तासु उदारा,
सौख्य चतुर्दिक वितरन हारा।

❋

परम जिज्ञासु वर्णी जी

—श्री शिवानन्द, भूतपूर्व अध्यक्ष, विधानसभा

बुन्देलखड से ईसरी की उनकी अन्तिम यात्रा के समय सतना मे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य मिला। घडी भर के ही सम्पर्क ने मुझे उनकी सरलता, सदाशयता और जिज्ञासु-प्रवृत्ति ने उनका प्रसशक बना दिया। विधान-सभा की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध मे उन्होने अनेक प्रश्न किये।

निराडम्बर सत और निश्छल जिज्ञासु की कसौटी पर वर्णीजी का व्यक्तित्व सोटच खरा था।

❋

अद्भुत व्यक्तित्व : उच्च विचार

ब्र०—सुरेन्द्रनाथ जी ईसरी

पूज्य वर्णीजी सन १९५४ के प्रारम्भ में अपनी उत्तर और मध्य प्रान्तीय पदयात्रा समाप्तकर क्षुल्लक-वेश में स्वयं के द्वारा स्थापित ईसरी आश्रम में इस उद्देश्य को लेकर पधारे कि अब अन्तिम समय समाधिपूर्वक श्री पार्श्वप्रभु को निर्वाणभूमि में व्यतीत करेंगे। उसी समयसे मुझे उनके सान्निध्य में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, एवं उनके चिरवियोग सन् १९६१ तक रहा। इतने समय में मैंने उनमें क्या-क्या देखा : और कैसा पाया, यह लेखनी या शब्दों के द्वारा मुझ सरीखा अल्पशक्तिसम्पन्न व्यक्त नहीं कर सकता। तथापि वह अनेक असाधारण विशेषताओं से विभूषित थे। सर्व प्रथम उनमें एक विलक्षण आकर्षण-शक्ति थी जिससे मिलने वाला अवश्य प्रभावित होता था। उनके परिचय में व्रती-अव्रती, विद्वान्-मूर्ख, धनी और निर्धन जो आया, वह समझने लगा यह हमारे हैं, हमारा इनपर अधिकार है। और वह भी उन सबसे अपनी स्वाभाविक सरलता से इस प्रकार मिलते, उनकी सुनते, योग्य परामर्श देकर न्यायमार्ग मे चलने को प्रोत्साहित किया करते थे। उनके हृदय में स्वप्न में भी कभी जीवमात्र के प्रति तिरस्कार-भाव देखने में नहीं आया। इसका प्रमाण उनकी मधुर वाणी—भैया सम्बोधन और काय की चेष्टा निरंतर दिया करती थी। विद्वान् और त्यागियों को देखकर वह अतिशय प्रसन्न होते, प्रायः कहा करते थे कि यह हमारे प्राण हैं। जैसी सरलता, मधुरता, उदारता तथा विनयादि गुणोंका समावेश उनमें देखा गया, वह अन्यत्र सहसा देखने में नहीं आया। मानों सम्यकत्व के अष्टाङ्ग उनमें अकृत्रिमरूप से व्यक्त हुये थे।

इसके अतिरिक्त उनकी पदार्थों के स्वरूप की प्रतिपादन शैली अद्वितीय थी। द्रव्यानुयोग और उसमें भी भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्म-ग्रन्थों के मर्मज्ञ होकर भी उनकी दृष्टि नयपक्ष से शून्य अपितु व्यवहार और निश्चय नय के विषय का यथा योग्यसम्मान करने वाली थी। वह व्यवहारनय के द्वारा तीर्थ की रक्षा और निश्चयनय के अवलम्बन से तीर्थफल की प्राप्ति होगी, व्यवहार के अभाव से तीर्थ और निश्चय के बिना तत्त्व का लोप हो जायगा, ऐसी श्रद्धा सम्पन्न स्वयं थे और यही शिष्य-मण्डली को उपदेश दिया करते थे। एवं अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग-रमण करना ही स्वयं का स्वभाव बना लिया हो, ऐसा उनके व्यवहार से प्रकट हुआ करता था।

वृद्धावस्था के कारण उनका शरीर दिन प्रतिदिन जीर्ण स्वयं हो रहा था। परन्तु ज्वर का जो प्रकोप ता० ६-७-६१ से प्रारम्भ हुआ, उसने पीछा नहीं छोड़ा, यह देखकर आपने किसी प्रकार का प्रचार किये बिना ही मन में सल्लेखना का संकल्प कर लिया और उसके फलस्वरूप ता० १७-७-६१ से अन्नाहार का त्याग कर दिया और अल्पमात्रा में दूध और फल लेना ही स्वीकार किया। पश्चात् दुग्ध भी छोड़ दिया, अब आहार में फलों का रस और जल ही रह गया, जिसकी मात्रा भी क्रमशः कम होकर अत्यल्प रह गई। स्वर्गारोहणके चार दिन पूर्व फल रसका भी निषेध कर मात्र जल ही रहने दिया। इधर शारीरिक शक्ति साथ छोड़ चुकी थी अतएव यथा

योग्य विधि का पालन न होने से जल भी न ले सके। इस प्रकार ज्वर के सद्भाव और भोजन के अभाव से कायबल नाममात्र को ही शेष रह गया। परन्तु ज्ञानचेतना यथावत् अपना कार्य करने में पूर्ण समर्थ थी। अनुकूल अवसर को देखकर और अपनी वर्तमान दशा का अनुभव कर उन्होंने बड़े हर्ष के साथ इस मनुष्य के मण्डन-स्वरूप सकल संयम को स्वीकार कर निर्ग्रन्थ-दीक्षा धारण कर ली। इस अवस्था में १३ घन्टे सानन्द व्यतीत कर धर्म-ध्यान-पूर्वक ता० ५ सितम्बर सन् १९६१ की रात्रि को १ बजकर २० मिनट पर इस नश्वर पर्याय से सम्बन्ध छोड़ स्वर्गारोहण किया।

स्वयं की रुग्णावस्था में भी जब तक वाणी ने साथ दिया समय समय पर कुछ न कुछ निकटवर्ती जनों को सूत्ररूप में उपदेश दिया करते थे। यह शक्ति भी क्षीण हो गई तो आप स्लेट पर लिखकर अपने अभिप्राय को प्रकट करने लगे। सारांश यह जो स्वयं की स्वपरोपकारिणी वृत्ति को अन्त समय तक नहीं छोड़ा। जो सूत्ररूप में वाक्य स्लेट पर लिख दिया करते थे उनमें कुछ निम्नप्रकार हैं। 'गुण तो हैं ही, जो दोष प्रवेश कर गये हैं उन्हें निकालें।' 'अन्त में स्व ही काम आयगा, शरीर तो पर है।' 'पर जब अपना नहीं, फिर उससे स्नेह क्यों।' 'ज्वर देह में है, इससे क्या ज्ञान नष्ट हो गया।' 'ज्वर शरीर में है ज्ञान आत्मा में है।' 'परमात्मा की भक्ति यदि परमात्मा नहीं बना सकी, तो वह परमात्मा की भक्ति ही नहीं।' 'विद्याभ्यसनं व्यसनं अथवा जिनपादसेवनं व्यसनम्।' 'विद्वानों के समागम से परम संतोष है।' इत्यादि अपनी शक्ति भर वाक्यामृत की वर्षा से समीपस्थ जनों को तृप्त किया करते थे।

जिस प्रकार महान आचार्य श्री समंतभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में अन्तिम क्रिया समाधिमरण का उल्लेख किया है, ठीक उसी प्रकार पूज्य वर्णीजी ने निर्यापकाचार्य के असद्भाव में भी क्षपक के योग्य शास्त्रोक्त प्रकार से आहारादि के क्रमशः त्यागपूर्वक भक्त-प्रत्याख्यान मांडकर स्वयं तो आत्मकल्याण के अधिकारी बने ही–हम सर्व आश्रमवासियों को एवं निकटवर्ती भक्त-मण्डली को, समाधिपूर्वक प्राण-विसर्जन कैसे किया जाता है, यह प्रत्यक्ष दिखा दिया।

उन्होंने स्वयं जैनकुल में उत्पन्न न होकर भी स्वयं की परीक्षा-प्रधानी-बुद्धि के द्वारा जैन-धर्म को स्वीकार कर गृहवास छोड़ा और ज्ञानाभ्यास की उत्कट अभिलाषा से प्रेरित होकर कहाँ कहाँ अध्ययन किया, इस उद्देश्य पूर्ति के सन्मुख जो बाधायें उपस्थित हुईं उनसे विजय प्राप्त की और उनके द्वारा जो ज्ञानार्जन के साधन वाराणसी-सागर आदि स्थानों में विद्यालय पाठशालायें स्थापित हुईं वह सर्वजन विदित हैं, एवं स्वयं "जीवनगाथा" में भी उनका उल्लेख किया है।

स्वर्गीय वर्णीजी जिस प्रकार ख्याति, लाभ, पूजादि की अपेक्षा से अत्यन्त दूर एवं गुणग्राही बुद्धि - विपरीत-मार्गी जीवों पर भी अनाक्रोशभाव एवं स्वयं की त्रुटियों को प्रगट कर संशोधन करने में सर्वदा जागरूक रहा करते थे, उसके कतिपय दृष्टान्त इस प्रकार हैं। एक दिन दोपहर को एक प्रज्ञाचक्षु सज्जन जो भजन गाकर उदरपूर्ति करते थे उनके पास आये, कहा मुझे अमुक स्थान पर जाना है वहां के अमुक सज्जन के लिये यदि आप दो अक्षर मेरे विषय में लिख दें तो मेरा कार्य हो जायगा। उस समय पूज्य श्री किसी विचार में मग्न थे इसलिये इधर ध्यान न देकर

कहने लगे, कि यह भीख मांगते मांगते बहुत समय हो गया है, अब वह कार्य नहीं होगा। यह सुन कर उन महाशय ने बड़ी दृढ़तापूर्वक कहा कि आप निमित्तमात्र बनकर पुण्यसंचय में संकोच क्यों करते हैं, मिलना न मिलना तो मेरे भाग्याधीन है। यह सुनते ही समीप बैठे पंडित जी को संकेत किया कि सूरदास जी जो कुछ लिखाना चाहे आप लिख दीजिये, मैं हस्ताक्षर किये देता हूं। मध्याह्न को शास्त्रसभा में उपस्थित होकर इस प्रसंग का इन शब्दों में उल्लेख किया जो "आज हमारे गुरु मिल गये" पश्चात् घटना सुनाई। ऐसे गुणग्राही थे वर्णीजी।

एक सज्जन जो अन्तरङ्ग में थे तो "वक" स्वभावी परन्तु बाह्य में वाक्‌चातुर्य द्वारा उनका गुणगान किया करते थे। प्रसंगवश उन्होंने अपने किसी मित्र को पत्र लिखते हुये पूज्य वर्णीजी के लिये अपशब्दों का प्रयोग किया, संयोगवश वह पत्र यथास्थान न पहुँचकर वर्णीजी की भक्तमण्डली के हाथ लग गया और उन्होंने उसे Circulate कराकर यहां उस समय वितरण किया जब वह शास्त्रसभा में प्रवचन कर रहे थे और श्रोतृमण्डली में मूललेखक महोदय भी उपस्थित थे. श्रोताओं में उत्तेजना दिखाई दी परन्तु महाराज की मुखमुद्रा में कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इतना अवश्य कहा "यह तो हमारे परम हितैषी हैं।"

'सद्यःकृताऽपराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित्, तद्वधादिविकारापनयनबुद्धिः प्रशमो मतः।'

उक्त घटना इस कारण की प्रत्यक्ष उदाहरण बन गई।

वर्णीजी गम्भीर तो थे ही साथ ही विनोदप्रिय भी असाधारण थे। जंघाबल क्षीण हो जाने से देवदर्शन अथवा चर्या के लिये कुरसी पर बैठ कर (जिसे दो भाई उठाते) जाने लगे थे। स्वयं की इस अवस्था को 'छहढाला के छन्द' "अर्धमृतक सम बूढ़ापनो" से तुलना कर कहते, मृतक कलेवर को चार उठाते हैं मुझे दो लेकर चलते हैं। एक दिन ज्वर का वेग कुछ कम होने से अधिक प्रसन्न मुद्रा में थे। आश्रमवासी और विद्वान निकट बैठे थे। उस समय श्रीमान पं. बंशीधरजी को संकेत कर पूँछने लगे, कि कहो पंडित जी मुझे तो अपना अन्त समय निकट नहीं प्रतीत होता, आपकी क्या राय है। इस पर पंडित जी ने अपनी स्वाभाविक सरल भाषा में उत्तर दिया "चलो चोखे रहे" (अर्थात् इसका समाधान भी मुझे करना होगा) जिसे सुनकर महाराज स्वयं हँसे, साथ ही हम सब भी खूब हँसे। कहां तक लिखा जाय यह प्रत्यक्ष नहीं है सुखद स्मृतियां शेष रह गई है।

विद्वत्परिषद् उनकी शताब्दी समारोह का आयोजन कर रही है। यह बड़े हर्ष का विषय है। ऐसे महापुरुष के गुणस्मरण के लिये जो कुछ भी किया जाय, वह अल्प है। उनसे मैंने क्या सीखा या उनका कितना स्नेह मुझे प्राप्त था इसे व्यक्त करने में लेखिनी असमर्थ है। अन्त में ऐसे परमोपकारी महात्मा के प्रति नतमस्तक होकर श्रद्धांजलि अर्पण करने के अतिरिक्त शेष सम्बल ही क्या है।

उनकी पावन-स्मृति को प्रणाम

नीरज जैन, एम. ए., सतना

पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी सच्चे अर्थों में महापुरुष थे। उनका व्यक्तित्व अलौकिक था। यह तो हमने सुना भर है कि पारस पत्थर में छू जाने से लोहा सोना बन जाता है, लेकिन यह हमने देखा है, देखा भर नहीं है—स्वतः अनुभव किया है कि उन वन्दनीय महापुरुष के पावन चरणों के स्पर्श से अज्ञानी को ज्ञान मिल जाता था, अधीर को धीरज मिल जाता था और अन्धे को भी मार्ग सूझने लग जाता था। परिग्रह-पंक में गले तक धंसे हुए हमारे जैसे कितने ही अज्ञानी जीव उनकी शरण में जाते थे। उनका शास्त्र-प्रवचन और उपदेश सुनते तो थे पर समझने की पात्रता अपने में नहीं पाते थे, फिर भी हम कभी निराश नहीं लौटे। हमें यह भी मालूम है कि वहाँ से कोई कभी निराश नहीं लौटा।

उनकी वाणी समझ में आना और जीवन में उसका साकार होना बड़े सौभाग्य की बात थी। वह जिन्हें प्राप्त हो गयी उन्हें भी हमारे प्रणाम। परन्तु हम जैसे लोग जो न कुछ समझ पाते थे, न कुछ कर पाते थे वे भी उनके सम्पर्क में आकर निहाल हो गये। वाणी भले ही कठिन होती हो पर उनकी कृपावती चितवन सीधे समझ में आती थी। "भैया" का उनका एक अपनत्व से भरा सम्बोधन जो कुछ समझा देता था उसे कोई और वाणी, कोई और भाषा नहीं समझा सकती।

उनके दर्शन से जो शान्ति मिलती थी उसे शब्दों में कहना संभव नहीं। सारे मानसिक अवसाद, सारी खिन्नता उनके चरणों की धूल मस्तक पर लगाते ही कहाँ चली जाती थी सो हम नहीं जानते। कैसे चली जाती थी सो हम नहीं बता सकते। उनके दर्शनों के लिये मन इतना व्यग्र हो उठता था कि जैसे-जैसे ईसरी का स्टेशन नजदीक आता था, हमारा धीरज छूटने लगता था। क्षण का विलम्ब असह हो जाता था। स्टेशन पर गाड़ी रुकते ही अपनी गठरी-मुठरी किसी कुली को सौंपकर हम प्रायः आश्रम की ओर दौड़ पड़ते थे। उनके दृष्टि-निक्षेप-मात्र से मन की आतुरता शान्त हो जाती थी और ऐसी अद्भुत शान्ति मिलती थी जिसका अनुभव अन्यत्र कहीं हुआ नहीं।

कई बार हम सोचते थे कि अपना रोना रोकर हम उनकी साधना के क्षण क्यों बरबाद करें। कहाँ राग-द्वेष मय निम्नतम धरातल पर खड़े हुए हमारे जैसे क्षुद्र जीव, और कहाँ उत्कर्ष के शिखर पर बैठे हुए वे प्रातः स्मरणीय संत? परन्तु जब सामने पहुँचते अथवा उनकी ममतामयी आकृतिका ध्यान भी करते तब यह संकोच स्वतः तिरोहित हो जाता था। सामने पहुँच कर तो लगता था कि वे केवल हमारी सुन रहे हैं, केवल हम पर दृष्टिपात कर रहे हैं, केवल हमसे बात कर रहे हैं और सिर्फ हमारे हैं। उनके बिना कहाँ मिलेगी ऐसी आत्मीयता, कहाँ मिलेगा ऐसा अपनापन और कहाँ मिलेगी ऐसी ममता?

वे चले गये। उनके तेरह जन्मदिन और चले गये। उनके निधन का स्मृति दिवस भी बारह बार हमें झकझोर कर चला गया। उनकी जन्म शताब्दी का दिन भी आया है, चला

जायेगा। पर हम जहाँ थे वहीं खड़े रहे। ऐसी कृतघ्नता, ऐसी अवमानता, इतना विश्वासघात? यह हमने क्या किया? क्या उनकी वाणी केवल सुन डालने के लिये थी? क्या उनका लेखन केवल संकलित करने के लिये था? क्या उनके दृष्टि-निक्षेप का क्रियानुवाद बिलकुल नहीं होना चाहिये था? फिर हमारे जीवन में वह क्यों नहीं हुआ?

वे तो दया के अवतार थे। क्षमानिधान थे। हमारा सारा प्रमाद पी गये होंगे। पर जन्म-शताब्दी के समय उनकी पावन स्मृति को प्रणाम करने के लिये हम उनकी तरफ एक पग तो आगे बढ़ें। उनके मंदिर की एक सीढ़ी तो चढ़ें।

*

गणेश—वर्णी

(लेखक—श्री जिनेन्द्र वर्णी पानीपत)

प्रारब्ध की महिमा अपार है। भले ही अहंकार भरे चित्त में उसको कोई स्थान न मिले, परन्तु आश्चर्यकारी घटनाएं उसे निरुत्तर अवश्य कर देती हैं और वह किंकर्तव्यविमूढ़ सा विचारों की रौ में सब कुछ भूलकर यह भी जान नहीं पाता कि यह क्या हो गया और कैसे हो गया? सामने रह जाती है केवल वह घटना और उसका अहंकार भरा व्यक्तित्व। कौन जानता था, कि अजैन कुल में उत्पन्न हुआ साधनहीन एक बालक सुप्त जैनजाति में एक क्रान्ति पैदा कर देगा। वह क्रान्ति जिसमें कि रसहीन शुष्क रूढ़ियां आँसू बहाती रह जायेंगी और उसके नीचे दबी हुई ज्ञानज्योति अपना दैदीप्यमान तेजोरूप प्रकट करके जैनजगत को प्रकाशित कर देगी। अध्यात्म की शुष्क जड़ों में अमृत का सिंचन होगा और हर बाल-गोपाल के हृदय में वह अंकुरित होगा। सारहीन कथाओं व गप्पों के स्थान पर अध्यात्मचर्चा प्रतिष्ठित होगी और रूढ़ियों मात्र में संतुष्ट अंधकारमय जीवन खिलखिला कर हँसने लगेगा।

प्रारब्ध के उतार चढ़ाव का यह चक्र सदा से चलता आ रहा है और सदा चलता रहेगा। व्यक्तिगत जीवन के अथवा सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन के पीछे छिपा हुआ वह सदा से नृत्य कर रहा है और करता रहेगा। उसी के कारण जीवन में नित्य ही चढ़ाव व उतार आते रहते हैं। वह अदृश्य रहता हुआ अपना परिचय बराबर दे रहा है, भले ही कोई उसे स्वीकार करे या न करे। मेरा संकेत जैनजगत के उस सुविख्यात व्यक्ति से है, जो आज से कुछ समय पूर्व तक हमारे बीच साक्षात् रूप से विद्यमान था। जिसका हृदयकोष साम्यधन से भरपूर था। अन्तर्दर्शन जिसका प्रहरी था। दया जिसकी दासी थी। मधुर मुस्कान जिसकी चेरी थी। हितमित संभाषण जिसके मंत्री थे। असीम अध्यात्म जिसका साम्राज्य था। पुण्य जिसका दिन रात जागने वाला सेवक था। आगम के गहन व सारपूर्ण सामगान के द्वारा ही जो नित्य सुलाया व जगाया जाता था। अष्टम आध्यात्मिक स्वर ही जिसका गाना था और वही जिसका रोना था। कहाँ तक कहूँ, छोटी सी बुद्धि, लचर सी जिह्वा, टूटी हुई लेखिनी और साहस कर बैठा हूँ इतने बड़े अर्थात् एक महान व्यक्ति के गुणगान करने का, वह कैसे संभव हो?

न सही संभव, गुणगान न सही संभव, स्वर व ताल पर आपकी बुद्धि, मेरे संकेत को पकड़ तो पायेगी ही। बस तो प्रयोजन की सिद्धि हो गयी। आम खाने हैं, पेड़ नहीं गिनने हैं।

प्रातःस्मरणीय श्री १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी को जैनजगत् में ही नहीं, भारत भर में कौन ऐसा व्यक्ति है जो नहीं जानता। यद्यपि अपनी जीवनलीला के अन्तिम दिनों में समाधि-मरण धरते समय उन्होंने मुनिव्रत ग्रहण कर लिया था, पर आप मुझे क्षमा करेंगे मैं उन्हें अब भी क्षुल्लक ही कहना अधिक उपयुक्त समझता हूं। कारण वही जो कि हमें सिद्धों से पहले अरिहन्तों को नमस्कार करने के लिए बाध्य करता है, अर्थात् हमारा स्वार्थ। पूजा व्यक्ति की कभी नहीं हुआ करती, बल्कि आदर्श की हुआ करती है। वास्तव में वर्णी जी के जीवन का वह क्रांतिकारी आदर्श उनके उस क्षुल्लक वाले रूप में ही दृष्ट होता है। अतः वह ही प्रधान है।

एक समय था जबकि जैनजगत् अंधकार में विलुप्तप्राय पड़ा था। महान सिद्धान्त व साहित्य के अटूट भंडार का स्वामी होते हुए भी कोई यह बताने को समर्थ नहीं था, कि जैन-दर्शन वास्तव में क्या है? खाने पीने की शुष्क रूढ़ियों में तथा पुराणों के कहानी किस्सों की सारहीन गोष्ठियों में ही मानों यह दर्शन समाप्त हो गया था। किसी भी जैन जिज्ञासु को शिक्षा दान देने के लिये ब्राह्मण विद्वान तैयार न होते थे, इस भय से कि कहीं मृतप्राय यह दर्शन पुनः जीवित होकर उन्हें वही क्षति न पहुँचा दे, जो कि समन्तभद्र व अकलंक भट्ट के हाथों उन्हें पूर्व-काल में उठानी पड़ी थी, जिसकी याद करके भी उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे।

ऐसे समय में पूज्य श्री ने जैनदर्शन के उत्थान का बीड़ा उठाया और अनेकों संकटों का सामना करते हुए वह आगे बढ़ने लगे। रूढ़िवादियों के द्वारा उनके मार्ग में अनेकों बाधाएं उपस्थित की गई, पर वह अपने संकल्प पर दृढ़ रहे। अपने उद्देश्य की सफलता के लिए उनके पास कोई भी पर्याप्त साधन न था पर वह अडिग रहे और उसका ही फल है कि आज जैनसमाज के स्तंभस्वरूप अनेकों विद्वान् इसका गौरव बढ़ा रहे हैं। जैनसाहित्य में प्राण पड़ गए हैं। वादी जनों की जबान बंद कर दी गयी है। अनेकों शास्त्रार्थों में इस दर्शन के महान् सत्य का जयघोष सुनने का सौभाग्य हमें प्राप्त हो सका है। स्थान-स्थान पर पाठशालाएं, विद्यालय व आश्रम आदि की सुचारु व्यवस्था चल रही है। लुप्तप्राय हो जाने वाला त्यागमार्ग जीवित हो उठा है। कोने-कोने में ज्ञानचर्चाएं सुनने को मिलती है। विरक्तचित्त भव्यप्राणियों को शान्तिपूर्वक जीवन बिताने का सुयोग्य अवसर प्राप्त हुआ है। गर्ज, क्या गृहस्थ क्या त्यागी, क्या ज्ञानी क्या अज्ञानी, सर्व ही उस महान् व्यक्ति के किसी न किसी रूप में ऋणी अवश्य हैं।

सन् १९६१ में वे हम सभी को अनाथवत् छोड़कर स्वर्गलोक सिधार गए। वे चले गए, पर क्या उनकी याद भी चली गयी? नहीं, वह तो अमर है। जिस प्रकार अपने युग में श्री अकलंक भट्ट ने इस धर्म की रक्षा की थी उसी प्रकार आज के युग में पूज्य श्री ने इसे पुनर्जीवन प्रदान करके अपने को युग-युगान्तरों के लिए अमर बना लिया है। उनका पञ्चभौतिक शरीर ही गया है, वास्तव में वह नहीं गए हैं। आसोज कृष्णा चतुर्थी के दिन, पुनः पूर्ववत् ईसरी स्थानस्थ शान्तिनिकेतन आश्रम में, उस आश्रम में जिसके कण-कण में उनकी स्मृति स्थायी हुई है, जहाँ के वायुमंडल में नित्य उनकी गुणगाथाएं गुंजार करती रहती हैं, जिस आश्रम में कि मानों उन्होंने अपने प्राण–प्रतिष्ठित कर दिए हैं, उनकी जन्म शताब्दी मनायी जाने वाली है।

—जैनसन्देश २६/१७ पृष्ठ १५ से

अकारण अनुग्रही महात्मा

—स्व० ब्र० मूलशंकर देसाई

२८ वर्ष पूर्व ईसरी में उनकी उपस्थिति का पता चला, अध्यात्म का अपूर्व वक्ता है। मैं वहां गया। पूज्य वर्णी जी महाराज का दर्शन हुआ। उनकी धर्मचर्चा सुनकर मेरा मन पलट गया और मैंने श्वेताम्बर सम्प्रदाय त्यागकर दिगम्बर सम्प्रदाय धारण किया। इसके उपरांत कलकत्ते से प्रति सप्ताह शनिवार इतवार उनकी सेवा में बहुत समय तक आता रहा। खूब धर्म-चर्चा हुई, शंका-समाधान हुए। मेरी आत्मा को कल्याणपथ पर लाने और इस पद तक पहुँचाने का श्रेय पूज्य वर्णी जी को है। चाहे सब लोग उन्हें भूल जावें, पर मैं उन्हें नहीं भूल सकता। जो आत्मा अपने को सुमार्ग पर लगा देवे उसका बदला किसी भी प्रकार दिया जाना संभव नहीं है। अपने चर्म की चरण-पादुका बनाकर उस महात्मा के उपयोगार्थ प्रस्तुत कर दें तब भी क्या उसके अनुग्रह का बदला संभव है ? कभी नहीं।

सतना, अगस्त १९६२ —ब्र० मूलशंकर देसाई,

—जैनसंदेश २६/१७ : पृष्ठ ५

*

प्रबुद्ध सन्त

—ब्र. प्रद्युम्नकुमारजी एम. ए. ईसरी

जन्मतः जैन न होने पर भी पूज्य वर्णी जी द्वारा ही इस युग में जैनधर्म का बिगुल बजा। पूज्य श्री वर्णी जी महाराज इस युग के महान् तपस्वी, त्यागमूर्ति, आध्यात्मिकसन्त एवं अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने जिज्ञासा, अन्वेषण और शोध से अपना जीवन प्रारम्भ करके जीवन का प्रत्येक क्षण ज्ञानार्जन और धर्मप्रचार में लगाया। विद्या और भगवद्भक्ति से आपका अनूठा प्रेम था। आपने अपने जीवन में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ झेलीं, परन्तु आपत्तियों और विरोध को अपना उन्नतिसाधक समझकर कभी क्षुब्ध नहीं हुये, सदा अपनी सहनशीलता का परिचय दिया।

आपने अपने जीवन में समाज को निरन्तर दिया ही दिया है। बदले में समाज से कुछ नहीं चाहा। उनकी मूल विशेषता यह थी कि वे जो उपदेश दूसरों को देते थे उससे कई गुना स्वयं पालन करते थे, उनका उपदेश आचरणों की जंजीरों से बँधा होता था। उनकी अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' ही उनके हृदय की सरलता का प्रतिबिम्ब है। उनकी निर्मलता का प्रभाव पशुओं पर भी पड़ता था। उनके ब्रह्मचर्य अवस्था की एक घटना उनकी हस्तलिखित कापी में मुझे यहाँ पढ़ने को मिली, वह उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है,—"जब हम ब्रह्मचारी अवस्था में द्रोणगिरि थे तब वहाँ २-४ माह ठहरना था तो कोई मोल दूध नहीं देता था। तब मंत्री जी हीरापुर वालों ने एक गाय रख दी, वह बहुत सीधी थी। जब हम भोजन करके आवें तब गाय को एक रोटी खिलाते थे और एक चौथाई उसके बच्चे को। जहाँ हम नदी आदि

पर बाहर आवें तब वह भी साथ आवे। उस गाय का दूध १ सेर निकलता था। कुछ दिन बाद २ सेर हो गया और बहुत मीठा। एक दिन बच्छा छूट गया और दूध सब पी लिया। किसी ने कहा देखो वर्णी जी के लिये थोड़ा बच गया हो। जब दूध निकाला, तो देखा उस गाय ने बच्चे को पूरा दूध नहीं पिलाया था, पूरा का पूरा दूध मिल गया—देखो एक पशु भी स्नेहवश अपना हितैषी बन जाता है"।

उनका हृदय उदारता और करुणा से भरा रहता था। किसी दीन दुःखी को देखकर अपने निकट का सब कुछ त्यागते उन्हें देर नहीं लगती थी। यह उनकी जीवनव्यापी अनेक घटनाओं से विदित होता है।

उनका व्यवहार सबके साथ एक सा था, छोटे बड़े, धनिक एवं गरीब सभी को एक-दृष्टि से देखते थे। अहिंसक और सन्मार्गगामी पर तो उनका वात्सल्य रहता ही था किन्तु हिंसक तथा कुमार्गगामी पर भी उनकी करुणा का प्रवाह सविशेष बहा करता था। वे कहा करते थे "पाप से घृणा करो, पापी से नहीं।" उनके 'भैया' शब्द में अत्यन्त आकर्षण था। उन्होंने जैन समाज में व्याप्त कुरीतियों एवं अज्ञान अन्धकार से एक कर्मयोगी की तरह विद्रोह किया और सच्चे मार्ग का दर्शन कराया। उनकी कापी में पढ़ने को मिला "प्रत्येक प्राणी की आत्मा जीवत्व की दृष्टि से समान है। उसमें भी शक्तिरूप से अनन्तबल विद्यमान है। अतः किसी भी प्राणी को कष्ट मत पहुँचाओ। प्रमाद तथा हिंसा से सदैव बचते रहो यही आत्मा और धर्म की उन्नति का मूल है।"

आप मानव-समाज के सच्चे पथप्रदर्शक और शिक्षासंस्थाओं के जन्मदाता थे। आपने सागर, बनारस, बरुआसागर, द्रोणगिरि, ललितपुर, अहार, साढ़ूमल व जबलपुर आदि अनेक स्थानों पर विद्यालयों की स्थापना कर धर्म और साहित्य का प्रचार किया। इन शिक्षा संस्थाओं को जन्म देकर ही आपने धर्म का बिगुल बजाया, जिससे समाज के हजारों बालकों का भविष्य उज्ज्वल बना और वर्तमान में बन रहा है।

उनके द्वारा ही स्थापित इस शान्तिनिकेतन आश्रम के प्रांगण में आपने ८७ वर्ष की परम तपस्या के फलस्वरूप समाधिमरण के समय अपनी असाधारण धीरता और क्षमता का परिचय देकर जो सबक दिया वह मुमुक्षु-संसार को सदा प्रेरणा देता रहेगा। अन्त समय में उनके कुछ सन्देश थे कि—'तीर्थंकरों को भी संयम के बिना मुक्ति नहीं होती।' 'कोई अपना नहीं, समता राखो।' 'जितना परिकर, उतना दुख।' 'जब अमल करो, तब बात बने। कहना और बात है करना और बात है।' 'ज्ञान में जो ज्ञेय आवें, आओ, उनमें रागद्वेष मत होवे, इतना ही तत्त्व है, विशेष कुछ नहीं।

पूज्य महाराज श्री वर्णी जी आज हमारे बीच नहीं, परन्तु उनके द्वारा प्रज्ज्वलित ज्ञान-ज्योति अब भी प्रकाशमान हो रही है। यह ज्ञानज्योति सदैव समृद्धता को प्राप्त होती रहे इस शुभाकांक्षा के साथ ऐसे सत्यशोधक, महोपकारी, गुणरत्नाकर आदर्शसन्त की इस शताब्दी समारोह की पुण्यवेला पर उनके पुनीत चरणों में मेरा शत-शत प्रणाम है।

✱

कुछ निकट के क्षण

— श्री ब्र० गोरेलाल शास्त्री
द्रोणगिरि, छतरपुर (म. प्र.)

पूज्य प्रातः स्मरणीय गणेशप्रसाद जी वर्णी, जिन्हें साधारण से साधारण व्यक्ति भी वर्णी जी के नाम से ही जानता है, परोपकारी, पर-दुःखकातर, विद्यादानी, निर्मोही, सहृदय सन्त थे। जीवन में एक बार भी जिसे देखा उसे भूलना तो उनका स्वभाव ही नहीं था। उनकी सहृदयता तो इसी से परिलक्षित होती थी कि जब भी कोई वर्णी जी से दूसरी बार मिलता था उस समय उनका जो व्यवहार उस व्यक्ति के साथ होता था वह व्यक्ति स्वतः यह समझता था कि वर्णी जी जितना स्मरण मुझे रखते हैं किसी अन्य को नहीं। यह भावना प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में घर किये थी। वर्णी जी किसके थे, किसके नहीं, यह ज्ञात तो था ही नहीं। वर्णी जी सभी के थे और सभी व्यक्ति उन्हें अपना मानते थे।

पूज्य वर्णी जी के पुण्य का प्रताप इतना तेज था कि जो भी व्यक्ति चाहे कितना भी दम्भी हो सामने आते ही चरणों में गिरता था। भविष्य-दृष्टा तो आप थे ही, जो अनर्थ आगे होने वाला होता था उसकी झलक आपको पहले ही प्राप्त हो जाती थी।

पूज्य वर्णी जी हमेशा जागृत अवस्था में रहे। शरीर से कितने भी अस्वस्थ हुये परन्तु आत्मा सजग रहा और अपना चिन्तन करते रहे। पूर्ण चेतनावस्था में ही आपका स्वर्गवास हुआ। स्वर्गवास के १५ दिन पूर्व मैं दर्शनार्थ एवं स्वास्थ्य की खबर लेने ईशरी पहुँचा, उस समय शरीर से अत्यधिक अस्वस्थ होने पर भी मुझे देखते ही पास बुलाया और सारा समाचार प्रान्त का पूछा। बोलते तो थे ही नहीं यह सब इशारों से ही हुआ। फिर भी आपके नेत्र वा कर्ण पूर्ण स्वस्थ थे और अपना कार्य विधिवत् कर रहे थे। जब मैंने पूज्य वर्णी जी से पूछा कि शरीर का कष्ट तो अधिक है तब आपने स्लेट पर लिखा—"शरीर के कष्ट होने से क्या ? आत्मा तो मेरा पूर्ण सजग है।" यह थी आपकी आत्मा की सजगता, जागरूकता।

छोटे से छोटे जीवों के प्रति आप में दया की भावना थी और उनको यदि कोई कष्ट देता था तो उन जीवों से भी अधिक कष्ट का अनुभव आपको होता था। सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि की एक घटना है जिसे उन्होंने स्वयं 'मेरी जीवनगाथा' में लिखा है। मन्दिर में मधु-मक्खियों के कारण जाना कठिन था। माली चिन्तित था कि इससे छुटकारा कैसे प्राप्त हो। इन लोगों में छोटे जीवों के प्रति दया का अभाव तो होता ही है। माली को सबसे सरल उपाय मधु-मक्खियों के छत्ते को जलाना ही समझ में आया। भौंर को जलाने के लिये जैसे ही माली तैयार हुआ, वर्णी जी को खबर लगी। तुरन्त मंदिर पहुँचे और माली से कहा भैया काहे को इन्हें कष्ट देते हो। ये कल तो यहाँ रहने वाली नहीं हैं। आज इन्हें बचा दो। माली रुक गया और प्रातः जब देखा तो वास्तव में वहाँ एक भी मधुमक्खी नहीं थी। वर्णी जी की दया प्रकृति भविष्य का ज्ञान एवं जीवों का उनकी भावना के प्रति समादर देख सभी दंग रह गये।

जागृति के अग्रदूत

—ब्र० सरदारमल जैन 'सच्चिन्दानंद' सिरोंज

जीवन के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जो भुलाये से नहीं भूले जाते। इस दृष्टि से प्रातः स्मरणीय परमपूज्य श्री वर्णी जी के दर्शन और सान्निध्य के क्षण मेरी विरक्ति और ज्ञानवृद्धि के मूलस्रोत रहे हैं। पूज्य श्री वर्णी जी के आकर्षक व्यक्तित्व, प्रभावक वाणी एवं त्यागमय जीवन ने केवल मुझे ही नहीं, अपितु असंख्य प्राणियों को सन्मार्ग पर लगाया है। जैनकला व जैनसंस्कृति का केन्द्र बुन्देलखण्ड तो उनके जीवन की साधना का आदिस्थान रहा, पर उनका व्यक्तित्व अखिल-भारतीय बन गया था। उन्होंने वर्तमान-पर्याय-संबंधी ऐहिक-स्वार्थों को ठुकराकर वीतराग-प्रणीत-मार्ग का त्यागपूर्ण जीवन बिताया। शिक्षा और ज्ञान प्रधान त्याग का मार्ग चलाया। श्री १०८ कुन्दकुन्द भगवान की वाणी को हृदयंगम कर जैनधर्म के मर्म को समझाया। गाँव-गाँव पैदल भ्रमण कर जैन व जैनेतर जनता का उद्धार किया। जो भी संपर्क में आया वह अंतरंग में मायाशून्यता, सत्यनिष्ठा, प्रकाण्डपाण्डित्य आदि गुण-राशि से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। वे जागृति के अग्रदूत थे, तथा स्याद्वाद-संदेश-वाहक, अध्यात्म-जगत के सहस्र-रश्मि थे। निर्ग्रंथ-साधना के यथार्थ मार्गदर्शक थे।

प्रायः पंडित त्यागी नहीं होते और त्यागी प्रायः पंडित नहीं होते। किन्तु उनके भीतर त्याग और पांडित्य का संमिलन सोने में सुगंध की कहावत को चरितार्थ करता था।

पूज्य वर्णी जी उन महापुरुषों में से थे जिनकी वैयक्तिक-साधना और मानवजाति के प्रति अनन्य-प्रेम अपनी समता नहीं रखते। जैनसमाज तो उनका अत्यंत ऋणी है। उन्होंने अगनित लोकोपयोगी कार्य किये और असंख्य लोगों को प्रेरणा दी।

उनकी अंतिम सूचना थी - **यदि आपको मेरे विभाव परिणामों द्वारा हर्ष विषाद हुआ हो तो उस हर्ष विषाद में मुख्यता तो आपके विकारी परिणामों की है, मेरी चेष्टा तो एक निमित्त-मात्र रही। ऐसा वस्तु-स्वरूप जानकर अपनी विकृत-परिणति की पहिचान करना और मेरी विभाव-परिणति जान अपनी क्षमाशील आत्मा को फिर से विभाव के जाल में न फँसाना, अपनी परिणति अपनी जान, पर को निमित्त मान, उसमें न फँसना, आत्मा की भलाई में निरंतर लगना।**

श्री वर्णी जी के भौतिक शरीर के दर्शन तो अप्राप्य हो गये, किंतु उनका यशःशरीर हम सबको आत्म-कल्याण की ओर निरंतर प्रेरणा दे रहा है। उनके स्मरणहेतु उनके संस्मरणमात्र शेष हैं। सं० ७६ में मेरे पिता श्री हुकमचंद्र जी वैद्यरत्न ने सपरिवार श्री संमेदशिखर की यात्रा की, शिखरजी से लौटकर वाराणसी आये। उस समय विद्यालय में पूज्य श्री वर्णी जी को पाकर मेरे पिताजी मुझे उनके समक्ष ले गये और विनयपूर्वक परिचय देते हुए प्रार्थना की कि महाराज

आपके भेजे हुए पंडितजी के पास ये बालक पढ़ता है। पूज्य श्री वर्णीजी ने स्नेह भरे शब्दों में पठित विषय में से मुझसे पूछा। समुचित उत्तर पाकर मुझे वर्णीजी ने आशीर्वाद दिया और मेरी कुशाग्र-बुद्धि पर हर्षित हो पिताजी से कहने लगे कि इसे आप मेरे पास छोड़ दीजिये—होनहार बालक है, ये अच्छा विद्वान बन जायगा, किंतु माता पिता ने मोहवश मुझे छोड़ना पसंद नहीं किया, मेरे अंतरंग में पूज्य श्री वर्णी जी के प्रति अगाध श्रद्धा उत्पन्न हो गई। मैं वहाँ पर ही अध्ययन करता रहा, क्योंकि बचपन से ही मेरी रुचि धर्मज्ञान प्राप्त करने की ओर विशेष थी। तदनंतर पूज्य श्री वर्णी जी के दर्शन मुझे शिक्षणशिविर सागर में हुए, जो विद्वत्-परिषद् की ओर से हुआ था। उनके संपर्क में मुझे जो आनंद प्राप्त हुआ वह वचनातीत है।

कालान्तर में मुझे पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जो अल्पायु में ही काल-कवलित हो गया। मेरे जीवन में यह पांचवीं संतान का वियोग था। उस समय मुझे पूज्य श्री वर्णी जी ने पत्र द्वारा जो सांत्वना दी, उससे मेरे जीवन की दिशा बदल गई। पत्र में गाथा थी 'उप्पह हरइ कलत्तं बड्ढइ जिहिं बहुमाणेहिं। सव्वह हरइ समत्थो पुत्तसमो वेरियो णत्थि' पत्र का आशय था कि यह तो बहुत अच्छा हुआ। तुम्हारा आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो गया। अब सब झंझटें छोड़कर आत्म-कल्याण करो। मुझे इस पत्र से अपने आत्महित का मार्गदर्शन हुआ। मेरा झुकाव आत्म-कल्याण की ओर हो गया। मैंने क्रमशः राजनैतिक सामाजिक क्षेत्र संबंधी सभी संस्थाओं के कार्यों से सन्यास लेना प्रारम्भ कर दिया।

सं० २००७ में फिरोजाबाद के समारोह में मैं गया। वहाँ आचार्य श्री सूर्यसागर जी महाराज और श्री वर्णीजी महाराज विराज रहे थे। मैंने आचार्य श्री को अपने गत जीवन का वृतांत सविनय सुनाया और भविष्य के लिए मार्गदर्शन की प्रार्थना की। उन्होंने पूज्य श्री वर्णी जी की ओर संकेत करते हुए कहा कि तुम वर्णी जी के सान्निध्य में जीवन-यापन करो। तुम्हारा कल्याण होगा। मैंने विनयपूर्वक आज्ञा शिरोधार्य की और पूज्य श्री वर्णी जी के आदेशानुसार उत्सव की समाप्ति के पश्चात् घर चला आया। व्यापारिक तथा गार्हस्थिक कार्यों को घटाता हुआ समय व्यतीत करने लगा। सं. २००८ में पूज्य श्री वर्णीजी के ललितपुर चातुर्मास में सपरिवार ललितपुर गया। पूज्य श्री के सान्निध्य में धर्म-साधन-रत रहा।

सं. २०१० में पूज्य श्री वर्णी जी महाराज ईसरी पहुंच गये थे। मैं भी अपनी माताजी को साथ लेकर सपरिवार ईसरी चला गया। तब से सं. २०१८ तक का अधिकांश समय (पूज्य श्री के समाधि-मरण पर्यंत) उन ही के सान्निध्य में बिताया। पूज्य श्री से अध्यात्म-ग्रंथों (पंचास्तिकाय, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार आदि) का मनन किया। व्रत-धारण कर धर्माराधना की। अब तक उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण करता हुआ जीवन-यापन कर रहा हूँ। यह सब उन ही का वरदान है। मैंने तो कृतज्ञता-ज्ञापनार्थ यह संस्मरण लिखा है। यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं हैं, तथापि परोक्ष वंदना करता हुआ मैं अपने को कृतार्थ मानता हूँ।

*

महान् परोपकारी वर्णी जी

—ब्र. भगवानदास जौहरी, दमोह

सन् ४७ की बात है। मैं शारीरिक अस्वस्थता के कारण यात्रार्थ गया हुआ था। मेरे दोनों बच्चे सागर विद्यालय में अध्ययन करते थे। कारणवश विद्यालय में फीस न जमा होने पर उन्हें विद्यालय से पृथक् कर दिया गया। इसकी जानकारी पूज्य बाबा जी तक जौहरी जी के बगीचा में पहुँच गयी। पूज्य बाबा जी ने बच्चों को अपने पास बुलाया और कारण पूछा। बच्चों ने कारण बताए। बाबा जी का हृदय, बच्चों को शिक्षा से वंचित होना पड़ा, इससे द्रवित हो उठा। उन्होंने अपने लिए आई हुई घी की कुप्पी देकर कहा "इसे ले जाओ, बेचकर फीस जमा कर दो व पढ़ने जाओ।"

सन् ५३ में हम श्री १००८ तीर्थराज की वंदनार्थ गए तो ईसरी में बाबा जी के दर्शनार्थ आश्रम में कुछ देर बाद पहुँचे। कुशलक्षेम के पश्चात् बाबा जी ने पूछा—"काए भैया दमोह की पाठशाला चला रहे हो ? मैं मौन था। बोले भाई जड़ सींचते रहना, कभी न कभी अंकुर फूटते रहेंगे।

कुंडलपुर जी में एक बार शौच से लौटते समय सुना कुछ महाशय शादी संबंध में ठहराव कर रहे थे। बाबा जी के कान में बात पड़ जाने से वे रुक गए और कहा भैया तुम डाकू मत बनो। लड़की भी ले जाओगे और ठहराया हुआ धन जो ग्यारहवा प्राण है, वह भी ले जाओगे ? अपन सब उच्चकुल में उत्पन्न हुए हैं। जो अपन को कन्या रत्न दे रहा है उस पर ऐसा डांका डालना क्या शोभा देता है ?

सन् ५१ में पूज्य वर्णी जी का गणेशगंज, (शाहपुर) से श्री तीर्थराज सम्मेदशिखर जी की ओर प्रस्थान हुआ। मुझे भी बाबा जी की पद-यात्रा में संघ के साथ साथ यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बाबाजी के त्रिकाल उपदेश मिलते ही थे लेकिन साथ रहने से मूक उपदेश भी ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता था। पथरिया से चलकर सदगुवां पहुँचे। बाबा जी के आहार हो जाने पर बाबा जी हम लोगों को संकेत करने आए। भैया आप लोग भी भोजन करो। हमें तो भोजन करा दिया और तुम सभी भूखे हो। यह हमारे ही कारण से है। आप लोगों को दुःखी होने में हम निमित्त बन रहे हैं। कितने करुणाभाव थे। आगे हिन्डोरिया (दमोह) स्कूल में रात ठहरे। दूसरे दिन देव-डोंगरा में कुआ के पास प्रबंध किया गया था। हिन्डोरिया से देवडोंगरा तक साथ पदयात्रा में कभी कभी मैं उनका कमंडलु ले लेता था। मुकाम पर पहुँचने पर बाबा जी के पैर दबाने लगा तो मेरे हाथ हटाकर बोले "भैया हम सब साथ साथ ही तो आए हैं। मैं सिर्फ पीछी लेकर आया पर तुम मेरा कमंडलु का बोझ लाए हो। तुम सब सुस्ता लो, शांत हो जाओ, फिर पैर दबाना। तुम भी तो थक जाते हो। करुणा की भावना का अटूट भंडार बाबा जी में भरा था। ऐसे परोपकारी करुणानिधि संत के चरणों में प्रणाम।

शान्ति की मूर्ति और दया के अवतार

लेखक—स्व० पं० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री, सागर

(स्व० श्रीमान् गुरुवर पं० दयाचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री जैन आगम के प्रकाण्ड ज्ञाता, मृदुस्वभावी, निष्ठावान, समताभावी विद्वान थे। पूज्य वर्णी जी से उनका दीर्घकालीन सम्बन्ध रहा। थोड़े ही दिनों पूर्व पं० दयाचन्द्रजी का सागर में, हृदयगति रुक जानेसे स्वर्गवास होगया। उनका वियोग दिगम्बर जैन विद्वत समाज की अपूरणीय क्षति है)

—सम्पादक

नमः श्री गुरुवर्याय, वर्णिने शान्तिमूर्तये।
अनुकम्पा-वताराय, अज्ञानौघ-विनाशिने॥

पूज्य वर्णी जी के शताब्दिसमारोह के अवसर पर हम उनके पुनीततम चरणों में श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं। वे शान्ति की मूर्ति थे। उनकी शान्तमुद्रा के दृष्टिगोचर होते ही मतभेद रखने वाले भी अनेक मानव नत-मस्तक हो जाते थे। उनकी सम्मेदशिखर आदि की पदयात्रा के समय अनेक स्थानों पर अनेक सज्जनों ने सत्कारपूर्वक अपने आयतनों में ठहराया एवं उनकी परिचर्या करने में अपना अहोभाग्य समझा। उनके प्रत्येक भक्तजन को जो ऐसा अनुभव होता था कि पूज्य वर्णी जी की सबसे अधिक कृपादृष्टि हमारे ऊपर है, यह उनकी सौम्यदृष्टि का ही प्रभाव था।

अनुकम्पा के तो वे अवतार ही थे। यद्यपि दयाभाव अनेक सज्जनों में पाया जाता है, परन्तु अनुकम्पा बिरले ही महानुभावों में उपलब्ध होती है। दुखी प्राणी के दुख को दूर करने की इच्छा दया कही जाती है, परन्तु दूसरे के कष्ट को अपना सा समझकर शीघ्र ही उसको दूर करने के प्रयत्न में जुट जाना अनुकम्पा है।

"दुखित-दुःख-प्रहाणेच्छा दया"
"परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा"

पूज्य वर्णी जी की यह अनुकम्पा अनेक बार व्यक्तरूप में देखी गई है।

एक बार ग्रीष्म काल में एक त्यागी जी के साथ वे बण्डा से सागर आ रहे थे। मार्ग में एक कुएं पर त्यागी जी के साथ पानी पीने लगे। इनको पानी पीते देखकर एक बुढ़िया इनके पास आकर कहने लगी कि महाराज जी थोड़ा सा पानी हमको भी पिला दीजिये। साथ के त्यागी जी ने कहा कि तुम अपना बर्तन लाओ उसमें हम पानी डाल देवेंगे। बुढ़िया करुण स्वर से कहने लगी कि यदि बर्तन होता तो हम स्वयं पी लेते, आपको कष्ट नहीं देते। मेरा कण्ठ सूख रहा है,

कृपा कर पानी पिला दीजिये, त्यागी जी उसी प्रान्त के निवासी थे, उस बुढ़िया को पहिचानते थे, इसलिये उन्होंने कहा कि हम तुमको अपने लोटा से पानी नहीं पिला सकते। परन्तु वर्णी जी से नहीं रहा गया। उन्होंने उसकी अञ्जलि में पानी दे देकर उसकी प्यास शान्त कर दी। त्यागी जी यह देखकर कहने लगे कि आपने यह वर्तन अपवित्र कर लिया है। यह सुनते ही वर्णी जी ने वह लोटा भी बुढ़िया को दे दिया।

ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें उन्होंने शीतबाधा से ठिठुरते हुए लोगों को अपना सर्वस्व (क्षुल्लक अवस्था का वस्त्र) अर्पण कर दिया था। उनकी अनुकम्पा सिर्फ मनुष्यवर्ग में ही सीमित नहीं थी किंतु प्राणिमात्र पर व्यापक थी।

एक बार (जब सागर विद्यालय चमेली चौक मुहल्ला में था) वे विद्यालय के तीसरे खंड की एक कोठरी में अध्ययन कर रहे थे। बाहर सड़क पर लोगों की भीड़ देखकर उन्हें ज्ञात हुआ कि सड़क के किनारे ३ फुट गहरी झील(खाई) में एक गधा गिर पड़ा है। लोग चिल्ला रहे थे हाय बड़ा अनर्थ हो गया। बिचारा गधा मर रहा है। परन्तु वर्णी जी ने अतिशीघ्र ही सड़क पर आकर कुछ छात्रों के सहयोग से गधे को बाहिर निकाल लिया। बाहिर निकलते ही वह वहाँ से भाग गया। वर्णी जी जिस कोठरी में अध्ययन कर रहे थे उसका द्वार छोटा (सिर्फ ४।। फुट ऊँचा) था, अतः शीघ्रतापूर्वक बाहर निकलते समय उनका शिर द्वार की चौखट से टकरा गया था एवं सिर से रुधिर बहने लगा था। परंतु उन्होंने इसकी कोई चिंता नहीं की। गधे को निकाल चुकने के बाद ही उन्होंने मरहम पट्टी करवाई।

समाज में व्याप्त घोर अज्ञान का निराकरण करने वाले महानुभावों में पूज्य वर्णी जी ही एक अग्रगण्य महान् पुरुष थे। उनको स्वयं ज्ञान का सम्पादन करने में अनेक कष्टों का साम्हना करना पड़ा, परंतु पीछे उन्होंने उस कष्ट से साध्य ज्ञान को अनेक स्थानों में विद्यालय और पाठशालाएं खुलवाकर जन-जन को सुलभ कर दिया। समाज को बड़े से बड़े, मध्यम या निम्न कोटि के जो विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनकी ज्ञान-सम्प्राप्ति में पूज्य वर्णी जी निश्चितरूप से साक्षात् या परम्परया साधन बने हैं। ज्ञान की आराधना एवं उसके प्रचार में ही उन्होंने अपने आदर्श जीवन के एक-एक क्षण का सदुपयोग किया था। अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग द्वारा वे समय-सारादि अनेक ग्रंथों को हृदयङ्गम कर चुके थे। स्वप्न में भी अक्षुण्ण प्रवाह से किया गया उक्त ग्रंथों का प्रवचन उनके निकटवर्ती सज्जनों ने अनेक बार सुना है।

एक चतुर शिल्पी साधारण पददलित मिट्टी का सुन्दर खिलौना बना देता है तो लोग उसको हाथों में लेकर गौरव का अनुभव करते हैं। इसी तरह पूज्य वर्णी जी ने सर्व-साधन-विहीन अनेक बालकों को हस्तावलम्बन देकर उनको समाज का भूषण बना दिया है।

पूज्य वर्णी जी अनन्य साधारण अनेक गुणों के भण्डार थे। उन सबको वर्णन करने की रसनामें और लिखने की लेखिनी में शक्ति नहीं है। उन्हें श्रद्धाविनत प्रणाम।

करुणासागर, असमानविद्वान

—श्रावक शिरोमणि **श्रीमान साहू शान्तिप्रसाद जी**

व्यापारिक जीवन में आने के बाद मेरे ऊपर जिस महात्मा का असर पड़ा है वे हैं श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी। उनमें प्यार और करुणा कूट-कूट कर भरी थी। ज्ञान के तो वे समुद्र थे। जीवन उनका सादा और पवित्र था। वे निश्चय का उपदेश देते हुए भी व्यावहारिकता से दूर नहीं होते थे। जिसकी जो कठिनाइयाँ होती थीं उनको सुलझाते थे और उनको धर्म से विचलित नहीं होने देते थे। समयसार में लिखा है कि बिना व्यवहार के ज्ञान के कोई निश्चय धर्म का पालन नहीं कर सकता है। वे इसकी एक साक्षात् मूर्त्ति थे। उनके देहावसान के बाद में भी उनके विचार करने ही से मुझे शान्ति और सुख मिलता है।

दिल्ली
२५ जुलाई, ७४

*

परम आध्यात्मिक सन्त

—**सरसेठ भागचन्द्रजी सोनी**
(अजमेर)

श्रीमान् पूज्य श्री १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज वर्तमान युग के एक अध्यात्म-रसिक त्यागी थे। जिन्होंने अपनी विद्वत्ता, सरलता, गम्भीरता और त्यागशीलता द्वारा सम्पर्क में आने वाले मुमुक्षुओं को अनायास ही आकर्षित किया था। आप साम्यस्वभावी, भद्रपरिणामी और मृदुभाषी थे। जो भी व्यक्ति एक बार आपके सम्पर्क में आया वह आपकी वाक्यावली से प्रभावित होकर आपका चिर ऋणी हो जाता था।

सन् १९३७ में मुझे आपके दर्शन का पुण्यलाभ मिला। उस समय धवल महासिद्धांत ग्रंथ का स्वाध्याय चल रहा था। आप स्वाध्यायान्तर्गत गाथा और उद्धरणों को इस प्रकार उच्चारण कर रहे थे मानो सरस्वतीरूपी नदी का अविरल प्रवाह वह रहा हो। जैनजगत् में आपकी विद्वत्ता जहाँ मान्य थी वहाँ आपकी चारित्राराधना और अध्यात्मनिष्ठा ने आपको त्यागी वर्ग में अग्रणी बना दिया था।

धार्मिकशिक्षा की ओर आपका जीवनान्त तक अकथनीय प्रयत्न रहा। शतशः पाठशालायें आपके सतत प्रयत्न का ही सुफल है। श्री स्याद्वाद महाविद्यालय काशी और सतर्क सुधा तरंगिणी

संस्कृत विद्यालय सागर तो आपके स्थापित किये हुए जैनशिक्षा के दो स्तम्भ हैं, जिनके द्वारा अनेकों सुयशलब्ध विद्वानों की निर्मिति हुई है। वर्तमान में सर्वत्र फैले हुये जैन विद्वानों के मूल-स्रोत आप ही थे।

आपके स्वर्गारोहण के कुछ ही दिन पहले आपके दर्शनों की उत्कट अभिलाषा हुई और ये हमारा सौभाग्य ही था कि अन्तिम बार मुझे व मेरी धर्मपत्नी को आपके दर्शनों का एवं आहार-दान का लाभ प्राप्त हो सका। आपका शरीर अस्वस्थ था फिर भी आप अत्यन्त सावधान थे और आपकी मानसिक शान्ति दर्शनीय थी। आपने अपने चारित्र की ज्ञानाराधना के साथ प्रदीप्ति की थी। मनुष्य पर्याय का वास्तविक लाभ लेकर आपने जनमानस के समक्ष जीवनादर्श उपस्थित किया था।

मेरी वर्णी जी पर अपार श्रद्धा थी। उनकी मृदुल और वात्सल्यमय वाणी अब भी मेरे कानों में ध्वनित होती है। उनकी सौम्यमूर्ति को कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। वास्तव में वे एक परम अध्यात्मसंत थे।

श्री दि. जैन विद्वत् परिषद् उक्त महापुरुष की स्मृति में जो ग्रंथ प्रकाशित कर अपनी कृतज्ञता प्रकाशित कर रही है वह श्लाघनीय है। मैं उक्त स्मृतिग्रंथ-प्रकाशन की सफलता चाहता हूँ।

भक्त जन आपके लिये जितने भी श्रद्धांजलि के कुसुम अर्पित करें उतना ही स्वल्प है।

ऐसे सन्त के प्रति हार्दिक-श्रद्धा-सुमन अर्पित हैं।

✲

अमूल्य देन

—रायबहादुर सर सेठ राजकुमारसिंह
इन्दौर

पूज्य वर्णीजी का आदर्श चरित्र और उनकी लोकसेवायें हमारे लिए अमूल्य देन हैं। जैन समाज में आज प्राचीन शिक्षा का प्रसार है, जो हमारी संस्कृति का आधार है। उसका प्रमुख श्रेय आपको है। उत्कृष्ट कोटि की विद्वत्ता एवं त्याग दोनों का समन्वय, जो अत्यन्त दुर्लभ है, पूज्य वर्णीजी में देखने को मिला। उनकी प्रभावक वाणी से असंख्य प्राणियों का कल्याण हुआ है और संपर्क में आने वालों को सहज ही शांति प्राप्त हुई है।

इस वर्णी शताब्दी समारोह के पुनीत अवसर पर पूज्य वर्णीजी के चरणों में मेरी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

✲

पूज्य वर्णीजी के कुछ संस्मरण

(जगन्मोहनलाल शास्त्री कटनी)

(१) त्याग का पहला चरण—

पूज्य वर्णी जी जब विद्याध्ययनरत ब्रह्मचारी विद्यार्थी थे तब उन्हें कोट पहिनते तथा कोसा का साफा बांधते भी मैंने देखा था। दो फीट लंबी चोटी उनके मस्तक पर उनके संस्कृत विद्या के पाण्डित्य की तात्कालिक निशानी लहराती थी। ब्रह्मचर्य का ओज उस युवावस्था में सूर्य सा दिपता था। निर्भयता, सरलता, पर-दुःख-कातरता, उदारता, परोपकारता उनके सहज गुण थे।

समाजहित तथा धर्मप्रसार में उनकी कितनी बड़ी उपयोगिता हो सकती है इसका अनुमान हमारे पूज्य पिता ब्र. गोकुलप्रसाद जी ने सहज कर लिया था। वे उनसे व्रती-जीवन व्यतीत करने तथा समाज 'व धर्मसेवा के क्षेत्र में' उतरने की प्रेरणा हेतु कुंडलपुर से सागर जाने को चल पड़े पर यह क्या? दमोह धर्मशाला में ही वर्णीजी से उनकी भेंट हो गई। उन्होंने पूछा आप दमोह किस अभिप्राय से आए हैं? पूज्य वर्णी जी ने कहा कि आपके पास कुंडलपुर आ रहा हूँ आप मुझे सप्तम प्रतिमा के व्रत दे दें, मैं धर्म व समाज सेवा के साथ आत्म-कल्याण के मार्ग पर जाना चाहता हूँ। रंक को निधि पाकर जो आनंद होता है उसी प्रकार पिताजी को इस कल्पवृक्ष को अनायास सहज ही पाकर आनन्द हुआ।

दोनों के चित्त में एक ही काल में एक ही विचार उत्पन्न हुआ था अतः अपने अपने स्थान से एक दूसरे से मिलने एक साथ चल दिए और अनायास मार्ग के ग्राम में ही परस्पर मिलन हो गया। यह एक सुयोग ही था। दोनों कुंडलपुर आए और उक्त सिद्धक्षेत्र पर भगवान् महावीर की विशाल मूलनायक प्रतिमा 'बड़े बाबा' के समक्ष पूज्य वर्णी की सप्तम-प्रतिमा धारण करने की दीक्षा सम्पन्न हुई।

(२) कटनी का चातुर्मास—

सन् १९२१ में जब मेरे पिताजी तथा कुंडलपुर के अन्य १०-१२ ब्रह्मचारियों का कटनी में चातुर्मास हुआ तब हमारे दादाजी ने पूज्य वर्णी जी से भी कटनी में चातुर्मास की प्रार्थना करने हेतु मुझे सागर भेजा। मैंने जाकर प्रार्थना की, वर्णी जी ने प्रसन्नता के साथ मुझे स्वीकारता दी। वर्णी जी की धर्ममाता पूज्य श्री चिरोंजाबाई वहाँ सब बातें सुन रहीं थीं, वे एकदम आकर बोलीं—गणेशप्रसाद! तुम बड़े झूठे हो, तुमने मुझसे कहा था कि "इस वर्ष चौमासे मैं तुम्हारे पास रहूँगा" और अब कटनी जाने की बात भी स्वीकार कर ली।

वर्णी जी सोच में पड़ गए। तत्काल बोले, बाई जी अब तो मैं झूठा पड़ ही गया। कटनी गया तो आपसे झूठा पड़ा और न गया तो इनसे झूठा पड़ा। अब उपाय क्या हो कि झूठा न

पढ़ूँ, + आप बताइए,+ मुझे वह बात याद नहीं रही। बाबा जी (ब्र. गोकुलप्रसाद जी को वे बाबाजी कहते थे) का चातुर्मास सुनकर मेरी इच्छा हो आई।

मैंने प्रार्थना की कि बाई जी चाहें और मेरी प्रार्थना मानलें तो बाई जी की इच्छा पूरी हो सकती है और आप भी झूठा न पड़ेंगे।

वर्णी जी बोले भैया दोनों बातें कैसे बन सकती हैं एक बनेगी और मैं दोनों में से किसी से झूठा तो पड़ ही जाऊँगा, अतः मुझे सागर ही चातुर्मास करने दो।

मैंने कहा मेरी बाई जी से प्रार्थना है कि वे भी चातुर्मास में कटनी चलें। दोनों का चातुर्मास साथ ही हो तो आप झूठे हमसे भी न पड़ेंगे और बाई जी से भी न पड़ेंगे। आपका वायदा बाई जी के पास चौमासे का था—न कि सागर चौमासा करने का। बाई जी को दिए वचनों का स्मरण करिए।

मेरी बात सुनकर बाई जी हँस पड़ीं, बोलीं—ठीक है इन शिष्यों को तुमने न्यायशास्त्र पढ़ाया है सो तर्क से बात काटते हैं। मैंने कहा बाईजी बात काटते नहीं हैं, बात को न्याय-संगत बनाते हैं न्यायशास्त्र का फल यही तो है। बाई जी बहुत प्रसन्न हुईं, वर्णीजी भी प्रसन्न हुए और दोनों की स्वीकारता कटनी चातुर्मास की मुझे प्राप्त हो गई। मुझे, मेरे पिताजी, दादाजी तथा नगर वासियों को अपार आनन्द हुआ।

(३) सहज अनुकम्पा--

माघ का महीना था, बसन्तपञ्चमी को गया में मन्दिर की भी नींव रखी जानी थी। उस समय वर्णीजी सप्तम प्रतिमाधारी थे। उन्हें गया समाजका आमंत्रण था। वे मुझे भी साथ ले गए। रात्रि में ३ बजे गाड़ी पहुँची। एक पासकी धर्मशाला में सामान रखकर थोड़ा विश्राम कर सामायिक कर प्रभात सामान वहीं छोड़कर पैदल शहर की ओर चले। मार्ग में माँगने वाले भिक्षुकों में एक वृद्ध बैठा था जाड़े में कांप रहा था। वर्णीजी खड़े होकर उसे देखने लगे। करुणा से द्रवित हो अपना ओढ़ा हुआ खेस निकालकर उसे लपेट दिया। मैंने कहा आप इस ठंड में नग्न-वदन हो गए। बोले अपने पर दया बहुत लोग कर देंगे पर ये बेचारा रात भर से १-१ पैसे के लिए ठंड से अकड़ गया है। मैं उनकी करुणा देख अवाक् रह गया।

(४) छोटों को प्रोत्साहन--

रात्रि में मंदिर में शास्त्रसभा में वर्णीजी ने शास्त्र पढ़ा। शास्त्र थे पद्मपुराण जीवकांड गोम्मटसार। पद्मपुराण पढ़ने के बाद बोले गोम्मटसार तुम पढ़ो। मैं संकोच में पड़ा, मैंने सोचा मैं इनका विद्यार्थी, ये इतनी बड़ी सभामें अपने सामने मुझे पढ़ने को कह रहे हैं। श्रोताओं ने भी कहा कि महाराज ये बालक हैं, शास्त्र तो आप पढ़ें। वर्णीजी बोले कि ये बालक गोम्मटसार पढ़ा है। हमने पढ़ा नही है। मुझे पसीना आगया। अत्यन्त लज्जा प्रतीत हुई। श्रोताओं ने कहा कि महाराज आप ही पढ़ो, आप कैसी बात कहते हैं! वर्णीजी बोले मैं मंदिर में शास्त्र के सामने क्या झूठ बोलूँगा? यह यथार्थ है कि मैंने नहीं पढ़ा और इसने गोम्मटसार पास किया है। इतना

कहकर आसन छोड़ कर मेरा हाथ पकड़ कर गद्दी पर बैठा दिया। मैंने साहस जोड़कर पढ़ा। चूँकि पठित विषय तो था, अतः पढ़ भी सका। अनन्तर अपने स्थान पर आ जाने पर मैंने कहा गुरुजी मैं आपके साथ अब बाहर कहीं न जाऊँगा, आप बहुत संकोच में डाल देते हैं। वर्णी जी का उत्तर था कि मेरे सामने यदि तू समाज में सभा में बोलने का साहस न करेगा तो कैसे सीखेगा। इसी सिखाने को तो साथ लाता हूँ। और मैंने जो कहा था सो क्या मिथ्या था? मैं चुप रह गया उनकी शिष्यानुग्रह-बुद्धि पर आश्चर्य था।

(५) स्थितिकरण—

कटनी के पास बड़गांव में सिं० रघुनाथदास तथा उनका परिवार व उनसे रिस्ता रखने वाले अन्य सज्जन सब मिलकर करीब ५०घर पचासों वरसों से जाति समाज के व्यवहार से बहिष्कृत थे। अपराध इनके पिता का था। उन्होंने कभी पंचायत की बैठक में पंचों के बुलाने पर भी अवहेलना की, पंचायत की बैठक में नही पहुँचे। पंचों ने उनकी इस वृत्ति पर उन्हें समाज से बंद कर दिया, तथा निर्णय दिया कि १।) नगदी व १ नारियल दण्डस्वरूप देने पर ही वे समाज में सम्मिलित हो सकेंगे। उन्होंने दण्ड न दिया। ब्याह शादियां जिन परिवारों में उन्होंने अपने बच्चे बच्चियों की की थी वे भी समाज से बहिष्कृत होते गए।

हमारे पिताजी ने वर्णी जी से कहा कि इन परिवारों का न्याय होना चाहिये तथा प्रतिबन्ध उठना चाहिए अब तीसरी पीढ़ी उनकी चल रही है। पितामह के अल्प अपराध की सजा ये उनके पौत्र भोग रहे हैं, यह अनुचित है। पूज्य वर्णी जी का ध्यान गया—और बाबा जी को साथ लेकर बड़गाँव आए, परिस्थिति भी समझी, कटनी तथा आसपास की पंचायतें बुलाई गईं। मामला उपस्थित हुआ, लोग दृढ़ थे कि ये अब १०१ नारियल जुरमाना दें, बिरादरी को जेवनार दें, तब मिलाए जांय।

वर्णी जी ने फैसला दिया कि जुरमाना जिनसे चाहिए था वे दिवंगत हो गए, अत. जुरमाने का प्रश्न नहीं है। ये सब परिवार निर्दोष घोषित किये जाते हैं। समाज के सब प्रतिबंध उठा दिये गये। इस पंचायत की सफलता में सागर के श्री मूलचंद्र बिलौआ, रीठी के सिंघई लछमनलाल और बाकल के नन्हेंलाल पुजेरी का विशेष सहयोग रहा।

इस खुशी में वर्णी जी की प्रेरणा से उस परिवार ने उस गाँव में पक्का जिनमंदिर बनवा देना, पंच-कल्याणक-प्रतिष्ठा कराना तथा १०००१) दस हजार रुपया नगदी देकर वहाँ पाठशाला खुलवा देना स्वीकार किया तथा सभी पंचों को भोज दिया।

ऐसी सुंदरता से उन ५० परिवारों का न्याय हुआ कि सब प्रसन्न हुए तथा धर्म की प्रभावना हुई।

मैंने नमूने के तौर पर ये पांच संस्मरण पाठकों के सामने रखे हैं। उनके संपर्क में मुझे अनेक बर्ष रहना पड़ा। उनका समस्त व्यवहार आचार ही परोपकारमय था। यदि केवल अपने साथ घटी घटनाओं के सभी संस्मरण लिखे जांय तो वह स्वयं एक विशाल पुस्तक होगी अतः संक्षेप में केवल ५ बातें ही लिखी हैं।

उनका जीवन-चरित्र जो कोई पढ़ेगा वही उनके सम्पूर्ण जीवन की महत्ता समझ सकेगा। उनका जीवन स्वयं में एक जीता जागता विशाल नैतिक चरित्र था। वे करुणा और परोपकार की साक्षात् मूर्ति थे।

सदाचार पर उनका बल था। पांचों पाप उन्हें जीवन भर नहीं छू सके थे। उन्होंने संस्कृत तथा धार्मिक शिक्षा-प्रसार में ही अपना संपूर्ण जीवन व्यतीत किया है। उनके दर्शनमात्र से ही शांति मिलती थी। ऐसा अपूर्व जीवन उनका था।

मैं अपनी आंतरिक अशेष शक्तियों से
इस शताब्दी पर उनके प्रति अपनी
पूर्ण श्रद्धाञ्जलि अर्पित
करता हूँ।

उस ज्ञान-प्रकाश-दाता को सादर प्रणाम

सिद्धान्ताचार्य श्री पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
वाराणसी

पूज्य वर्णी जी महाराज ने काशी में श्री स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर में सत्तर्क-सुधा-तरंगिणी पाठशाला स्थापित करके (जो बाद को वर्णी महाविद्यालय बना दिया) दिगम्बर जैन समाज का महान् उपकार किया है। इन विद्यालयों में अन्य प्रान्तों से तो विरल ही छात्र पढ़ने आते हैं किन्तु मध्यप्रदेश बुन्देलखण्ड के ऐसे-ऐसे छोटे ग्रामों से छात्र आते हैं जहाँ उस समय छोटा सा स्कूल तक नहीं था। इन विद्यालयों में पढ़कर आचार्य और एम. ए. बनकर कालिजों और विश्व-विद्यालयों में प्राध्यापक बन जाते हैं। यदि इन विद्यालयों का सहयोग न मिलता तो ये छात्र पता नहीं कहाँ किस रूप में जीवन बिताते।

पुराने और नये प्रायः अधिकांश विद्वान वर्णी जी महाराज के ही विद्यालयों की देन है।

मैं जब स्याद्वाद विद्यालय में पढ़ने गया तो वहीं प्रथम बार उनके दर्शन किये। उनकी वह विहंसती हुई मुखमुद्रा, उनका विद्यालय के भवन में आना, हम लोगों का उठकर खड़ा होना, उनका सबकी ओर विहंसता दृष्टिपात, लटकती हुई धोती, कन्धे पर दुपट्टा, यज्ञोपवीत में या अंगुली में सोने की हीरा जड़ी अंगूठी आज भी स्मृतिपथ में तदवस्थ है।

उनका जैसा निर्विकार, पर-दुःख-कातर, विद्यारसिक त्यागी होना कठिन है। जब वह विद्यालय में रहते थे तो कभी-कभी बाबा भागीरथ जी वर्णी भी आ जाते थे। इन दोनों में बड़ा सौहार्द था। बाहर से पार्सल आते रहते थे। उनके प्रेमी भक्तों की सौगातें लाते रहते थे।

उन्होंने सवारी का त्याग किया और बनारस से पैदल सागर गये। फिर तो उन्होंने पैदल ही सागर से ईसरी, ईसरी से सागर, दिल्ली आदि की यात्रा की और अंत में ईसरी ही में रहने लगे। उनका प्रभाव दिनों दिन बढ़ता गया। अंत में वे पैरों से लाचार हो गये। तब वह दिन भी आया जब उनके समयसार-मय जीवन की परीक्षा की घड़ी आई। वे परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। उस संकटकाल में तीव्रवेदना को उन्होंने किस धैर्य से सहा वैसा धैर्य आत्मबोध के बिना संभव नहीं है। यह शताब्दी उनके आलोक से आलोकित है और जब तक उनकी ज्ञानदात्री संस्थाएं चलती रहेंगी उनसे प्रकाश की किरणें मिलती रहेंगी। उस ज्ञान-प्रकाश-दाता को सादर प्रणाम।

एक महान विभूति

कैलाशचन्द्र शास्त्री

स्व० पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी जन्म से वैष्णव धर्मावलम्बी थे। पीछे संगति के प्रसाद से जब उन्होंने जैनधर्म धारण कर लिया तो आजीवन उनकी अटल श्रद्धा जैनधर्म पर रही। जैनधर्म उनके जीवन में समा गया था। वह मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक थे। उनका समस्त जीवन स्व-पर-कल्याण में बीता। ज्ञानाराधना और ज्ञान का प्रचार ही एक तरह से उनके जीवन का ध्येय बन गया। जैनधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् उन्होंने सप्तम प्रतिमा धारण कर ली और फिर क्षुल्लक बन गए। उनका समस्त जीवन एक निरीहवृत्ति का प्रतीक था। उनके पीछे लक्ष्मी लोटती थी, बड़े-बड़े धनाधीश उनके लिए धन खर्चने को तैयार थे किन्तु वे सदा निःसंग रहे। पूज्य बाई जी का स्वर्गवास होते ही उनका शेष रुपया स्याद्वाद विद्यालय वगैरह को दे डाला। अपने पास उन्होंने कभी एक दमड़ी नहीं रखी। एक बार छपरा गए, लौटते समय वहाँ के भाइयों ने जबरदस्ती मार्गव्यय के लिए ५) उनके छोर में बांध दिए। स्टेशन पहुँचे एक रुपया इक्के वाले को दे दिया। दूसरा रुपया कुली को दे दिया। बनारस उतरे तो तीसरा रुपया वहाँ के कुली को दे दिया। शेष बचे दो। वे दोनों रुपये बनारस के इक्के वाले को दे दिए। साथ के व्यक्ति ने रोका भी कि महाराज! इतना क्यों देते हो, तो बोले देने वाले ने मार्गव्यय के लिए दिये थे सो जिनके निमित्त के थे सो दे दिए। इस तरह वह पैसे से सदा निःसंग रहे। और स्त्रीजाति के प्रति भी उनकी सदा निःसंग भावना रही। उनका पादस्पर्श करना तो दूर, कमरे की चौखट लांघकर कोई स्त्री अन्दर पैर नहीं रख सकती थी। त्रिकाल सामायिक का नियम अन्त तक निबाहा उसमें कभी कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ। भोजन की जो प्रक्रिया त्यागियों के लिए प्रचलित है उसी प्रक्रिया से दिन में एक बार भोजन लेते थे। स्वर्गवास से दो दिन पहले तक जब वह अत्यंत अशक्त हो गए थे, बारम्बार प्रेरणा करने पर भी अपने कमरे में जलपान करने के लिए तैयार नहीं हुए। और देवदर्शन करने के पश्चात् ही पड़गाहे जाने पर जल लेने के लिए तत्पर हुए किन्तु ले नहीं सके। बीमारी का डेढ़ दो माह का समय उन्होंने कितनी शान्ति से बिताया है इसे तो देखने वाले सभी जानते हैं। पूज्य वर्णी जी में बनावट

कतई नहीं थी। अपनी कमजोरियों से वे अजान नहीं थे। ईसरी में कई बार प्रवचन करते हुए उन्होंने स्वयं अपनी कमजोरियों की निन्दा की थी। वृद्धावस्था ने उन्हें पंगु कर दिया था। शरीर से वह एक तरह एक दम अशक्त हो गए थे। और भक्तों का यह हाल था कि वे चाहते थे कि वर्णी जी अभी इसी हालत में बैठे रहें। आचार्य और मुनिराज तक उन्हें आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। स्व० आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज आचार्य श्री सूर्यसागर जी महाराज, आचार्य श्री नमिसागर जी महाराज आदि का उनके प्रति आदर भाव रहा है। वह जैन समाज की एक विभूति थे और जैनधर्म के एक स्तंभ थे।

—जैन संदेश २६/१७ पृष्ठ ११

*

मेरे जीवन-दाता वर्णीजी

—श्री पं. फूलचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

व्यक्ति आखिर व्यक्ति है। काल की गति के साथ प्रत्येक व्यक्ति की इह लीला समाप्त होना स्वाभाविक है। फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे अवश्य होते हैं जो काल पर भी विजय पाते हुए देखे जाते हैं। इह लीला समाप्त होने पर भी अपने जीवित कार्यों द्वारा उनका चिरकाल तक अस्तित्व बना रहता है। इस काल में जो इस गणना के योग्य हैं उनमें श्रद्धेय वर्णीजी अन्यतम हैं। वे अब हमारे मध्य नहीं हैं। पर वे समाज के दृष्टि-ओझल हो जायेंगे यह सम्भव नहीं है। उन्होंने अपने जीवनकाल में रचनात्मक दृष्टि से जिस इतिहास का निर्माण किया है वह युग-युग तक उनकी जीवन-कहानी मुखरित करता रहेगा।

अभी मेरा शिक्षा-काल पूरा नहीं हुआ था कि जबलपुर में शिक्षामन्दिर खुलने वाला है और उसके प्रधानाचार्य श्रद्धेय पं० वंशीधर जी न्यायालंकार होने वाले हैं यह सुसमाचार मुझे जबलपुर खींच कर ले गया। जिस दिन मैं जिस गाड़ी से अपने घर लौट रहा था, उसी गाड़ी से श्रद्धेय वर्णी जी ने भी सागर के लिये प्रस्थान किया। श्रद्धेय पं० जी उनके साथ चल रहे थे। गाड़ी कटनी तक आती थी, इसलिये उनके साथ मैं भी वहीं रुक गया।

मुझसे यह कह कर कि सामान छात्रावास में रखा आओ, वे श्री जिनमन्दिर जी में चले गये। सामान रखाकर पीछे से मैं भी पहुँच गया। दर्शनविधि सम्पन्न होने पर दोनों महानुभाव सामायिक करने लगे। मैं कर्मकाण्ड ग्रन्थ का स्वाध्याय करने लगा। इसी बीच खबर पाकर अनेक श्रावक और श्राविकाएँ श्रद्धेय वर्णी जी के मुख से अमृतवाणी सुनने और उनका पुनीत दर्शन करने के लिये वहाँ एकत्रित हो गये। सामायिक-विधि सम्पन्न होने पर प्रवचन के लिये सबने श्रद्धेय वर्णी जी से प्रार्थना की। मैंने अवसर देख कर चौकी उनके सामने रख दी। किन्तु उन्होंने स्वयं प्रवचन न कर मुझसे कहा—"भैया! कौन ग्रन्थ है?"

मैंने कहा—"कर्मकाण्ड है।"

वे बोले—"पढ़े हो ?"

मैंने कहा—"हाँ, पढ़ा हूँ," पं० जी की ओर संकेत करते हुए पुनः कहा—"गुरु जी ने ही पढ़ाया है।"

वे बोले—"तो सुनाओ, मैं सुनूँगा और सब सुनेंगे। कहो भैया ! ठीक है न।" कौन निषेध करे, सबने संकोचवश हाँ भर दी।

उनकी यह अनुग्रहपूर्ण वाणी सुनकर मैं तो गद्गद हो गया। मिनट-दो-मिनट स्तब्ध रहने के बाद मैं अपनी शक्ति अनुसार व्याख्यान करने लगा।

मेरे उस व्याख्यान को सुनकर वे पण्डित जी से बोले, भैया ! बालक तो बुद्धिमान दिखाई देता है। इसे शिक्षामन्दिर में सहायक अध्यापक बना लेना। आपके पास अध्ययन भी करेगा और मध्य की कक्षाओं के छात्रों को अध्यापन भी करायेगा। फिर मुझे लक्ष्य कर बोले, भैया ! पत्र की प्रतीक्षा नहीं करना। जिस दिन शिक्षामन्दिर का उद्घाटन हो, आ जाना। समझो, तुम्हारी नियुक्ति हो गई। अभी २५) रु० मासिक मिलेगा। आगे तरक्की हो जायगी। उनका यह प्रथम आशीर्वाद है जिसे पाकर मैं धन्य हो गया।

शिक्षामन्दिर का उद्घाटन कर श्रावणमास में पूज्य श्री का नागपुर जाना हुआ। समाज ने उनसे दशलक्षण पर्व के लिये एक विद्वान् की याचना की। पं० फूलचन्द्र को बुला लेना यह कह कर वे सागर लौट आये। मुझे आमन्त्रण-पत्र मिलने पर मैं सागर भागा गया। श्री चरणों में निवेदन किया मैं इस योग्य नहीं हूँ। बोले, एक दिन रुको, (बाई जी के हाथ का) प्रेम से भोजन करो, शान्ति से बात करेंगे। मैंने समझा मेरी प्रार्थना सुन ली गई, बड़ी प्रसन्नता हुई। अपने साथ बिठाकर प्रेमपूर्वक भोजन कराया। श्रद्धेय बाई जी के हाथ का सुस्वादु भोजन पाकर मैं धन्य हो गया। भोजन के अन्त में वहीं बोले—देखो बाई जी ! यह बालक कैसा हठी है। मैं नागपुर वचन दे आया। यह मना करता है। यहाँ भगा आया। इसे समझा दो। यह अपना भविष्य नहीं देखता। बालक होनहार है, बन जायगा तो⋯⋯। मैं मुँह देखता रह गया। गुरु-कृपा मान कर नागपुर गया तो, पर साथ में समझा-बुझा कर श्री पं० हीरालाल जी सिद्धान्त-शास्त्री को भी ले गया।

शिक्षामन्दिर सुचारुरूप से चलने लगा। सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर स्व० श्री छोटेलाल जी मास्टर की नियुक्ति हुई। मंत्री स्व० श्रद्धेय कन्छेदीलाल जी वकील थे। कुछ दिन तो मास्टर सा. ने ठीक ढंग से काम चलाया। बाद में अपना रंग जमाने के लिये उन्होंने कुछ ऐसी नीति अपनाई जिससे शिक्षामन्दिर की प्रगति रुक गई। उनकी इसी नीति के कारण मैं शिक्षामन्दिर छोड़ कर बनारस चला आया। उस समय पूज्य श्री वहाँ विराजमान थे ही। पूरा समाचार जानकर उन्होंने मुझे अन्य दर्शनों के शिक्षण के लिये विद्यालय में स्थान दे दिया और २५)रु० माह वृत्ति निश्चित कर दी। किन्तु मैं उनके इस शुभाशीर्वाद का अधिक समय तक लाभ न उठा सका। अपनी गृह-सम्बन्धी आर्थिक कठिनाई के कारण मुझे अध्यापकी जीवन व्यतीत करने के लिये विवश होना पड़ा।

मध्य का काल ऐसा बहुत है जो प्रकृत में विशेष उल्लेखनीय नहीं है। सन् ४१ में मथुरा-संघ ने श्री जयधवला के प्रकाशन का निर्णय लिया। उसका अनुवादादि कार्य सम्पन्न करने के लिये मुझे बनारस आमन्त्रित किया गया। मैं जेलयात्रा से हुई शारीरिक क्षति को पूरा कर पुनः बनारस आ गया और इस मंगल कार्य में जुट गया। इसी बीच अ० भ० दि० जैन विद्वत्परिषद की स्थापना हुई। मैं उसका संयुक्त मंत्री नियुक्त हुआ। कार्यालय का भार मुझे ही सौंपा गया। निश्चय हुआ कि कटनी में होने वाले विशेष उत्सव के समय वहाँ इसका पूज्य श्री की अध्यक्षता में प्रथम अधिवेशन किया जाय। उस समय पूज्य श्री पनागर में विराजमान थे। निवेदन करने के लिये मैं ही नियुक्त किया गया। मैं पनागर गया। पूज्य श्री से निवेदन किया। बहुत अनुनय-विनय करने पर स्वीकृति मिल गयी। अधिवेशन तो निश्चित समय पर हुआ, पर इस दौड़-धूप और कार्याधिक्य के कारण मैं लीवर जैसे कठिन रोग से इतना ग्रसित हुआ कि लगभग सात माह तक अन्न के दर्शन करना भी दुर्लभ हो गया। केवल फलों के रस और दूध पर ही मुझे रखा गया।

किसी पण्डित की आजीविका कितनी ? काम करो, वृत्ति लो। आजीविका बन्द हो गई। पास में जो सोना-चाँदी था उसमें से कुछ हिस्सा बेचकर काम चलाने लगा। यह समाचार परम कृपालु पूज्य श्री के कानों तक पहुँचा। उनकी आत्मा द्रवीभूत हो उठी। तत्काल उन्होंने आ. बाबू रामस्वरूप जी बरुआसागर वालों को संकेत कर ६००) रु० भिजाये। मुझे गुरुकृपा का सहारा मिला, अच्छा होकर पुनः जयधवला के सम्पादन में जुट गया। यह पूज्य श्री की ही महती कृपा है कि मैं आज जीवित हूँ और धर्म-समाज के कार्यों में योगदान कर रहा हूँ। श्री गणेशप्रसाद दि. जैन वर्णी ग्रन्थमाला की मंगल स्थापना इन्हीं ६००) रु० के शुभ संकल्प से की गई थी। हालां कि मैं उन रुपयों को कुछ काल बाद ही ग्रन्थमाला में जमा करा सका था। यह मेरा जीवनव्रत है कि जहाँ तक संभव होगा मैं अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक उनकी पुण्यस्मृति में कुछ न कुछ कार्य करता रहूँगा।

चैत्र का महिना था। पूज्य श्री सोनागिर सिद्धक्षेत्र पर विराजमान थे। मैं और स्व० डा० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य झाँसी की महावीर जयन्ती सम्पन्न कर श्री सिद्धक्षेत्र की वन्दना और पूज्य श्री के दर्शनों के लिये सोनागिर गये। उस दिन आहार के लिये दो चौकाओं की व्यवस्था थी। उनमें से एक चौका गया निवासिनी ब्र० पतासीबाई ने लगाया था। शुद्धि के पश्चात् जब पूज्य श्री आहार के लिये उठे तो दूसरे चौके वाला प्रौढ़ पुरुष आगे बढ़ा। यह देखकर ब्रह्मचारिणी जी भी आगे बढ़ने लगीं। दोनों में आगे बढ़ने की एक प्रकार से होड़ सी लग गई। यह दृश्य देख कर पूज्य श्री ठिठक गये, उस भाई से बोले--भैया! क्या करते हो, क्या आहार कराने के लिये यही दिन है, दूसरे दिन करा देना। देखते नहीं हो। ये बाई जी वृद्धा महिला हैं, तपस्या के कारण कृशशरीर हैं। थोड़ी तो दया करो। और यह कह कर लौट आये। कुछ देर रुकने के बाद पुनः शुद्धि कर आहार को उठे। आहार करने के बाद हम दोनों से बोले—भैया! आचारशास्त्र के अनुसार यदि हमसे कुछ प्रमाद हुआ है तो हम प्रायश्चित कर लेते हैं। हमसे वह दृश्य देख कर रहा नहीं गया, इसलिए वो शब्द मुख से निकल गये। कैसी विडम्बना है, लोग मात्र आहार कराने में ही धर्म समझते हैं। जहाँ आकुलता हो वहाँ धर्म कैसा! हम दोनों पूज्य श्री के ये वचन सुन कर अवाक् रह गये।

चौरासी-मथुरा में पंचकल्याण-प्रतिष्ठा का आयोजन था। पूज्य श्री वहाँ विराजमान थे। देश के कोने-कोने से बड़े-बड़े पुरुष आये हुए थे। हम पण्डितों का भी पूरा मजमा हो गया था। एक दिन प्रमुख विद्वानों ने पूज्य श्री को आहार देने का संकल्प लिया। प्रतिग्रह करने के लिये खड़ा किसे किया जाय। सबने विचारकर परीक्षा के तौर पर मुझे खड़ा कर दिया। श्री मन्दिर के प्रांगण में शुद्धिविधि सम्पन्न कर पूज्य श्री आहार के लिये उठे। किन्तु वे विरुद्ध दिशा में चले गये। ३०-४० चौके लगे थे। आशा-निराशा के झूले में मैं झूलता रहा। यह तो होनहार ही समझिये कि पूज्य श्री उन सब चौकों में से होते हुए वहां पधार गये जहाँ हम पण्डितों ने चौका लगा रखा था। मेरी श्रद्धा फलीभूत हुई। सोल्लास वातावरण में आहारविधि सम्पन्न होने पर आशीर्वादों की पुष्पवृष्टि से मैं धन्य हो गया।

वहीं दूसरे दिन पूज्य श्री का प्रवचन हो रहा था। उसी समय एक भाई ने आकर मेरे हाथ में तार थमा दिया। मैंने उसे खोले बिना ही कुरते के ऊपरी जेब में रख तो लिया, किन्तु बार-बार हाथ उस ओर जाने लगा। मन होता था कि खोल कर पढ़ लूँ। मेरी यह मनःस्थिति और हाथ की हलन-चलन क्रिया पूज्य श्री के दृष्टि ओझल न रह सकी। प्रवचन की धारा बन्द कर बोले—भैया! आकुलित होने से अच्छा तो यह है कि खोल कर पढ़ लो। मैं सिटपिटा गया। पुनः बोले—घबड़ाओ नहीं। तुम खोल कर पढ़ लो। उसके बाद ही मैं प्रवचन करूँगा। गुरु आज्ञा मान कर मैंने तार को खोल कर पढ़ाया। तार का आशय समझते ही मेरा चेहरा फीका पड़ गया। तार में कोई अनहोनी बात का संकेत है, पूज्य श्री को यह समझते देर न लगी। बोले—भैया! अब तुम उठ जाओ, अपने कार्य में लगो। चिन्ता न करो, सब अच्छा होगा। घटना तो अनहोनी थी ही। मेरी छोटी बेटी चि० पुष्पा तीसरे मंजिल से गिर पड़ी थी, किन्तु वह पूज्य श्री के आशीर्वाद से पूर्ववत् पुनः स्वस्थ हो गई।

ललितपुर में पूज्य श्री का चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। चातुर्मास की समग्र व्यवस्था क्षेत्रपाल जी में की गई थी। मैं बीना में घर पर अपना सामान रख कर एक झोला लेकर पूज्य श्री के दर्शनों के लिये ललितपुर चला गया। मुझे आया हुआ देख कर पूज्य श्री ने वहाँ उपस्थित समाज को संकेत कर दिया—इसे जाने नहीं देना। मैं निर्देश को टाल न सका। पाँच माह तक उसी स्थिति में रहा आया। वर्णी इंटर कालेज की स्थापना उसी चातुर्मास का सुफल है। मुझे अपने प्रदेश की सेवा करने का सुअवसर मिला। मैंने इसे पूज्यश्री का शुभाशीर्वाद माना।

चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हो रहा था। भाद्रपदी दशलक्षणपर्व सम्पन्न हुआ ही था कि इसी बीच पूज्य श्री को गुदा के बगल में अदृष्ट फोड़े ने दबोच लिया। चलने-बैठने में तकलीफ होने लगी। तब कहीं पता लग सका कि गुदा के मुखद्वार के बगल में अदृष्ट फोड़ा अपना स्थान बना रहा है। जनता में तरह-तरह की बातें होने लगीं। कोई कहता चीरा लग जाना चाहिए, कोई इसका निषेध करता। बहुत विचार के बाद चीरा लगाना निश्चित हुआ कि इंजक्शन लगाने न लगाने के विवाद ने सबको आ घेरा। जनता इंजक्शन लगा कर चीरा लगाया जाय इस पक्ष में नहीं थी। पूज्य श्री के सामने भी यह प्रश्न उपस्थित हुआ। वे बोले—भैया! इतनी चिन्ता क्यों

करते हो । मैं स्वयं इंजक्शन लेकर चीरा लगवाने के पक्ष में नहीं हूँ । तब कहीं जनता ने संतोष की साँस ली ।

टीकमगढ़ से डाक्टर बुलाया गया । फोड़ा देख कर उसने कहा भी कि महाराज जी बिना इंजक्शन लगाये चीरा लगाना सम्भव नहीं है । किन्तु पूज्य श्री ने उसे समझा कर कहा—भैया ! आप चिन्ता क्यों करते हो, आप निर्द्वन्द्व होकर अपना काम करो । मेरे कारण आपको चीरा लगाने, उसे साफ करने और मलहम-पट्टी करने में कोई दिक्कत नहीं होगी । बहुत समझाने-बुझाने के बाद उसे तैयार किया जा सका ।

पूज्य श्री को भीतर के एक कमरे में पट्टे पर औंधा लिटाया गया । मात्र मैं और स्व० श्री लाला राजकृष्ण जी सम्हाल के लिये वहाँ रह गये और सब को अलग कर दिया गया । मैं पैरों को सम्हाल रहा था और श्री राजकृष्ण जी ऊपरी भाग को । डाक्टर ने फोड़े को साफ कर नश्तर लगाया । दुर्गन्धमय पू का फुव्वारा फूट पड़ा । फोड़े ने लगभग चार अंगुल गहरा स्थान बना लिया था । घेरा ६ इंच से कम न होगा । इतना बड़ा फोड़ा होते हुए भी सजीव शरीर में चीरा लगाया जा रहा है यह अन्दाज लगाना कठिन था । समाधिस्थ पुरुष की जो स्थिति होती है उसी स्थिति में पूज्य श्री ने स्वयं को पहुँचा दिया था । न हाथ हिले, न पैर हिले और न शरीर का शेष भाग ही हिला । ओंठ जैसे प्रारम्भ में बन्द थे, अन्त तक उसी तरह बन्द रहे आये । लगभग इस पूरी क्रिया को सम्पन्न करने में २०-२५ मिनट लगे होंगे । पर जो कुछ हुआ सब एक सांस में हो गया । डाक्टर को आश्चर्य हो रहा था कि ऐसा भी कोई पुरुष हो सकता है ? सब क्रिया सम्पन्न कर अन्त में जाते हुए वह कहने लगा—ये पुरुष नहीं, महापुरुष हैं । मुझे ऐसे महापुरुष की यत्किंचित् सेवा करने का सुअवसर मिल सका, मैं धन्य हो गया । मेरा डाक्टरी करना आज सफल हुआ । मैंने आज जो पाठ पढ़ा है वह जीवन भर याद रहेगा ।

ललितपुर चातुर्मास के समय का वर्णीजयन्ती का नजारा भी देखने लायक था । न भूतो न भविष्यति ऐसा वह महोत्सव था । गजरथ जैसे महोत्सव के समय जो जनसंमर्द दृष्टिगोचर होता है वही दृश्य वर्णीजयन्ती के समय दृष्टिगोचर हो रहा था । पूज्य श्री बुंदेलखण्ड की जनता के लिए देवतास्वरूप रहे हैं । उस दिन उसने उसी भावना से उनके श्री चरणों में श्रद्धा-सुमन अर्पित किये ।

पूज्यश्री के जीवन-सम्बन्धी ऐसे उल्लेखनीय प्रसंग तो बहुत हैं । तत्काल मुझे एक ही प्रसंग का और उल्लेख करना है जो उनके अन्तिम जीवन से सम्बन्ध रखता है । अन्तिम दिनों में पूज्य श्री का चलना-फिरना बन्द हो गया था । वाचा ने अपना सूक्ष्मरूप धारण कर लिया था । इतना सब होने पर भी पूज्य श्री की दृष्टि, श्रवण और स्मरण शक्ति बराबर उनका साथ दे रहीं थीं । जिस शारीरिक वेदना में पूज्यश्री के अन्तिम दिन व्यतीत हुए उसमें शायद ही कोई अपने को स्थिर रखने में समर्थ होता । किन्तु उन धीर-गम्भीर महापुरुष की बात निराली थी । उनकी आन्तरिक वेदना को वे ही जानते थे । पर उन्होंने अपनी वाचिक या कायिक किसी भी चेष्टा द्वारा दूसरों पर उसे कभी भी प्रकट नहीं होने दिया । जब उनसे मुनिपद अंगीकार करने के लिये निवेदन

किया गया तब उनके पिछी ग्रहण करने के लिये यत्किंचित् हाथ उठे और मुख से अस्पष्ट ये शब्द प्रस्फुटित हो उठे—आत्मा ही आत्मा के लिये शरण है और पूर्णरूप से परिग्रह राहत होकर पूज्यश्री ने अपनी इहलीला समाप्त की।

वे ऐसे महापुरुष थे, जिनकी शताब्दि-महोत्सव की पुण्यवेला में पुण्यस्मृतिस्वरूप श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए हम सब यही भावना करें कि जिस निष्काम भाव से वे अपने कर्तव्यपथ पर अग्रसर होते रहे, उनके द्वारा बताये गये उस मार्ग पर चलने का हमें भी बल प्राप्त होओ।

मैं स्वयं तो पूज्यश्री को अपने जीवनदाता के रूप में स्मरण करता हूँ और जीवन भर स्मरण करता रहूँगा, यही मेरी उस महान दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि है।

❀

सोवत जागत लगन हिये की

ब्र० नाथूलाल शास्त्री

[पूज्य वर्णी जी संस्कार-वश स्वप्न में भी उपदेश देते सुने जाते थे। उनके एक ऐसे ही उपदेश को लिपिबद्ध करके भेजा है ब्र० नाथूलाल जी शास्त्री उर्फ नित्यानंद शास्त्री ईसरी ने]

स्वप्न-दशा में उपदेश

भो आत्मन् तुम तो स्वयं ज्ञानमया, अमूर्तिक, अनुभवगम्य हो, त्रिकालध्रुव हो और जो यह पर्याय परिणमनशील नाशवान है यह भी तो तुम्हारे पुरुषार्थ से प्राप्त है अतः मध्यस्थ रहो यह मनुष्यपर्याय, श्रावककुल, जैनधर्म तथा अटूट श्रद्धा, यथायोग्य संयम यह भी पुरुषार्थ का फल है और जो शरीर है इसकी यह दशा हो रही है कि एक जगह पत्थर की तरह बैठे रहते हैं और अपने आप इधर से उधर तक नहीं हो पाते। स्वयं शरीर की क्रिया नहीं कर पाते, चलने फिरने की बात दूर रही, अपने आप करवट तक लेना कठिन है, सारी क्रियायें पराधीन हो गई, यह भी तो पुरुषार्थ का फल है। लोग कहते हैं निमित्त कुछ नहीं होता सो देख लो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, यह सब हम जानते हैं—किससे क्या कहें अब तो संतोष से सहन करो, आकुलता से कोई फायदा नहीं। देखो नरक के नारकी कितनी वेदना का अनुभव करते हैं, तिर्यञ्च बिचारे कितने पराधीन है, जो रातदिन संक्लेशित (आकुलतामय) हैं हम अपनी बात किससे कहै, अच्छा है जो होना था सो ही होगा। आप सब सुखमय जीवन बितावें, विश्वशांति की भावना करते हुए आत्महितैषी बने।

❋

मेरे दीक्षा-गुरु

—ब्रह्मचारी राजाराम जैन
श्री दिगम्बर जैन धर्मशाला, मंगलवारा, भोपाल

मैं अपनी जन्मभूमि ग्राम पड़वार में था। संवत १९७१ में मेरी बहन की शादी में बड़े पंडित जी के नाम से पूज्य श्री का दर्शन हुआ। उसके बाद दो तीन बार मेरे यहां धर्म के अवसरों पर पधारे। मुझे विद्यालय में आपने प्रवेश दिया। उस समय ढाकनलाल सिंघई के मकान में विद्यालय था। अभाग्यवश गृहकार्य से मुझे विद्यालय छोड़ना पड़ा। इसके बाद गृह से उदास हो पूज्य श्री की शरण में जबलपुर गया तो आपने कहा कि मैं तुमको और तुम्हारे पिता को जानता हूं। तुम क्या व्रतों को पालोगे। किन्तु मेरे आग्रह से १ साल का ब्रह्मचर्य व्रत दिया और कहा कि अभक्ष्य वा व्यसनों का त्याग करो। इसके बाद सागर आकर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत एवं ५ पापों का एक देश त्यागव्रत दिया और कई जगह कई चातुर्मास में मैं उनकी सेवा में रहकर इस योग्य उन्हीं के प्रसाद से हुआ। हमारे प्रान्त में धर्म एवं विद्या का प्रकाश उन्हीं महात्मा की देन है। दया वात्सल्य सौम्यता साक्षात् मूर्तिस्वरूप उनमें थी। न्याय नीति आगम के अगाध सागर थे। उनको भूला नहीं जा सकता। जो उनके सम्पर्क में आ जाता था वह उनको नहीं भूल सकता था और वह उसको नहीं भूलते थे। अतः मैं उनके व्यक्तित्व को कहने में समर्थ नहीं। रास्ते में एक गांव के पास एक बार आम के नीचे बैठ गए। उस गांव के लोग आ गए कि यह कोई महात्मा जी हैं उन्होंने कहा महाराज यह आम फलता नहीं है, आपने कहा कि फलेगा। अगली साल वह आम की जिस डाली के नीचे बैठे थे फली। लोगों ने बताया कि वह डाली फली थी। अस्तु मैं क्या कहूं मात्र श्रद्धा के पुष्प ही उन महापुरुष के चरणों में समर्पित करता हूं।

✻

संसार में कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं, जो आज है वह कल नहीं रहेगा। संसार क्षणभंगुर है इसमें आश्चर्य की बात नहीं। हमारी आयु ७४ वर्ष की हो गई परन्तु शान्ति का लेश भी नहीं आया और न आने की संभावना है, क्योंकि मार्ग जो है उससे हम विरुद्ध चल रहे हैं। यदि सुमार्ग पर चलते तो अवश्य शान्ति का आस्वाद आता परन्तु यहाँ तो उलटी गंगा बहाना चाहते हैं। धिक् इस विचार को जो मनुष्यजन्म की अनर्थकता कर रहा है। केवल गल्पवाद में जन्म गमा दिया। बाह्य प्रशंसा का लोभी महान् पापी है।

—गणेश वर्णी

उत्कृष्ट सन्त

श्री पं० नाथूलाल जी शास्त्री, इंदौर

पूज्य वर्णी जी का नाम हमारी आध्यात्मिक विभूतियों में अग्रगण्य है। वे उत्कृष्ट कोटि के संत थे। उनके व्यक्तित्व में ऐसा अपूर्व आकर्षण था कि उनके सानिध्य में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनसे प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता था। वे अत्यंत सरल, अनाग्रही और निर्मल परिणाम वाले थे। सागर, नैनागिर और ईसरी में उनके साक्षात्कार की अनेक घटनाओं की बार-बार स्मृति आती रहती है। नीतिशास्त्र में उल्लिखित पाँच पिताओं में गुरु (अज्ञानांधकार-निवारक) का सर्वाधिक महत्त्व है। पूज्य वर्णी जी इसी सर्वोपरि कोटि के अंतर्गत विद्वानों के पिता थे। उन्होंने न केवल शिक्षा संस्थाएँ खुलवाकर, उनमें हमें शिक्षण दिलाकर हमारा उपकार किया, बल्कि आध्यात्मिक ज्ञान और उत्कृष्ट चरित्र द्वारा अनुपम आदर्श भी प्रस्तुत किया। उनका जीवन लोकोत्तर था।

इस शताब्दी समारोह के प्रसंग पर उनके प्रति कृतज्ञ होकर हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित है।

❋

इस शती के महानतम पुरुष : श्री वर्णीजी

—डा० दरबारीलाल कोठिया,
अध्यक्ष – अखिल भारत वर्षीय
दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद

मनुष्य मनुष्य बना रहे, यह सरल नहीं है, बड़ा कठिन है। उसके चारों ओर ऐसा वातावरण रहता है, जिससे वह प्रभावित हो जाता है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त चार संज्ञाएँ तो उसके साथ रहती ही हैं। बच्चा जब उत्पन्न होता है तो माता के स्तन्यपान में उसकी निसर्गज प्रवृत्ति होती है। भय, काम और तृष्णा संज्ञाएँ भी उसमें धीरे-धीरे अभिव्यक्त होने लगती हैं। बाल से कुमार, कुमार से युवा और युवा से वृद्ध जब वह होता है तो उसमें उन संज्ञाओं की वृद्धि तो होती ही है, क्रोध, अहंकार, माया और परिग्रह के संग्रह की प्रवृत्ति भी बढ़ जाती है। इस तरह मनुष्य विकारों और उप-विकारों का शिकार जाने-अनजाने में होता रहता है, जिनसे बचना उसके लिए मुश्किल हो जाता है। यदि विवेक-बुद्धि और पूर्व-सुसंस्कार हुए तो वह उनसे किसी तरह बच जाता है। इन्हीं के बल पर उसकी दृष्टि, समझ और चेष्टा गुणग्राहिणी भी होती है, उसमें दया, दाक्षिण्य, परोपकार, सेवा आदि मानवीय गुण आते जाते हैं। ऐसे मनुष्य को लोकोत्तर मनुष्य कहा जाता है।

श्री वर्णीजी इस शती के ऐसे ही लोकोत्तर पुरुष थे। उनका आद्यन्त समग्र जीवन काम-क्रोधादि विकारों तथा मात्सर्य-संकीर्णता आदि उपविकारों से अछूता रहा और निर्मलता, भद्रता, सरलता, उदात्तता, सेवा, सहनशीलता, परोपकार आदि कितने ही गुणों का वह निधान रहा। उनके जीवन में आरम्भ से लेकर अन्त समय तक बाधायें, कष्ट, बीमारियाँ आदि अनेकों उपद्रव आये, पर वे उनके सामने हिले नहीं, डिगे नहीं, सुमेरु की तरह अचल रहे, कोई विकार उन्हें प्रभावित नहीं कर सका। एक सामान्य व्यक्ति असामान्य कैसे बन जाता है, यह उनका जीवन हमें बताता है।

दस वर्ष की अवस्था में बालक गणेशप्रसाद जब अपने मास्टर जी का हुक्का भरने गया, तो उसकी इच्छा उसे पीने की हो गयी। उसे पीने पर उसकी बदबू आते ही उसने हुक्का को फोड़ दिया और निर्भयता से जाकर मास्टर जी से कहा—'मास्टर जी, हुक्का में बदबू आने से हमने उसे फोड़ दिया है। आप ऐसे बदबूदार हुक्का को क्यों पीते हैं?' मास्टर जी गणेशप्रसाद की निर्भयतापूर्ण स्पष्ट बात से अप्रसन्न न होकर प्रसन्न हुए और सदा के लिए हुक्का पीना छोड़ दिया। निश्चय ही निर्भयतापूर्वक कही गयी सही बात का प्रभाव पड़ता है।

ललितपुर (उत्तरप्रदेश) में वर्णीजी का चातुर्मास था। उनकी जयन्ती का समारोह बाजार के मैदान में मनाया जा रहा था, जनसमुदाय से सभा ठसाठस भरी हुई थी। विद्वानों के भाषण हो रहे थे। एक मुसलमान भाई आया और सभा के आयोजक श्री अभिनन्दनकुमार टड़ैया से बोला, 'भाई, हमें यह रुपयों की टांची पड़ी मिली है, आप लोगों की होगी, लीजिए।' उसी समय घोषणा कर दी गयी कि टांची जिसकी हो वह अपना परिचय और टांची की राशि बताकर ले जाय। तीन घंटे बाद एक गांव का जैन भाई दौड़ता और हाँपता हुआ आया तथा बाजार के मैदान की सड़क के किनारे, जहाँ उसकी बैलगाड़ी पहले रखी थी, भूल से छूट गयी अपनी रुपयों की टांची खोजने लगा। जब उसे ज्ञात हुआ कि उसकी टांची एक मुसलमान भाई को मिली थी और वह टांची टड़ैयाजी को दे गया है। तो वह टड़ैयाजी के पास गया और अपना परिचय तथा टांची के रुपयों की राशि बताकर उसे ले आया। टांची में घी की बिक्री से प्राप्त ३००) रु. कलदार थे। वह टांची पाकर ऐसा प्रसन्न हुआ कि मानो उसे निधि मिल गयी है, क्योंकि वही उसकी सारी पूँजी थी। इस घटना को सब लोगों ने वर्णीजी की आत्म-निर्मलता का प्रभाव बतलाया। वास्तव में रास्ते में एक रुपया पड़ा हुआ दिखने पर उसे ग्रहण करने से कोई नहीं चूकता, फिर ३००) रु० मिलने पर वह मुसलमान भाई भी कैसे चूकता? उसके मन में उस टांची को ग्रहण न करने तथा उचित स्थान पर पहुँचा देने का जो उत्तम विचार आया, उसका एकमात्र कारण वर्णीजी जैसी निर्मल आत्मा का सान्निध्य ही था। शास्त्र में कहा गया है कि निर्मल आत्मा तीर्थंकर जहाँ विराजमान होते हैं वहाँ सौ योजन तक कोई चोरी-चपाटी, दुर्भिक्ष, रोग, कलह आदि की घटनायें नहीं होतीं। इससे अनुमान होता है कि उक्त प्रभाव वर्णीजी की सच्ची आंशिक निर्मलता का ही था।

इसी चातुर्मास में वर्णीजी को जांघ में एक कालबंकर फोड़ा हो गया। फोड़ा को डाक्टर ने भयानक और खतरनाक बतलाया। और कहा कि उसका ऑपरेशन होगा। स्व. ला. राजकृष्णजी

दिल्ली उक्त सिविल सर्जन डाक्टर को ले आये थे। उनके विनम्र आग्रह करने पर वर्णीजी ऑपरेशन के लिये तैयार हुए। डाक्टर को उसके ऑपरेशन में जितना समय लगा उसमें वर्णीजी के चेहरे पर जरा भी सिकुड़न या कष्ट का प्रदर्शन दिखायी नहीं दिया और वे लोगों से बात करते रहे। यह उनकी शारीरिक सहनशीलता थी। लेखक स्वयं वहाँ था।

इटावा में वर्णीजी बीमार हो गये और पैरों में शोथ हो गया। उनकी बीमारी का यह समाचार ज्ञात कर दिल्ली से ला. राजकृष्णजी, ला. फिरोजीलालजी, ला. हरिश्चन्द्रजी और हम इटावा पहुँचे। गाड़ी इटावा ३ बजे रात में पहुँची। हम लोग स्टेशन से इक्का गाड़ी करके पुरानी धर्मशाला में पहुँचे, जहाँ वर्णीजी ससंघ ठहरे हुए थे। पहुँचने के समय ३।। बजा था और सब सोये हुए थे। एक कमरे में से कुछ रोशनी आ रही थी। हम लोग उस कमरे के पास पहुँचे। कमरे के किवाड़ केवल अटके हुए थे और धका लगाते ही वे खुल गये। सामने देखा कि वर्णीजी महाराज समयसार का स्वाध्याय कर रहे हैं। ला. फिरोजीलालजी ने थर्मामीटर लगा कर देखा, तो बाबाजी का १०४।। डिग्री टेम्प्रेचर निकला। निवेदन किया कि महाराज, ऐसी हालत में शरीर को आराम देना चाहिए। वर्णीजी बोले—'भइया, उसे अपना काम करने दो और हमें अपना काम।' यह कैसी अद्‌भुत सहनशीलता और निस्पृहता थी। इसी को तो विवेक कहा है।

वर्णीजी ने जब हरिजन-मन्दिर प्रवेश को आगम-सम्मत बताया और उसका समर्थन किया, तो समाज के कतिपय लोगों ने उनकी पीछी-कमण्डलु छीन लेने की बात कही और पत्रों में वह प्रकाशित हुई। यह बात उनके पास पहुँची। बोले—'जिन्हें पीछी-कमण्डलु छीनना है, छीन लें, हमारे आत्म-धर्म को थोड़े ही छीन लेंगे।' हमने देखा कि उनके मन पर क्षोभ की छोटी-सी रेखा भी नहीं उभरी। महापुरुषों के विषय में कहा गया है कि वे सम्पत्ति-प्रतिष्ठा-सम्मानादि प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होते और विपत्ति-अपमानादि क्षोभ के कारण मिलने पर विषण्ण नहीं होते— **'सम्पदि हर्षो, न विपदि विषादः।'** उनकी मानसिक सहनशीलता का अपूर्व उदाहरण है यह।

वर्णीजी की करुणा और उदात्तता के तो अनेक प्रसङ्ग हैं। माघ का महीना था। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। सागर की बात है। वर्णीजी रात के ९-१० बजे सड़क से गुजर रहे थे। उन्होंने सड़क के किनारे एक भिखारी को ठंड से ठिठुरते देखा। उनसे रहा न गया और घर से अपने लिए बनी बिलकुल नयी रजाई ले आये और उस भिखारी को उढ़ा दी। भिखारी ने सुख की सांस ली।

समाजसेवा का क्षेत्र उनका यद्यपि बुन्देलखण्ड रहा, फिर भी उनकी पदयात्रा सागर से दिल्ली, मेरठ, मुजफ्फरनगर, खतौली, सहारनपुर, सरसावा, जगाधरी और जगाधरी से ईसरी तक हजारों मील की हुई और इस पदयात्रा में उन्होंने कितने ही लोगों को सम्बोधित किया, कल्याणमार्ग में लगाया। बुन्देलखण्ड में तो वे गांव-गांव गये और समाज में व्याप्त अशिक्षा, रुढ़ियाँ और पारस्परिक झगड़े सुलझाये। आज जो वहाँ जागृति है उसका एकमात्र श्रेय श्री वर्णीजी को है। वे सैकड़ों विद्वानों के जनक हैं। दर्जनों पाठशालाओं और विद्यालयों की स्थापना उनके द्वारा हुई, जो आज सैकड़ों बालकों को ज्ञान-दान कर रही हैं। काशी का सुप्रसिद्ध स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर का गणेश दि. जैन विद्यालय उन्हीं के प्रयत्नों के सुफल हैं।

वर्णीजी ने जयपुर, खुर्जा, वाराणसी और नवद्वीप में आकर अपनी ज्ञान की भूख मिटायी और उच्चकोटि की विद्वत्ता प्राप्त की। ज्ञान का फल वैराग्य-परिणति है। उसे भी आपने खूब अर्जित किया। ब्रह्मचारी गोकुलचन्दजी से ब्रह्मचर्य प्रतिमा ली, आचार्य श्री १०८ सूर्यसागरजी के आदेशानुसार क्षुल्लक-दीक्षा ग्रहण की और अन्त समय जीवन के अन्तिम फल मुनि-दीक्षा को लेकर समाधिपूर्वक निर्मल परिणामों से ईसरी (बिहार) में शरीर-त्याग किया। मुनि-दीक्षा का पूत नाम श्री १०८ गणेशकीर्ति मुनिराज था। ईसरी का पार्श्वनाथ दि. जैन उदासीनाश्रम वर्णीजी के उपदेश से स्थापित हुआ था और उसके जीवन का बहुभाग तथा अन्तिम जीवन वहीं व्यतीत हुआ। आपके उपदेश सुनने को कितने ही भक्तगण बाहर से आते थे और अनेक ब्रह्मचारिगण वहाँ रहते ही थे।

ऐसे परम उपकारी महानतम पुरुष श्री वर्णीजी के प्रति कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् ने छह वर्ष पूर्व वर्णीजी की जन्म-शती मनाने का निश्चय किया। हमें प्रसन्नता है कि इस पावन अवसर पर 'वर्णी-स्मृति-ग्रन्थ' का प्रकाशन विद्वत्परिषद् कर रही है। हमारी पूज्य वर्णीजी के प्रति विनम्र परोक्ष श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

चमेली-कुटीर, अस्सी,
वाराणसी–५ (उ. प्र.)

*

अविस्मरणीय संस्मरण

—श्री पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, ब्यावर

श्रद्धेय पूज्य वर्णी जी ने अपनी जीवन-गाथा में लिखा है कि बमराना (झांसी) वाले सेठों के साथ उनका संबंध बहुत पुराना रहा है। जब वहाँ के निवासी स्व० सेठ लक्ष्मीचंद्र जी ने अपनी जमींदारी के ग्राम साढूमल में पाठशाला स्थापित की और स्व० पं० घनश्यामदास जी प्रधानाध्यापक नियुक्त हुए, तब उन्होंने वर्षाकाल में पूज्य वर्णी जी से साढूमल आने की प्रार्थना की। वे अन्य स्थान के लिए स्वीकृति दे चुके थे, अतः अगले वर्ष वि० सं० १९७५ में वे स्व० श्री बाबा जी भागीरथ जी वर्णी और पं० दीपचंद्र जी वर्णी के साथ साढूमल पधारे और श्रावण-भाद्र-पद दो मास रहे। उस समय वे बड़े पंडित जी कहलाते थे और चातुर्मास के नियम से बँधे नहीं थे। वर्णी जी की धर्मभूमि और कार्य-क्षेत्र मड़ावरा दो मील पर होने से वहाँ के निवासी प्रमुख लोग वर्णित्रय के दर्शन एवं शास्त्र-श्रवण के लिए आते रहते थे। पाठशाला में साढूमल के स्थानीय छात्रों की अपेक्षा मड़ावरा के छात्रों की संख्या अधिक थी और वहाँ जैनियों के घर चौगुने से भी ज्यादा थे, इसलिए एक दिन वर्णी जी ने वहाँ के प्रमुख लोगों से कहा—भैया, यदि आप लोग सहयोग करें तो दोनों स्थानों को सम्मिलित एक बहुत बड़ी पाठशाला हो सकती है। चर्चा आगे बढ़ी और वहाँ के प्रमुख पंचों ने इस शर्त पर स्वीकारता दी कि पाठशाला ६-६ मास दोनों स्थानों पर रहे, या मध्य में—जहाँ पर दोनों गांवों की सीमा पर जमडार नदी बहती है वहाँ पर पाठशाला खोली

जावे। बाद को यह निश्चित हुआ कि अभी हाल तो दोनों स्थानों पर ६-६ मास रहे। आगे अवसर आने पर निर्णय होगा। वर्णी जी की प्रेरणा पर मड़ावरा के सिंघई दमरूलाल जी ने पांच हजार की और सोरया वंश के प्रमुख श्री हरीसिंह जी ने भी पांच हजार रुपये देने की घोषणा की। दोनों को वर्णी जी के कहने पर स्थानीय पंचों ने क्रमशः सवाई सिंघई और सिंघई की पदवी प्रदान की। यह हमारी स्मृति में वर्णी जी का सर्वप्रथम संस्मरण है।

आगे चलकर दोनों स्थानों की पाठशाला सम्मिलित नहीं चल सकी और मड़ावरा समाज ने अपने यहाँ स्व० पं० गोविन्दराय जी को बुलाकर स्वतंत्र पाठशाला खोल दी। जब वर्णी जी के पास यह समाचार पहुँचा और बताया गया कि मड़ावरा में जैन-संख्या अधिक होने से पढ़ने वाले बालकों की संख्या भी अधिक है और सभी प्रतिदिन न साढूमल जा-आ सकते हैं और न वहाँ के छात्रावास में रह ही सकते हैं, तब उन्होंने भी कह दिया—यदि वहाँ पाठशाला खोलने से अधिक छात्र लाभ उठाते हैं, तो अच्छी बात है। बीच-बीच में वर्णी जी दोनों जगह आते-जाते रहे और हम लोगों की परीक्षा भी लेते रहे।

सन् १९५२ के अप्रेल में भारतीय ज्ञानपीठ से मेरे द्वारा सम्पादित वसुनन्दि-श्रावकाचार प्रकाशित हुआ। मैंने उसका समर्पण वर्णीजी को किया था। उस समय वे क्षुल्लक हो चुके थे। समर्पण के शब्दों में मैंने उन्हें क्षुल्लक न लिखकर 'सचेल साधु' लिखा था। जिसका कारण यह था कि उसकी प्रस्तावना में मैंने 'क्षुल्लक' शब्द की सप्रमाण मीमासा करते हुए अन्त में लिखा था--

'क्षुल्लक' उस व्यक्ति को कहा जाता था कि जो मुनि-दीक्षा के अयोग्य कुल में या शूद्र वर्ण में उत्पन्न होकर स्व-योग्य, शास्त्रोक्त, सर्वोच्च व्रतों का पालन किया करता था। एक वस्त्र को धारण करता था। पात्र रखता था। अनेक घरों से भिक्षा लाकर और एक जगह बैठकर खाता था। वस्त्रादि का प्रतिलेखन करता था। कैंची या उस्तरे से शिरोमुण्डन कराता था। इसके लिए वीरचर्या, आतापनादि योग करने और सिद्धान्त-ग्रन्थ तथा प्रायश्चित्त-शास्त्र के पढ़ने का निषेध था।'

सबसे अन्त में मैंने लिखा था—'क्या आज के उच्च कुलीन, ग्यारहवीं प्रतिमाधारक उत्कृष्ट श्रावकों को 'क्षुल्लक' कहा जाना योग्य है ?'

जैसे ही मुद्रित प्रति मेरे पास आई, मैंने तुरन्त वर्णी जी की सेवा में सागर भेज दी। वे उस समय अनेक ब्रह्मचारियों के साथ जौहरी जी की बगीची में विराज रहे थे। प्रति भेजने के ८ दिन बाद ही उनकी 'क्षुल्लक' पद पर लिखी गई उक्त पंक्तियों पर प्रतिक्रिया जानने के लिये मैं सागर उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। उस समय वहाँ इसी प्रस्तावना का वाचन समाप्त हो रहा था। चरण-वन्दन करने के पश्चात् मैंने उनकी प्रतिक्रिया जानना चाही। वे उपस्थित जन-समुदाय को मेरा परिचय देते हुए बोले—भैया, तुमने बात तो सांची लिखी है, पर हम इन क्षुल्लक कहने वालों से का कहें ? उनके इन शब्दों को सुनकर मेरा हृदय आनन्द से गद्गद् हो गया।

एक बार वर्णी जी का ललितपुर आगमन हुआ। सारे प्रान्त के लोग उनके दर्शनार्थ गये। मेरे गांव से भी प्रायः सब लोग गये थे, पर पत्नी की अत्यधिक बीमारी के कारण मैं नहीं जा

सका। एक प्रति संक्षिप्त पत्र लिखकर उसे मैंने पं० शीलचन्द्र जी न्यायतीर्थ के साथ भेजा। उसमें मैंने लिखा था--

'यद्यपि मैं इस समय स्वाधीन होकर घर पर ही रह रहा हूँ, आप ललितपुर पधारे हैं और सारा प्रान्त आपके दर्शनार्थ उमड़ रहा है, पर घर में बीमारी अधिक होने से इस सुअवसर पर नहीं पहुँच पा रहा हूँ। इसका मुझे अत्यन्त दुःख है। कुछ तबियत सुधरते ही सेवा में उपस्थित होऊँगा ?'

वर्णी जी का उत्तर पहुँचा—

"जहाँ तक बने स्वाधीन जीवन ही बनाना चाहिये—आजकल जैन जनता में परस्पर सौमनस्य नहीं कोई पुण्यशाली भी नहीं जो इनमें सौमनस्य करा सके—आप अवकाश पाकर ही आना—आपके घर में रुग्ण हैं, उसका वैयावृत्य करना यही धर्म है।"

उक्त पत्र पाकर मैं निहाल हो गया क्योंकि इसके पूर्व कभी कोई पत्र मैंने उन्हें नहीं लिखा था और न मैं उत्तर की आशा ही कर रहा था। जब पत्र पाया और उसके एक-एक पद के अर्थ को गहराई में गया तो पाया कि वर्णीजी का हृदय कितना विशाल है। उसमें इस अकिंचन को भी उन्होंने स्थान दे रखा है। इसके बाद चतुर्मास में मैं कई बार उनकी सेवा में गया और उनका सहज स्नेह पाया।

सन् १९५७ के मई मास में मैं कलकत्ता से लौटते हुए वर्णी जी के दर्शनार्थ ईसरी उतरा। अकस्मात् बिना किसी पूर्व सूचना के मुझे आपने पास आया देखकर अतिप्रसन्न हुए। आहार को जाने के पूर्व एक बन्धु को मुझे भोजनार्थ ले जाने का संकेत किया। आप आहारार्थ जहाँ गये थे, वहाँ से कुछ फल और मीठा मेरे लिये भिजवाया। उनकी यह स्नेहमयी ममता देखकर हृदय आनन्द से भर गया।

शाम को मैंने कहा—महाराज, मधुवन जा रहा हूँ। कल गिरिराज की वन्दना करूँगा। बोले—ऐसी गर्मी में ऊपर कैसे जाओगे-आओगे ? मैंने विनयावनत होते हुए कहा—महाराज ! भक्ति सब करा लेगी। यह कह कर मैं मधुवन चला गया। दूसरे दिन गिरिराज की वन्दना करके जब ईसरी लौटा और उनके पास पहुँचा, तो देखते ही बोले -बन्दना कर आये ? मैंने कहा—हाँ महाराज। फिर पूछा—क्या पैदल ही गये थे ? मैंने कहा हाँ महाराज। सुनते ही समीप में बैठे हुए ब्रह्मचारियों को लक्ष्य कर बोले—"लोग कहते हैं—पंडितों में श्रद्धा नहीं ! बताओ—बिना श्रद्धा के कोई ऐसी गर्मी में पैदल यात्रा कर सकता है ?"

उनके हृदय में यों तो समीप पहुँचने वाले अदना-से-अदना भी व्यक्ति के लिये भी स्थान था, पर पंडितों के लिए तो वे मानों उनके पिता ही थे। जैसे पिता अपने पुत्रों को देखकर आनंद से गद्गद् हो जाता है, उसी प्रकार वे विद्वानों को देखकर आनन्द से गद्गद् हो जाते थे।

उनका स्वर्गवास हुए इतने वर्ष बीत गये, पर अभी तक कोई भी उनका स्थान नहीं ले सका और न भविष्य में लेने की आशा है। आज भी पंडित-वर्ग उनके बिना अपने को अनाथ-सा अनुभव करता है। उनके लिए सदा ही सहस्रों श्रद्धाञ्जलियां समर्पित हैं।

❀

परम-उदार महा-मानव

(प्रो. उदयचन्द्र जैन एम. ए., जैन बौद्ध—सर्वदर्शनाचार्य)

इस भारतभूमि पर समय समय पर ऐसे महापुरुषों ने जन्म लिया है, जिन्होंने अपने आचरण और कार्यों द्वारा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का पाठ पढ़ाया है और इस प्रकार भारत के प्राचीन आदर्श को सबके समक्ष रखकर प्रत्येक मानव को उदारचरित बनने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। इसीलिए कहा गया है—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

जिनका हृदय लघु होता है उनके चित्त में सदा यही विचार उठा करते हैं कि यह मेरा है और यह पराया है। किन्तु विशाल-हृदय वाले व्यक्तियों को तो सारा संसार अपने कुटुम्ब के समान प्रतीत होता है।

पूज्य वर्णी जी, जिनकी जन्म शताब्दी हम इस वर्ष मना रहे हैं, ऐसे ही उदारचरित्र महापुरुषों में से थे। वे मानवमात्र के प्रति उदार ही नहीं किन्तु अति उदार थे। उनकी उदारता के अनेक उदाहरण हमारे सामने हैं। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं जिससे उनके द्वारा अन्य जन भी कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकें और उन पर चलने का प्रयत्न भी कर सकें।

अकारण बन्धु

जब वर्णी जी मिडिल-कक्षा में पढ़ते थे उस समय उनको दो रुपया मासिक छात्रवृत्ति मिलती थी। तुलसीदास नामक एक ब्राह्मण छात्र वर्णी जी का सहपाठी था। उसके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अतः वर्णी जी अपनी दो रुपया मासिक छात्रवृत्ति उसे सहर्ष प्रदान कर देते थे। इससे ज्ञात होता है कि वर्णी जी कितने दयालु तथा उदार थे।

एक समय वर्णी जी किसी ग्राम से लौटकर सागर आ रहे थे। साथ में बरायठा वाले सेठ कमलापति भी थे। वर्णी जी मार्ग में एक कुआ पर पानी पीने लगे। इतने में क्या देखते हैं कि सामने एक पाँच वर्ष का बालक और उसकी माँ खड़ी है। बालक को पानी पिलाया और खाने को मेवा दिया। जब चलने लगे तब सामने खड़ी औरत रोने लगी। पूँछने पर पता चला कि वह विधवा और दुखी है। वर्णी जी ने उसकी दरिद्र अवस्था को देखकर अपनी धोती, दुपट्टा तथा जो रुपया पास में थे वे सब दे दिये। पहिनने को केवल लंगोट रह गया। और रात्रि होने पर उसी वेष में सागर पहुँच गये।

पतित-पावन

सागर की ही बात है। एक दिन वर्णी जी पं० बेणीमाधव जी व्याकरणाचार्य और छात्र-गण के साथ सायंकाल ४ बजे शौचादिक्रिया से निवृत्त होने के लिए गाँव के बाहर एक मील दूर गये थे। वहाँ एक औरत बड़े जोर से रोने लगी। पूँछने पर उसने बतलाया कि पैर में काँटा लग गया है। वर्णी जी ने काँटा निकालना चाहा किन्तु वह पैर नहीं छूने देती थी। कहती थी कि मैं जाति की कोरिन स्त्री हूँ। आप लोग पण्डित हैं। कैसे पैर छूने दूँ। एक छात्र ने पैर देखकर कहा कि इसमें खजूर का काँटा टूट गया है जो बिना संडसी के निकलने का नहीं। तब एक लुहार के यहाँ से संडसी मँगाई गई। कुछ छात्रों ने उसके हाथ पकड़ लिये और कुछ ने पैर। वर्णी जी ने संडसी से काँटा दबाकर ज्यों ही खींचा त्यों ही एक अंगुल का काँटा बाहर आ गया। साथ ही खून की धारा बहने लगी। फिर पानी से उसे धोकर और अपनी धोती फाड़कर पट्टी बाँध दी। उसे मूर्च्छा आ गई। वह लकड़हारी थी। जब मूर्च्छा शान्त हुई तब लकड़ी की भौरी उठाने की चेष्टा करने लगी। तब वर्णी जी ने कहा कि तुम धीरे-धीरे चलो। हम तुम्हारी लकड़ियाँ तुम्हारे घर पहुँचा देंगे। और वर्णी जी आदि ने उसका बोझ शिर पर रखकर उसके घर पहुँचा दिया। इससे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को सर्वसाधारण के प्रति दया का व्यवहार करना चाहिये। क्योंकि दया ही मानव का प्रमुख कर्तव्य है।

बण्डा की बात है। वर्णी जी उस समय बण्डा में रहते थे। एक लकड़ी बेचने वाली आई। उसकी लकड़ी चार आने में तय हुई। वर्णी जी के पास अठन्नी थी। उसे अठन्नी देकर कहा कि चार आना वापिस कर दे। उसने कहा कि मेरे पास पैसा नहीं है। तब वर्णी जी ने सोचा कि कौन बाजार तुड़ाने जावे और कहा कि अच्छा आठ आना ही ले जा। जब वह चलने लगी तब वर्णी जी की दृष्टि उसकी फटी धोती पर गई। अपनी स्वाभाविक दयालुता के कारण वर्णी जी ने बाई जी की एक धोती और चार सेर गेहूँ लाकर उस लकड़ी वाली को दे दिये।

उदार-चेता

सागर की बात है। एक दिन बाजार जाते समय लकड़ी की एक गाड़ी मिली। वर्णी जी ने उसके मालिक से पूँछा कि कितने में दोगे। वह बोला कि पौने तीन रुपया में देंगे। यद्यपि माल पौने दो रुपया का था फिर भी वर्णी जी ने लकड़ी लेना स्वीकार कर लिया। वह कटरा की धर्मशाला में लकड़ी रखने लगा। वर्णी जी ने कहा कि काट कर रखो। वह बोला काटने के दो आना और लगेंगे। वर्णी जी ने दो आना और देने से मना किया और कहा कि नहीं काटना चाहते हो तो चले जाओ, हमें लकड़ी नहीं चाहिये। वह बोला कि आपने ठहराते समय यह नहीं कहा था कि काटना पड़ेगा। मैं तो काटकर रखे देता हूँ किन्तु आपको अपनी भूल पर पछताना पड़ेगा। उसने लकड़ी काटकर रख दी। वर्णी जी ने पौने तीन रुपया दे दिये। वह चला गया। बाई जी उस समय घर नहीं थीं। जब वर्णी जी भोजन करने बैठे तब आधे भोजन के बाद अपनी भूल याद आई। भोजन छोड़कर उठ बैठे और पूँछने पर बाई जी को लकड़ी वाले की सब बात सुना दी। बाई जी ने कहा कि जब पौने तीन रुपया दिये तब दो आना और दे देते। अन्त में

वर्णी जी एक सेर मिष्टान्न और दो आना लेकर चले। दो मील चलने के बाद वह गाड़ी वाला मिला। उसे दो आना और मिष्टान्न दिया। वह आशीर्वाद देता हुआ बोला। देखो जो काम करो विवेक से करो। अब भविष्य में ऐसी भूल न करना।

एक बार वर्णी जी और सेठ कमलापति बरायठा से सागर आ रहे थे। मार्ग में एक कुआ पर पानी पीने लगे। पानी पीकर ज्योंही चलने लगे त्योंही एक मनुष्य आया और कहने लगा कि मुझे पानी पिला दीजिये। वह भंगी था। वर्णी जी ने उसको लोटे से पानी पिला दिया। सेठ जी बोले कि अब लोटा आग में शुद्ध करना पड़ेगा। वर्णी जी ने वह लोटा उसे ही दे दिया और कहा कि चलो शुद्ध करने की झंझट मिटी। वह भंगी वर्णी जी की जय बोलता हुआ चला गया।

दीन-बन्धु

एक बार वर्णी जी बनारस से सागर आ रहे थे। पचास लंगड़ा आमों की एक टोकनी साथ में थी। बीच में कटनी उतर गये और बीस आम छात्रों को दे दिये। शेष आम लेकर सागर चले। मार्ग में शाहपुर की स्टेशन पर गाड़ी पन्द्रह मिनिट रुकी। वर्णी जी ने देखा कि वहाँ कितने ही छोटे-छोटे बच्चे भीख माँग रहे हैं। उनकी करुण अवस्था देखकर वर्णी जी से न रहा गया और तुरन्त शेष तीस आम उन बालकों को बाँट दिये। बाई जी को एक भी आम नहीं बचा। सागर पहुँचने पर जब बाई जी ने पूँछा कि भैया, आम नहीं लाये, तब सब कथा सुना दी। बाई जी उनकी इस प्रवृत्ति से प्रसन्न ही हुई।

सागर की ही घटना है। वर्णी जी जिस धर्मशाला में रहते थे उसमें एक बिल्ली का बच्चा था। उसकी माँ मर गई थी। वर्णी जी उस बच्चे को दूध पिलाने लगे। बाई जी ने दूध पिलाने को मना किया, फिर भी अपनी दयालुतावश दूध पिलाते रहे। अन्त में जब वह बीमार हुआ तब दो दिन तक उसने कुछ नहीं खाया और बाई जी के द्वारा नमस्कार मंत्र का श्रवण करते हुए उसने प्राण विसर्जन किया। इससे यही शिक्षा मिलती है कि पशु-पक्षी भी सत्संगति पाकर शुभ गति प्राप्त कर सकते हैं।

गजपन्था क्षेत्र की बात है। वर्णी जी ने आरवी के एक सेठ जी के साथ पर्वत की वन्दना की और सेठ जी के आग्रह से उनके यहाँ ही भोजन किया। भोजन के अनन्तर सेठ जी मन्दिर के भण्डार में रुपया देने के लिए गये। उन्होंने पाँच रुपया दिये। वर्णी जी भी वहीं थे और उनके पास केवल एक आना था। वह भी इसलिये बच गया था कि उस दिन सेठ जी के यहाँ भोजन किया था। वर्णी जी ने सोचा कि यदि आज अपना भोजन करता तो यह एक आना खर्च हो जाता। अतः इसे भण्डार में दे देना अच्छा है। अतः वह एक आना मुनीम को दे दिया। मुनीम ने लेने में संकोच किया। किन्तु वह शुद्ध भावों से दिया गया था। इसलिये उस एक आना के दान ने वर्णी जी का जीवन ही पलट दिया। सेठ जी वर्णी जी से प्रभावित होकर अपने साथ बम्बई ले गये और वहाँ अध्ययन की अच्छी व्यवस्था हो गई।

कटनी की बात है। वर्णी जी सिघई धन्यकुमार जी के बंगला में ठहरे थे। यह बंगला

एक रमणीय उद्यान में गाँव से एक मील दूर है। एक दिन वर्णी जी गाँव में भोजन करके बाग में जा रहे थे। मार्ग में एक वृद्धा शिर के ऊपर घास का एक गट्ठा लिये बेचने जा रही थी। एक आदमी ने उस घास का साढ़े तीन आना देना कहा। बुढ़िया ने कहा कि चार आना लेवेंगे। इतने में वर्णी जी ने कह दिया, भाई घास अच्छी है, चार आना ही दे दो। तब बुढ़िया को चार आना मिल गये और वह प्रसन्न होकर चली गई।

इसके बाद वर्णी जी स्टेशन के फाटक पर आये। वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मण सत्तू का लोंदा बनाये बैठा था। वर्णी जी ने पूँछा—बाबा जी सत्तू क्यों नहीं खाते? वह बोला—भैया पानी नहीं है। वर्णी जी ने कहा कि नल से ले आओ। वह बोला कि नल बन्द हो गया है। वर्णी जी ने फिर कहा कि कुआ से ले आओ। उसने कहा कि डोरी नहीं है। तब वर्णीजी बोले कि उस तरफ नल खुला होगा वहाँ से ले आओ। वह बोला कि सत्तू को छोड़कर कैसे जाऊँ। वर्णी जी ने कहा कि मैं आपके सामान की रक्षा करूँगा, आप सानन्द जाइये।

वह उस पार गया और वापिस आकर बोला कि वहाँ भी पानी नहीं मिला। तब वर्णी जी ने कहा कि मेरे कमण्डलु में पानी है, जो स्वच्छ है और आपके पीने योग्य है। इस पर उसने प्रसन्नतापूर्वक जल ले लिया और आशीर्वाद देकर कहने लगा कि यदि भारतवर्ष में यह भाव आ जावे तो इसका उत्थान अनायास ही हो जावे।

देशभक्ति के प्रेरक

जबलपुर की बात है। उस समय आजाद-हिन्द-सेना के सैनिकों पर मुकदमा चल रहा था। पं० द्वारिकाप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में आजाद-हिन्द-सैनिकों की सहायता के लिए एक सभा का आयोजन किया गया था। वर्णी जी भी उस सभा में उपस्थित थे। वर्णी जी ने अपने व्याख्यान में कहा कि हे भगवन्, देश का संकट टालो। जिन लोगों ने देश-हित के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर किया, उनके प्राण संकट से बचाओ। मेरे पास त्याग करने को कुछ द्रव्य तो है नहीं, केवल पहिनने और ओढ़ने के दो चादर पास में हैं। इनमें से एक चादर मुकदमे की पैरवी के लिए देता हूँ और मन से परमात्मा का स्मरण करता हुआ विश्वास करता हूँ कि ये सैनिक अवश्य ही कारागार से मुक्त होंगे। अन्त में वह चादर तीन हजार में नीलाम हुई। पं० द्वारिकाप्रसाद जी मिश्र इस प्रकरण से बहुत ही प्रसन्न हुए। देश के प्रति वर्णी जी का यह उदार दृष्टिकोण था और अन्त में उनकी भावना की पूर्ण सफलता हुई।

सबै भूमि गोपाल की

हजारीबाग की बात है। एक बार वर्णी जी ईसरी से हजारीबाग आ रहे थे। ग्राम से बाहर चार मील पर रात्रि हो गई। सड़क पर ठहरने के लिये कोई स्थान नहीं था, केवल एक धर्मशाला थी, जो कि कलकत्ता में रहने वाले एक भंगी ने बनवाई थी। चूँकि वह भंगी ने बनवाई थी इसलिये साथ के लोगों ने उसमें ठहरने में एतराज किया। किन्तु वर्णी जी ने कहा—भाइयो! धर्मशाला तो ईंट चूना की है। इसमें ठहरने से क्या हानि है? इतनी घृणा क्यों? आखिर वह

भी तो मनुष्य है और उसने परोपकार की दृष्टि से बनवाई है। एक दृष्टान्त देकर कहा कि मार्ग में किसी भंगी ने छाया के लिये पेड़ लगवा दिये। तो क्या भंगी के पेड़ होने के कारण आतप से पीड़ित कोई उन पेड़ों की छाया में नहीं बैठेगा। क्या भंगी के पैसे से बनी हुई धर्मशाला में ठहरने से लोक-मर्यादा नष्ट हो जायगी। ये थे वर्णी जी के अस्पृश्य माने जाने वाले लोगों के प्रति उच्च विचार।

हरिजन मन्दिर प्रवेश

अस्पृश्यों के उद्धार की भावना तो भारत में बहुत पहले से ही चली आ रही थी किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत का जो संविधान बना उसमें मनुष्यमात्र को समानाधिकार घोषित किया गया। जिस समय देश तथा समाज में हरिजन-मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन चल रहा था उस समय वर्णी जी ने उक्त समस्या पर अपने विचार निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किये थे।

"हरिजन भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक मनुष्य हैं। उनमें सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सामर्थ्य है। सम्यग्दर्शन ही नहीं, व्रत-धारण करने की भी योग्यता है। यदि कदाचित् काल लब्धिवश उन्हें सम्यग्दर्शन या व्रत की प्राप्ति हो जाय तब भी क्या वे भगवान् के दर्शन से वञ्चित रहे आवेंगे। समन्तभद्राचार्य ने तो सम्यग्दर्शन-सम्पन्न चाण्डाल को भी देवसंज्ञा दी है। पर आज के मनुष्य धर्म की भावना जागृत होने पर भी उन्हें जिनदर्शन और मन्दिरप्रवेश के अनधिकारी मानते हैं।"

बाई जी की उदारता

वर्णी जी की धर्ममाता चिरोंजाबाई जी जितनी शान्त थी उतनी ही उदार थीं। वर्णी जी की धर्ममाता बनने के बाद उन्होंने वर्णी जी के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया था। एक बार वर्णी जी ने बनारस से बाई जी को लिखा कि पीतल के बर्तनों में खटाई के पदार्थ विकृत हो जाते हैं। बाई जी ने उत्तर दिया कि जितने आवश्यक समझो उतने चाँदी के बर्तन बनवा लो। वर्णी जी ने एक थाली एक सौ तीस तोला की, एक भगौनी सौ तोला की, एक ग्लास बीस तोला का, दो चमची दस तोला की, एक कटोरदान अस्सी तोला का, और एक लोटा अस्सी तोला वजन का बनवा लिया। जब बर्तन बनकर आ गये तब वर्णी जी ने यह विचार कर कि इनके उपयोग से इनकी सुन्दरता चली जावेगी, उन्हें पेटी में बन्द करके रख दिया। दो माह बाद सागर आने पर बाई जी ने पूँछा कि क्या इन बर्तनों को उपयोग में नही लाये ? इस पर वर्णी जी ने कहा कि उपयोग में लाने से सुन्दरता बिगड़ जाती। तब बाई जी ने हँसते हुए कहा कि तो फिर किस लिए बनवाये थे। उसी दिन से बाई जी उन बर्तनों को वर्णी जी के उपयोग में लाने लगीं। बाई जी में सबसे बड़ा गुण उदारता का था। जो पदार्थ वर्णी जी को भोजन में देती थीं वही नाई, धोबी, मेहतरानी आदि को भी देती थीं। वे कहती थीं कि महीनों बाद त्योहार के दिन ही तो इन्हें देती हूँ। खराब भोजन क्यों दूँ। आखिर ये भी तो मनुष्य हैं।

वर्णी जी की धर्ममाता चिरोंजाबाई जी ऐसी परम उदार थीं। माता के संस्कार पुत्र पर

पड़ना स्वाभाविक है। यही कारण है कि वर्णी जी मानवमात्र के प्रति उदार ही नहीं अति उदार थे। ऊपर के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि वर्णी जी के रोम-रोम में उदारता व्याप्त थी। उनके मन, वचन और काय इन तीनों से उदारता विकीर्ण होती थी। ऐसे अति उदार महामानव के चरणों में उनकी जन्मशताब्दी के अवसर पर मैं अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हूँ।

विद्वानों के प्राण

ले० श्री पं० नन्हेलाल शास्त्री, राजाखेड़ा

आदर्शत्यागी चारित्रमूर्ति बहुश्रुत विद्वान् आध्यात्मिक संत श्री १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी महाराज जो कि वर्णी जी के नाम से प्रख्यात थे, वे आज हमारे समक्ष नहीं हैं। किन्तु उनके महान् आदर्श कार्य सबके प्रत्यक्ष हैं और वे सदा रहेंगे। वर्णी जी महाराज ने जैन समाज और जैनसंस्कृति की अपने भौतिक कार्यों द्वारा जो जागृति की है वह भुलाई नहीं जा सकती। आपकी दृढ़ श्रद्धा, अकाट्य विचार और आगमोक्त सिद्धान्तों को हृदयंगत कर जनता ने जो लाभ उठाया है वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है।

महाराज की मधुर वाणी में समयसार का अमृतमय प्रवचन श्रोताओं के हृदय को खोलने और अलौकिक शान्ति पैदा कर देने में अद्वितीय कारण था। वे जैन-तत्त्व-वेत्ता महान् विद्वान् और अध्यात्मवाद के रसिक दृढ़-श्रद्धानी चारित्र-निष्ठ नररत्न थे। आपको धर्मोत्थान और धर्म-रक्षा की तीव्र लगन के साथ जैन सिद्धान्तज्ञ विद्वान् तैयार करने की बड़ी अभिलाषा थी। जिसकी पूर्ति अनेक शिक्षा संस्थाओं को खोलकर और अनेक विद्वानों को तैयार कर आपने की। आप विद्वानों के तो प्राण ही थे। एक बार सागर से ईसरी जाते हुये रास्ते के सोनागिरि धौलपुर आदि स्थानों में होते हुये राजाखेड़ा आये। यहाँ दो दिन ठहरे। घर पर पहले दिन आहार हुआ। यहाँ के स्वादिष्ट अन्नजल और धार्मिक वातावरण की बड़ी प्रशंसा की। दूसरे दिन श्री कोठारी बाबूलाल जी के यहाँ आहार करके चले गये। एक दिन शमशाबाद ठहरते हुये आगरा पहुँचे। आगरा में जिस दिन भगवान की सवारी निकल रही थी। वर्णी जी महाराज, कुछ त्यागीवर्ग, विद्वान् और श्रीमान् रथ के पीछे रस्सियों के घेरे में जा रहे थे। मैं भी राजाखेड़ा से आगरा पहुँचा और रथोत्सव में सम्मिलित होकर वर्णी जी की रस्सी से ५-७ हाथ पीछे चल रहा था। वर्णी जी ने न जाने कब इतनी दूर पर मुझे देख लिया और रस्सी से बाहर निकलकर मेरे पास आये और हाथ पकड़कर रस्सी के भीतर ले गये और साथ कर लिया। यह थी उनकी एक अल्पज्ञ व्यक्ति के साथ आत्मीयता। वर्णी जी के पूज्य पिता हीरालाल जी स्वतः हीरा थे अतः वर्णी जी उभयतः प्रकाशवान् अनमोल हीरा थे। यही कारण है कि मडावरा में जैन-धर्म-श्रवण के साधन मिलते ही उनकी अन्तर चेतना अभिव्यक्त हो गई। वे जैनधर्म के कट्टर श्रद्धानी बन गये। महाराज के पुण्योदय की भी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है, क्योंकि चिरोंजाबाई जैसी श्री-

सम्पन्न माता का मिलना, ज्ञानार्जन के योग्य साधनों, तथा जीवनभर सुख सुविधाओं की प्राप्ति एवं देश और समाज के प्रख्यात श्रीमानों और धीमानों का सेवारत रहने का लाभ आदि साधारण पुण्य के काम नहीं थे।

आपकी शान्तमुद्रा, गम्भीरप्रकृति और निश्छल-स्वभाव का अवलोकन कर आत्मा में अलौकिक शान्ति का लाभ हुये बिना नहीं रहता था। आप प्रतिभा-सम्पन्न तो इतने ऊँचे दर्जे के थे कि जिज्ञासुओं की जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान चुटकियों में कर दिया करते थे। दया के भी आप अपार सागर थे। लकड़हारों, भीख मांगने वालों जैसों के प्रति भी उनकी दया सदा सक्रिय रहती थी। वे जहाँ तक बनता उनकी इच्छा पूरी करके ही आनन्द का अनुभव करते थे। आपके द्वारा जैन संस्कृति का जो उत्थान हुआ है वह जैन इतिहास में अमर रहेगा। ऐसे महापुरुष के चरणों में मैं अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

❀

सच्चे मार्ग दर्शक

ले० जम्बूप्रसाद शास्त्री प्रज्ञाचक्षु, मड़ावरा

मेरे पिता श्री हरिसिंह जी सोंरया के साथ पूज्य वर्णी जी महाराज की अत्यन्त घनिष्ठ मित्रता थी। वर्णी जी ने अपनी जीवन-गाथा में उन्हें अपना लंगोटिया मित्र लिखा है। उनकी इस घनिष्ठता के कारण मुझे अनेकों बार पूज्य वर्णी जी के संपर्क में आने का सुअवसर मिला है। मैं अपने अशुभ कर्मोदय से बाल्यावस्था में ही दृष्टि-विहीन हो गया था फिर भी वर्णी जी की प्रेरणा से मैं दृष्टिविहीन होने पर भी जिनागम का अध्ययन दूसरों के माध्यम से करता रहा। शास्त्रिपरीक्षा भी मैंने दी। अपनी दृष्टिविहीनता पर मुझे जब कभी अन्तरङ्ग से खेद होता था, तब पूज्य वर्णी जी कहा करते थे भैया! खिन्न क्यों होते हो? जिनवाणी के श्रवण करने की तो आप में अपूर्व क्षमता है। वीतराग भगवान् की वाणी है। जगत् से पार करने वाली है। वर्णी जी के सारपूर्ण आश्वासन से मैं अपना सारा खेद भूल जाता था।

वर्णी जी मड़ावरा के रहने वाले हैं। यहाँ की धूलि में वे खेले है। यहीं के मन्दिर में शास्त्र-प्रवचन सुनकर उनकी जैनधर्म पर आस्था सुदृढ़ हुई थी। उनके बाल्यजीवन की स्मृतियां यहाँ के वृद्धजनों से सुनकर बड़ा आह्लाद होता है। जिस प्रकार की कृष्ण के मथुरा चले जाने पर उनके विरह में व्रजवासी दुखी होते रहे, उसी प्रकार वर्णी जी के चले जाने पर मड़ावरावासी दुखी होते रहे।

हमारे नगर का हीरा जग में सर्वत्र प्रतिष्ठा पा रहा है यह विचार कर मड़ावरा के लोग मन में गौरव का अनुभव करते रहे। वर्णी-शताब्दी-समारोह के प्रसंग में मैं उनके चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ—**वे मेरे सच्चे मार्गदर्शक थे।**

❀

प्रथम दर्शन

ले० विद्याभूषण पं० के. भुजबली शास्त्री, मूडबिद्री

पूज्य वर्णी जी का पवित्र दर्शन सर्वप्रथम मुझे काशी में हुआ था। उस समय मैं मोरेना विद्यालय का विद्यार्थी रहा। उस समय वर्णीजी विद्यार्थियों को न्याय पढ़ा रहे थे। बाद सागर आदि कई स्थानों में आपका दर्शन मिला। अंतिम दर्शन रोगशय्या पर ईसरी में हुआ था। आपके प्रत्येक दर्शन से मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। पूज्य वर्णीजी एक प्रकांड अध्यात्म एवं न्यायशास्त्र के विद्वान् थे। खासकर उनका चारित्र प्रत्येक आस्तिक व्यक्ति पर अपार प्रभाव डालता था। विद्या-प्रचार में वर्णीजी ने असीम कष्ट उठाया है। स्याद्वाद विद्यालय काशी और वर्णी विद्यालय सागर ये दोनों आपके प्राण ही थे। एक अजैन कुल में जन्म लेकर अद्वितीय विद्वान् तथा सर्वोच्च त्यागी बनना कोई सामान्य बात नहीं है। खासकर बुन्देलखंड के जैनों को वर्णीजी देवतास्वरूप ही थे। बड़े-बड़े लक्षाधिपतियों को वर्णीजी पर अपार श्रद्धा थी। आपकी बातों को वे महावीर की वाणी ही मानते थे। वे वर्णीजी के पावन चरणों पर अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए कटिबद्ध रहते थे।

वास्तव में बुन्देलखंड प्रांत वर्णीजी के कारण ही इतना आगे बढ़ा। वर्णीजी के प्रत्येक वाक्य अमृततुल्य रहते थे। आपके मधुर वचनों से श्रोता लोग मंत्रमुग्ध हो जाते थे। बुन्देलखंड की हरेक शिक्षासंस्था वर्णीजी का चिर ऋणी है। आजकल एक-दो नहीं, सैंकड़ों दिग्गज जैन विद्वान, जो जैनधर्म और समाज की सेवा में संलग्न हैं, वे सभी किसी न किसी प्रकार से पूज्य वर्णीजी से उपकृत हैं। आज उत्तर-भारत में जैन विद्वानों की कमी नहीं है। हाँ, आजकल दक्षिण में जैन विद्वानों की कमी खटकती है। यहाँ के जैनसमाज में उनका कोई स्थान मान भी नहीं है। उन्हें समाज में गौरव-प्रोत्साहन नही है। मालूम होता है कि थोड़े समय में दक्षिण की स्थिति शोचनीय हो जायगी।

एक विशाल सभा में जैन विद्वानों को सम्बोधित कर वर्णीजी ने कहा था कि भूख मिटाने के लिए जैन पंडितों को चना चबाकर पानी पी लेना चाहिये। मगर होटलों में जाकर खाना नहीं चाहिये। वर्णीजी का विद्याभ्यास बहुत ही कष्ट से हुआ है। उस समय जैन विद्यार्थियों को आजकल की तरह पूरी-पूरी व्यवस्था नहीं रही। इस कठिन परिस्थिति को जानने के लिये एक बार उनके पुनीत जीवनचरित्र को अवश्य पढ़ना चाहिये। आदर्शरूपी वर्णीवाणी को प्रत्येक भाषा में अनुवाद करने की आवश्यकता है। विद्वत्परिषद में इसका प्रस्ताव भी हुआ था, पर अभी तक वह कार्यरूप में देखने में नहीं आया। मैं पूज्य वर्णीजी को बहुत ही श्रद्धा से मानने वाला हूँ। इस वर्णी शताब्दी के शुभ अवसर पर मैं पूर्ण भक्ति से, हृदय से, उन्हें सादर पुनीत श्रद्धाञ्जलि समर्पित कर अपने जीवन को पवित्र तथा धन्य मानता हूँ।

परमोपकारक वर्णी जी

ले० पं० बालचन्द्र शास्त्री, दिल्ली

सन् १६२० की बात है। माता-पिता का हमारी अल्पवय में स्वर्गवास हो जाने से तथा आर्थिकस्थिति के कमजोर होने से मेरे बड़े भाई ने, जो मुझ से सिर्फ अढाई वर्ष ही बड़े थे, मुझे किसी विद्यालय में पढ़ाने का विचार किया। इसके लिये वे मुझे सागर ले गये। सागर से मुझे अन्य दो विद्यार्थियों के साथ महासभा द्वारा संचालित मथुरा महाविद्यालय में भेजा गया। परन्तु हिन्दी कमजोर होने से विद्यालय के प्रधानाध्यापक पं० रमानाथ जी ने भरती नहीं किया। तीनों को पुनः सागर वापिस आना पड़ा। वहाँ कटरा में रहकर पढ़ने के लिये लगभग चार मास तक प्रतिदिन विद्यालय में जाते रहे। इस बीच पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी का सागर में शुभागमन हुआ। उन्हें जब श्री पं० मुन्नालाल जी रांधेलीय से हम लोगों का समाचार ज्ञात हुआ तब वे हम लोगों को अपने साथ ही बनारस ले गये। इस समय वंशीधर जी (व्याकरणाचार्य, बीना) भी साथ हो गये थे। बनारस पहुँच जाने पर वर्णी जी के प्रभाव से हम चारों ने स्याद्वाद महाविद्यालय में सहज में प्रवेश पा लिया। वहाँ अध्ययन करते हुए जो कुछ भी थोड़ासा ज्ञान प्राप्त किया जा सका, यह उन वर्णी जी का महान् उपकार है, जिसे कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। मेरे जैसे सैकड़ों बालकों को उन्होंने प्रेरणापूर्वक विद्याध्ययन में लगाया। आज जो विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं उनमें अधिकांश वर्णी जी की ही देन हैं। उनके श्रीमुख से मुझे स्वयं प्रमेयकमलमार्तण्ड और अष्टसहस्री का कुछ अंश पढ़ने को मिला। उनका समस्त जैन समाज पर, विशेषतः बुन्देलखण्ड निवासी समाज पर, अपरिमित उपकार रहा, जो चिरस्मरणीय रहेगा। उनके चरणों में शत-शत प्रणाम।

✲

यह केवल कहने की बात है कि नश्वर देह से अविनश्वर सुख मिलता है। सुख तो आत्मीय गुण है। उसका घातक न तो शरीर है और न द्रव्यान्तर। यह आत्मा स्वयं रागादिरूप परिणमन कर स्वयं आकुलतारूप दुःख का भोक्ता होता है और जब रागादि परिणामों से पृथक् अपनी परिणति का अनुभव करता है तभी अनन्तसुख का उपभोक्ता हो जाता है। देह न सुख का कारण है और न दुःख का।

—गणेश वर्णी

आध्यात्मिक सन्त

श्री पं० परमानन्द शास्त्री, दिल्ली

पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी उन आध्यात्मिक सन्तों में हैं जिन्होंने संसार के बाह्य कषायमय वातावरण से अपने को सदा दूर रखने का प्रयत्न किया। वे अत्यन्त निःस्पृह और दयालु थे। वे सामाजिक वातावरण में रहे किन्तु उदासीन और निःस्पृह। उन्होंने समयसारादि अध्यात्म-ग्रन्थों का अध्ययन, मनन एवं परिशीलन किया। उनकी वाणी उनकी अध्यात्म-पटुता की निदर्शक है। उनके सरल वाक्य-विन्यास हृदय में गुदगुदी पैदा किये बिना नहीं रहते। उनके वाक्य नपे तुले अध्यात्म-रस से गर्भित सरल और सरस होते थे। उन्हें समाज में धार्मिक शिक्षा दिलाने की उत्कट अभिलाषा थी, इसी से उन्होंने अनेक विद्यालय और पाठशालाएँ खुलवाईं। उनके माध्यम से अनेक विद्वान् समुत्पन्न किये। मुझे भी उनकी असीम कृपा से विद्याध्ययन करने का अवसर मिला। अष्टसहस्री और प्रमेयकमलमार्तण्ड का पाठ भी उन्होंने पढ़ाया। उनके साथ ४ बजे से गोम्मटसार कर्मकाण्ड का पाठ करने का भी अवसर मिला। उनके साथ प्रातःकाल घूमने जाने का अवसर कई बार मिला। माघ महीने की सर्दी में उनकी दयालुता को देखकर आश्चर्य में पड़ गया। जब सड़क पर ठिठुर रहे दीन भिखारी को उन्होंने अपनी चादर दे दी। स्वयं तोलिया ओढ़कर विद्यालय वापिस पहुँचे और मुझे कटरा से दूसरी चादर लाने को कहा।

समाज की प्रेरणा से उन्होंने लाखों रुपये का चन्दा कराया। किन्तु स्वयं उससे अत्यन्त निःस्पृह रहे। बाद में उन्हें उसकी कोई चिन्ता न रही। मेरे जैसे अर्थ-हीन अनेक विद्यार्थियों को शिक्षा दिलाकर जो विद्वान् उत्पन्न किये, यह उनका उन सब विद्वानों पर असीम उपकार है। सामाजिक कुरूढ़ियों को मिटाने में उन्हें अथक श्रम करना पड़ा यह उनका समाज पर उपकार है। देश के उद्धार में भी उनका तन मन सक्रिय रहा है। ऐसे उन आदर्श गुरुवर वर्णीजी के चरणों में हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

❋

हम बहुत ही दुर्बल प्रकृति के मनुष्य हैं, हर किसी को निमित्त मान लेते हैं, अपने आप चक्र में आ जाते हैं, अन्य को व्यर्थ ही उपालम्भ देते हैं, कोई द्रव्य किसी का बिगाड़ सुधार करने वाला नहीं······यह मुख से कहते हैं परन्तु उस पर अमल नहीं करते। केवल गल्पवाद है। बड़े-बड़े विद्वान् व्याख्यान देते हैं परन्तु उस पर अमल नहीं करते।

—गणेश वर्णी

चिरस्मरणीय विभूति

लेखक—विद्वद्रत्न, धर्मदिवाकर पं. सुमेरुचन्द्र दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री
B. A. LL. B. सिवनी (म. प्र.)

पूज्य वर्णी जी के समीप हमें १९६१ के मई माह के तीसरे सप्ताह में कुछ समय व्यतीत करने का सुयोग मिला था। एक दिन रात्रि को लगभग तीन बजे उनके शरीर में बहुत पीड़ा उत्पन्न हुई। उन्होंने गढ़ाकोटा के ब्र० मूलचन्द्र जी शास्त्री को कहकर मुझे जगवाया और कहा—"भैया कुछ सुनाओ।" मैंने कहा महाराज आपने समयसार आदि महान शास्त्रों का अमृत रस खूब पिया है। मैं तो आपको आचार्य शान्तिसागर जी महाराज के जीवन की कुछ बातें सुनाता हूँ।

संस्मरण—

यह कहकर मैंने आचार्य महाराज के संस्मरण सुनाये। शरीर में बड़े भारी सर्प के लिपटने पर भी वे अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। एक बार वर्षाकाल में उनके शरीर पर असंख्य चीटियां चढ़ी रहीं। शरीर के अधोभाग को चीटियों ने खा लिया था। इससे बैठने का आसन खून से लाल हो गया था, फिर भी वे स्थिर रहे। कुंथलगिरि में समाधि के चौथे सप्ताह में मैंने उनसे पूछा था, महाराज आपके शरीर को कोई कष्ट तो नही है ?

आचार्य महाराज ने कहा था हम शरीर से भिन्न अपनी आत्मा की ओर अपनी दृष्टि लगाये हुये हैं, इसलिये हमें कोई कष्ट नही है। हम तो अपने विचारों के द्वारा लोक के अग्रभाग में पहुंचकर अनन्त सिद्धों के समीप अपनी आत्मा का ध्यान करते हैं।

इस प्रकार आचार्य महाराज की अनेक जीवन घटनाओं के साथ महापुराण में प्रतिपादित भरत चक्रवर्ती की कुछ बातों पर प्रकाश डाला इससे पूज्य वर्णी जी बड़े संतुष्ट हुए और बोले "भैय्या तुमने तो हमारे शरीर के कष्टों को दूर कर दिया। इसके पश्चात् सवेरे और सायंकाल की शास्त्रसभा में उपस्थित लोगों के समक्ष हमारी चर्चा का उल्लेख करते हुए कहा कि उससे उन्हें बड़ी शांति मिली। मैंने कहा, "महाराज आप हमारे गुरु हैं। हमें आपने अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ बनारस में पढ़ाये थे। आपकी सेवा करना हमारा कर्त्तव्य है।"

उस दिन अवसर मिलने पर प्रकांड विद्वान पंडित शिखरचन्द जी शास्त्री ईसरी वालों के समक्ष हमने बाबा जी से कुछ आवश्यक प्रश्न पूछे। उन्होंने बड़ा सुन्दर समाधान किया था।

प्रश्न—यदि सम्यग्ज्ञान की संपत्ति बँटे, तो क्या निश्चयनय को सवा आठ आना और व्यवहारनय को पौने आठ आना हिस्सा मिलेगा ?

उत्तर—जैसा सच्चा ज्ञानपना निश्चयनय में है उसी प्रकार सच्चा ज्ञानपना व्यवहारनय

धर्म तो आत्मा में है, हम निमित्तों में
खो जाते हैं। चश्मा निर्मल रखने में
(आत्मा का) नेत्र बिना आत्मा
नहीं देख सकता अतः नेत्र की
रक्षा भी आवश्यक है — चश्मा
भी सहकारी है।

गणेश वर्णी

समता की धारा वह निकली,
उठ गए जिधर ये सबल-चरण,
मानव-मानव का भेद मिटा,
अशरण को भी मिल गई शरण।

—नीरज जैन

गया में चातुर्मास सन् १९५३
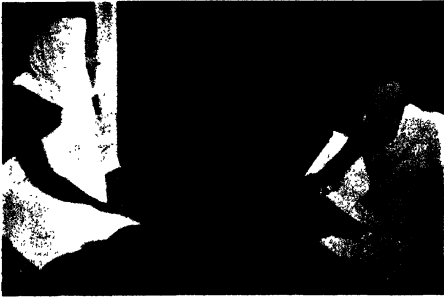
वर्णी जी और विनोबा भावे—दो सन्तों का साक्षात्कार

दसलक्षण धर्म के प्रवचन—मंच पर सर्वश्री प्यारेलाल भगत,
जुगलकिशोर मुख्तार और पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

में भी हैं। क्योंकि दोनों सम्यग्ज्ञान के बेटे हैं। व्यवहारनय का कथन उतना ही सच्चा है जितना कि निश्चयनय का।

प्रश्न—व्यवहारधर्म का पालन करने से क्या लाभ है ?

उत्तर—व्यवहारधर्म सम्यग्दर्शन का साधन है। वह चारित्र का भी साधक है। इस प्रकार देवपूजा आदि व्यवहारधर्मों के द्वारा जीव का कल्याण होता है।

प्रश्न—सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना चारित्र नहीं पालना चाहिये, वह निस्सार हैं, विचारवान को साररहित पदार्थ नहीं अपनाना चाहिये ? इस विषय में उचित बात क्या है।

उत्तर—सम्यक्त्व नहीं प्राप्त होने पर भी चारित्र का अभ्यास करना अच्छा है। क्योंकि चारित्र के द्वारा आगामी सुगति होगी। दूसरी बात यह है कि इससे धर्म के निमित्त मिल जायेंगे। इसलिये सम्यक्त्व के अभाव में भी संयम का शरण स्वीकार करने में सदा तत्पर रहना चाहिये।

प्रश्न—निमित्तकारण को लोग व्यर्थ में महत्त्व देते हैं। असली कारण तो उपादान कारण है। उपादान में ही कार्य होता है। उस समय निमित्तकारण केवल उपस्थित रहता है, वह कुछ करता नहीं। आपका अनुभव क्या है ?

उत्तर—कार्य की उत्पत्ति में निमित्त और उपादान दोनों कारण आवश्यक हैं। जैसे—उपादान कारण के अभाव में कार्य नहीं होता, उसी प्रकार निमित्तकारण के अभाव में भी कार्य नहीं होगा। ऐसा निमित्तकारण मानने की क्या जरूरत है। जो उपादान का सहायक न बनकर केवल उपस्थित रहता है। निमित्त यदि कुछ नहीं करता तो बताओ बिना पानी के चावल भातरूप क्यों नहीं बनता ? जल के बिना क्या चावल, भातरूप में परिणमन करेगा ?

प्रश्न—आजकल लोग एक समयसार को ही लिये रहते हैं, मानो अन्य आगमग्रन्थ कल्याणकारी नहीं है। सामान्यतया लोगों को किन-किन ग्रन्थों का स्वाध्याय करना आपकी दृष्टि में लाभकारी रहेगा।

उत्तर—आजकल सर्वसाधारण को जैन-सिद्धान्त-प्रवेशिका अवश्य पढ़ना चाहिये। द्रव्यसंग्रह की टीका बड़ी सुन्दर है। पद्मपुराण सुन्दर ग्रंथ है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार भी सुन्दर ग्रन्थ है।

प्रश्न—व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है। अभूतार्थ का भाव मिथ्या है, ऐसा कोई-कोई मानते हैं, इसलिये वे व्यवहारनय को हेय बताते हैं, क्या व्यवहारनय मिथ्या है ?

उत्तर—व्यवहारन जो अभूतार्थ है सो अभूतार्थ का भाव मिथ्या नहीं है। जो व्यवहारनय निश्चयनय से निरपेक्ष है, वह व्यवहारनय मिथ्या है। अतएव वह नयाभास हो जाता है। इसी प्रकार वह निश्चयनय भी मिथ्या तथा नयाभास है, जो व्यवहारनय से निरपेक्ष है। व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों सम्यग्ज्ञान के अंग होने से सम्यक् हैं। जब व्यवहार और निश्चय दृष्टियां परस्पर में निरपेक्ष होती हैं तब उन दोनों को मिथ्यानय कहा जाता है। व्यवहारनय अवस्तु को विषय नहीं करता है। वह पर्यायग्राही होने से अभूतार्थ माना गया है। उसे झूठा मानना अयोग्य है। व्यवहारनय उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान से सम्बन्धित है जिसप्रकार निश्चयनय।

प्रश्न — आजकल कोई २ गृहस्थ अन्य लोगों को सम्यक्त्वी कह दिया करते हैं। जो उनके विचार से सहमत नहीं हैं, वे उसे मिथ्यात्वी कह दिया करते हैं। सो क्या गृहस्थ को इतना ज्ञान है कि वह दूसरे के सम्यक्त्वीपन का निश्चयरूप से कथन कर सके ?

उत्तर— गृहस्थ दूसरे के सम्यक्त्व के सद्भाव असद्भाव का निरूपण नहीं कर सकता। करणानुयोग में निरूपित सम्यक्त्व को वह नही बता सकता, क्योंकि गृहस्थ कर्मों के उपशम, क्षय क्षयोपशम आदि को साक्षात् नहीं देख सकता।

आगम से ज्ञात होता है कि सम्यक्त्वरूप-निधि को पाने वाला गृहस्थ देवपूजा आदि कार्य करता है। सम्यक्चारित्र के दो भेद कुंदकुंद स्वामी ने चारित्रपाहुड़ में बताये हैं। श्रावक का चारित्र सम्यक्चारित्र-रूप धर्म का अंग हैं। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं में व्रत-प्रतिमा है। उसका अंग दूसरी प्रतिमा है। उसमें 'अतिथिपूजा' नाम का शिक्षाव्रत है। उसमें दान पूजा का समावेश हैं इस कारण दान पूजा आदि को सम्यक्चारित्र के अन्तर्भूत होने से धर्मपना प्राप्त होता है। अध्यात्मशास्त्र के पंडित बनारसीदास जी ने जिनेन्द्र भगवान की पूजा को स्वर्ग तथा परम्परा से मोक्ष का कारण कहा है।

> देवलोक ताके घर आंगन राजरिद्धि सेवें तसु पाय।
> ताके तन सौभाग्य आदि गुन केलि विलास करें नित आय॥
> सो नर तुरत तिरें भवसागर निर्मल होय मोक्षपद पाय।
> द्रव्य, भाव, विधि सहित बनारसि जो जिनवर पूजें मन लाय॥

पूज्य वर्णी जी केवल अध्यात्मशास्त्र के ज्ञाता नहीं थे, वे न्याय के आचार्य थे और संयम-रूपी अमृत का रसपान करने वाले महाज्ञानी संत थे। इसलिये उनकी जिनवाणी-रूपी-वीणा द्वारा स्याद्वाद का मधुर संगीत सुनाई पड़ता था। पूज्य वर्णी जी के पास से सिवनी वापिस आने पर उनका ३० मई सन् १९६१ का लिखा पत्र प्राप्त हुआ।

श्रीमान् दिवाकर पं० सुमेरचन्द्र जी,

योग्य कल्याणभाजन हो।

पत्र मिला समाचार जाने। हमारा स्वास्थ्य गर्मी के कारण अति कमजोर हो गया है। यहाँ माता कुंथुमती जी तथा ऐलक सिद्धिसागर जी आदि सब संघ सानंद है। आप भी सकुशल होंगे। आपकी तीर्थंकर पुस्तक अनुपम है। एकत्र सर्व-सामग्री का संयोग किया है। जैनधर्म की प्राचीनता इससे पूर्ण झलकती है। इतिहास के गवेषियों को यह संक्षेप में अतिगंभीर शिक्षा देने वाली है। इसमें तीर्थंकरों की सर्वोदय सामग्री सन्निहित है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए सच्चा शास्त्र है। मैंने इसे सुना। सुनकर अपूर्व आह्लाद हुआ। आज ऐसे ही ग्रंथों की लोक में आवश्यकता है। उसकी पूर्ति इस पुस्तक से हो गई। घर में सबसे शुभाशीः कहना।

आ. शु. चि.— गणेश वर्णी

दुर्भाग्य की बात रही कि पूज्य बाबा जी की बीमारी का समाचार न मिलने से मैं उनकी समाधि के समय सेवा न कर पाया। उस समय अद्भुत कारण-कलाप एकत्रित हो गए थे।

भाग्यवान—

यथार्थ में वे बड़े भाग्यवान सत्पुरुष थे, जो जैनेतर कुल में जन्म लेने पर भी सौभाग्य से चिन्तामणि-तुल्य जैनधर्म-रूपी रत्न उनके हाथ लग गया। उन्होंने सम्यक् श्रद्धा ज्ञान के साथ सम्यक् चारित्र रूप त्रिवेणी में स्नान कर अपना मनुष्य-जन्म कृतार्थ किया तथा सहज उदार स्वभाववश अगणित लोगों को सत्पथ में लगाया।

महान भक्त—

पूज्य वर्णी जी महान दार्शनिक, अध्यात्म-शास्त्रवेत्ता होने के साथ जिनेन्द्र भगवान के महान भक्त रहे हैं। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से संसार के समस्त दुःख दूर होते हैं। आचार्य समंतभद्र ने कहा है "क्लेशाम्बुधे नौ पदे"— दुखीरूपी समुद्र के पार जाने के लिए नौका के समान जिनेन्द्र भगवान के चरणकमल हैं। मुनिराज के छह आवश्यकों में बंदना के द्वारा जिनेन्द्रभक्ति का ही वर्णन है। भक्ति के द्वारा पाप का क्षय होता है। इससे संकट दूर होते हैं और शुभकर्म के उदय से मनोवांछित वस्तु भी मिलती हैं।

वर्णी जी की तीर्थभक्ति का यह भी उदाहरण सत्पुरुषों के लिये स्मरण-योग्य है। "गर्मी के दिनों में शिखर जी की वंदना के पश्चात् पर्वत की प्रदक्षिणा के लिये चला। प्यास के मारे कंठ सूख रहा था, पानी का पता नहीं था, मैंने पार्श्वनाथ भगवान को स्मरण कर कहा—भगवन्! आपकी निर्वाणभूमि की बंदना करने वाला भक्त नरक और पशु गति में नहीं जाता। आज प्यास से पीड़ित हो आर्तध्यान-पूर्वक यदि मेरा मरण हो गया तो मैं दुर्गति का पात्र बनूंगा। भगवान, ऐसा करो कि मुझे दुर्गति में न जाना पड़े। थोड़ी देर के बाद निर्मल जल से भरा एक कुंड दिखाई पड़ा। उसके जल से प्यास बुझाकर हम सानंद प्रदक्षिणा कर लौट आये।"

वर्णी जी कहते थे "जिनेन्द्र देव की भक्ति में बड़ी शक्ति है उससे सब संकट दूर हो जाते हैं।"

मंद-कषाय—

इस काल में धर्मध्यान रूप शुभभाव हो सकता है। शुक्लध्यान-रूप शुद्धभाव नहीं होता यह बात कुंदकुंदाचार्य ने भावपाहुड़ तथा मोक्षपाहुड़ की ६ नम्बर की गाथा में कही है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है कि "मंदकसायं धम्मं" ॥ गाथा ४७० ॥, धर्मध्यान में कषाय मंदरूप रहती है। पूज्य वर्णी जी में कभी भी तीव्र-कषाय नहीं देखी गयी। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की यह गाथा जिन गुणों पर प्रकाश डालती है, वे सभी गुण पूज्य वर्णी जी में थे। उनके कारण ही वे सर्वप्रिय और सर्वमान्य रहे, तथा जो व्यक्ति अपने जीवन में इन गुणों को प्राप्त करेगा वह भी उनके ही समान महान आत्मा बनेगा। वह गाथा इस प्रकार है—

सव्वत्थवि पियवयणं दुव्वयणे दुज्जणे वि खमकरणं ।
सव्वेसिं गुणगहणं मंदकसायाण दिट्ठंता ॥

सब व्यक्तियों के प्रति प्रिय वचन बोलना, दुष्ट वचन बोलने वाले दुजन के प्रति क्षमाभाव धारण करना तथा सब के गुण ग्रहण करना ये बातें मंदकषाय वाले जीव के उदाहरण हैं ।

उनका यह कथन बड़ा मार्मिक है—चित्त को उदार बनाओ, परपदार्थों की आशा छोड़ो, पर के दोष देखने का जो स्वभाव बना रखा है उसे त्यागो । वैराग्य-दृष्टि को विकसित करो । वैराग्य ही तो मोक्षमार्ग है । वैराग्य के बिना केवल अपने को ज्ञायकभाव बताने वाले से तुम ज्ञाता दृष्टा नहीं हो जाओगे । परपदार्थ में जो इष्ट अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है उसको दूर करने का प्रयत्न करो ।

राग द्वेष त्याग का उपाय—

परपदार्थ में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि दूर करने का अथवा राग तथा द्वेष के परित्याग का क्या उपाय है इस विषय में समंतभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है—

रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ ४७ ॥

मुनिराज राग तथा द्वेष के परित्याग हेतु चारित्र को स्वीकार करते हैं । जो चारित्र से डरते हुए राग द्वेष त्याग की कल्पना करते हैं, वे इसी प्रकार के विचित्र बुद्धिमान हैं, जो पानी में घुसे बिना नदी पार करने की संतरण-कला का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं ।

कुंदकुंद स्वामी ने शीलपाहुड़ में यह बड़ी महत्त्व की बात कही है ।

णाणं चरित्तसुद्धं थोवो वि महाफलो होदि ॥ ६ ॥

सम्यक्चारित्र से शुद्ध ज्ञान थोड़ा होते हुए भी महान फल का दाता होता है । पूज्य वर्णी ने अपने ज्ञान को चारित्र से समलंकृत कर अपूर्व कार्य किया । इसके कारण वे चिरस्मरणीय विभूति हो गए ।

✻

लोगों की अन्तरङ्ग भावना त्यागी के प्रति निर्मल है, किन्तु इस समय त्यागी वर्ग उतना निर्मल नहीं ।

— गणेश वर्णी

बड़े पण्डितजी

स्वामी सत्यभक्त, वर्धा

जैन समाजमें जो आज वर्णीजीके नामसे विख्यात हैं वे मेरी छात्रावस्थाके आचार्य हैं और हम लोग उन्हें बड़े पण्डितजी कहते रहे हैं। आज मैं कार्यक्षेत्रके अन्तरसे, विचारोंकी भिन्नतासे उनसे काफी दूर पड़ गया हूँ फिर भी उनके प्रति जो आत्मीयताका भाव है वह क्षेत्र; काल; भावका अन्तर आ जाने पर भी बना हुआ है और सन् ११ से सन् १६ तक के वर्षोंके अनेक छोटे बड़े दृश्य चल-चित्र-पटकी तरह दिखाई देते हैं। उन सबका वर्णन करने लग जाऊँ तो पोथा नहीं तो पोथी जरूर बन जाय। पर न तो इतना समय है और न इतनी उपयोगिता, इसलिए दो एक घटनाएँ ही लिख रहा हूँ।

मनोवैज्ञानिक चिकित्सक—उन दिनों सागरमें प्लेग था। विद्यार्थियोंको घर भेजकर पाठशाला बन्द करनेकी अपेक्षा बड़े पण्डितजीने यह ठीक समझा कि पाठशाला कुछ माहके लिए स्थानान्तरित कर दी जाय। और काफी दूर बरुआसागर (झांसी) में स्थानान्तरित की गई। एक दिन जरुवा-खेड़ा रुके पर वहाँ रहने लायक परिस्थिति नहीं थी इसलिए बरुवासागर पहुँचे। स्थान बड़ा अच्छा था। सागरके समान वहाँ का तालाब, उससे निकलने वाली पक्की नहरें, उनमें स्नान आदि के दृश्य आज भी गुदगुदी पैदा करते हैं। यहीं एक छोटी-सी घटना ऐसी हुई जिसका प्रभाव मेरे जीवनके एक पहलू पर काफी स्थायी हुआ।

एक दिन मेरा एक साथीके साथ कुछ झगड़ा हो गया और उसने उसमें मुझे एक धक्का मार दिया। धक्का नाममात्रका था उससे कुछ चोट नहीं पहुँची पर उतनेसे ही अभिमानी मन घायल हो गया। शरीरमें निर्बल होनेसे मैं धक्का का बदला धक्कासे नहीं दे सका था इसलिए बदला लेनेका काम दिमाग को ही सोचना पड़ा। मैंने उस साथीके विरोधमें कुछ दोहे बनाये जिनमें गालियाँ भरी हुई थी, मजाक भी था। दोहे हुए पच्चीस और नाम भी रख लिया 'दुष्ट पच्चीसी'। यह बात सन् १४ की होगी, मेरी उम्र भी उस समय करीब पन्द्रह वर्ष की थी। इस तरह मैं बदला लेनेके मौकामें कवि बन गया और जिन्दगीकी पहली कविता बना डाली। दुष्ट-पच्चीसी मैं अकेलेमें एक-एक विद्यार्थीको सुनाने लगा और इससे मेरे साथीको सब चिढ़ाने लगे और वह बहुत दुखी हुआ। जितना जितना वह दुखी हुआ उतना उतना मेरा प्रतिहिंसक मन प्रसन्न हुआ। मेरे साथीने किसी दिन छिपकर उस कविताकी नकल करली और एक अध्यापक के सामने पेश कर दी। उनने मुझसे जबाब-तलब किया मैंने एक दार्शनिककी तरह उत्तर दिया कि जब इनने मुझे धक्का मारा और इसकी अपेक्षा शरीरमें निर्बल होनेके कारण मैं धक्केसे ही बदला न ले सका। तब बतलाइये कि मैं क्या करता? आपसे शिकायत करता तो आप कहते 'चोट बताओ'। धक्केकी चोट तनपर तो थी नहीं, मन पर थी। मैं मनकी चोट कैसे दिखाता? तब आप उपेक्षा कर देते और मेरा जी जलता रहता। इसलिए जिस तरीकेसे मैं अपने अपमान का बदला ले सका, मैंने लिया।

इस उत्तर में उन्हें मेरी धृष्टता दिखाई दी और वास्तवमें धृष्टता थी भी, इसलिए उन्होंने चुपचाप इस मामलेकी अपील बड़े पण्डितजीके पास कर दी। पर बड़े पण्डितजीने इस मामले को एक शासककी तरह न लिया किन्तु एक चिकित्सककी तरह लिया। उन्होंने न मुझे बुलाया, न डाँटा फटकारा।

दूसरे दिन मैं स्नान करके आ रहा था कि बड़े पण्डितजी सामने खड़े मिल गये। उन्होंने मुझसे बिना किसी प्रकारकी भूमिका बाँधे कहा 'दरबारी! तुम कविता तो अच्छी करते हो भैया!'' । मैं लज्जासे स्तब्ध होकर नीची नजर करके खड़ा हो गया। एक मिनिट रुककर वे बोले—'यदि तुम भगवानूकी प्रार्थना बनानेमें अपनी शक्ति आजमाओ तो मुझे बहुत प्रसन्नता हो।'

फिर भी मैं चुप रहा। पर एक क्षणमें ही लज्जाका विवाह उत्साहके साथ हो गया। तब वे बोले–'अच्छा जाओ, मेरी बातका ध्यान रखना।' मैं बिना कुछ बोले चल दिया और अपने स्थानपर पहुँचकर कविता बनाने बैठ गया। उस समय पाठशालामें जिस लयकी प्रार्थना पढ़ी जाती थी उसी लयमें शामतक मैंने दो प्रार्थनाएँ बना डाली। एक सुबहके लिए, दूसरी शामके लिए। और जब मैंने दोनों कविताएँ बड़े पंडितजीको सुनाई तो उन्होंने खूब शाबासी दी और वे कविताएँ प्रार्थनामें भी पढ़ी जाने लगीं।

कुछ माह बाद पाठशाला सागर आ गई। एक दिन कक्षामें सब बैठे हुए थे कि डाँक आई उसमें जैनगजट निकला। बड़े पण्डितजी मुखपृष्ठ की एक कविता पढ़ने लगे और तारीफ करने लगे। जब पृष्ठ लौटा तो उसके नीचे मेरा नाम था। नाम पढकर उनके हर्ष और आश्चर्यका ठिकाना न रहा। किसी चिकित्सकने किसी रोगीकी चिकित्साकी हो और थोड़े दिन बाद ही रोगी ने अखाड़ेमें मैदान मारा हो, यह देखकर चिकित्सकको आश्चर्यजनक प्रसन्नता हो सकती है वही प्रसन्नता बड़े पण्डितजीको हुई।

वक्तृत्व—एकबार जब मैं घर गया और वहाँ व्याख्यान देते न बना तो मुझे बड़ी शर्म आई, हालाँकि उन दिनों मेरे ज्ञानकी पूंजी रत्न करण्ड-श्रावकाचारके दश बारह श्लोक पढ़ने तककी ही थी, पर सागर पाठशालाका नाम बड़ा था इसलिए मैं पढ़ा चाहे जितना कम होऊँ पर व्याख्यान न दे सकने ने मुझे शरमिन्दा कर दिया। मैंने बड़े पंडितजीसे यह बात कही। कुछ दिन तो उन्होंने उपेक्षा की पर एकाध वर्ष बाद उन्होंने एक साप्ताहिक पत्रकी योजना कर दी। पर शुरूमें तो किसीको व्याख्यान देना आता ही न था। मुझमें उत्साह बहुत था, पर व्याख्यान देने के लिये उत्साह ही तो काफी नहीं होता। कला, निर्भयता तथा कुछ निर्लज्जता भी तो चाहिये। तब बड़े पंडितजीने कहा—कि 'तुम्हें कुछ बोलना नहीं सूझता तो गाली देना तो आता है। गाली ही दो' और मुझे खड़ा कर दिया और मैं सहमते-सहमते कुछ कुछ बोल ही गया। फिर तो उन्होंने मुझे सभाका मंत्री बना दिया और जब तक मैं सागर पाठशालामें रहा मैं ही मंत्री रहा और काफी बोलने लगा और जब मैं सन १७ में बनारस गया तब वहाँ मेरी वक्तृत्व शक्तिकी ख्याति पहिले ही पहुँच गई थी और कुछ समय बाद मैं वहाँ भी मंत्री बना दिया गया और अन्त तक रहा। 'बोलना नहीं आता तो गाली ही दो' बड़े पंडितजीका यह वाक्य-बीज काफी फला-फला।

खिलाड़ी—कोई आदमी बड़ा विद्वान् हो और तपस्वी हो तो महान् तो कहला सकता है, उनकी गिनती देवताओंमें भी हो सकती है परन्तु यदि उसमें विनोद न हो, प्रसन्नताकी वृत्ति न हो तो पूर्ण आदमी नहीं बन सकता। पूर्ण आदमीमें चारों पुरुषार्थ चाहिये। निर्दोष काम भी चाहिये। यह पूरी आदमियत देवत्वसे भी दुर्लभ है।

मानता हूँ हो फरिश्ते शेखजी।
आदमी होना मगर दुश्वार है॥

पर बड़े पंडितजीमें वह आदमियत काफी थी। इसीलिए हम सरीखे बालकोंको लेकर मैदानमें जाते थे और 'खो' खेलते थे और खेलनेमें पूरे खिलाड़ी बन जाते थे और हमारी गलतियाँ अधिकारीकी हैसियतसे नहीं खिलाड़ी की हैसियतसे सुधारते थे। असाधारण होकर भी उचित मान्यता पर साधारण बन जाना ऐसी असाधारणता है जिसपर सैकड़ों असाधारणताएँ न्योछावर की जा सकती हैं?

स्वावलम्बन—सन् १६१६ की बात है। मैं स्याद्वाद विद्यालय बनारसमें अध्यापक हो गया था। बड़े पंडितजी कुछ दिनोंके लिए भेलूपुरा आकर ठहरे थे। मैं प्रतिदिन शामको भदैनीसे भेलूपुरा उनसे मिलने जाता था फिर उनके साथ बात करता हुआ थोड़ी दूर टहलने भी जाता था। बड़े पंडितजी काफी स्वावलम्बी थे और अपना बहुत-सा काम अपने ही हाथसे करते थे। उनका एक मिट्टीका बर्तन था जिसमें वे तेल रक्खा करते थे। उन्हें उस दिन तेल खरीदना था। उन्होंने वह बर्तन उठा लिया और मुझे साथ लेकर घूमने निकल पड़े। मैं सोचता था कि बर्तन मेरी ओर बढ़ाएँगे और मैं ले लूंगा, यह सर्वथा उचित भी था पर उन्होंने वह बर्तन न दिया तब मुझे ही उनके हाथसे बर्तन छीन लेना पड़ा। 'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रे मित्रवदाचरेत्' का यह प्रतिपालन था जो कि उनकी स्वावलम्बन-वृत्तिका सूचक था।

बड़े पंडितजी की विद्वत्ता, वक्तृत्व, त्याग, तप आदि बड़ी-बड़ी बातें विख्यात हैं अतः उन्हें संस्मरणका विषय बनाना बेकार-सा है। आदमीकी सच्ची परख छोटी और छिपी बातोंसे होती है इसलिए मैंने भी दो-चार ऐसी ही बातें की हैं।

❋

वही मनुष्य सुख का पात्र होता है जो विश्व को अपना नहीं मानता। पर को अपना मानना ही संसार की जड़ है।

—**गणेश वर्णी**

मेरे जीवन-निर्माता

ले० डा० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

पिताजी का स्वर्गवास हो जाने के बाद जब १६१६ में मैं सागर आया तब मेरी अवस्था ७-८ वर्ष की थी। सागर आने पर ही मेरी स्कूली पढ़ाई शुरू हुई। मैं दिन को स्कूल में पढ़ता था और रात को गौराबाई जैन मन्दिर में लगने वाली स्थानीय पाठशाला में बालबोध तथा पूजा-पाठ पढ़ता था। पूज्य वर्णीजी ऊपर छत पर शास्त्र-प्रवचन कर जब नीचे हमारी पाठशाला में आते थे तब हम लोगों से कुछ न कुछ पूछा करते थे। उनके प्रश्नों का उत्तर मुझसे बन जाता था इसलिये साथ के लोगों से वे कहा करते थे – इसे पढ़ाना है।

जब मैं हिन्दी की चौथी कक्षा पास कर चुका तब वर्णीजी ने मुझे अपनी सत्तर्कसुधा-तरङ्गिणी दि० जैन पाठशाला में भरती कर लिया। फीस देने को मेरा सामर्थ्य नहीं था, इसलिये उन्होंने मेरा नाम कमरया लक्ष्मणदास-ट्रष्ट की ओर से निःशुल्क भर्ती होने वाले ३० छात्रों में लिखा दिया। मैं निश्चिन्त होकर अध्ययन करने लगा। उस समय जिस छात्र के लिये जो ग्रन्थ वर्णीजी बता देते थे उसे वही पढ़ाया जाता था। कोई बँधा हुआ पठनक्रम नही था। वर्णी जी ने मुझे पहली साल अमर कोष-मूल, अष्टाध्यायी के सूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार पढ़वाया। छात्र की देखरेख वर्णीजी स्वयं रखते थे। अपराह्न काल में पठित श्लोकों की परमाच करना पड़ती थी और प्रातः पढ़े हुए श्लोकों को स्लेट पर लिखना पड़ता था। रात्रि को सामायिक के बाद वर्णीजी घंटा आध घंटा के लिये छात्रों को बुलाकर उनसे पिछला पूछते थे। तात्पर्य यह कि इतनी चौकसी में अगला और पिछला सब पठित विषय तैयार रखना पड़ता था।

तीसरी वर्ष बनारस की प्रथमा-परीक्षा देने का अवसर आया। इसी बीच कमरया रज्जीलाल जी के मन में लक्ष्मणदास कमरया ट्रस्ट के ३० छात्रों को लेकर अपनी पाठशाला स्वयं चलने की भावना उठी। मेरा नाम कमरया ट्रष्ट के छात्रों में था परन्तु वर्णीजी ने उस समय के सुपरिन्टेन्डेन्ट पं० मूलचन्द जी से कहा कि कमरया जी स्वतंत्र संस्था चला नही सकेंगे ऐसा हमारा विश्वास है। छात्रों का भविष्य खराब होगा। जिसका जो होना हो सो हो पर 'मूलचन्द्र जी आप पन्नालाल का नाम उनकी सूची से अलग कर अपनी सूची मे लिख लो। इसका भविष्य खराब न हो।' वर्णी जी की आज्ञानुसार मेरा नाम कमरया ट्रष्ट की सूची में नहीं रहा। अतः मुझे उनकी स्वतन्त्र पाठशाला में नहीं जाना पड़ा। दो साल बाद कमरया जी ने वर्णीजी के चरणों में माथा टेक कर कहा – महाराज जी ! स्वतन्त्र पाठशाला चलाना मेरे वश की बात नहीं है। आप ही चलाइये। मैं तो प्रायश्चित-स्वरूप यहां के भवन बनवाये देता हूँ। दो साल के बीच होने वाली अव्यवस्था से वर्णीजी ने मुझे बचा लिया।

प्रथमा पास होने के बाद उन्होंने मुझे सिद्धान्तकौमुदी और सर्वार्थसिद्धि पढ़वाई। संस्था

में स्वतंत्र व्याकरणाध्यापक नहीं था, अतः उन्होंने अलग से छेदीप्रसाद जी शर्मा को व्याकरणाध्यापक रखवाया। उनसे मुझे तथा कमलकुमार जी को, जो आजकल कलकत्ता में हैं, व्याकरण पढ़वायी। कमेटी ने वर्णी जी से कहा कि व्याकरण पढ़ने वाले दो ही लड़के हैं, अतः इनके लिये स्वतन्त्र अध्यापक नहीं बुलाया जाय। वर्णी जी ने उत्तर दिया कि यदि ये दो ही लड़के व्याकरण पढ़ गये तो आप लोगों को अजैन पण्डितों की दासता से मुक्त कर देंगे।

वर्णी जी कहा करते थे कि अधिक ग्रन्थ पढ़ने वालों की अपेक्षा थोड़े ग्रन्थ पढ़ने वाले अधिक विद्वान् बनते हैं। इसलिये उन्होंने हमें व्याकरण-मध्यमा के खण्ड और एक धर्मशास्त्र, ये दो ही विषय पढ़वाये। जैनसाहित्य और जैनन्याय से हमें दूर रखा। उनका कहना था कि यदि तुमने व्याकरण ठीक पढ़ ली तो ये विषय अपने आप आ जावेंगे।

व्याकरण-मध्यमा के चार खण्ड और काव्यतीर्थ की परीक्षा पास कर लेने पर एक साल में उन्होंने समस्त जैन साहित्य और प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा अष्टसहस्री पढ़वा दी। सन् १९३१ में जब अध्यापकी की नौकरी करने के लिये मैं उदयपुर जाने लगा तब वर्णीजी बरुवासागर में थे। उन्हें पता चला कि यह उदयपुर जा रहा है उन्होंने बरुवासागर से तार दिया कि पन्नालाल को रोको हम सागर आ रहे हैं। मैं रुक गया और दूसरे दिन वर्णी जी सागर आ गये। उन्होंने मुझे अपने ही विद्यालय में अध्यापक रख लिया। विद्यालय की आर्थिक स्थिति कमजोर थी इसलिये उन्होंने चालू कार्यकर्ताओं को दान की रसीद देकर उनके वेतन से कुछ कटौती कर ली और मुझे २५) मासिक पर साहित्याध्यापक रख लिया।

मन में खेद तो रहता था कि ७ साल पढ़ा और वेतन २५) ही मासिक मिला। एक दिन उन्होने कहा कि देखो, व्यग्र मत होना। काम लगन से करो। इसी वेतन से फलो फूलोगे। मैं चुप रह गया और वेतन कम होने की व्यग्रता छूट गयी। रुपये के १८-२० किलो गेहूँ आते थे इसलिये खर्च में कोई कमी भी नहीं पड़ती थी।

अध्यापन के साथ ही साथ मैंने अपना अध्ययन जारी रक्खा और सन् १९३६ में मैंने साहित्याचार्य परीक्षा पास कर ली। वर्णी जी ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। उस समय तक जैन समाज में कोई साहित्याचार्य हुआ भी नही था। पहला नम्बर मेरा ही था, इसलिये उन्हें भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई। वर्णी जी के आदेशानुसार सन् ३१ से ही मैं विद्यालय में अध्यापन कार्य कर रहा हूँ।

अध्ययन-काल में जब बनारस-प्रथमा पास कर चुका था और व्याकरण-मध्यमा का प्रथम-खण्ड पढ़ता था तब एक बार दशलक्षणपर्व में उत्तमक्षमादि धर्मों का वर्णन करने वाले कुछ संस्कृत के पद्य बनाये थे। बनाकर वे पद्य मैंने वर्णी जी को दिखाये। उन्होंने बड़ी प्रशंसा की और शास्त्रसभा मे मेरे मुख से सबको सुनवाये। उस अवस्था में लिखे श्लोक कहां तक शुद्ध हो सकते हैं यह पाठक स्वयं समझ सकते हैं। परन्तु अशुद्धियों की ओर वर्णी जी ने बिलकुल ही दृष्टि नहीं दी और प्रशंसा कर मेरा उत्साह बढ़ा दिया।

वे कहा करते थे कि ग्रन्थ, मूल पर से पढ़ना चाहिये, टीका पर से नहीं। क्योंकि मूल ग्रन्थ पर से पढ़ने में धारणाशक्ति बढ़ती है इसीलिये साधारण ग्रन्थ की कौन कहे जीवकाण्ड भी मैंने उस समय प्रकाशित एक मूल गुटका पर से पढ़ा था। मेरी इच्छा थी कि सिद्धान्तकौमुदी की संस्कृतटीका तत्त्वबोधिनी ले लूं, पर उन्होंने उसे लेने की सलाह तब दी जब मैं व्याकरण-मध्यमा के ३ खण्ड पास कर चुका। सलाह ही नहीं दी ५) कहीं से छात्रों को फल-वितरण करने के लिये उनके पास आये थे वे रुपये उन्होंने मुझे दे दिये और उनसे तत्त्वबोधिनी आ गई। तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी का जीवन-निर्माण कैसे होता है यह वे खूब जानते थे और विद्यार्थी को परख कर उसकी सब प्रकार से सहायता करते थे।

बचपन में मुझे क्रोध बहुत आता था, इसलिये मैं दूसरे छात्रों से कुछ अलग अलग सा रहता था। विद्यालय में बने कमरया रज्जीलाल के मन्दिर पर कलशारोहण का उत्सव हो रहा था। उत्सव के समय एक दिन विद्यालय का अधिवेशन हुआ। अधिवेशन में उन्होंने छात्रों का परिचय देते हुए मेरी बहुत प्रशंसा की परन्तु प्रशंसा के बाद एक वाक्य उन्होंने भरी सभा में कह दिया— 'भैया! इसे गुस्सा बहुत आती है।' सब लोग हँस पड़े, परन्तु मेरे जीवन में उनके एक वाक्य ने ही मोड़ ला दिया। मैं उसी समय से क्रोध पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करने लगा। मैं कितना सफल हो सका हूँ, यह तो नहीं जानता परन्तु बुराई का उत्तर देने का भाव अब नहीं होता।

उनके प्रति कृतज्ञता और श्रद्धाञ्जलि किन शब्दों में प्रकट करूँ? समझ नहीं पाता। अपने द्वारा लिखित 'श्रीपाल चरित्रम्' नामक गद्यकाव्य में मैंने उनका इस प्रकार स्मरण किया है—

येषां कृपाकोमल - दृष्टिपातैः
सुपुष्पितासून्मम सूक्तिवल्ली।
तान्प्रार्थये वर्णिगणेशपादान्
फलोदयं तत्र नतेन मूर्ध्ना॥

कलकत्ता में हुई सम्मानसभा में गद्गद् कण्ठ से मैंने कहा था कि यदि पूज्य वर्णी जी मेरे जीवन का निर्माण न करते तो बम्बई और कलकत्ता जैसे महानगरों में मुझे कौन पूछने वाला था?

उन महान उपकारी गुरुवर के चरणों में कोटि कोटि प्रणाम।

❋

धर्म का सम्बन्ध शारीरिक कष्ट से नहीं होता। धर्म का सम्बन्ध आत्मा से है। जब सब उपद्रवों की समाप्ति हो जाती है तब धर्म का उदय होता है।

—गणेश वर्णी

परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः

—पूज्य श्री १०५ श्री आर्यिका विशुद्धमती माताजी

इस भ्रमणशील चतुर्गति संसार में प्रतिदिन अनन्त जीव जन्म लेते हैं और मरण करते हैं, किन्तु सभी जीवों की जन्म-शताब्दियाँ, जन्म-तिथियाँ एवं पुण्य-जयन्तियाँ नहीं मनाई जातीं। "परोपकाराय सतां प्रवृत्ति" इस नीति के अनुसार जिन महापुरुषों की सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ परोपकार के लिये होती हैं, उन्हीं की जन्म-शताब्दियां आदि मनाई जाती हैं। परम पूज्य १०८ गणेशकीर्ति महाराज जो कि "वर्णीजी" नाम से विख्यात थे, वे भी एक महानात्मा थे। समीचीन ज्ञानदान के द्वारा अज्ञ-प्राणियों का उपकार करना ही उनके जीवन का व्रत था। आप अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी थे, आपके उपदेश से सैकड़ों ज्ञान आयतनों की जड़ों में जलसिंचन हुआ जो आज तक समुन्नत पुष्पों एवं फलों के वितरण से समाज को गौरवान्वित कर रहा है।

पूज्य वर्णीजी का हृदय अत्यन्त सरल एवं निर्लेप था। परिग्रह-रूपी पिशाच से आप निरन्तर भयभीत रहते थे। स्वाध्याय ही आपका परम तप था। सम्पूर्ण जैनेन्द्रवाणी अर्थात् चारों अनुयोगों पर अटूट श्रद्धा होते हुए भी समयसार ग्रन्थ आपको अत्यन्त प्रिय था। आप अधिकतर उसी का स्वाध्याय करते थे। एक बार आपने कुछ समय के लिये इस प्रकार की प्रतिज्ञा की थी कि "मैं सटीक समयसार का आद्योपान्त प्रतिदिन स्वाध्याय करूंगा और जिस दिन पूरा नहीं पढ़ पाऊँगा उसके दूसरे दिन नमक नहीं खाऊँगा।" प्रतिदिन टीकासहित पूरा समयसार पढ़ना कितने महान् पुरुषार्थ का द्योतक है। आपकी निम्नलिखित पंक्तियों में समयसार के प्रति कितना महान् आत्म-समर्पण है? आप लिखते हैं कि "एक समयसार का ही स्वाध्याय करता हूं। चाहे कुछ आवे या न आवे, वही शरण है अब किस किस की शरण लूं। अगर पार होना है तो वही कर देगा।"

उपर्युक्त वाक्यों में शास्त्र के प्रति कितनी अपूर्व भक्ति (राग) झलक रही है। वस्तु-स्वातन्त्र्य की विवेचना करने वाले आध्यात्मिक ग्रन्थ के रसिक (वेत्ता) होकर भी द्रव्यश्रुत का शरण ले रहे हैं और "वही पार कर देगा" इतना प्रबल कर्तृत्व अन्य (पुद्गल) द्रव्य को बना रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि आप समयसार के हार्द को स्पर्श कर चुके थे, अतः निश्चय एकान्त से दूर रहे। कषायों की उपशमता-सहित जो कुछ ज्ञान है उसे ही आप यथार्थ ज्ञान मानते थे। आप लिखते हैं कि **"इस काल में ज्ञानार्जन ही आत्मगुण का पोषक है यदि ज्ञान के सद्भाव में मोह का उपशम नहीं हुआ तब उस ज्ञान की कोई प्रतिष्ठा नहीं। वह ज्ञान प्राण बिना मृतशरीर के तुल्य है"** इसीलिये आप लिखते हैं कि स्वाध्याय का उपयोग यथार्थ वस्तु के परिज्ञान में पर्यवसान न हो जाना चाहिये किन्तु जिनके द्वारा हम अनन्त संसार के बन्धन में बद्ध हैं ऐसे मोह-राग-द्वेष का अभाव करके ही उससे विराम लेना चाहिये। अर्थात् मात्र ज्ञान से एवं मात्र आत्मा की कथनी से आत्मा की प्राप्ति आप नहीं मानते थे। आपका दृढ़तर विश्वास

था कि उसके अनुकूल प्रवर्तन से ही उसका लाभ हो सकता है। और वह अनुकूल प्रवर्तन निवृत्ति ही है; क्योंकि "यथानिवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्" अर्थात् तत्त्व निवृत्तिरूप ही है इस प्रकार आपके सरल हृदय और सौम्यमुखाकृति से निकले हुए हृदयस्पर्शी तात्त्विक उपदेशों ने एवं आपकी लेखनी ने अनेक जीवों का कल्याण किया है। आपके उपकारों को न तो भुलाया ही जा सकता है और न उससे उऋण ही हुआ जा सकता है।

जन्मशताब्दी ग्रन्थ का प्रकाशन आपके प्रति उत्पन्न होने वाली श्रद्धा का द्योतक ही माना जाना चाहिये। किन्तु आज के इस वैज्ञानिकयुग में साहित्य के प्रसार और प्रचार की मानो बाढ़ ही आई हुई है, अतः इस वेग में श्रद्धा-सुमन के रूप में हम जो कुछ भी उनके प्रति लिखते या कहते हैं उसके अनुरूप हमारे आचरण में उनका उपदेश (प्रेक्टिकल) कितना उतरता है इसका परिशीलन करना आवश्यक है। आपके उपदेशों को जितने अंशों में हम अपने जीवन में उतार सकेंगे उतने अंशों में ही हमारे आयोजन सफल समझे जावेंगे।

❋

आध्यात्मिक संत

(लेखिका—पूज्या श्री १०५ श्री आर्यिका विनयमति माता जी)

भारत सदा आध्यात्मिकविद्या का केन्द्र रहा है। उसमें मुमुक्षु आध्यात्मिक योगियों ने अपनी साधना और समीचीन तपश्चर्या के अनुष्ठान द्वारा अध्यात्म-विद्या के चरम विकास को पाकर जगत का परम कल्याण किया है। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने वस्तुतत्त्व की यथार्थता को दिखाया और स्वयं उस आदर्श मार्ग के पथिक बनकर आत्मविकास के अनुपम आनंद को प्राप्त किया है। श्री पूज्य १०८ मुनि गणेशकीर्ति जी (वर्णी न्यायाचार्य) उन्हीं आध्यात्मिक संतों में से एक थे, जिनकी छत्रच्छाया में रहकर अनेक मानवों ने अपने जीवन का उत्थान किया। आप केवल तत्त्वज्ञानी और अध्यात्मविद्या के रसिक ही नही थे किन्तु संयमी होने के साथ बड़े ही अहिंसक और वस्तुतत्त्व के यथार्थ उपदेष्टा भी थे। आपकी दयालुता अथवा करुणावृत्ति तो लोक में प्रसिद्ध है। अपने आजादहिन्द फौज के सैनिकों की रक्षार्थ आशीर्वाद के साथ अपनी चादर भी दान में दे दी थी। उनकी रक्षा के संबन्ध में वर्णी जी ने जो उद्गार व्यक्त किये थे वे महानता के सूचक थे। दीन दुखी के दुःखमोचन करने के लिये आप शक्तिभर प्रयत्न करते रहते थे। आपकी पैदलयात्रा करना, गर्मी, सर्दी वर्षात की कठिनाइयों का सहना, आसान नहीं था। किन्तु आत्मबल, निरीहवृत्ति और लोककल्याण की भावना ने आपमें अपूर्व बल संचय कर दिया था। समयसार का हमेशा नियमित प्रवचन करते थे। आप मानवस्वभाव के पारखी थे। यात्रा में अनेकों मुमुक्षु जीवों ने आत्म-साधना का व्रत लिया। अनेकों के आचार विचारों में परिवर्तन, परिवर्धन और परिमार्जन हुआ। कितनों को तत्त्वज्ञान अभ्यास की प्रेरणा मिली।

आपका जीवन बड़ा ही शान्त और शरीर की आकृति सौम्य तथा स्वभाव अत्यंत भद्र था।

पूज्य वर्णी जी के जीवन की दूसरी विशेषता यह थी कि आप कभी किसी की निंदा नहीं करते थे और न उनके अवगुणों का प्रकाश व प्रचार ही करते थे। कोई किसी का दोष जबरन सुनाता ही हो तो उस तरफ से उपयोग हटा लेते थे तथा अपनी प्रशंसा से बहुत दूर रहते थे।

आपका पदार्थ-विवेचन गम्भीर, मधुर, सरल और मृदुलभाषा में होता था और वस्तुतत्त्व की यथार्थता उसमें वर्णित होती थी।

आपने अनेक शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण कराया। जिसके फलस्वरूप अनेक प्रतिष्ठित विद्वान जैन श्रमणसंस्कृति के प्रचार व प्रसार में लगे हुए हैं। आपने जगत का और खास कर जैनसमाज का जो उपकार किया है वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। दिगम्बर जैन-समाज चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

बाबा जी ने अपना जीवन परिचय 'जीवनगाथा' नाम की पुस्तक में स्वयं लिखा है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अनेक ऐतिहासिक जीवन-घटनाओं से ओतः प्रोत है। उससे सहज ही जान सकेंगे कि उजयारी मां के लाल ने आदर्श बन कर, जगत में कैसा उजाला किया है।

अध्यात्मसंत वर्णी जी के ये सारगर्भित वचन थे कि मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है। जैसे पका हुआ फल एक बार पृथ्वी पर गिर जाने पर पुनः वह वृक्ष की डाल में नहीं लगता, उसी प्रकार मनुष्यजन्म की प्राप्ति समझना चाहिए। सिद्धान्ततः जो वस्तु जितनी अधिक कठिनता से मिलती है वह उतनी ही अधिक मूल्यवान है। मनुष्यभव पा लेना एक बात है, परन्तु मनुष्यता का प्राप्त कर लेना दूसरी बात है, वह अतिदुर्लभ है। मनुष्यता के लिये आन्तरिक गुणों की आवश्यकता होती है। सच्चा जीवन सफल बनाने वाले अंगुलियों पर ही गिनने लायक हैं। मनुष्य अपनी शुभ वृत्तियों से देवता का अधिकार पा लेता है। अध्यात्म हमें असत् से निकाल-कर सत् की ओर ले जाता है। बासनामय जीवन से कुछ ऊँचे उठकर शुद्ध निर्लिप्त जीवन बिताने को प्रोत्साहित करता है। अध्यात्म ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का सहज उपाय है। आपके प्रवचन अतिसरल और ओजस्वी होते थे। श्रोताओं पर उनका असर पड़े बिना नहीं रहता था।

पूज्य वर्णी जी समयसार के अनुपम अध्येता थे। यह महान ग्रन्थ इनके जीवन का कण्ठहार बन गया था। उसमें पू. श्री अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति नामक संस्कृतटीका का अर्थ तो सोने में सुगन्ध का काम करती थी। उन्हें यह इतना प्रिय था इसका वर्णन करते करते वह स्वयं नहीं अघाते थे। सुनने की इच्छा बनी ही रहती थी। उनके जीवन में चिन्तन की गहरी अनुभूति थी। वे अपने प्रवचनों में कई अनूठे दृष्टान्त दे दिया करते थे। वे सभी दृष्टान्त बड़े ही मार्मिक और रोचक होते थे। उनसे न केवल वस्तुस्वरूप को समझने में मदद मिलती किन्तु जीवनसम्बन्धी अनेक लौकिक कड़ियां सुलझती चली जाती थीं। इसके सिवा छोटे २ चुटकुले भी प्रवचनों में आपके भंडार में मिल जाते थे। वार्तालाप के समय भी नित्य नये चुटकुले व दृष्टान्त सुनने को मिलते थे।

इस प्रकार आपके प्रत्यक्ष उपदेशों से तो जीवों का कल्याण हुआ ही है किन्तु अब हमारा कर्तव्य है कि आपके बताए हुए मार्ग पर चलकर आत्मकल्याण करें।

"मुनि श्री १०८ श्री गणेशकीर्ति जी महाराज"

श्री ब्र० चन्दाबाई आरा

श्री वर्णीजी गणशप्रसाद जी महाराज के ईशरी चातुर्मास में जाकर हमारा रहना हुआ। उस समय लगभग ४५ वर्ष पहले वर्णीजी के दर्शन और उनके शास्त्रप्रवचन को सुनकर हृदय प्रफुल्लित हो गया। लगातार डेढ़ दो घण्टे धाराप्रवाह से शास्त्रप्रवचन और उसी में उपदेश-मिश्रित, लौकिक कर्तव्य का पाठ मिलता था। मेरे ईशरी पहुँचने पर वर्णीजी महाराज ने पूछा—कैसे आयीं? मैंने कहा, आपसे समयसार जी का प्रवचन सुनने की इच्छा है। तब आपने कहा पूरा सुनो, तब सुनायेंगे, ठहरना होगा। मैंने स्वीकार किया और हम दो माह ईशरी ठहर गयीं। समयसार जी तो वर्णीजी महाराज को कण्ठ सा ही हो गया था। **आज उस ग्रन्थ का स्वाध्याय करने, अर्थ समझने पर भी वह अणुमात्र नहीं मिलता, जो वर्णीजी की वाणी में था।** आप तो स्वर्गारोहण कर गये और लोकशिखर पर भी कालान्तर में पहुँचेंगे ही, पर हम लोगों को वह उपदेशामृत पान करने को नही मिलेगा। श्री स्वर्गवासी वर्णीजी ईशरी में धर्मजागृति करके, एवं अन्य उपकारी संस्थाओं को स्थापित कराकर स्वर्गवासी हुए। वहाँ से विदेह क्षेत्रस्थ श्री १००८ श्री तीर्थंकर भगवान के दर्शन करते होंगे। तथा विदेहक्षेत्र में धर्मधारण करके स्वयं सिद्धस्वरूप को प्राप्त होंगे। आपको बार-२ नमस्कार एवं सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

उजियारी का बेटा जगत का दीप—स्तम्भ

पं० ब्र० सुमित्रा जैन, सागर
(वर्तमान आर्यिका पूज्य विशुद्धमती माता जी)

उजयारी माँ से जन्म लेकर संसार को प्रकाशित करने वाले दीपक और पिता हीरालाल जी का अनमोल और सच्चा लाल, जिसकी जगमगाहट से अज्ञानरूपी अंधकार नष्ट हुआ। चिरोजा मा के जिस चिरस्थायी धर्मस्नेह ने जिसे चिन्तनशील बनाकर संसार का कल्याण किया, ऐसे परम पूज्य प्रातः स्मरणीय बाबा जी थे, जिनके लिये आज केवल सागर या बुन्देलखंड ही नहीं वरन भारत के प्रत्येक भागों में जिनके वियोग से सन्तप्त भक्त लोग चीत्कार कर रहे हैं। पूज्य बाबा जी गुणों के भंडार थे पर उनमें प्रमुखता थी उनकी सरलता और उदारता की। उनके मन में जो होता था वे वही कहते और वही करते थे। त्यागमार्ग में तो यह सब होना ही चाहिए। पर बचपन से ही उनमें ये गुण विद्यमान थे। जिन्होंने आज उन्हें क्या जैन क्या जैनेतर, क्या बाल क्या वृद्ध जन-जन के हृदय में सादर स्थापित किया है।

पूज्य बाबा जी के विद्यार्थी जीवन की एक घटना (मेरी जीवनगाथा से)

बनारस में वर्णी जी को पूज्य बाबा लालमन जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वर्णी जी ने सविनय प्रणाम किया।

बाबा जी—तुम कौन हो ?

वर्णी जी—मैं छात्र हूँ।

बाबा जी - कहाँ पढ़ते हो ?

वर्णी जी—स्याद्वाद विद्यालय में।

बाबा जी—कुछ त्याग कर सकते हो ?

वर्णी जी—कर सकते हैं।

बाबा जी—तुमको भोजन में सबसे प्रिय शाक कौनसा है ?

वर्णी जी—महाराज ! आपने कहा था कुछ त्याग कर सकते हो, मैंने समझा था कुछ पैसे का त्याग करावेंगे, सो एक दो आना कर देंगे, पर आप तो शाक पूँछ रहे हैं। महाराज ! मुझे सबसे प्रिय शाक भिंडी है।

बाबा जी—इसी को त्यागो।

वर्णी जी—महाराज ! यह कैसे होगा, यह तो मुझे अत्यन्त प्रिय है।

बाबा जी—तूने स्वयं कहा था कि त्याग कर सकते हैं।

वर्णी जी—महाराज ! भूल हुई क्षमा करो।

बाबा जी—भूल का फल भोगना ही पड़ेगा।

वर्णी जी—महाराज ! जो आज्ञा। कब तक को छोड़ूं।

बाबा जी—तेरी इच्छा पर निर्भर है।

वर्णी जी—महाराज ! जब तक बनारस विद्यालय के भोजनालय में नहीं पहुंचा तब तक के लिए त्याग है।

निर्भयता और निश्छलता का कैसा अपूर्व उदाहरण है। इसी प्रकार उनके उदारता के अनेकों आदर्श उदाहरण हमारे सामने पथप्रदर्शक के रूप में हैं।

ये गुण उनके स्वाभाविक गुण हैं जैसे—

चंपयकेषु यथा गन्धः
कांतिर्मुक्ता-फलेषु च।
यथेक्षु - दंडे माधुर्यं,
औदार्यं सहजं तथा।

पूज्य श्री आज हमारे बीच नहीं हैं, पर दूध और पानी के समान हमारे हृदयों में समाये हुए हैं, किन्तु उसका भान हमें तभी होगा जब हम उनके उज्ज्वल प्रकाश से ज्योति प्राप्त कर उनके ही मार्ग का अनुगमन करेंगे।

—जैनसन्देश २६/१७; पृष्ठ १६ से

भक्तों के भगवान्

ले० सौ० कपूरीदेवी और महिलासमाज, गया

स्व० श्री १०८ श्री मुनिवर वर्णी जी महाराज के चरणकमलों में नत मस्तक होकर श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ। जिन गुरुदेव के स्मरणमात्र से ही आत्मबल जागृत हो उनके गुणों का बयान करना मानो सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। गया में आपका समागम व दर्शन पूज्या माँ ब्र० पतासीबाई जी के सानिध्य से हुआ था। पूज्य गुरुदेव हमें बाई जी के 'परिकर' कह कर सम्बोधित किया करते थे। उस समय आप ब्रह्मचर्य अवस्था में थे। तभी उनके सदुपदेश को प्राप्त करने का सौभाग्य प्रथमबार मिला तथा हृदय ने असीम शांति महसूस की। गुरुदेव के आदेशानुसार पं० शिखरचन्द्र जी सानं ईसरीनिवासी ने मुझे संस्कृत पढ़ाना शुरू किया तथा मुझे इनके द्वारा धर्म के विषय में कुछ जानकारी भी प्राप्त हुई। यद्यपि उस समय आपके सामने जाने की हिम्मत मुझ में नहीं होती थी क्योंकि उस समय जैनदर्शन का मुझे विशेष ज्ञान नहीं था, पर धन्य है आपकी सरलता और सज्जनता जो व्यक्ति को वरवस अपनी ओर खींच लेती है। आपकी प्रेरणा द्वारा ही जैन-सिद्धात-प्रवेशिका और अर्थप्रकाशक आदि शास्त्रों का अध्ययन किया और यही एक तथ्य समझ मे आया कि जैनदर्शन का सही सिद्धांत है कि उपयोग में विकार का न आना ही वास्तविक ज्ञानानन्द है। विकार कर्मजन्य परिणमन चाहे स्व का हो या पर का, उसमें स्थाई आस्था का होना ही भूल कहो या मिथ्यात्व अथवा भ्रम है। कारण कर्ता भोक्तापना का भाव स्थाई पने से ही आता है। यदि हम हमारे भीतर इन परकृत भावों का आदर न करें तो यही सच्चा पुरुषार्थ होगा तथा मनुष्यजन्म पाना सार्थक होगा।

पूज्य गुरुदेव का दूसरी वार समागम उनकी क्षुल्लक अवस्था में पारसनाथ जाते समय मिला। उनका विचार पारसनाथ में ही चातुर्मास करने का था लेकिन दादा जी चम्पालाल जी और सभी भक्तजनों की तीव्र इच्छा थी कि महाराज का चातुर्मास गया ही हो। कहावत है भक्तों के वश में ही भगवान होते हैं। आपने इसको चरितार्थ कर दिया। गया से २० मील दूर 'डोभी' तक विहार करने के बाद भक्तों की पुकार पर दयार्द्र होकर आप वापस गया पधारे। भाग्य से उस साल आषाढ़ २ थे इस कारण पाँच महीने तक गया में एक मेला सा प्रतीत होने लगा था। हर समय भक्तों का तांता सा लगा रहता था। श्रीमान और धीमान जन आपके दर्शन और प्रवचन सुनकर अपना अहोभाग्य मानते थे। हम लोगों को भी नित्य नये महापुरुषों का सदुपदेश सुनने को मिलता था। आपका जयंती समारोह भी गया में बहुत जोर शोर से मनाया गया था। उस समय धर्मामृत में स्नान करने के लिये बाहर से बहुसंख्यक जन आये तथा आपके चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित की।

आपके करकमलों द्वारा ही गया में महिला कालेज का भव्य उद्घाटन हुआ। आम जनता में जैनदर्शन पर आपका भाषण गंभीर और भावपूर्ण था। जिससे जैनेतर लोगों पर आपके प्रति

बहुमान जागृत हुआ । यहाँ से आपका विहार पारसनाथ की ओर हुआ । पारसनाथ में भी चतुर्थ काल जैसी व्यवस्था और धर्मामृत की वर्षा होती थी । प्रायः आपकी जयंती समारोह में बंगाल, बिहार, यू. पी., सी. पी आदि दूर-दूर प्रांतों से भक्त जन आते थे । हम तथा हमारी मण्डली के सभी लोग इस समय ईसरी आते थे । इस अवसर पर आध्यात्मिक धारा की वर्षा सी होती थी । सुनने वालों के हृदय गद्गद् हो उठते थे । आपके द्वारा कई धुरन्धर विद्वान् बने । आपके द्वारा बड़ी-बड़ी संस्थाओं की स्थापना हुई जो अभिनन्दनीय है ।

आपके चरणकमलों में श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ ।

✲

वर्णी जी और स्त्रीसमाज

(ले० पुष्पलता देवी 'कौशल' विशारद सिवनी)

यह घटना उस समय की है जब पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी का जबलपुर में चातुर्मास हो रहा था । मैं उस समय अपने मायके में ही थी ।

उन दिनों वर्णी जी का उपदेश प्रायः प्रतिदिन होता था । स्त्री समाज तो उनका बहुत समय लेती थी । वर्णी जी मंदिर में हों या आहार के पश्चात् घर में, स्त्रियां अच्छे समूह में वहां उपस्थित रहती थीं । बाबा जी अपनी सरल मिष्ट भाषा में सबकी शंकाओं का समाधान करते और सदा स्त्रीशिक्षा पर जोर देते थे । वे कहा करते थे कि कोई क्रियाकांड व्रत उपवास आदि बिना विवेक के कार्यकारी नहीं । विवेक प्राप्त होता है अध्ययन से और पढ़ा लिखा व्यक्ति ही ठीक अध्ययन कर सकता है । अतएव प्रत्येक स्त्री पुरुष को पढ़ना चाहिये । स्त्री को तो अवश्य ही पढ़ी लिखी होना चाहिये क्योंकि उसे घर सम्हालना पड़ता है और बालक बालिकाओं का पालन पोषण करना पड़ता है ।

वर्णी जी का उपर्युक्त कथन अत्यन्त समीचीन है । स्त्री गृह-स्वामिनी है । बालक बालिकाएं उसी की कूख से उत्पन्न होते हैं । यदि स्त्री मूर्खा है तो उसका प्रभाव संतान पर बुरा पड़ेगा । सारा गृहकार्य स्त्री को ही करना पड़ता है । पढ़ी लिखी स्त्री जितने उत्तम ढंग से घर का काम कर सकती है फूहड़ स्त्री नहीं कर सकती । ऐसा देखा जाता है कि बेपढ़ी लिखी स्त्रियां रातदिन बिकथा और कलह-विग्रह में लगी रहती हैं । एक की दो बताना और एक की बात दूसरे को बता कर लड़ाई करा देना इस प्रकार सदा ऐसी महिलाएं आर्त रौद्र ध्यान में लगी रहती हैं । घर घर में ये मूर्खा कलह का बीज बोकर फूट पैदा करती हैं । घर में ये फूट करा देती हैं, जिससे कुटुम्बियों में मनो-मालिन्य बढ़ जाता है और लड़ाई झगड़ा प्रारंभ हो जाता है । तरह तरह से अयोग्य आचरण बरता जाता है । इसीलिये वर्णी जी स्त्रीशिक्षा पर जोर देते थे । यदि स्त्री सुशिक्षिता हो तो गृहकलह कभी भी न हो ।

श्री १०५ श्री क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य ने अपने जीवन को धर्म के सांचे में ढाल कर उत्तरोत्तर वैराग्य की वृद्धि की और अंत में समाधि-मरण कर मनुष्य-पर्याय सार्थक बनाई। उनने अपना जीवन अत्यंत सादगी से बिताया। दया का श्रोत उनके अंतरंग से प्रवाहित होता था। भाषा बहुत ही मधुर थी। वे ज्ञान के विकास का उपदेश हर नर नारी को दिया करते थे। महान विद्वान होकर भी अभिमान का लेश उनमें न था। पंडित जी की महानता हम किन शब्दों में कहें, वे बड़े गंभीर थे; शांतचित्त थे। अनेक आपदाओं को सहन करने वाले धर्मस्नेही थे। अनेकान्त वाणी का मर्म जानने वाले थे। आपने समयसार ग्रन्थ की टीका लिखकर भी कभी यश की कामना नहीं की और इसीलिये आपके स्वर्गवास के पश्चात् ही वह टीका प्रकाश में आई।

आज जो नकली मोक्षमार्गी हैं; वे आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की आड़ लेकर स्वच्छाचारी हो नाम और दाम के मोह में फँसकर दुनियां को ठग रहे हैं। यदि सच्चे कुंदकुंद अम्नाय के मानने वाले होते तो वर्णी जी के समान कुंदकुंद स्वामी के मार्ग को ग्रहण कर विषय कषायों को तिला-ञ्जलि देते। वीतरागी का जीवन ही बदल जाता है। वर्णी जी का जीवन इसका ज्वलंत उदाहरण है। जिनने अंत में क्षुल्लक-भेष को छोड़कर मुनिपद धारण किया तथा संल्लेखना-सहित स्वर्ग सिधारे।

आत्मकल्याण की बात तो दूर, यदि गार्हस्थ्य-जीवन या संसारी-जीवन भी, सुचारु-रूप से; चलाना हो; तो और उसे सुखी बनाना है तो; वर्णी जी का कहना था कि पुरुष के साथ साथ स्त्री को भी शिक्षित होना चाहिये। शिक्षण के क्षेत्र में अन्य विषयों की शिक्षा के साथ ही साथ, धार्मिक तथा नैतिक शिक्षण परमावश्यक है। तब ही व्यक्ति सदाचारी और विवेकी बन सकता है। अतएव वर्णी जी प्रायः लड़कों की पाठशाला तथा विद्यालय के साथ साथ लड़कियों की पाठशाला वा विद्यालय आदि अवश्य खुलवाते थे। वर्णी जी के उपदेश और धर्म तथा शिक्षा प्रचार से महिला समाज को जो लाभ हुआ है स्त्रीसमाज उससे सदा आभारी ही रहेगा।

✿

रागादि का मूल कारण मोह है अतः सबसे प्रथम इसी का त्याग होना चाहिये। जब पर पदार्थों में त्याग की कल्पना मिट जावेगी तब रागद्वेष अनायास प्रलयावस्था को प्राप्त हो जावेंगे······इस कथा से कार्य-सिद्धि नहीं होती। भोजनकथा से भोजन नहीं बन जाता, भोजन की प्रक्रिया से भोजन बनेगा तथा भोजन बनने से तृप्ति नहीं होती, किन्तु भोजन खाने से तृप्ति होती है।

—गणेश वर्णी

नारी-समाज के परम-हितैषी

श्री रूपवती 'किरण' जबलपुर

वर्णी जी के विषय में कुछ कहना सूर्य को दीप दिखाना है। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर हमारे मध्य नहीं है; तथापि उनका यशःशरीर आज भी विद्यमान है। उनकी गुण-सुरभि से जैन जैनेतर समाज अभी भी सुरभित है। वे तलस्पर्शी विद्वान् तो थे ही, साथ ही उज्ज्वल चरित्र के धनी भी थे। वे जैनधर्म की विलक्षणता में आस्थावान् थे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि ज्ञान का मूल्यांकन उसकी इकाई चरित्र के साथ ही होता है, कोरा ज्ञान आदरास्पद नहीं। अतएव उनके जीवन में ज्ञान के सुमन तो खिले ही, चारित्र के फल भी उपलब्ध हुए। ज्ञान-चारित्र का अद्भुत सम्मिश्रण मणि-कांचन संयोग की सुध दिला रहा था। चरित्रनिष्ठा के कारण उनकी वाणी तत्क्षण सबको आकर्षित कर लेती थी। मानवमात्र के उद्धार की तीव्र भावना लिये वे जीवन भर जैनधर्म के मर्म को जन-मन तक पहुँचाते रहे। अंध विश्वासों से दिग्भ्रान्त समाज को उन्होंने नई दिशा दी। सत् शिक्षा के प्रचार प्रसार हेतु वे सदैव व्यग्र व सक्रिय रहे।

नारी-समाज में फैली कुरीतियों के उन्मूलनार्थ उन्होंने नारी-जागरण का सिंहनाद किया। संप्रति सामाजिक बंधन अत्यंत शिथिल हो गये हैं, पर उस समय कड़े बंधन थे। हमारा परिवार बड़ा था तथा बहू होने के नाते समयानुसार लंबा घूंघट व दुपट्टा ओढ़ना पड़ता था। कुरूढ़ियों के प्रति विद्रोही वृत्ति शायद मुझे घुट्टी में ही घोल कर पिला दी गई है। तिस पर भी समाज का तथा अपने घर का वातावरण देखकर कल्पना ही नहीं होती थी कि इन नियमों की अवहेलना कर सकूँगी।

जबलपुर में महावीर जयंती की आमसभा का आयोजन कमानियागेट पर जैन जैनेतर समाज के विशाल समुदाय के मध्य होता है। मैंने भी उस सभा में अपने वही घूंघट और दुपट्टा के वेश में धड़कते हृदय से प्रथम बार कवितापाठ करने का दुस्साहस कर एक परम्परा तोड़ने का सूत्रपात किया। परिणाम शुभ हुआ। वर्णी जी भरी सभा में मेरी प्रशंसा कर बैठे। बस 'अंधा क्या चाहे दो आँखें'। मुझे अत्यंत प्रसन्नता हुई। इस प्रोत्साहन से भविष्य में अग्रसर होने के लिये मनोबल प्राप्त हुआ। घर में अपने बड़े दद्दा (बड़े श्वसुर स्व० मुन्नीलाल जी) से निरंतर प्रेरणा मिलने लगी तदुपरांत वर्णी जी के जबलपुर प्रवास की समयावधि में मुझे मार्ग-दर्शन लेने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा।

वर्णी जी का जीवन एक खुली पुस्तक है। उन्होंने "मेरी जीवन गाथा" लिखकर सरलता का जो प्रमाण दिया है, वह अनुपम व अनुकरणीय है। गुरु गोपालदास जी बरैया के पश्चात् जैनधर्म की रक्षा एवं प्रगति में प्राणपन से निरंतर सहयोग देने वालों में यदि किसी का स्वर्णाक्षरों में नाम लिखा जा सकता है तो वे हैं प्रातः स्मरणीय पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी।

उस युगपुरुष के शताब्दी समारोह के पावन अवसर पर उनके युगल-चरणों में मैं विनम्र श्रद्धांजलि समर्पित करती हूँ।

ऐंसे हते हमाये बाबा जी

—श्रीमती शान्ति नीरज जैन, सतना

हम सागर मे रंत ते, उतई मुनी कै बाबाजी ने क्षुल्लक दीक्षा लै लई । सो दर्शनों खों बरुम्रासागर भौत जने जा रए । हम भ्रौरें सोई एक दिना पोंच गए ।

उतै तो जंगल में मंगल हो रम्रो तो । मेला सौ लगो तो । एक पाल लगाकें हम भ्रौरें सोई टिक गए, दोई बिरियां उपदेश होत तो ।

मोंए तौ म्राहार दैबे की बड़ी म्रभिलाषा हो रई ती । पैल तौ मन्दिर से उनकी कमंडलु उठा के संगे लुवा ल्याए सो चाहे जब म्राहार करा देत ते, भ्रकेलें भ्रब पड़गाउनें पर है, दूनों सुबल भ्रर चौगुनो पुन्न । मैंने इनसे चर्चा करी भ्रर तीसरे दिन चौका लगा लम्रो । करने काय हतो ? बाबा जी के म्राहार, नैं तो कोनऊं म्राडम्बर की जरुरत, भ्रर नै कोनऊं दुरलभ बसत को भ्रंटका । साफ सफाई से चौका में रुखौ सूखौ जो जुरै सो बना लो, बिर्रा की रोटी, मूंग की दार के बबरा, मका की मूंठ्यां, रैहन की बतियां, जो सामने घर दो सोई उन्हें खाने, भ्रर म्राहार करके सराहना करनें ।

पूरब भव के पुन्न, बाबा जी हमारेई चौका में म्रा गए । हमाई सिंगैन फुम्रा (श्री. सिंघैन चम्पाबाई जी सागर) संगै हती, सो भ्रच्छी तार बार लग गयी ती । म्राहार शुरु हो तो गए, भ्रकेले हो नै पाए ।

दार के संग रोटी के चारइ कौर बाबा जी लै पाए कैं हमाए कुजाने कौन पाप को उदव बार बनकें निकर म्राम्रो । हम तौ ए ''' करकें रै गए । भ्रकेले बाबा जी खों कछु नै व्यापी । ऊंसई हसत मुस्क्यात उठ के चले गए । हम भ्रौरेन पे तो गाजइ सी गिरी । मैंने तो सौगंद खा लई कि जब बाबा जी खों बिना भ्रंतराय के म्राहार करा देम्रों तबई भ्रन्न कौ दाना मों में डार हों । सबने समभाम्रो संभा को तो बाबाजी ने सोई कई कै भ्रंतराय सें तौ भ्रविपाक निर्जरा भई, इमें काए कौ खेद ? भ्रकेलें मोरें मन खों बोध नें लगो ।

धर्मशाला खाली नें ती, पाल में चौका लगावे की भ्रब हिम्मत नै परी । तीन चार रोज लों म्राहार करावे कौ कच्छू जोग नैं लगत दिखानों ।

दूसरे दिन की बात, दिल्ली वारों के चौका में म्राहार हो रए ते । फुम्रा ने कई कै काजू दाखें लै म्राकें म्रहारन में दै दे, भ्रर मन खों बोध लगा ले । भ्रकेलें मोय न जँची । मै तो भ्रन्न को म्राहार दै हों, तबई भ्रन्न खै हों । तबई इनखों कुजाने का सूभी, कन लगे दो ठौम्रा लुचई बनाकें काए नई लै जात । फिर का ती, शोध कौ चौका तो हतोई, मैंने मौन डारकें दो खारी

लुचँइ बनाईं। ग्रर डबा में घर के लै चली। चौका में जाकें मुट्ठी बोल के बैठ गयी। अकेले लुचाईं परसबे की हिम्मत नैं परी। एक तौ उनकौ थरा खूबई भरो तो, मौत चीज उठाकें उनने एक खाली थरा में घर दई ती, दूसरे मौं से कछू केई नें ग्राई। बाबा जी ने ग्राउतों तो देखइ लग्रो तौ, मौरे कुरैंई फिर देखो जैसें पूँछ रए होय-काय ल्याई ? मौए लगो जैसे मोरो सबरा पछतावा भाग गग्रो। कौन गैल गग्रो दुक्ख ग्रौर कौन गैल गई किलपना। कुजानें का हतो उनकी ग्रांखन में कै जब वे हेरत ते, ऐसो लगत तौ जैसे गुरु को ज्ञान, मताइ बाप कौ प्यार, ग्रर संत की करुना, सब मूंड़ पर बरस रई होंय, नैं भय, नै दुक्ख, नै संताप, एक नै टिकत ते उनकी दृष्टि के ग्रांगे।

हिम्मत करकें मैंने कई—"बाबा जी ग्रन्न जल शुद्ध है, मन, वचन, काय शुद्ध है, खारी लुचई ल्यायी हों" सुनके कछू नैं बोले, तनक हंसी सी बिखर गई उनके मौं पै। मैंने दोई लुचइ परस दई, ग्रर भगवान् को नाँव लेते बैठ गयी। उनने धीरें धीरें कौर टोरे ग्रर दार संग खान लगे, मोए तो जैसें मौं मोगी मुराद मिल गयी, कछू समजई नैं परी, उनके मन में दया कौ सागर है, कै करुना को पारावार है, कै ममता की धारा है, मोरी ग्रांखन में ग्रँसुग्रा भर ग्राए। ग्रर फुग्रा ने मोए बाहर बुला लग्रो।

ऐसे करुना-निधान हते हमाए बाबा जी, ग्रब वे तो नइयां, उनकी बातें रैं गई।

✱

दो सन्तों का साक्षात्कार

—श्रीमती रमा जैन
व्याख्याता हिन्दी, महाराजा कालेज, छतरपुर

सन्त विनोवा भावे ग्रौर भारत के ग्राध्यात्मिक संत पूज्य श्री वर्णी जी दोनों का मिलन मध्यप्रदेश में ग्रायोजित भूमिदान प्रचार में एवं उत्तरप्रदेश में दोनों संतों के विहार के समय हुग्रा। ३ ग्रक्टूबर १९५९ के संध्या समय संत विनोवा भावे जब श्री गणेश दि. जैन संस्कृत विद्यालय, सागर में पधारे ग्रौर उनके स्वागत के ग्रनन्तर उनके करकमलों में 'वर्णी ग्रभिनन्दन ग्रन्थ' 'मेरी जीवन गाथा' ग्रौर 'वर्णी वाणी' की प्रतियां भेंट की गईं तब उन्होंने कहा कि 'यह बात सबसे ग्रच्छी है।" ग्रन्थों को मस्तक से लगाकर संत वर्णी को प्रणाम किया। वर्णी जी का परिचय सुनने के पश्चात् ग्रपने प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि "संस्था के परिचय के साथ जिन महात्मा का परिचय दिया गया है उनके प्रति हमारे हृदय में ग्रास्था है।" इससे लोगों को यह जानकर ग्राश्चर्य हुग्रा कि वर्णी या विनोवा यद्यपि ग्रब तक प्रत्यक्ष भेंट नहीं कर सके हैं फिर भी उन्हे एक दूसरे का परोक्ष परिचय प्राप्त है। संत विनोवा भावे ने जैनधर्म ग्रौर जैनसमाज के प्रति वर्णी जी के उपकारों की चर्चा की, जैनधर्म की महानता का प्रतिपादन किया तथा जैनसमाज से ग्रनुरोध किया कि "जिस तरह जैन लोग ग्रहिंसा का पालन करते हैं उसी तरह सत्य को भी व्यवहार में लावें ग्रौर पूर्व

की तरह अपना गौरव बढ़ावें। क्योंकि महावीर से लेकर महात्मा गांधी तक ने इसी सत्य से सम्बद्ध अहिंसा का उपदेश दिया है। अपने जीवन भर उसका प्रचार किया है। यह अहिंसा नई नहीं, किन्तु अतिप्राचीन है।" विनोवा जी के सारगर्भित भाषण के अनन्तर वर्णी जी द्वारा स्थापित इस संस्था की ओर से भूमिदान यज्ञ में चार एकड़ जमीन दी गई।

संत विनोवा भावे भूमिदान के हेतु पैदल यात्रा करते हुये तारीख ८ अक्टूबर १९५१ को प्रातःकाल ललितपुर पधारे। उनकी मध्याह्नोत्तर होने वाली ग्रामसभा में सम्मिलित होने के लिये संत वर्णी जी को लेने बाबा राघवदास जो, विनोवा जी के कुछ साथी और कई नागरिक जहाँ वर्णी जी ठहरे थे, वहाँ पहुँचे। वहाँ से वर्णी जी अन्य त्यागियों के साथ जब सभास्थल पर पहुँचे तब सन्त विनोवा अपना चरखा छोड़कर एकदम खड़े हो गये और पूज्य वर्णी जी के चरणों में झुक गये। वर्णी जी ने उनके हाथों को रोक लिया। दोनों सन्त इस प्रत्यक्ष मिलन की मंगल-बेला में गद्‌गद् थे। सन्त समागम के इस अपूर्व दृश्य को देखकर हजारों दर्शकों के गद्‌गद् कण्ठ एक साथ जोर से बोल उठे "सन्त वर्णी विनोवा जिन्दाबाद।"

'संत वर्णी जी की जय' 'सन्त विनोवा भावे की जय' के नारों से आकाश गूंज उठा। विनोवा जी ने वर्णी जी को अपने साथ तखत पर बिठाया। दोनों संतों का यह मंगल मिलन सभी को आनन्द-विभोर कर रहा था। परस्पर औपचारिक सामान्य चर्चा प्रारंभ हो गई। श्री विनोवा जी ने कहा - आपका नाम तो बहुत समय से सुन रखा था और आपकी जीवनगाथा 'वर्णी वाणी" तथा अभिनन्दन ग्रन्थ देखा है किन्तु दर्शन आज हो पाये हैं। वर्णी जी ने कहा आप तो बहुत बड़ा उपकार का कार्य कर रहे हैं। आपके भूमिदान कार्यक्रम से लाखों-करोड़ों लोगों का भला होने वाला है। तदनन्तर सभा का कार्यक्रम प्रारम्भ होने पर संत विनोवा ने कहा "मैं गरीबों को भूमि दिलाने का कार्यक्रम लेकर निकला हूँ, मैं केवल भूमिदान नहीं चाहता, किन्तु इसके द्वारा समाज-रचना में परिवर्तन चाहता हूँ। एक के पास पर्याप्त भूमि है और दूसरे के पास बिल्कुल नहीं। मैं इस विषमता को कुछ कम करना चाहता हूँ। यद्यपि विदेशों में भी ऐसा कुछ हुआ है किंतु विदेशों का तरीका हिंसा का तरीका है। भारतीय संस्कृति में अहिंसा की प्रधानता है। हिंसक तरीके से जनता का दुःख नहीं मिट सकता। उससे थोड़ी देर के लिये समस्या का हल भले ही मालूम हो, किन्तु उससे कई अन्य जटिल समस्यायें पैदा हो जाती हैं। मैंने लोगों के हृदयों में और विचारों में परिवर्तन करने का कार्य प्रारंभ किया है। भूमिदानयज्ञ भी उसका एक उपाय है। लोग मेरे इस कार्य में शंका करते हैं मगर मेरा दृढ़ विश्वास है कि मुझे इसमें सफलता मिलेगी। जो काम हिन्दुस्तान के बाहर के देशों में कभी नहीं हुआ वह यहाँ हो सकता है। विदेशों में करोड़ों में से एक दो मांसाहार त्यागी होंगे, जबकि भारत में करोड़ों मांसाहार त्यागी हैं। जो लोग मांस खाते भी हैं वे उसे अच्छा नहीं मानते। भगवान् महावीर और बुद्ध ने मिलकर लोगों की विचारधारा को बदला था। भारत ने अहिंसा से स्वतन्त्रता प्राप्त की है। इतिहास में अन्यत्र ऐसा उदाहरण नहीं है। इसी प्रकार अभी जो अन्यत्र नहीं हुआ वह यहाँ हो जायगा।

"हिन्दुस्थान में असंख्य लोग भूख से पीड़ित हैं क्योंकि ग्रामोद्योग टूट गये हैं। बेकारी

बढ़ गई है। दारिद्र्य ने श्रड्डा जमाया है। स्वराज्य के इन चार वर्षों में भी दारिद्र्य घटा नहीं, बढ़ा ही है। इसमें अपना ही दोष है। जमीन थोड़ी है और लोग अधिक हैं, किन्तु कुछ लोगों के पास अनावश्यक जमीन भी है। वे अपना स्वामित्व छोड़ें, जैसे बाप-बेटे के लिये छोड़ता है। दान देकर अभिमानी मत बनो', दान का और दया का अहंकार नहीं होना चाहिये, वह पतन का कारण है। अपरिग्रह की शिक्षा लो। सम्पूर्ण अपरिग्रही तो वर्णी जी जैसे साधु पुरुष हैं। ललितपुर का यह परम सौभाग्य है कि वे यहाँ विराजमान हैं। आप लोगों को उनके उपदेशों का नित्य लाभ मिल रहा है। अपरिग्रह के मूर्तरूप इन महापुरुष के समक्ष मैं आप लोगों को त्याग और अपरिग्रह का क्या उपदेश दूं? मेरा यह अधिकार भी नहीं है। मैं आप लोगों से इन जैसा पूर्ण अपरिग्रही होने को नहीं कहता किन्तु इतना कहता हूँ कि परिग्रह की मर्यादा करो। हमें ऐसे पारमार्थिक पुरुष के पीछे चलना चाहिये। यह कहते हुये विनोवा जी का गला भर आया, आँखों में आँसू आ गये। वे एकदम दयार्द्र हो उठे और कुछ क्षण को रुक गये। उपस्थित जनता भी स्तब्ध रह गई। मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग गरीबों के लिये अपनी भूमि का उचित और अच्छा भाग प्रदान करें। आपके नगर में एक महान पुरुष (पूज्य वर्णी जी की ओर संकेत करते हुये) बैठा है। मैं इनके समक्ष आपसे अधिक क्या कहूँ? आचार्य विनोवा भावे ने अपना प्रवचन समाप्त कर पूज्य वर्णी जी से कुछ बोलने का अनुरोध किया। समय थोड़ा रह गया था तथापि वर्णी जी ने बड़े ही प्रभावक एवं प्रेरक ढंग से अपनी सहज एवं स्वाभाविक वाणी में कहा-"हमारी भारतीय पुरातन संस्कृति में कोई पराया नहीं, यहाँ तो

"अयं निजः परो वेति, गणना लघु-चेतसाम्।
उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"

के अनुसार निज पर की क्षुद्र भावना ही नहीं होनी चाहिये। मैं तो मानता हूँ कि सारा विश्व अपना कुटुम्ब है और ऐसा कौन है जो कुटुम्ब की रक्षा नहीं करना चाहेगा? यदि आप भूमि-दान देते हैं तो किसे देते हैं? कौन पराया है, "एक निर्मल परिणामी (विनोवा जी) के आ जाने से सबके मन में निर्मलता आ गई है इसलिये जी खोलकर दान दे डालो। यह सुन्दर सुयोग है। उचित तो यह था कि ऐसे सन्त पुरुष (श्री विनोवा जी) से आप लोगों को पारमार्थिक, आध्यात्मिक शिक्षा मिलती, मगर आप लोगों ने अपनी भीख का काम इनके सिर मढ़ दिया है। आप लोग अपनी भीख हम लोगों से मँगवाते हो। इसलिये अब भी भिक्षा की पूर्ति कर दो। भइया! यह काम भी जनहित का अच्छा काम है। विनोवा जी तो यह कार्य कर ही रहे हैं। मैं भी जहाँ जाऊँगा इनके इस कार्य का प्रचार करूँगा और लोगों को प्रेरित करूँगा।"

यह सुनकर लोगों में उत्साह आ गया और करतल ध्वनि होने लगी। पश्चात् भूमि-दान का कार्य प्रारंभ हुआ।

महरौनी में—

आचार्य विनोवा जी १० तारीख को महरौनी पहुँचे। वहाँ की ग्राम सभा में प्रवचन देते हुये उन्होंने-"दुर्लभं भारते जन्म" कहकर विशाल भारत की प्रतिष्ठा की गई है। किसी

प्रान्त विशेष की नहीं। हमारे आचार्य एकरूपता लाने के लिये समस्त भारत में पैदल यात्रा करते थे। भगवान महावीर के जैनधर्म का उदय बिहार में हुआ किन्तु उनका भ्रमण सर्वत्र हुआ और धर्म फैला। महावीर-वाणी सारे देश में फैल गई। जाति-भेद और धर्म-भेद होने पर भी हम सब एक हैं। हमें एक दूसरे के लिये सहायक होना चाहिये। अपरिग्रह का उपदेश भी इसीलिये है। अपरिग्रह का अर्थ है कि राष्ट्र तो समृद्ध हो मगर मेरा कुछ नहीं है।

"ललितपुर में एक अपरिग्रही संत वर्णी जी विराजमान हैं। वहाँ मुझे उनके दर्शन हुये। मेरा मस्तक झुक गया। वे अपरिग्रही हैं इसलिये वे क्या देते? मगर उनने यह वचन दिया कि मैं आपके काम का प्रचार करूँगा। इससे मेरा मन अत्यन्त संतुष्ट हुआ। एक सन्त पुरुष का भी मुझे सहयोग मिल गया।"

गया में संतों का पुनर्मिलन —

विनोवा-वर्णी सम्मिलन का एक सुयोग पुनः श्रावण कृष्णा १० वि. सं. २०१० (४ अगस्त १९५३) को गया में मिला। प्रातःकाल ५ बजे ही सन्त विनोवा भावे पूज्य श्री वर्णी जी के विश्रांति-स्थल पर पधारे। वर्णी जी से १५ मिनट तक भेंट-वार्ता के अनन्तर विनोवा जी ने परम संतोष व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि यहाँ आने पर जब पता चला कि आप यहाँ चातुर्मास के निमित्त ठहरे हैं, तब मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि ललितपुर के बाद पुनः भेंट का यह अच्छा सुयोग है, इससे आपसे भेंट का लाभ लेना चाहिये। विनोवा जी के व्यक्तित्व के संबंध में वर्णी जी ने लिखा है कि विनोवा जी बहुत ही शान्त स्वभाव के हैं। आपका भाव अत्यन्त निर्मल है। सभी प्राणी सुख के पात्र हैं तथा कोई दुख का अनुभव न करे यह मैत्री भावना आप में पाई जाती है। 'दुःखानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री'' यही तो मैत्री का लक्षण है। देहातों में जनता के गरीब लोग खेती-योग्य भूमि से रहित न रहें इस भावना से प्रेरित होकर आप परिकर के साथ भ्रमण करते हैं और सम्पन्न मनुष्यों से भूमि माँगकर गरीबों के लिये वितरण करते हैं। उत्तम कार्य है। यदि जनता में ऐसी उदारता आ जावे कि हम आवश्यकता से अधिक भूमि के स्वामी न बनें तथा वह अतिरिक्त भूमि भूमिहीनों को दे देवे तो देश का कल्याण अनायास ही हो जावे।

इसी प्रकार विनोवा जी इसके एक साल पूर्व भी काशी विद्यापीठ वाराणसी में दिनांक ३१ जुलाई १९५२ को पूज्य वर्णी जी के व्यक्तित्व और विचारधारा के प्रभाव को व्यक्त कर चुके थे। "वर्णी वाणी" द्वितीयभाग की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा था—"वर्णी जी के सद्वचनों का संग्रह करने वाली इस किताब की प्रस्तावना के तौर पर दो शब्द मैं लिखूं, ऐसी माँग की गई है। वर्णी जी एक निष्काम जनसेवक हैं और उनके विचार सुलझे हुये हैं। सर्व धर्मों को वे समान दृष्टि से देखते हैं और लोगों की सेवा में ही सबका पर्यवसान समझते हैं। ऐसे अनुभवी के विचारों का परिशीलन जनता को जितना होगा, कल्याणदायी होगा।"

इसके बाद ७९ वी वर्णी-जयन्ती-समारोह सप्ताह के उद्घाटन के समय भी वाराणसी में ही दिनांक ३ सितम्बर १९५२ को श्री स्याद्वाद दि० जैन संस्कृत विद्यालय में प्रातः ६ बजे पधार-

कर "वर्णी जी और जैनधर्म" के संबंध में विचार व्यक्त किये थे जिनसे वर्णी जी के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा व्यक्त होती है (दृष्टव्य 'वर्णी-वाणी' द्वितीय-भाग, पृष्ठ ७ से ९)।

ऊपर चर्चा की जा चुकी है कि दि० ४ अगस्त १९५३ को वर्णी जी के चातुर्मास के समय गया में वर्णी जी से विनोबा जी की द्वितीय भेंट हुई थी। इस भेंट के कुछ ही दिन बाद वहाँ के टाउन हाल में आयोजित विनोबा-जयन्ती-उत्सव में दि० ११-९-१९५३ को वर्णी जी ने विनोबा और उनके भूमिदान के संबंध में बड़ा ही प्राभाविक प्रवचन दिया था जिससे सन्त विनोबा के प्रति वर्णी जी की अगाध श्रद्धा व्यक्त होती है (दृष्टव्य 'वर्णी-वाणी' तृतीय-भाग, पृष्ठ २३६ से २४३)।

कहने का तात्पर्य यह है कि सन्त वर्णी और सन्त विनोबा भावे दोनों ही सन्तों का कार्य-क्षेत्र अलग अलग है परन्तु उनकी विचारधारा का जो समन्वय एवं एक दूसरे के प्रति अगाध श्रद्धा का भाव है वह वस्तुतः सन्त-स्वभावी-मैत्री का अपूर्व उदाहरण है। मूर्तिमान आदर्श है। सन्त वर्णी जी अब संसार में नहीं है, परन्तु सन्त विनोबा के मन में उनके प्रति अगाध श्रद्धा के भाव अमर हैं।

⁂

उस मातृत्व को प्रणाम

—कुमारी मंजुला जैन, बी. ए. बी. एड., सतना

पूज्य वर्णी जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये ये पंक्तियां प्रस्तुत कर रही हूँ। हम यह देखते हैं कि एक अजैन कुल में जन्म लेकर तथा अत्यन्त गरीबी की, साधनहीन जिन्दगी बिताकर और जगह-जगह ठुकराये जाकर भी पूज्य वर्णीजी ने अपने जीवन को इतना ऊँचा उठाया, कि वे स्वयं तो महान् हो ही गये, साथ ही लाखों स्त्री पुरुषों के जीवन को उन्होंने कल्याण के मार्ग पर लगा दिया। जब हम उनके जीवन की इन महान उपलब्धियों की ओर देखते हैं तो हमें यह विश्वास हो जाता है कि यदि उतनी निष्ठा के साथ और उतने परिश्रम के साथ जीवन का संस्कार किया जाय तो हम और आप भी अपने जीवन को ऊँचा उठा सकते हैं। ज्ञान के लिये या शिक्षा के लिये जितनी प्यास वर्णी जी के मन में थी उतनी प्यास किसी विद्यार्थी के मन में जागृत हो जायेगी तो वह ज्ञान का अच्छा भण्डार अर्जन कर सकेगा। पूज्य वर्णी जी ने समाज का जो उपकार किया उसके लिये समाज दीर्घकाल तक उनका गुणगान करेगा। हमें तो उनके इस उपकार को श्रद्धा के साथ स्मरण करना है, जो उन्होंने हमारी नारी-समाज के लिये किया है। अशिक्षा के जिस अंधकार से और मूर्खतापूर्ण कुरीतियों के जिस गहरे गर्त से वे महिला-समाज को निकाल कर यहाँ तक पहुँचाने में समर्थ हुये वह सचमुच एक वन्दनीय प्रयास है। वर्णी जी ने बड़े जोरों से समाज के ठेकेदारों की आँख में अंगुली डालकर उन्हें यह बताया कि नारी भी पुरुष के समान-मानव समाज का ही अंग है। नारी में भी अपना उत्कर्ष करने की

समता है और संसार के मार्ग की तरह मोक्ष के मार्ग में भी नारी पुरुष की बराबरी से चल सकती है। यह बात यथार्थ है कि कम से कम बुन्देलखण्ड और मध्यभारत के पिछड़े हुये घरों में से नारी को बाहर निकाल लाने का श्रेय, ज्ञान-अर्जन और धर्म-साधन की सुविधायें दिलाने का श्रेय पूज्य वर्णी जी को ही है।

जब हम पूज्य वर्णी जी के उपदेशों की ओर दृष्टि करते हैं तो उनका समूचा जीवन हमें उपदेशों से भरा हुआ दिखाई देता है। किताबों में लिखकर उन्होंने जो उपदेश दिये हैं उनसे कई गुना ज्यादा उपदेश वर्णी जी ने अपने जीवन के द्वारा हमारे सामने साक्षात् रूप से रखे। उन्होंने माता चिरोंजाबाई के प्रति जो विनय और सेवाभाव व्यक्त किया वैसी विनय और वैसा सेवाभाव यदि हमारे जीवन में थोड़ा सा भी आ जाये तो हमारा कल्याण हो सकता है। वर्णी जी के स्वभाव में जितनी सरलता और सादगी थी उसको थोड़े रूप में भी हम अपना सके तो समाज में हमारी प्रतिष्ठा बन सकती है। वर्णी जी जैसे मृदुभाषी थे, हमेशा जिस तरह दूसरे के कल्याण के लिये चिन्तन किया करते थे और उनकी वाणी में जो मिठास था, उसका एक शतांश भी जिसे मिल जायेगा वह अपने परिवार में बड़ा प्रिय सदस्य बनकर रहेगा। पूज्य वर्णी जी महराज का आत्मसंयम तो महान था। अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं पर यदि वैसा ही नियन्त्रण लगाने का अभ्यास हम कर सकें तो उसी घड़ी से हमारे जीवन का कल्याण शुरू हो जायेगा। हम उनके गुणों का स्मरण करें और अपने जीवन में उन्हें उतारने का प्रयत्न करें तो उनकी जन्म शताब्दी मनाना सार्थक हो सकता है।

वर्णी जी के महान जीवन को बनाने में माता चिरौंजाबाई का अलौकिक त्याग, आदर्श ममता शामिल है, जिसे हमें स्मरण रखना चाहिये। हमें बताया गया है कि चिरौंजाबाई एक निसंतान विधवा थीं। जब विद्या अध्ययन के लिये भटकते हुये बालक के रूप में वर्णी जी उनके गाँव में गये तो उन्हें देखते ही चिरौंजाबाई का मातृत्व उमड़ पड़ा और उन्होंने अपना सारा जीवन और लाखों रुपये की सम्पत्ति पूज्य वर्णी जी के ऊपर न्योछावर कर दी। हमें इस बात के लिये गौरव करना चाहिये कि एक नारी के त्याग ने, एक माता की ममता ने, एक अनजाने बालक को "गणेशप्रसाद वर्णी" बना दिया। यदि वर्णी जी के जीवन की महानताओं को अपने जीवन में उतारना हमें कठिन लगे तो भी माता चिरौंजाबाई के सद्गुणों को और उनकी ममता को, उनकी निस्वार्थ त्याग-भावना को अपना कर हम अपने नारी-जीवन को सफल तो कर ही सकते हैं। इन्हीं शब्दों के साथ मैं उन दोनों महान आत्माओं के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ।

❀

संग सर्वथा अच्छा नहीं। अन्तरङ्ग से हम स्वयं निर्मल नहीं, अतः अपने को दोषी न समझ, अन्य को दोषी समझते हैं।

—गणेश वर्णी

युग-पुरुष वर्णी जी

—डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

पूज्य वर्णी जी जन्म से परम्परया वैष्णव-कुल में उत्पन्न हुए, शिक्षा का प्रारंभ भी ब्राह्मण गुरु के निकट वैष्णव पाठशाला में हुआ, माता और विवाहोपरांत पत्नी तथा अन्य नाते-रिश्तेदार भी वैष्णव थे, जाति असाटी वैश्य थी, जिसका शायद एक भी सदस्य जैनी नहीं था। उन सबका सतत विरोध रहा, यहाँ तक कि जाति से बहिष्कृत भी होना पड़ा। किन्तु पूर्व जन्म के कुछ संस्कार थे, अथवा बाल्यावस्था से ही चेतना अपेक्षाकृत प्रबुद्ध, जिज्ञासु, सत्यान्वेषी और गुणग्राही थी, जैनधर्म में उनकी आस्था उत्तरोत्तर दृढ़ से दृढ़तम होती गई। मूल में तो अपने पिता से णमोकार मन्त्र के प्रति एक अबोध श्रद्धा विरासत में मिली थी। पिता हीरालाल जी को भी किसी संयोग से महामन्त्र में एक प्रकार की अटल श्रद्धा हो गई थी। सन् १८७४ में वर्णी जी का जन्म उत्तरप्रदेश के झांसी जिले के परगना मड़ावरा में स्थित हँसेरा ग्राम में हुआ था। छह वर्ष पश्चात् परिवार मड़ावरा में आकर बस गया—वहीं घर के सामने जिन-मंदिर था, अतएव जैनों और जैन-धर्म का संसर्ग मिलता गया। दस वर्ष की अवस्था में रात्रि-भोजन का त्याग कर दिया, पन्द्रह के होते होते वर्नाक्यूलर मिडिल-परीक्षा पास कर ली, अठारह की आयु में विवाह हुआ, किन्तु पितामह, पिता और बड़े भाई की अकस्मात् मृत्यु ने गृहस्थी का सारा भार इनके दुर्बल कन्धों पर पटक दिया और तभी से जीवन-निर्वाह के लिए स्कूल मास्टरी करनी पड़ी।

आगामी लगभग दस-बारह वर्ष का समय बड़े संघर्ष, द्विविधा और आकुलता का था। इसी काल में पत्नी की मृत्यु के साथ दाम्पत्य-जीवन से जो नाममात्र का संबंध था वह, तथा परिवार के अन्य सदस्यों के साथ भी जो कुछ सम्बन्ध था, प्रायः समाप्त हो गया। सिमरा की धर्म-प्रेमी विधवा सिंघैन चिरौंजाबाई का समागम मिला जिसने अपना धर्म-पुत्र अंगीकार करके इनका पूर्ण संरक्षण और अभिभावकत्व अपने ऊपर ले लिया। जीवन-निर्वाह के लिये मास्टरी आदि कुछ करने की आवश्यकता नहीं रही। जैन-धर्म पर आस्था दृढ़ हो चुकी थी और उसके शास्त्रीय ज्ञान की पिपासा भड़क चुकी थी। अध्ययन और उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ऐसी उत्कट भूख थी कि आगामी लगभग दस वर्ष बम्बई, आगरा, मथुरा, खुर्जा, जयपुर, हरिपुर, कलकत्ता, बनारस आदि विभिन्न स्थानों में उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए भटके। एक स्थान में जमकर कुछ समय तक रहना शायद स्वभाव में नहीं था या नियति में नहीं था। तीर्थ-यात्राएँ भी कीं। किन्तु इस भटकन के भी कई सुफल हुए। अध्ययन चलता रहा और (१९१२ ई० में) न्यायाचार्य परीक्षा में उत्तीर्णता-प्राप्ति के साथ औपचारिक रूप में वह समाप्त हुआ। उसी अवधि में गुरुवर्य पं० पन्नालाल बाकलीवाल, गुरु गोपालदास बरैया, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद, पं० दीपचंद्र वर्णी, बाबा भागीरथ वर्णी प्रभृति उस काल के प्रमुख विद्वानों एवं समाज-सेवियों के साक्षात् सुखद सम्पर्क में आये। विभिन्न स्थानों के श्रीमानों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के परिचय में आये। समाज की रूढ़ियों, कुरीतियों और पिछड़ेपन का विशेषकर अपनी जन्मभूमि बुन्देलखण्ड

प्रदेश की सामान्य अशिक्षा एवं अवनत अवस्था का तथा अनेक स्थानों की स्थानीय समस्याओं का ज्ञान हुआ। उनके समाधान की, समाज-सुधार और समाज-सेवा की इच्छा बलवती हुई। इसी अवधि में स्वयं अपनी शिक्षा के लिए स्थान-स्थान की धूल छानने में जैन-शिक्षा के साधनों, श्रेष्ठ विद्यालयों आदि के अभाव की भी प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। परिणामस्वरूप, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी की चमत्कारिक स्थापना और सागर विद्यालय की नींव डालने में उसी अवधि में वह स्वयं ही अग्रणी रहे। उसी अवधि के अन्त के लगभग, प्रायः चालीस वर्ष की आयु में, जबकि प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो रहा था, उन्होंने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। अब वह पं. गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य के नाम से समाज में प्रसिद्ध हुए।

आगामी ८-१० वर्ष उन्होंने बुन्देलखण्ड में शिक्षा-प्रचार और पाठशालाओं की स्थापना का अभियान उठाया। सागर-विद्यालय के लिये पुष्कल चन्दा एकत्र किया। द्रोणगिरि आदि उस प्रदेश के विभिन्न स्थानों में दर्जनों पाठशालाएँ स्थापित की। उस प्रदेश के शिक्षाभिलाषी युवकों को छात्रवृत्तियाँ आदि दिलाकर वाराणसी आदि के विद्यालयों में भेजा। बुन्देलखंड में जहाँ एक भी जैन पंडित नहीं था, वर्णी जी की इस कृपा के फलस्वरूप आज सैकड़ों विद्वान सुलभ हैं। उस प्रदेश की सामाजिक कुरीतियों के निवारण का भी वेगवान अभियान चलाया। सन् १६३१-३२ में चिरौंजाबाई जी का निधन हो जाने से उनके सारे सांसारिक-वैयक्तिक बंधन समाप्त हो गये। अब सारी समाज उनका अपना परिवार बन गया। वह पूर्ण गृह-त्यागी, प्रायः अपरिगृही, निस्पृह परिव्राजक बन गये। राष्ट्रीय भावनाओं से भी प्रभावित हुए। देश के अन्य प्रदेशों, खतौली, मेरठ, आदि को भी अस्थायी कार्य-क्षेत्र बनाया। दस्सा-पूजाधिकार जैसे तत्प्रदेशीय सुधारों का भी पक्ष लिया, किन्तु स्याद्वाद विद्यालय, सागर विद्यालय तथा स्वस्थापित पाठशालाओं आदि का सदैव प्राथमिक ध्यान और हितकामना रही। हस्तिनापुर का जैन गुरुकुल और खतौली का कुन्दकुन्द कालिज उन्हीं की प्रेरणा के सुफल हैं। बाबा भागीरथ और पं० दीपचन्द जी के साथ मिलकर इस वर्णीत्रय का खतौली जैनकालिज स्थापनाका अभियान भी जैन इतिहासमें प्रसिद्ध हो गया।

सन् १६४५ के लगभग, प्रायः ७० वर्ष की आयु में पूज्य वर्णी जी ने क्षुल्लक-पद-धारण किया। लगभग दस वर्ष उसी रूप में लोकोपकारार्थ विचरण करके १६५३ मे वह ईसरी में जहाँ उन्होने बहुत पहले उदासीन आश्रम स्थापित करा लिया था, पधारे। वहीं १६६१ में ८७ वर्ष की आयु में दिवंगत हुए। वहीं उनका स्मारक भी बना, सागर विद्यालय में भी वर्णी-स्मारक-भवन बना जिसमें उनकी मूर्त्ति भी स्थापित हुई। पचहत्तर वर्ष की आयु पूरी करने पर उनका हीरक-जयन्ति-महोत्सव भी मनाया गया था। उनके अभिनन्दनार्थ 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' भी उत्तम रूप में प्रकाशित किया गया था। उनकी लघु आत्मकथा (जीवन यात्रा) भी प्रकाशित हो चुकी है और 'वर्णी वाणी' के नाम से उनके प्रवचनों, उपदेशों आदि के तथा उनके पत्रों के कई संकलन भी प्रकाशित हो चुके हैं। इतिहास के एक विद्यार्थी के नाते हमे यह बात बहुत खटकी कि उस युगपुरुष का कालक्रमिक जीवनवृत्त गूंथना बड़ा कठिन लगा। इतना निकट और सम-सामयिक होने पर भी उनके संबंध में प्रकाशित उपर्युक्त सामग्री सर्वथा अपर्याप्त रही। उनके शिष्यों, परम भक्तों और उपकृतों ने उनके काव्यमय गुणगान तो बहुत किये, किन्तु उनके इतिवृत्त को शृंखलाबद्ध करने की ओर ध्यान कम दिया। लगभग सन १६०० से १६४५ तक का उनका

जीवन, जो सर्वाधिक घटनापूर्ण और ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था, जिसमें उनके समाज-सेवा-कार्य, उनके कर्मठ जीवन की लोक के लिए सर्वाधिक मूल्यवान उपलब्धियां निष्पन्न हुई, उसका कोई व्यवस्थित विवरण प्राप्त नहीं है। साठ-पैंसठ वर्ष के लम्बे लोकसेवी एवं लोक-संग्रही जीवन के जो संस्मरण भी प्रकाश में आये हैं, गिने चुने ही हैं। संभव है कि इस कमी का कारण हमारे समाज की सामान्यतया और हमारे पंडित जनों की विशेषतया इतिहास विद्या के प्रति अरुचि और उपेक्षा हो।

स्वयं हमें तो पूज्य वर्णी जी के दर्शनों का लाभ चार-पांच बार ही मिला है। सन् १९२७-२८ में जब आचार्य शान्तिसागर जी का मुनिसंघ मेरठ आया था तो वर्णी जी भी मेरठ में धर्मशाला में ठहरे थे। हम स्कूल में पढ़ते थे, किन्तु बाबा भागीरथ जी तथा ब्र० शीतलप्रसाद जी का स्नेह हमें बाल्यकाल से ही प्राप्त था, अतः वर्णी जी के नाम से हम परिचित थे। उनके दर्शनों के लिए गये।

सन् १९४० में हम श्री सम्मेदशिखर की यात्रा को गये। तो वहाँ ईसरी में वर्णी जी के दर्शन हुए। प्रवचन सुना। थोड़ा वार्तालाप भी हुआ। बाबा भागीरथ जी भी वहां थे—वृद्ध, अशक्त और रुग्ण थे। कुछ अस्थिर-चित्त भी हो चले थे। हमें पहचान तो लिया। उस समय देखा कि वर्णी जी बाबा जी की सार सम्हाल, उन्हें सम्बोधना कितने वात्सल्य के साथ करते थे। वह उन्हें गुरुतुल्य, अग्रज तथा जीवन-सहयोगी मानते थे। उन्होंने वहीं बाबा जी का निधन समाधिपूर्वक कराया।

उसी समय के लगभग मेरठ के आसपास पूज्य वर्णी जी के कतिपय परम भक्तों का दल तैयार हुआ। जिसमें जगाधरी के भगत सुमेरचन्द्र, सहारनपुर के रतनचन्द्र मुख्तार और नेमिचन्द्र वकील, मुजफ्फरनगर के ब्र० मुख्त्यारसिंह और मित्रसेन मुन्सरिम, शाहपुर के शीतलप्रसाद, सलावा के हुकुमचन्द्र, खतौली के त्रिलोकचन्द्र, मेरठ के ब्र० ऋषभदास आदि प्रमुख थे। सौभाग्य से हमें भी ये सब सज्जन अपने ही दल का सदस्य मानते थे। जब कभी सब का मिलन भी होता था। स्वाध्याय और तत्त्वचर्चा का जोर बढ़ा। प्रायः प्रत्येक पर्युषण यह लोग ईसरी जाकर महाराज के सानिध्य में बिताते थे। हमारे लखनऊ आ जाने के कारण इस दल के साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध शिथिल हो गया और कई बार उनके साथ ईसरी जाने का सुयोग होने पर भी दुर्भाग्य से उसका लाभ न उठा सके।

हस्तिनापुर में गुरुकुल की स्थापना का श्रेय भी वर्णी जी महाराज को ही है। कुछ समय मेरठ व हस्तिनापुर में रहकर तथा उस प्रदेश में भ्रमण करके उन्होंने गुरुकुल की सहायता के लिए भी जनता को सफल प्रेरणा दी। ऐसे ही एक अवसर पर मेरठ बोर्डिंग हाउस में महाराज ठहरे थे। यात्राश्रम से शिथिल थे। हम निकट बैठे उनके पैर दबा रहे थे। हमें उकसा-उकसा कर बहुत कुछ पूछते रहे। हम इतिहास के विद्यार्थी थे, युवकोचित उत्साह से अपनी जानकारी उगलने लगे। वह स्नेहपूर्वक हमें उत्साहित करते रहे। बीच-बीच में कहते जाते 'वाह भइया, तुम्हें तो बड़ी जानकारी है। यह सब तो हम भी नहीं जानते। और बताओ।' बाद में इस घटना को

याद कर करके अपनी वाचालता पर लज्जित भी हुए और उस महात्मा की सरलता, सहज वात्सल्य और अज्ञ युवकों को प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देने की कला पर मुग्ध भी हुए।

संभवतया उसी प्रसंग में हमने एक लेख लिखा था 'वर्णी युग', जिसकी एक कच्ची प्रति १२ अगस्त १९४६ की तिथियुक्त, पुराने कागजों में मिली। स्मरण नहीं कि वह लेख कहीं छपा था या नहीं—शायद नहीं छपा था। उस लेख का अंतिम एवं मुख्य अंश निम्नोक्त था—

"स्व. आचार्य शान्तिसागर महाराज के उत्तरीय भारत में आगमन के साथ जो एक प्रकार का मुनियुग आविर्भूत हुआ था, लगभग पन्द्रह वर्षों के भीतर ही उसका अवसान सा हो गया। मुनि-भक्ति का प्रबल उद्रेक भी ज्वार भाटा में परिवर्तित हो गया और मुनि-विहार भी इस प्रदेश में अतिविरल रह गया। ऐसे समय में एक चिर-परिचित विभूति की ओर सबकी दृष्टि उठी। यह महात्मा, महात्मा-नाम धारण किये बिना ही पचीसों वर्ष से महात्मा था। स्वयं को त्यागी न कहते हुए भी सच्चा त्यागी था। समाज की अतिशय पूजा-भक्ति से स्वयं को बचाता हुआ भी समाज के कल्याण एवं उद्धार में सतत उद्यमवान् रहता आया था। वह शास्त्र का पारगामी, प्रकांड विद्वान, अध्यात्मज्ञानी और आत्मध्यानी था। निरभिमानी, सरल परिणामी और निस्पृह भी था। तथापि समाज के सर्वतोमुखी कल्याण के लिए यथाशक्य प्रयास में सदैव तत्पर। वह इस शताब्दी में उदित होकर इसी के अनुरूप प्रगतिगामी बना रहा। रूढ़िवादिता से प्रायः शून्य। धार्मिकता और सामाजिकता, वैयक्तिक सदाचार और राष्ट्रीय भावना, उदारता और नम्रता, प्रज्ञा और सरल निरभिमानता का उसमें कुछ ऐसा अद्भुत सामञ्जस्य हुआ कि वह त्यागीवर्ग में भी माननीय हुआ और गृहस्थों का भक्तिभाजन भी। पंडितों का श्रद्धेय बना तो बाबुओं द्वारा भी पूज्य हुआ। उसने शिक्षित, अशिक्षित, आबाल वृद्ध, स्त्री पुरुष, जैनों को ही नहीं अनेक अजैनों को भी आकृष्ट एवं प्रभावित किया। ग्राम-ग्राम में विचरण करके जनता की धार्मिक भावना को जागृत किया। समाज के सभी वर्ग उसका नेतृत्व सहर्ष स्वीकार कर रहे थे। अनेक विषयों में मतभेद और विचार वैभिन्न्य होते हुए भी, सभी के हृदय में एक ही बात थी कि इनके व्यक्तित्व का सुयोग पाकर धर्म की प्रभावना, संस्कृति का अभ्युत्थान और समाज का उत्कर्ष अवश्य होगा।

ऐसा ज्ञात हुआ था कि पूज्य वर्णी जी ने बहुत कुछ ऊहापोह के पश्चात् क्षुल्लक पद धारण किया है। उनके ऐसा करने से उनके स्वयं के आत्म-साधन में क्या कुछ सुविधा या विशेषता-वृद्धि हुई है, यह तो वही जानें, किन्तु इस प्रान्त में, इस काल के दिगम्बर जैन-समाज में वह अपने वर्तमान-रूप में युगप्रधान सन्त और गुरु के पद पर सहज आसीन हो गये। उनके माध्यम से धर्म, संस्कृति और समाज का उपरोक्त हितसाधन अवश्य किया जा सकता है।

इन सब बातों के बावजूद हमें ऐसा लगता है कि उत्तर भारत की दि० जैन समाज के इतिहास में वर्तमान युग श्री १०५ पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी के नाम से 'वर्णीयुग' के रूप में अमर होगा। यह समाज का दुर्भाग्य होगा यदि वह इस सन्त के आदर्श का स्वर्ण अवसर पाकर भी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक, तीनों क्षेत्रों में समयानुकूल यथेष्ट प्रगति करने में असमर्थ रहता है।"

अब से पच्चीस वर्ष पूर्व लिखे उपर्युक्त उद्‌गारों की वर्तमान में इतनी सार्थकता तो है ही, कि वे पूज्य वर्णी जी के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण परिणति के संबंध में एक समकालीन प्रतिक्रिया प्रतिबिम्बित करते हैं। उक्त घटना के तीन चार वर्ष उपरान्त ही वह ईसरी जाकर वहीं के हो रहे। वस्तुतः तब तक जो कुछ उन्हें करना था उससे प्रायः कृतकृत्य हो गये थे। ८० वर्ष के लगभग आयु हो चुकी थी। शेष सात-आठ वर्ष उन्होंने शान्ति से आत्म-साधन में ही व्यतीत किये।

उन युगपुरुष सन्त-शिरोमणि वर्णी जी की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में उनकी पावन स्मृति में हम अपनी विनीत श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

❋

पूज्य वर्णी जी के कुछ प्रेरक संस्मरण

श्री भैयालाल सराफ एडवोकेट, सागर

श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के रूप में मुझे पहले परिचय, जब मैं सागर में विद्यार्थी था, श्रीयुत नन्हूराम जी कंडया के द्वारा ही हुआ था, जिनके प्रेमात्म व्यवहार द्वारा जैन-धर्म-प्रेम का बीजारोपण हुआ। जिसका कुछ वर्णन मैंने "मेरे जैनधर्म प्रेम की कथा" में लिखा है।

श्री कंडया जी ने मेरी तारीफ कर दी कि यह अच्छा विद्यार्थी है। वर्णी जी ने कहा खूब मन लगा कर पढ़ना। कभी कभी उनकी धर्ममाता श्रीमती चिरौंजाबाई के यहाँ भी उनका दर्शन हो जाता था।

शुभ्र वस्त्र धोती कुरता एक उपरना वा सिर में खूब आंवले का तेल। दो छोटी छोटी जिज्ञासु आंखों से झांकता हुआ पवित्र निर्मल हृदय। मैं फिर जबलपुर कालेज के शिक्षण को चला गया। बाद में अलाहाबाद संस्कृत वा कानून के अध्ययन को चला गया; जहाँ ही श्री चम्पतराय जी बैरिस्टर तथा श्री ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी से परिचय जैन होस्टल में हो जाया करता था। इस लम्बे काल में वर्णी जी का दर्शन नहीं हो पाया। इसलिये जब पहला अवसर मुझे जैन-धर्म पर बोलने का कदाचित् १९२६ में परवार सभा के अधिवेशन के बाद आया, तो ब्रह्मचारी जी के वार वार कहने पर भी मुझे कठिनता से जैन-धर्म पर बोलने का अवसर मिला। ब्रह्मचारी जी से खूब परिचय हो गया था वे कोई न कोई पुस्तक कहीं न कहीं से जैन-धर्म-सम्बन्धी भिजवा दिया करते थे। पढ़ने का चाव था खूब पढ़ता था। जब कभी वे मिल जाते तो गुत्थियों का सुलझाव भी उनसे कर लेता था। सभाध्यक्ष वर्णी जी ने कहा क्या बोलोगे। उनका प्रश्न बिलकुल उचित था क्योंकि कोई भी अजैन उन दिनों न मालूम क्या ऊल जलूल जैन-धर्म के संबंध में बोल दे। उन दिनों जैन-धर्म के प्रति आत्मीयता की भावना गैर जैन समाज में पनप नहीं पाई थी। मेरे मित्र स्व० डा० हीरालाल जैन को भी दिवा-भोजन के लिये होस्टल में मेरे साथ जाना पड़ता था, तब भी भोजन-पंडित उलहना देता था कि जैनी को क्यों ले आये बाबू ? तुम्हें तो सबेरे खाने को

पूरा मिलता नहीं । तुम मांगते नहीं वा परोसने वाले से रोटी साग झपटकर छुड़ाते नहीं । तुम्हारे ऊपर मुझे बहुत दया आती है । तो मैं कह देता था ये भी हमारे भाई ही हैं । यदि तुम्हें आपत्ति है तो मैं भी दिवाभोजन को अकेला नहीं आऊंगा ।

वर्णी जी ने ब्रह्मचारी जी के अत्यन्त आग्रह पर मुझे बोलने का समय दिया । वह जैन-समाज से परिचित कराने का प्रथम प्रयास था । दूसरे दिन कुछ अजैन विद्वान आये जो उस सभा में थे क्योंकि वह सार्वजनिक सभा थी वा कहने लगे क्या आपने सनातन-धर्म में कुछ भी नहीं हैं । मैंने कहा बहुत है । तब फिर आपने कहा क्यों नहीं । पर मुझे तो जैनधर्म के संबंध में बोलना था वहाँ अपने धर्म के संबंध मे क्या बोलता । जैन गृहस्थ वा विद्वान भी मिले कहा आपको जैनधर्म के बाबद अच्छी स्पष्ट निपुणता है । मैंने कहा मैं तो अभी भी विद्यार्थी ही हूँ और पारिभाषिक शब्दों के घटाटोप में न उलझ कर समझना वा आत्मसात् करना पड़ता है तब कुछ कह सकता है । यही मेरे कुछ कह सकने का रहस्य है इसमें विशेष कुछ नहीं । वकालत मैंने एक वर्ष पूर्व ही प्रारंभ कर दी थी । इसके बाद तो मुझमें वगैर कोई विशेष ज्ञान के लोग समझने लगे मैं बहुत जानता हूँ, सिलसिले से जानता हूँ । इसलिये अन्य धर्मों के संबंध में भी विचार व्यक्त करने का अवसर आने लगा । यह वर्णी जी की मुझ पर ब्रह्मचारी जी के आग्रह द्वारा कष्टार्जित कृपा थी ।

सागर के उदासीन आश्रम तथा चौधरन बाई के जैन मंदिर में जाते आते दर्शन हो जाता था पैर छूते ही आर्शीर्वाद । अच्छे हो ? क्या लिख रहे हो ? और क्या कर रहे हो ? यह उनके नैसर्गिक कृपा-प्रश्न रहते थे ।

बहुत दिन से सोच रहा था मंदिर में जाने का तथा वर्णी जी का प्रवचन समयसार पर सुनने का बहुत से स्वयं सेवक बंधुओ ने भी आग्रह किया कि वर्णी जी का प्रवचन बहुत अच्छा होता है । वगैर समय का ध्यान किए पहुँच गया पैर धोकर दूर ही मंदिर में बैठ गया । वर्णी जी की पैनी दृष्टि ने देख लिया । कहा—'यहाँ आइये' । मैंने कहा महराज देरी से आया इसलिये यहाँ ही बैठने का मुझे अधिकार है । तब तो उनकी कृपा का वर्षण हुआ । नही यहाँ ले आओ । विवश था, निकट आ गया । ५ मिनट बाद ही प्रवचन का अन्त होने को था बोलने लगे भइया आज वकील साहब आये हैं ये बड़े श्रद्धालु हैं कुछ और समय बोलूंगा इनके कारण । मुझे बहुत संताप हुआ कि मेरे कारण वर्णी जी को कष्ट हुआ वा सारी श्रद्धालु समाज को भी ।

एक मुकदमा सत्तर्क सुधा तरंगिणी जैन पाठशाला से मेरे एक पक्षकार का चला । मैंने उससे कह दिया आप गवाहों की तलाश में मत पड़ो केवल वर्णी जी को ही साक्ष्य मे बुला लो । समन निकला । वर्णी जो को धर्म-संकट । उन्होंने कह दिया मैं तो जैसी बात है वैसी कह दूंगा । मुकदमा कहीं जावे । मैंने पक्षकार से पहले ही निश्चय करा लिया था कि वर्णी जी के निर्णय को शिरोधार्य करना होगा । वर्णी जी गवाही में नहीं गये । सही निर्णय हो गया मकान हमारे पक्ष-कार को मिल गया । २-३ हजार रुपया पाठशाला को दान में दे देने को मैंने भी उन्हें वाध्य किया यद्यपि वर्णी जी ने कुछ नहीं कहा ।

सागर में पर्याप्त समय वे रहे । इससे सागर की भूमि से उन्हें कुछ अधिक लगाव था । उनका अंतिम समय जान लोग उनसे मिलने जाते थे । मैंने भी विचार किया कुछ लोग रुके भी

मेरे साथ आने को। न आ पाया, पर मैंने उन्हें एक लंबा पत्र लिखा। मुंशी जी से कहा नकल कर दी। उन्होंने नकल कर दी क्योंकि मेरा लेखन त्वरा के कारण बहुत खराब है। मुंशी जी ने कहा मैं उसकी एक नकल अपने पास रख लूं ? बहुत अच्छा लगता है। मुझे क्या आपत्ति हो सकती थी। आज मुंशी जी नहीं मेरा हस्तलिखित पत्र प्राप्त नहीं। वर्णी जी के २ पत्र आये थे वे भी नहीं मिल रहे, मेरे जैनी मुंशी श्री हरप्रसाद जी का भी देहावसान हो गया। दो बातें पूज्य वर्णी जी ने लिखी थीं। हर दिन कुछ पैसा नियमित रूप से आमदनी में से निकाल लेना चाहिये या जहाँ जब जिसे देना हो दे देना; तथा हर दिन आत्मध्यान कुछ समय करना चाहिये। पहली बात के लिये मैंने उनसे क्षमा मांगी व लिखा कि अच्छे कार्य के लिए कभी कभी पैसा दे देता हूँ, इस प्रकार से अपरिग्रह-वृत्ति का कुछ पोषण कर रहा हूँ। पर रोज रोज कुछ निकालने के आप के आदेश का अक्षरशः पालन नहीं कर पा रहा हूँ कृपया क्षमा करेंगे। आत्मध्यान को अवश्य कुछ समय निकाल लेता हूँ।

जो लोग ईसरी से आते थे; वे कहते थे; चलने फिरने में उन्हें कष्ट होता है, पर कष्ट का कभी व्यक्तीकरण नहीं होता। मेरे संबंध में कई लोगों से पूछा करते हैं व कहा करते थे, वकील इस प्रकार का बहुमुखी सेवाव्रती होना चाहिए। मैं प्रयत्नशील हूँ कि उनके वचनों योग्य अपने को बना पाऊँ। क्योंकि अपनी दुर्बलताओं को मैं अच्छी तरह जानता हूँ।

हर व्यक्ति यही मानता था कि उसके प्रति उनका अत्यन्त अधिक स्नेह है। पूज्य जी के पत्रों को मैंने देखा। कैसा अच्छा लेखन, जमा हुआ। थोड़े समय बाद ही उनकी इहलीला समाप्ति का कोई उससे आभास नहीं होता था।

ऐसे थे वे कृपादृष्टि करने वाले महामानव। जो हैं नहीं, पर उनकी अमिट छाप आज भी प्रेरणा-स्रोत बनी हुई हैं। उनके चरणों में नमन।

*

सन्त-समागम के कुछ क्षण

—श्री शारदाप्रसाद
संस्थापक रामवन आश्रम, सतना

प्रातःकाल मैं अपने पुराने कच्चे कार्यालय में काम कर रहा था। श्री बाबा सुखदेव-दास जी ने आकर कहा "मंत्री जी" चक्कुटी के पास बहुत से आदमी आए हैं और मालूम नहीं क्या कर रहे हैं। मैंने कहा आप देखिए कौन हैं क्या कर रहे हैं। फिर कुछ विचार कर मैं भी उनके साथ हो लिया। वहाँ पहुँचने पर मैंने देखा कि सतना के अनेक परिचित जैन बन्धु वहाँ आए हैं, साथ में कुछ महिलाएँ भी हैं। एक छोटी चाँदनी तान ली गयी है और उसके नीचे अनेक चूल्हे प्रज्वलित किए गए हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि परम पूज्य श्री वर्णी जी आ

रहे हैं, उनका दोपहर का आहार यहाँ होगा। कल वे मावीगढ़ में थे। यह मंडली व्यवस्था करने के लिये सवारियों पर आ गयी है, वे पैदल आ रहे हैं। मैंने पूछा कोई बर्तन सामान आवश्यक हो तो मैं दूं, उत्तर मिला हम सब कुछ साथ लाए हैं। मैं वहाँ से वापस आ गया।

कुछ देर बाद बाबा सुखदेव जी ने आकर कहा कि मालूम होता है कि महात्मा जी आ गये हैं। यह सुनकर तुरंत मैं वहां पहुँचा, प्रणाम करके बैठ गया। वे भूमि पर बैठे हुए थे। मैंने कहा कि "महाराज" यहां तो आपको कष्ट होगा, यह समीप की कुटिया मैं खुलवा देता हूँ, आप इसमें ही आराम करें। उन्होंने स्वीकार करने की कृपा की। कुछ देर उनके पास बैठकर मैं फिर वापस आ गया।

लगभग दो बजे कार्यालय से मैंने देखा कि पूज्य श्री वर्णी जी श्री हनुमान मंदिर जा रहे हैं। उठकर तुरत मैं वहां पहुँचा और उनके साथ हो लिया। श्री रामवन मंदिर उन्हें दिखलाया और भी जो स्थान थे वे दिखलाए और उनके साथ ही पर्णकुटी में आ गया। वहाँ वे लगभग आधा घंटे बैठे। कुछ साधारण बातें हुईं। रामवन से वे बहुत प्रसन्न हुए थे यह उन्होंने कहा। मैंने उनसे आशीर्वाद की प्रार्थना की। इस समय तो सतना से और भी जैन बन्धु आ गए थे। लगभग ३ बजे से उन्होंने आगे के पड़ाव के लिए प्रस्थान कर दिया। इतने ही साक्षात् का अवसर मुझे इस जीवन में पूज्य श्री वर्णी जी से प्राप्त हुआ।

प्रभु की असीम कृपा से मुझे अनेक हिन्दू सिद्ध-सन्तों के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मऊगंज के हाफिज अजमदशाह ऐसे उच्चकोटि के मुसलमान फकीर से भी मेरा घनिष्ठ संबंध रहा है। मैं सिद्ध संत उन्हें मानता हूँ जिनका भगवान से संबंध स्थापित हो गया। चमत्कार दिखलाने वालों को तो मैं बहुत ओछी दृष्टि से देखता हूँ। इसे मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ कि मुझे पूज्य श्री वर्णी जी के दर्शन प्राप्त हुए। इतने थोड़े समय में ही मैं समझ सका था मैं एक बहुत उच्चकोटि महात्मा के समीप हूँ।

रामवन में जैन साहित्य संग्रह प्रारम्भ होने पर मैंने उस संबंध में पूज्य श्री वर्णी जी से कुछ पत्रव्यवहार भी किया। उन्होंने बराबर पत्रोत्तर भेजने की कृपा की। मैं गद्‌गद् हो जाता हूँ यह विचार कर कि इतने ऊँचे और विरक्त महात्मा शरीर से अशक्त रहते हुए भी पत्रों के उत्तर देते थे। जबकि आज के नवयुवक सद् गृहस्थों के संबंध में मेरा कटु अनुभव है कि सौ पत्र लिखने पर उत्तर में पाँच सात ही पत्र प्राप्त होते हैं।

परम पूज्य श्री वर्णी जी ने अपने शरीर का त्याग निश्चित किया और वे चले गए। यह तो एक दिन होना ही था। मेरा जैनी संतों से विशेष परिचय नहीं है पर साधारण अनुभव से कहता हूँ कि उनके स्थान की पूर्ति सहज नहीं होगी। मैं करबद्ध हो और नतमस्तक हो हृदय से उन्हें अपनी सादर श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता हूँ।

उस महायात्रा की दो स्मृतियाँ

—डा० नरेन्द्र विद्यार्थी
पूर्व विधायक, छतरपुर, म प्र

शरीर का क्या ? आखिर इसे कल भस्म ही तो होना है !

अगस्त, १९६१। उन दिनो मैं अपने निवास छतरपुर से ३२ मील दूर, बड़ा मलहरा के जनता बहुउद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के प्राचार्य के पद पर कार्य कर रहा था। एक पोस्ट कार्ड मिला—"वर्णी जी अस्वस्थ्य है, अन्तिम दर्शन है, तुरन्त आइये।" भागा गया, देखा तो उनको अतीव वेदना थी, परन्तु खेद या विषाद सूचक रेखा चिह्न भी दृष्टिगोचर न थे। अन्त समय भी सावधानी इतनी कि चर्या मे शास्त्रीय मर्यादा के परिपालन का सदा ध्यान था। फिर भी अपने चञ्चल स्वभाव के कारण उनको लक्ष्य कर सम्यग्दृष्टि के सत्स्वरूप पर अपने भाई साहब (प्रो० खुशालचन्द्र जी गोरा वाला) से चर्चा प्रारभ की। सुनते-सुनते वर्णी जी हमारे अभिप्राय को समझ गये और उन्होने पास मे बुला कर कान के पास से कहा—"भैया! हमई मिले सम्यग्दृष्टि की परीक्षा करन ?' हम लोग उनकी सतर्कता से आश्चर्यचकित रह गये। पास में पड़ी चौकी पर विराजमान शास्त्रो को देखा, पता चला कि समाधिमरण-विषयिक ग्रथो का स्वाध्याय वे ६ माह स कर रहे थे। इसी का प्रतीक विषम वेदना मे भी उनकी यह दृढता थी। अपनी स्वाभाविक नादानी के अवशिष्ट परिचयस्वरूप मैंने फिर पूछा—"महाराज! आप पर जब भी सकट आया बाबा भागीरथ जी वर्णी आपको दर्शन देकर (स्वप्न मे) धैर्य बँधाते रहे हैं, ऐसा अपनी जीवनगाथा मे आपने लिखा है। हम भी आपके वैसे ही भक्त हैं जैसे आप उनके। अत यदि हम पर भी सकट आया तो क्या इसी प्रकार आप हमारी भी सहायता करेगे।" सुनकर उन्होने उत्तर दिया—"भैया! यह सब मोह का विश्वास है, अपना किया ही सहायक होता है!" उनके कष्ट को देखकर मैने एक प्रश्न और पूछा—'महाराज! क्या यह तीव्र वेदना अनुभव होती है।' दृढ़ता के साथ उन्होने उत्तर दिया—'अब उपयोग उस ओर हो! यह तो अन्त समय है, जीवन से एक-एक अमूल्य क्षण का उपयोग सिद्ध परमेष्ठी के ध्यान मे लगाना श्रेयस्कर है। **शरीर का क्या! आखिर इसे कल भस्म ही तो होना है!"** उनके इस अन्तिम वाक्य से मुझे बड़ा धक्का लगा कि अब तो इन्होने स्वय ही निकट भविष्य मे अपने अन्त समय की सूचना दे दी है, परिस्थितिया भी इसी का आभास करा रही थी, मोह के आवेग ने मुझे प्रभावित किया और मैं चकराते-चकराते उनके कमरे से बाहर आकर मूर्छित-सा हो गया। वर्णी जी को किसी ने खबर दे दी, लोगो ने बताया कि उन्होने कहा था—"भैया! मोह के प्रभाव मे और क्या होगा ? 'अरे! एक दिन जाना तो सभी को है हमारी क्या गिनती ?' उनको तो देखो—

**"कहाँ गये चक्री जिन जीता भरत खण्ड सारा,
कहाँ गये वे राम लक्ष्मण जिन रावण मारा।"**

उनकी वाणी रुद्ध होने लगी तब उपस्थित जन समुदाय की कण्ठ-ध्वनि ने इसे और आगे बढ़ा दिया —

"कमला चलत न आव पैंड़ मरघट तक परिवारा,
अपने-अपने सुख के साथी, पिता-पुत्र अरु दारा।"

बारह भावनाओं के चिन्तवन का प्रवाह सामयिक एवं स्वाभाविक होने से वातावरण को बहुत गम्भीर बनाये जा रहा था। जब मैं सचेत हुआ तब बाहर तक भक्तों के एक समवेत स्वर में सुनाई पड़ रहा था—

"जलपय ज्यों जिय-तन मेला, पै भिन्न भिन्न नहिं भेला।
त्यों प्रकट जुदे धन-धामा, क्यों ह्वैं इक मिल सुत-रामा।।"

उनका वाक्य फिर एक बार कानों में गूंज उठा—"शरीर का क्या? आखिर इसे कब भस्म ही तो होना है।" जब तक वहां रहा यह वाक्य जाने-अनजाने मस्तिष्क में टकराता रहा। दूसरे दिन जब प्रातः ४ बजे जाकर चरणस्पर्श किये तो वे तो मेरे नाम अलिखित वारण्ट जारी ही किये बैठे थे—"भैया! अब हम तो ठीक हैं, तुम सायंकाल ५ बजे की गाड़ी से चले जाना, संस्था का नुकसान होता होगा?" आदेश पालन हेतु सायंकाल स्टेशन तक गये परन्तु बहाना बना कर लौट आये। जिसे वर्णी जी आसानी से समझ गये। मैंने भी स्पष्ट कर दिया कि क्या करें? बहाना बनाने के लिये भी तो अब केवल एक यही जगह शेष है। जहां मोह और ममता है, अपने संकटों के निवारण और शंकाओं के समाधान का सहारा है। वे कुछ न बोले और दो दिन बाद मैंने जब उन्हें शारीरिक संकट से कुछ मुक्त समझा तब आज्ञा लेकर, चरणस्पर्श कर स्टेशन की ओर चला आया। जब तक आँखों से ओझल नहीं हो गया तब तक वे मुझे ऐसे देखते रहे जैसे कोई वृद्ध पिता अपने बच्चे को बस्ता देकर स्कूल भेजने के बाद दरवाजे पर खड़े-खड़े सन्देह की निगाह से देखता रहता है कि कहीं लौट न आये? ममता और निर्ममता, मोह और निर्मोह के संघर्ष का यह एक उदाहरण था।

●

तपःपूत-भस्मपुञ्ज!
शत शत वन्दन! शत शत प्रणाम!!

ठीक एक माह पश्चात्

४ सितम्बर १९६१, एक तार छतरपुर के पते पर आया। मेरी सास श्रीमती कस्तूरीबाई बालाघाट जो उन दिनों उस समय मेरे घर पर थीं, ने तुरन्त बड़ामलहरा आने वाली बस से मेरे पास भिजा दिया। रात्रि में १० बजे थे, तार में पढ़ा—"वर्णी जी समाधिस्थ, शीघ्र आओ।" तार श्री नीरज जी ने उदासीन आश्रम ईसरी (जहाँ वर्णी जी विराजमान थे) के अधिष्ठाता की नजर बचाकर जिस किसी तरह दे पाया था। दूसरे दिन ५ बजे सायंकाल के पूर्व सतना पहुँचने पर भी ट्रेन नहीं मिलती थी इसीलिये रात्रि में नहीं गये। स्थानीय समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को सूचना दी। चर्चा की और सो गये। ठीक ४ बजे प्रातः स्वप्न आया कि वर्णी जी आज

मध्यरात्रि में स्वर्गीय हो गये और हम लोग उनके आसपास बैठे रो रहे हैं। पूज्य पं. कैलाशचंद्र जी सिद्धान्तशास्त्री धार्मिक गाथाओं का पाठ कर रहे हैं और श्री नीरज जी उनके दाह संस्कार का प्रबन्ध। पं० कैलाशचन्द जी प्रतिदिन पाठ सुनाते हैं और नीरज जी वहीं हैं, यह मालूम था ही, वही स्वप्न में दिखाई पड़ गया। वर्णी जी का वाक्य स्वप्न में तार में लिखी पंक्तियों का भावी भावार्थ को साकार सूचित करने लगा। "शरीर का क्या ? आखिर इसे कल भस्म ही तो होना है।" प्रातः स्थानीय समाज को अस्पष्ट भाषा में स्वप्न सूचित किया तो हमारे बड़े भाई श्री हरप्रसाद जी ने कहा— 'तुम्हारे मन की लगी बात है' वही स्वप्न में दिखाई पड़ गई। तुम जाओ, दर्शन मिलेंगे।" बड़े भाई थे अतः मैंने उन्हें अपने प्राचार्य निवास के आँगन में ले जाकर दिखाया कि देखो—"कल यह बेला का पेड़ हरा भरा था, फूलों से लदा था और आज कुम्हलाया है, फूल झर गये हैं।" वे बोले "इससे क्या मतलब ?" मैंने कहा—"भैया ! हमारा बेतार का तार यही है। एक माह पूर्व जब वर्णी जी ईसरी में ज्यादा अस्वस्थ थे तब यह बेला पीला पड़ने लगा था, जब कुछ स्वस्थ हुये तब पुनः प्रकृतिस्थ-हरा भरा हो उठा था। पत्र बाद में मिलते थे और इस पेड़ से सूचना पहले मिल जाया करती थी। बड़े भाई के नाते वे हमको समझाकर जाने की तैयारी करने का आदेश दे गये। सतना पहुँचने पर पता चला कि आकाशवाणी से सूचना प्रसारित हो गई कि बिहार प्रान्त के ईसरी बाजार नामक ग्राम के दि० जैन शान्ति निकेतन नामक स्थान पर भारत के आध्यात्मिक संत पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी का आज अर्धरात्रि में स्वर्गवास हो गया। चारों तरफ खबर बिजली की तरह फैली और भक्त समाज की भीड़ उमड़ पड़ी है। समाचार सुनकर हाथ पैर ठंडे पड़ गये। सोचा दाह-संस्कार तो प्रातः ही हो चुका होगा। क्योंकि जैनधर्म प्रतिपादित मान्यता के अनुसार शव को जितनी जल्दी हो अग्नि-समर्पित करना आवश्यक माना गया है। फिर भी चिता के तपःपूत-भस्म-पुञ्ज को प्रणाम करने का, भस्म-प्रवाह या अस्थि-विसर्जन का कार्य तो अब भी शेष है। साहस को बटोरा, अनेकों ने अब ईसरी बाजार जाना व्यर्थ बताया, तब भी चले और ६ सितम्बर को प्रातः ११ बजे ईसरी बाजार ग्राम के पारसनाथ स्टेशन पहुँचे। जिस स्टेशन पर पहुँचने पर हर्ष और उल्लास का अनुभव होता था, उसकी-प्लेटफार्म की भूमि खिसकती सी, सरकती सी प्रतीत हो रही थी जैसे कह रहा हो—अब हमें व्यर्थ रोंदने क्यों चले आये ? तुम्हारा 'पारस' तो चला गया, जिसके वरद स्पर्श से तुम सब सोना बनते आ रहे थे। दूर से दिखाई पड़ने वाली तीर्थराज सम्मेदाचल की चोटी—'पारसनाथ टोंक' संकेत कर रही थी—'यह वह पवित्र भूमि है जहाँ अध्यात्मा वर्णी सन्त के निर्वाण से कलिकाल में भी यह भूमि 'निर्वाणभूमि' के नाम से पुनः सार्थक हुई है। कवियों की स्पष्ट भाषा में व्यावहारिकता यह थी—

"सूर्य अस्त हो गया यकायक, चन्दा छिपा गगन में।
संसारी जन बिलख पड़े, धार्मिक वियोग पा क्षण में॥
वर्णी सचमुच ही तरणी थे, वे युग के भाग्य-विधाता।
सम्मेदाचल सिसक रहा है, रोता नहीं अघाता॥

(प्रकाश)

× × × ×

बाढ़ आँसुओं की आई है, बाँध धैर्य का टूट चुका।
अहमिन्द्रों का भाग्य जगा है, किन्तु हमारा फूट चुका।।
मर्त्यलोक में धर्म-राज्य के, झण्डे अपने आप झुके।
स्वर्गलोक में वर्णी अभिनन्दन के, झण्डे फहर चुके।।
मर्त्यलोक में धर्म-पिता की, देह चिता पर जलती है।
स्वर्गलोक में अमर आत्मा, वर्णी जी की पलती है।।
मर्त्यलोक में हाहाकारों, की छाई घनघोर घटा।
स्वर्गलोक में छिटक रही है, वर्णी जी की दिव्य छटा।।

(पुष्पेन्दु)

— और पूर्व कवि की भाषा में मैंने वास्तविकता को समझा—

"माँ सरस्वति ! तुमने अपना, वरद पुत्र खोया है।
चीख रहा है गगन, सहस्रों नयनों से रोया है।
ज्ञान-दीप का प्रबल प्रकाशक, स्वर्ग सिधार गया है।
शायद सुरगुरु बनने का, पाया अधिकार नया है।"

(प्रकाश)

स्टेशन का पुल पार करने के पूर्व भाई साहब (प्रो० खुशालचन्द जी गोरावाला) भी मिल गये उसी ट्रेन से वे भी उतरे थे। दुखद स्थिति में दोनों भाइयों का मिलन भी एक घटना थी, एक दूसरे को सहारा के रूप में। उदासीन आश्रम पहुँचे, वर्णी जी की कुटिया की स्वाभाविक रौनक भी क्षीण लग रही थी जैसे आत्मा-विहीन शरीर की। वहाँ के आध्यात्मिक ज्ञान-तड़ाग का राजहंस उड़ चुका था। जिसकी मधुरवाणी को सुनने के लिये प्रातः ४ बजे के पूर्व से ही भक्त-मानस प्रतीक्षा किया करते थे। वह समयसारीय ज्ञानसूर्य भी अस्त हो गया था जिसकी किरणों के प्रकाश-पुञ्ज से भव्यों के हृदय-कमल प्रफुल्लित हो जाया करते थे। एक कमरे में दोनों भाइयों ने सामान छोड़ा और चिता की वन्दना करने चल पड़े। चन्दन चर्चित चिता बुझ चुकी थी, उसकी राख के किनारे एक काला कुत्ता बैठा आँसू ढाल रहा था। पुराणों की कथाओं ने—'सुलझे पशु उपदेश सुन, सुलझे क्यों न पुमान। नाहर तें भये वीर जिन, गज पारस भगवान।" सिंह का महावीर स्वामी होना और हाथी का भगवान पार्श्वनाथ के रूप में अवतरित होने की घटनाओं के उदाहरणों को जगा दिया।' वर्णी जी के प्रवचन के समय यह काला कुत्ता हर दिन फर्श के किनारे, मनुष्यों से कुछ दूर हटकर बैठा सुना करता था, ऐसा लोगों ने बताया। ऐसा लगा जैसे वह अपने उपदेष्टा सद्गुरु की भस्म-विभूति की रक्षा के लिये पहरा दे रहा हो। हटाने पर भी नहीं हटा, हम लोगों ने उसकी मनसा समझ प्रशंसा की और बैठा रहने दिया। अस्थि-चयन और भस्म-संचयन का कार्य हमने भाई सा० के साथ उनके निर्देशानुसार किया। अस्थि-संचयन के समय भाई सा० बोले—"नरेन्द्र ! हजारों बार समयसार पढ़ने वाले दाँतों की बत्तीसी देखो किसको मिलती है।" मैंने कहा—"भाई सा० ! इकट्ठी बत्ती मिली तो मुझे मिलेगी, अलग-अलग दाँत मिले तो सबसे पहला मुझे मिलेगा।" भाई सा० ने कहा—"यह अन्याय कैसे होगा, बड़ा तो मैं हूँ।" मैंने कहा—"हजारों बार समयसार पढ़ने वाली दाँत-बत्ती ने जो सार (निचोड़) उगला, वर्णी जी की उस पवित्रवाणी का सर्वाधिक हिस्सा

मुझे मिला है, आप से मेरा छोटा होना इसमें बाधक नहीं है।" भाई सा० बोले—"यह तो सच है!" ठीक इसी समय दाहिने ओर की दाढ़ मुझे मिली, तदन्तर लगातार ५ दांत भी मुझे ही मिले। भाई सा० को बाद में मिलना शुरू हुये। दोनों भाइयों के बीच यह निमित्तमात्र की बात थी। अस्थियां लोहे जैसी वजनदार थीं, बजाने पर खनकती थीं। ब्रह्मचर्य के प्रबल प्रताप को बहुत सूचित करने वाली अस्थियों को भावुकता से मस्तक से लगाया, प्रणाम किया और संचय प्रारम्भ कर दिया। अस्थियां अलग और भस्म अलग करके हम लोगों ने एक टीन भर भस्म और समस्त अस्थियां साथ रखीं। शेष भस्म वहाँ की एक नदी में जो त्यागी जनों ने बताई थी, बैलगाड़ी में भरकर हाथ से ढकेलते हुये ले गये। भस्म विसर्जन के उपरान्त उसी दिन सायंकाल हम लोग बनारस के लिये प्रस्थित हो गये।

बनारस में वर्णी जी के अनन्य भक्त पूज्य गुरुदेव पं० मुकुन्द शास्त्री जी खिस्ते के निर्देशानुसार कि वर्णी जी का जन्म हिन्दू परिवार (वैष्णव) में हुआ था अतः भस्म प्रवाह गंगा में भी होना चाहिये, दो वेदज्ञ ब्राह्मण विद्वानों द्वारा वेदोच्चारण के साथ, णमोकार मन्त्र के मंगल घोष और 'वर्णी जी की जय' के नारे के साथ प्रवाहमती गंगा की गोद में एक अस्थि-कलश और भस्म-कलश समर्पित कर दिया। नाव खेने वाले मल्लाहों ने पतवार छोड़ प्रणाम किया। एक वृद्ध मल्लाह ने कहा—'बाबा! मैंने बहुतों को गंगा पार किया तुम मेरी गंगा (जीवन गंगा) को पार करा देना। मल्लाह स्याद्वाद विद्यालय के पास ही रहते थे, वर्णी बाबा के भक्त थे।

बड़ामलहरा पहुँचने पर अस्थि और भस्म के कलशों के दर्शन करने के लिये लोग आचार्य निवास में आते रहे। एक अस्थि और भस्म कलश श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय सागर के प्रबन्धक पं० खेमचन्द जी सागर ले गये। सागर में जैन-समाज-भूषण, धर्म परायण, वर्णी भक्त, सेठ भगवानदास जी ने गाजे बाजे के साथ अगवानी की और समाज के भक्तगण, विद्यालय के अध्यापक और छात्रों ने भस्म-प्रवाह का कार्यक्रम सम्पन्न किया।

एक अस्थि और भस्म कलश ३० सितम्बर १९६१ को द्रोण प्रान्तीय नवयुवक सेवा संघ द्रोणगिरि के नेतृत्व में श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि द्वारा संचालित जनता उच्चतर माध्यमिक विद्यालय बड़ामलहरा के अध्यापकों, छात्रों एवं प्रमुख नागरिकों के साथ अत्यन्त समारोहपूर्वक सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि जो वर्णी जी का अत्यन्त प्रिय एवं लघु सम्मेदशिखर है, पहुँचा। पूज्य वर्णी जी द्वारा संस्थापित श्री गुरुदत्त दि० जैन संस्कृत विद्यालय द्रोणगिरि के प्रधानाध्यापक पूज्य गुरुदेव पं० गोरेलाल जी शास्त्री ने छात्रों एवं ग्रामीण जनता के साथ कलश की अगवानी दो फर्लांग दूर से की। समारोहपूर्वक ग्राम में ले गये और वहाँ उस धर्मशाला के सामने, जहाँ पूज्य वर्णी जी अपने प्रवास में रहा करते थे, एक विशाल जन सभा में अस्थि-कलश को सभी के दर्शनार्थ रखा गया जिसमें पूज्य वर्णी जी के प्रति उपस्थित जन-समूह ने अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित कीं। इसके तुरन्त बाद ही समारोह के साथ अस्थि-कलश को चन्द्रभागा (काठिन) नदी के उस घाट पर ले गये जहाँ पूज्य वर्णीजी नहाया करते थे और वहाँ वर्णीजी की जयघोष के साथ ही अस्थिकलश विसर्जित किया गया। इस अवसर पर पूज्य वर्णी जी की श्रद्धालु प्रान्तीय जनता भी पर्याप्त संख्या में उपस्थित थी।

उस तपः-पूत-भस्म-पुञ्ज को शत-शत वन्दन, शत-शत प्रणाम।

"इसकी इच्छा मत करना"

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, एम. ए., वाराणसी

शुक्रवार-श्रावण शुक्ला ७, वी. नि. २४८७ (१८-८-६१) प्रातः काल जंगल जाते समय मान्यवर भैया (पं० जगमोहनलाल शास्त्री) और भाई (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री) ने कहा "तुम्हारा कहना ठीक है। पूज्य वर्णी जी समाधि-मरण यमरूप से ले चुके हैं। वर्षा में भक्तों को यात्रादि का कष्ट न हो। और उनकी अन्तर्मुखता में क्षणिक व्यवधान न हो, इसलिए ही वे तुमसे कह देते हैं मरण सन्निकट नहीं। आज पार्श्व-प्रभु का निर्वाण दिवस भी है। संयोग से हम निर्वाण भूमि और गुरु के चरणों में हैं। अतएव उनसे पूछ लेवें कि हमें क्या, क्या आज्ञा है। जंगल से लौटकर मैं हाथ धो ही रहा था कि गुरुवर के परमसेवक महावीर ने आवाज दी 'युवराज ? महाराज बुला रहे हैं।'

मैं पूज्यवर के पास जा कर बैठ गया। रोग-क्लिष्ट, तपःपूत एवं सतत जागरूक श्री १०५ श्री वर्णी जी ने अपने क्षीण स्वर में कहा 'पिछी कहाँ है ?' मैंने पिछी उठा कर उनके हाथ के पास कर दी और उनका संकेत पाकर कान को मुख के निकट किया। उन्होंने कहा "इसकी इच्छा मत करना" मैं आश्चर्य चकित रह गया। मुझे एकान्त में पूज्य श्री के पास जाता देख कर श्री मनोहर वर्णी और पं० समगौरया भी पहुँच गये थे। मुझसे उक्त वाक्य सुनकर बोले तुम्हें ठीक से नहीं सुन पड़ा। महाराज ने कहा होगा 'इसकी रक्षा तुम करना'। यह सुनकर मेरा आश्चर्य, आकुलता में परिणत हो गया क्योंकि मुझे भाव-त्याग बिना द्रव्य-त्याग में विश्वास ही नहीं है। फलतः मेरे मुख से अनायास ही निकला तब यह निर्देश छोटे वर्णी जी के लिए हो सकता है। वे इसके धारक हैं।

पूज्य श्री ने तुरन्त संकेत किया और कान को निकट करते ही कहा "इसकी इच्छा नहीं करोगे तो रक्षा-अरक्षा का प्रश्न ही नहीं उठेगा।" इसके बाद बरुआसागर की क्षुल्लक दीक्षा से लेकर पूज्यवर के राजगिरि प्रयाण यात्रा के प्रथम चरण मधुवन तक रुग्ण-शकट में जाना और गिरिराज की अन्तिम यात्रा तक की समस्त घटनाएं एक, एक कर मानस पटल पर घूम गयीं। परम विरक्त, मूर्धन्य विवेकी एवं स्वैराचार-विरोधी गुरुवर द्वारा समय-समय पर कहे गये विविध अनुभूतिसिक्त वाक्य "हम सब नट हैं। साधारण सत्कार्य का दुगुना लाभ (मान और पुण्य) चाहते हैं। 'हम ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करन विविध विध देह दाह'। टोडरमल जी, भागचन्द्र जी, दौलतराम जी क्या कम विरक्त थे ? स्वपाकी ब्रह्मचारी ही हमारे पहिले थे। और वे ही समयज्ञ त्यागी थे। द्रव्य-भाव के समान काल-क्षेत्र भी समर्थ हैं।" इत्यादि की याद में, मैं डूब गया। गुरुवर ने पुनः संकेत किया, तब मैंने कहा मैं अपनी अक्षमता जानता हूँ 'पिछी' आदर्श अवश्य है किन्तु इस पर्याय क्या इस क्षेत्र और कालचक्र में मेरी उपादेय नहीं है। हम

पं० जगन्मोहनलाल, कैलाशचन्द्र और मै पार्श्वप्रभु के निर्वाण दिवस पर आज आपसे अपने आजीवन-करणीयों को जानना चाहते हैं, ताकि गुरु का आदेश मानकर उसे करते हुए अपना-अपना जीवन समाप्त करें। तुम तीनों "जो कर रहे हो उसे ही करते जाओ। अब और कुछ नहीं बताना है। कल्याणमस्तु।"

आज तेरह वर्ष बाद सोचता हूँ मेरु के समान दृढ़, उत्तुंग और जगदाधार पूज्यवर वर्णी जी को, तथा विगत वर्षों में घटीं धार्मिक-सामाजिक छोटी बड़ी घटनाओं को। अपने अकिञ्चित्कर तन और मन की ओर देख कर वर्तमान में पिछी-कमण्डलु के प्रति वह माध्यस्थ्य धारण किया है। क्योंकि मैं केवल 'नाग्न्य' परीषह को भी दुष्कर मानता हूँ, तब इसके सफल आचरकों की चर्चा या आलोचना का अधिकारी कैसे हो सकता हूँ? वे मेरे लिये सूर्य-चन्द्रमा के समान हैं। मैं उन तक नहीं पहुँच सकता। किन्तु गुरुवर वर्णी का वह स्वरूप जो कटनी के मुनि-चतुर्मास की चर्चा सुनने से लेकर भाद्रपदकृष्णा ११ वीं. नि. २४८७ (५-९-६१) तक मेरे सामने रहा, वह भरत-मार्ग का जीवित एवं आचरित निदर्शन होने के कारण उनको इस जीवन के सुपरिचित महत्तम व्यक्तित्वों में सर्वोपरि बनाता है।

दौलतराम जी कृत छहढाला की छठी ढाल पढ़ता जाता हूँ और कहता हूँ कि बाहुबली-मार्गी होने के लिए आपको आश्रम का छोड़ना, आहार खड़े, अल्प, निजपाणि में करना, मुनि साथ में वा एक विचरें, आदि कतिपय द्रव्य आचरण ही तो करते थे। तब आपने मेरे ऐसे लघुतम अविरत से पिछी रखवा कर "इसकी इच्छा मत करना" क्यों कहा? क्या काय-काल कृत अशक्ति के कारण कटनी के मुनि चतुर्मास-प्रकरण की स्मृति आपको ताजी हो गयी थी? और अपने परम आराध्य समन्तभद्र स्वामी के गुरु-लक्षण के 'निरारम्भोऽपरिग्रहः' का अपालन इतना खटकने लगा था कि अपनी विषयाशा वशातीतता…… ज्ञान-ध्यान तपोरक्तता न गण्य लगने लगी थी? यह सत्य है कि पैरों की अशक्तता के कारण आपको एक कुर्सी पर दूसरे ले जाते थे किन्तु इस बाह्य परिग्रह के कारण आपकी क्षुल्लकता दूषित कैसे हो गयी? और आपने अपने को पिछी का अधिकारी नहीं माना? आपका जीवन 'अभद्र भी समन्त भद्र हो जाता है, (भवत्यभद्रोऽपि-समन्तभद्रः) का आचरित निदर्शन था। स्याद्वाद महाविद्यालय की सफल स्वर्ण-जयन्ती के बाद मधुवन में महाव्रतियों ने आपके विरुद्ध जिस उद्दण्ड वातावरण की सृष्टि, तब की थी जब आप गिरिराज की वन्दना कर रहे थे। और हम लोग भी उद्दण्डता की ओर मनसा झुक गये थे। किन्तु आप पहाड़ से उतर कर तेरहपंथी कोठी के मन्दिर द्वार के चबूतरे पर उस उत्तेजित भीड़ में ऐसे आ बैठे थे जैसे वह सभा आपके ही लिये बैठी थी। इतना ही नहीं आपके दो-चार वाक्य बोलते ही 'वर्णीजी की जय' से प्रांगण गूंज उठा था। और हम अपनी उत्तेजना पर पछताते भोजनशाला में चले गये थे। आपकी अन्तरंग-अपरिग्रहिता की चरम सीमा की अनेक गाथाएं याद आ रही हैं। इसीलिए वह अन्तिम निर्देश मेरे लिये आज भी समस्या है।

सोचता हूँ आपने देश-काल का विचार करके यदि वह सामान्य-विधि की थी तो भी मुझसे क्यों कहा? क्योंकि मैं 'न तीन में न तेरा में' हूँ। न मैं सुनाना चाहता हूँ और न कोई सुनना ही चाहता है। 'कालः कलिर्वा, कलुषाशयो वा। श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनानयो वा। त्वच्छासनै-

काचिपतित्व-लक्ष्मी प्रभुत्व-शक्रेरपवाद हेतुः ।।' का एकच्छत्र है। यदि कतिपय विचारक कुछ मर्यादाओं की ओर ध्यान दिलाते हैं तो 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहितं मुखम्' हो जाता है। पिछी की इच्छा दिनों दिन बढ़ रही है। भगवान वीर की निर्वाण रजतशती के साथ यद्यपि आपकी जन्मशती का पड़ना ऐसा संयोग है जिसकी ओर सब का ध्यान जाना ही चाहिये था। किन्तु हमारे ऐसे दुर्बल लोगों के कारण वह असंभव हो रहा है। क्योंकि हम वर्णी-जीवन का विचार और आचार भूलकर मौखिक श्रद्धाज्ञापन या पार्थिव स्मारकों को ही अपना लक्ष्य बना बैठे हैं। उनके आदर्शों पर जीवन बिताने वाले त्यागियों-विद्वानों की ओर देखते नहीं हैं। वर्णी जी द्वारा चलाया गया पाठशाला-विद्यालय-चक्र भी विरूपित हो रहा है। परिणाम यह है कि शिष्य-मुण्डन या बालदीक्षा की पद्धतियों के समान पिछी-ग्रहण-प्रवृत्ति निरबाध रूप से बढ़ रही है। क्या समाज (हम) इस कोलाहल-प्रदर्शन और आत्म-विज्ञापन के युग में एक क्षण को रुकेगा ? और सोचेगा कि स्वयंभू, कर्मठ, दृढ़, विनम्र, दयालु, अन्तरंग, महाव्रती (जैसा कि श्री १०८ नमिसागर महाराज कहते थे), समयसारलीन और स्याद्वादमूर्ति श्री १०५ गणेश वर्णी ने पिछी हाथ में रख कर "इसकी इच्छा मत करना।" क्यों कहा था ? तभी विवेकी, परम-विरक्त और समयसारी की जन्मशती क्या उनके जीवन का सन्देश मुखरित हो उठेगा। समझ में आ जायेगा कि क्यों उन्होंने अन्त समय केशलुंच का संकेत करके वस्त्र को उतारा था। "कीजे शक्तिसमान, शक्ति बिना श्रद्धा धरे" की विशुद्धि मिलेगी। और तभी

'गुरु-भक्तिः सती मुक्त्यै
क्षुद्रं किं वा न साधयेत्'

द्वारा भगवान वीर की निर्वाणरजतशती तथा वर्णी-जन्मशती में चार चाँद लग जांय जो। 'परमगुरु बरसे ज्ञान-झरी।"

*

ऊपरी चमक दमक से आभ्यन्तर की शुद्धि नहीं होती। आत्मद्रव्य की सफलता इसी में है कि अपनी परिणति को पर में न फँसावे। पर अपना होता ही नहीं और न हो सकता है। संसार में आज तक ऐसा कोई प्रयोग न बन सका जो पर को अपना बना सके और आपको पर बना सके।

—गणेश वर्णी

वर्णी जी का क्षणिक-व्यामोह

डा० हरीन्द्रभूषण जैन,
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

घटना उन दिनो की है जब मैं स्याद्वाद दिगम्बर जैन महाविद्यालय, वाराणसी मे अध्ययन कर रहा था ! सन्-सवत ठीक से याद नही है । हां, तब वर्णी जी की धर्ममाता श्रीमती चिरोजा बाई जी का देवलोक हो चुका था ।

सागर के श्री गणेश दिग० जैन महाविद्यालय मे श्रीमती चिरोजा बाई जी का एक बहुत सुन्दर चित्र है । उस चित्र मे बाई जी एक हाथ मे शास्त्र का पन्ना लिए हुए स्वाध्याय कर रही हैं । वह चित्र मुझे बहुत प्रिय लगा और मैंने उसकी एक प्रतिलिपि सीस-पेंसिल से ड्राइंग पेपर पर बना कर अपने पास रख ली थी । वाराणसी से मैं न्यायतीर्थ की परीक्षा देने कलकत्ता गया । उस समय वर्णी जी महाराज ईसरी मे विराजमान थे । मैंने सोचा कि ईसरी उतर कर श्री वर्णी जी के दर्शन कर लिए जाँय ।

कलकत्ता प्रस्थान करते समय मैंने श्रीमती चिरोजा बाई जी के चित्र की प्रतिलिपि अपने साथ रख ली । ईसरी पहुँचकर मैंने श्री वर्णी जी के दर्शन किए और उन्हें वह बाई जी का चित्र दिखाया । वर्णी जी क्षणमात्र उस चित्र को अपलक देखते रहे और बाई जी का स्मरण कर भाव-विभोर होकर बोले "भैया ! तुमने यह बहुत अच्छा चित्र बनाया है, तुम इसे मुझे दे दो तो बाई जी की स्मृति मेरे पास सुरक्षित बनी रहेगी ।" यह सुनकर मेरी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । जिस मनोकामना से वह चित्र मैंने वर्णी जी को दिखाया था वह पूरी हो गयी । मैंने वह चित्र उन्हे समर्पित कर दिया । उन्होने बहुत से फल और मेवा मगाकर मुझे दिए और कहा—'इन्हें कलकत्ता लेते जाओ ।'

मैं ईसरी से कलकत्ता चल दिया । परीक्षा देकर मैं कलकत्ता से लौटा और पुन ईसरी उतरा । ज्योंही मै वर्णी जी के दर्शनार्थ उनके समक्ष उपस्थित हुआ, वे बोले—"भैया ! तुम अच्छे आ गए । मैं तुम्हारी बाट ही देख रहा था । लो अब यह बाई जी का अपना चित्र वापस ले लो । इस चित्र के मेरे पास रहने से बाई जी के प्रति मेरा ममत्व सदा जागृत रहेगा ।" और ऐसा कहकर उन्होने वह चित्र मुझे वापस दे दिया ।

जब कभी श्री वर्णी जी का प्रसङ्ग आता है तो उनका बाई जी के प्रति यह क्षणिक-व्यामोह तथा तत्क्षण मोहनिवृत्ति स्मरण आ जाती है और उस महात्मा के प्रति श्रद्धा एव आदर से मस्तक झुक जाता है ।

वे शान्ति-विधाता पूज्य-चरण

—अमरचन्द जैन
एम० काम०, कटनी

संवत २००६, होली के दो दिन पहले की बात है। उन दिनों मैं आजीविका के निमित्त सतना में रहता था। पूज्य वर्णी जी अपने संघसहित वहाँ पधारे थे। संघ के कुछ सदस्य सतना से खजुराहो जाते समय एक जीप दुर्घटना में घायल हो गये थे। यह घटना वर्णी जी के सतना आगमन के एक दिन पूर्व घट चुकी थी। महाराज इस घटना से बहुत खिन्न थे। मंदिर के पास पुरानी धर्मशाला के एक कमरे में उन्हें ठहराया गया था। उस दिन शाम से ही ज्वर था। अकस्मात् रात को दो बजे भाई नीरज ने जगाकर मुझे बताया कि बाबा जी का ज्वर बढ़ गया है। तत्काल हम लोग उनके डेरे पर पहुँच गये ज्वर १०३-१०४ से कम नहीं था। वे अपना एक चादर ओढ़े थर-थर काँप रहे थे। उनकी विकलता देखकर हम लोग घबरा गये और जब उन्होंने किताब की ओर इशारा करके "समाधि-मरण" सुनाने के लिये आदेश दिया तब तो हम दोनों का धीरज छूट गया। हमारे गले से बोल नहीं परन्तु आँखों से आंसू निकलते थे। बाबा जी ने यह दशा देखकर हम लोगों को धीरज बँधाया और जैसे-तैसे नीरज ने पाठ प्रारम्भ किया। एक घण्टे में ज्वर शान्त हुआ किन्तु नींद उन्हें नहीं आयी।

दूसरे ही दिन उनके ठहरने का स्थान परिवर्तित करके शहर के बाहर एक स्वच्छ कोठरी में व्यवस्था की गयी और फिर छः दिन तक दिन और रात उनकी चरण सेवा करने का अनायास अवसर मिला।

प्रातः साढे तीन बजे वे समयसार का अध्ययन प्रारम्भ कर देते थे। यह दो घण्टे चलता था। इस एकान्त स्वाध्याय के बीच जब भी हम लोग पहुँचते बाबा जी सरल भाषा में हमें गूढ़ समयसार समझाते चलते थे। मुझे शास्त्र का अभ्यास और सिद्धान्त का ज्ञान नहीं है परन्तु समयसार की तुलना मैं हमेशा सितार से किया करता हूँ। मुझे लगता है कि जैसे सितार के तार छूना सबके लिये संभव होने पर भी उस में से लय-ताल सम्बद्ध कर्णप्रिय और शास्त्रानुकूल स्वर लहरी का निष्पादन करना बिरले ही कलाकार जानते हैं, उसी प्रकार समयसार के पन्ने तो कोई भी पलट सकता है परन्तु उसकी तह में बैठकर द्रव्य-स्वरूप का अनन्तधर्मी ज्ञान प्राप्त करके आत्मा के अनादि, अनन्त, चिरन्तन और अक्षुण्ण ऐश्वर्य को शब्दों की सीमा में बांधकर हम आत्मानुभूति के रस से सराबोर करके अल्पज्ञों को भी उस रस का प्रसाद वितरण करना बिरले ही कलाकारों का काम है।

पूज्य वर्णी जी समयसार की कला के सर्वोपरि कलाकार थे। उनकी वाणी से निःसृत समयसार की व्याख्या ने एक दीर्घकाल तक समाज को प्रज्ञा और शान्ति प्रदान की है। आज

हम देखते हैं कि जिस प्रकार अनाड़ी अंगुलियों के स्पर्श से सितार के तार स्वर लहरी की जगह कोलाहल का ही विस्तार करते हैं उसी प्रकार जिनागम के प्रारम्भिक ज्ञान से शून्य साधक, समयसार को निमित्त बनाकर अपनी अटपटी व्याख्या के माध्यम से समाज में प्रज्ञा की जगह कदाग्रह और शान्ति की जगह भ्रान्ति वितरण करते फिर रहे हैं। यह हमारी विशेषता है कि हमने वीतरागता प्रदान करने वाली जिनवाणी को राग-द्वेष के पोषण का निमित्त बना लिया है। कई लोग तो शास्त्र से शस्त्र का काम लेने में भी हिचकिचाते नहीं हैं। ऐसे दूषित वातावरण में हम प्रशममूर्ति पूज्य वर्णी जी की विचार और स्वाध्याय पद्धति को आदर्श बना सके तो समयसार की थोड़ी बहुत सुरभि हमारे जीवन में भी आ सकती है।

पूज्य वर्णी जी छोटे-छोटे भक्त को भी बहुत स्नेह देते थे। उन्होंने पहले ही दिन के प्रवचन में मेरा उल्लेख करते हुए समाज को बताया कि मेरे पूज्य पितामह (पूज्य पं. जगन्मोहन-लाल जी के पिता) बाबा गोकुलदास से उन्होंने कुण्डलपुर में सातवीं प्रतिमा के व्रत धारण किये थे। मुझे देखकर प्रायः वे बाबा गोकुलदास का स्मरण कर लिया करते थे। इस स्मरण में जो विनय, जो कृतज्ञता भरी होती थी वह अन्यत्र प्रायः देखने को नहीं मिलती।

सतना से बिहार करने के बाद अन्त समय तक पूज्य वर्णी जी की कृपा मुझ पर रही। मुझे उनके जीवन से और उनके शब्दों से बड़ा साहस, बड़ी दृढ़ता और बड़ी प्रेरणा मिलती रही। भाई नीरज को लिखे गये पत्रों में प्रायः पूज्य बाबा जी मुझे आशीर्वाद देने की कृपा करते थे। सतना से प्रस्थान के एक सप्ताह बाद उन्होंने हम दोनों को यह पत्र लिखा —

ऐसे दयानिधान गुरु के चरणों में शत-शत प्रणाम।

श्रीयुत महाशय नीरज और अमरचन्द,

कल्याण-भाजन हो

हम आनन्द से हैं। आप सानन्द होंगे। हमारी सम्मति तो यह है जो दृढ़-तम रीति से स्वाध्याय किया जावे। जगत् उद्धार के विकल्प न किये जावें। कल्याण का पथ इससे कठिन नहीं जो हम दुर्बल हैं, और न परिस्थितियां ही उसकी बाधक हैं। किन्तु हमें वह वस्तु ही रुचिकर नहीं। आप उसके पात्र हैं। अतः दुर्बल पद व्यवहार त्यागो। मनुष्य को कुछ भी दुर्लभ नहीं। श्री अमरचन्द चिरजीवी रहें, अमर हो यही हमारी भावना है। चिरजीवी से मेरा तात्पर्य संसार-बन्धन से मुक्त हो। सरलता अमर पथ की जननी है।

आपका शुभचिन्तक—
गणेश वर्णी

अमृतपुत्र वर्णी जी

—डा० भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

अध्यक्ष— पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय

वैदिक दर्शन में "अमृतपुत्र" उसे कहते हैं "जो परम पिता परमात्मा के चरण-चिह्नों पर चले।" पूज्य वर्णी जी को इस दृष्टि से हम "अमृतपुत्र" कह सकते हैं। वे जैन-धर्म के कट्टर अनुयायी थे। उनके रग-रग में तीर्थंकरों के उपदेश समाये हुए थे। उपदेश की मधुरिम शैली और हर विषय का सरल से सरल भाषा में गम्भीर विवेचन उनकी विशेषता थी। अनेक संघर्षों के ज्वारभाटे आये, फिर भी वर्णी जी पर्वत के समान अडिग रहे। इसका कारण उन्हीं के शब्दों में था-"जैनधर्म का विचार पूर्वक ग्रहण।"

जैन-धर्म किसी वर्ग-विशेष की सम्पत्ति नहीं, वह तो प्राणिमात्र का धर्म है। परन्तु परम्पराओं व अभिरूढ़ियों का आश्रय लेकर आज वह अवश्य एक वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व करता दिखाई देने लगा है। अन्य धर्मावलम्बियों को अब इसमें पूर्णतः स्थान नहीं मिलता। हरिजन-मन्दिर-प्रवेश के समय समाज में इसी प्रश्न को लेकर दो मत हो गये थे। पूज्य वर्णी जी ने स्पष्ट रूप से हरिजन मंदिर प्रवेश के पक्ष में आवाज देकर जैनधर्म की प्रसुप्त आत्मा को जागृत किया था।

पू. वर्णी जी सही अर्थ में मानव थे। उन्होंने मानवता का सिंचन अपने जीवन के प्रारम्भिक अध्याय से ही प्रारंभ कर दिया था। दीन और दरिद्रों को उन्होंने अपने तन के कपड़े भी दे डाले। ऐसे समय उनकी वह घटना स्मृति-पटल पर आये बिना नही रुकती जबकि उन्होंने एक दरिद्र व्यक्ति को सभी कपड़े रास्ते में ही दे दिये और स्वयं लंगोटी मात्र पहने रात में घर पर आये।

उनकी परोपकार की भावना ने आज समाज को एक नई दिशा दिखाई। जहाँ तत्त्वार्थसूत्र का मात्र पाठ करने वाले उद्भट विद्वान समझे जाते थे आज उसी बुन्देलखण्ड की वसुन्धरा पर सर्वाधिक विद्वान और पण्डित दिखाई दे रहे हैं। अनेक शिक्षण संस्थाओं को स्थापित कर समाज का उन्होंने अकथनीय उपकार किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

'समाज कितना रूढ़िग्रस्त था' इसका दर्शन "मेरी जीवन-गाथा" में किया जा सकता है। जगह-जगह जाकर बाबा जी ने लोगों को समझाया-बुझाया और अनेक व्यक्तियों को जीवनदान दिया, धर्मदान दिया। वर्षों से समाज से बहिष्कृत परिवारों को जैनधर्म अपनाने में पर्याप्त प्रयत्न किया। उस समय की समाज महात्मा जी की बात कैसे मान लेती थी, कुछ आश्चर्य-सा होता है। पर आश्चर्य की बात नहीं, यह तो उनके जीवन की साधना और तपस्या का प्रभाव था।

महात्मा वर्णी जी के व्यक्तित्व के अनेक रूप हमारे सामने उपस्थित हुए हैं। वे साहित्यकार और राष्ट्रभक्त भी उतने ही थे जितने दार्शनिक और नैतिक। पर उनकी चिन्तन-शैली का जो पक्ष प्रवचनो के रूप में उमडकर आता है वह है उनका आध्यात्मिक-विचार-मन्थन। इसे नैतिक विचारधारा भी कहा जा सकता है।

'मेरी जीवन गाथा' की सरल शैली आपको एक कुशल साहित्यकार सिद्ध करती है। राष्ट्र-भक्ति का दर्शन आजाद हिन्द फौज की रक्षार्थ किये गये सहयोग मे दिखाई देता है। साथ ही डॉ. राजेन्द्रप्रसाद और श्री विनोबा भावे से साक्षात्कार होने पर उनके बीच हुई बातचीत का भी पता लगता है।

इस प्रकार हम देखते है कि पूज्य वर्णी का व्यक्तित्व पर्वताधिराज से भी अधिक उच्च, महासागर से भी अधिक गम्भीर, वसुधा से भी अधिक क्षमाशील, सहिष्णु, उदार और निरभिमानी, पुण्यतोया मन्दाकिनी से भी अधिक निर्मल और पावन था। उनके हृदय मे भीष्म सी दृढता, भीष्म सा पराक्रम और मस्तिष्क मे मानवदर्शन का कोष था। उनके इस व्यक्तित्व के समक्ष जो आता था, आकर्षित हुए बिना नही रहता था। सचमुच मे वे मिट्टी से उत्पन्न एक 'हीरा थे, जिसके प्रकाश मे सारे पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं, एक 'अमृतपुत्र' थे जिनकी मधुर और सरल तथा ओजस्वी और प्रभावक वाणी मे मानवमात्र का कल्याण भरा रहता था। ऐसी विभूति युगो-युगो तक अमर रहेगी और उसका सन्देश जन-जीवन को समुन्नत बनाने मे कारणभूत सिद्ध होगा।

*

मुमुक्षु-शिरोमणि : गणेश वर्णी

—नीरज जैन

सिद्धान्त ग्रन्थो के स्वाध्याय की परम्परा ने गृहस्थो के बीच, पिछले पचास साठ वर्षों मे ही प्रतिष्ठा प्राप्त की है। सोनगढ़ की परिपाटी से इस परम्परा को विशेष बल मिला है, और आज छोटे बडे अनेक स्थानों पर मुमुक्षु-मण्डलो की स्थापना तथा सचालन हो रहा है।

समयसार के अध्ययन मनन की इस योजना के उद्भव और विकास को यदि देखा जाय तो पूज्य वर्णी जी उसके प्रथम स्वप्न-द्रष्टा के रूप मे विराजमान दिखाई देते हैं। जब सोनगढ़ में श्री कान्हु जी स्वामी और उनके कतिपय साथियो ने सर्व-प्रथम समयसार के अध्ययन का अध्यवसाय किया, उसके बहुत पूर्व ही पूज्य वर्णी जी समयसार के अच्छे अध्येता, चिंतक, मर्मज्ञ-विद्वान के रूप मे प्रसिद्ध हो चुके थे। इतना ही नही सोनगढ़ की इस मण्डली ने अपने अध्ययन मे पूज्य वर्णी जी की सहायता और मार्गदर्शन भी प्राप्त किया था।

इन तथ्यों का उद्घाटन सर्वप्रथम सन् १९६८ में वर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी द्वारा प्रकाशित "वर्णी अध्यात्म पत्रावली" की भूमिका में इस प्रकार किया गया था :—

प्रातःस्मरणीय पूज्य संत श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज जैनदर्शन के अनुपम ज्ञाता थे। समयसार तो उनकी सांसों में बस गया था। उसकी अमृतचन्द्राचार्यकृत गद्य-टीका तक उन्हें कण्ठस्थ हो गई थी। अपनी युवावस्था में ही उन्हें समयसार पर अधिकार हो गया था। इसी कारण उनके पत्रों में वस्तुस्वरूप के निर्णय का आभास, निमित्त-उपादान का समन्वय और तत्त्वार्थ-श्रद्धान की प्रेरणा तथा राग, द्वेष, मोह छोड़ने का उपदेश पग-पग पर पाया जाता है। उनके ऐसे प्रेरणाप्रद पत्रों के प्रथम-प्रकाशन की यह कहानी अट्ठाईस वर्ष पुरानी है।

उन दिनों गृहीत-मिथ्यात्व का प्रत्यक्ष-मार्ग छोड़कर श्री कानजी स्वामी ने अपनी मण्डली में दिगम्बर जैन साहित्य का पठन-पाठन प्रारम्भ ही किया था। अनेक ग्रन्थों में और विशेषकर समयसार में अर्थ की गुत्थियाँ उनके सामने आती थीं और वे शंकाएँ सोनगढ़ की स्वाध्याय-मण्डली के कतिपय सदस्यों द्वारा अपने कलकत्ते के मित्रों को लिखी जाती थीं। कलकत्ते से पत्रों द्वारा ऐसे प्रश्न पूज्य वर्णी जी के पास भेजे जाते थे और उनके समाधान कराकर उन्हें कलकत्ते से सोनगढ़ भेज दिया जाता था।

पूज्य वर्णीजी इसके अतिरिक्त अपने प्रायः प्रत्येक पत्र में उपदेशामृत की दो-चार बूँदों का समावेश तो कर ही दिया करते थे। उनके ऐसे पत्रों की उपयोगिता देखते हुये कलकत्ते के जिज्ञासु-मण्डल (२७ पोलोक स्ट्रीट) ने विक्रम सं. १९९७ वीर सं. २४६६ में "आध्यात्मिक पत्रावलि" नाम से इन पत्रों का संकलन प्रकाशित किया। समाधि-मरण को प्रोत्साहित करने वाले उनके कुछ और पत्रों को भी समाधि-मरण पत्र-पुञ्ज नाम से इसी संकलन में जोड़ लिया गया।

कलकत्ता निवासी श्रीमान् बाबू खेमचन्द मूलशंकरजी ने इस प्रकाशन के लिये ब्र० श्री छोटेलालजी और श्री लाला त्रिलोकचन्द जी के पास संगृहीत पत्र भी प्राप्त कर लिये। सागर में वर्णी जी के परमभक्त श्रीमान् सिंघई कुन्दनलाल जी के पास उस समय वर्णी जी के पत्रों का जो संग्रह था उसे प्राप्त करने की भी कोशिश की गई, परन्तु उस समय उसमें सफलता नहीं मिली।

बाद में दो वर्ष उपरान्त पत्रों का यह संकलन श्रीमान् सिंघई जी ने स्वयं प्रकाशित करके वितरित कराया था। उसकी प्रस्तावना में श्री पं० मूलचन्द जी ने यह उल्लेख इन शब्दों में किया था :—

"अंत में हम कलकत्ता निवासी श्रीमान् बाबू खेमचन्द जी मूलशंकर जी से क्षमा-प्रार्थी हैं जो हम उनकी माँग पूरी नहीं कर सके। हमारे श्रीमान् सिंघई जी महोदय ने ही पत्र निकलवाने की कृपा की, इसी से हम भेजने में असमर्थ हो गये।"

कलकत्ते से प्रकाशित होकर "अध्यात्मिक पत्रावलि" की प्रतियाँ सोनगढ़ पहुँचते ही वहाँ उनकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई। "पूज्य वर्णी जी सम्यग्दृष्टि महापुरुष हैं और उनके वचनों में

आगम का रस झलकता है", इस कथन के साथ सोनगढ़ के शास्त्र-भण्डार में आध्यात्मिक-पत्रावलि की प्रति स्थापित की गई। विशिष्ट ज्ञानाभ्यासी जिज्ञासुओं को इसके निरन्तर स्वाध्याय की प्रेरणा के साथ सैकड़ों प्रतियों का वितरण स्वयं श्री कानजीस्वामी ने स्वहस्त से किया। इतना ही नहीं, वरन्, सोनगढ़के प्रकाशनों में उस समय सद्ग्रन्थों की जो सूची प्रकाशित होती थी इस आध्यात्मिक-पत्रावलि का समावेश किया गया था।

पूज्य वर्णी जी के ये छोटे-छोटे पत्र अपने भीतर बड़ी-बड़ी बातें सँजोये हुये हैं। जिस स्पष्टता, सरलता, सूक्ष्मता और संक्षेप से आगम की बड़ी-बड़ी गुत्थियाँ इन पत्रों में सुलझाई गई हैं उस विशेषता के साथ ग्रन्थों में उनका ढूंढना आसान नहीं। यही कारण है कि पत्रों से अनेक लोग अपना कल्याण करने में समर्थ हुए हैं और हो रहे हैं।

पूज्य वर्णी जी की सिद्धान्त-स्नाता लेखिनी में ही यह शक्ति थी कि बड़े आसान शब्दों में, बड़ी सरलता से वे पूछने वाले की जिज्ञासा का समाधान कर देते थे। इसी "वर्णी-अध्यात्म-पत्रावलि" के पृष्ठों में से कुछ उद्धरण देकर मैं यहां वर्णी जी महाराज की लेखिनी की उस गहराई का परिचय प्रस्तुत करना चाहता हूँ जिसके द्वारा वे गागर में सागर भरकर मुमुक्षु जनों के सम्मुख रख देते थे।

श्रीयुक्त महाशय,

दर्शन-विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने।

आपने जो आस्राव्य और आस्रावक के विषय में प्रश्न किया उसका उत्तर इस प्रकार है।

आत्मा और पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्य शुद्ध हैं। जीव और पुद्गल ही दो द्रव्य हैं, जिनमें विभावशक्ति है। इन दोनों में ही अनादि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध द्वारा विकार्य्य और विकारक भाव हुआ करते हैं। जिस काल में मोहादि-कर्म के उदय में रागादिरूप परिणमता है, उस काल में स्वयं विकार्य हो जाता है, और इसके रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल मोहादि कर्मरूप परिणमता है, अतः उसका विकारक भी है। इसका यह आशय है, जीव के परिणाम को निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप होते हैं, और पुद्गलकर्म का निमित्त पाकर जीव स्वयं रागादिरूप परिणम जाता है। अतः आत्मा आस्रव होने योग्य भी है और आस्रव का करने वाला भी है। इसी तरह जब आत्मा में रागादि नहीं होते उस काल में आत्मा स्वयं सम्वार्य्य और संवर का करने वाला भी है। अर्थात् आत्मा के रागादि निमित्त को पाकर जो पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप होते थे अब रागादि के बिना स्वयं तद्रूप नहीं होते, अतः संवारक भी है।

अतः मेरी सम्मति तो यह है जो अनेक पुस्तकों का अध्ययन न कर केवल स्वात्मविषयिक ज्ञान की आवश्यकता है और सिर्फ ज्ञान ही न हो किन्तु उसके अन्दर मोहादिभाव न हो। ज्ञानमात्र कल्याणमार्ग का साधक नहीं। किन्तु रागद्वेष की कलमषता से शून्य ज्ञान मोक्षमार्ग का साधन क्या, स्वयं मोक्षमार्ग है। जो विष मारक है, वही विष शुद्ध होने से आयु का पोषक है। अतः चलते, बैठते, सोते, जागते, खाते, पीते, यद्वा तद्वा अवस्था होते जो मनुष्य अपनी प्रवृत्ति को कलंकित नहीं करता वही जीव कल्याणमार्ग का पात्र है।

—पृष्ठ ७३-७४

इसी तरह का एक और पत्र देखिये—

श्रीयुत महोदय खेमचन्दजी तथा श्री मूलशंकर बाबूजी

योग्य दर्शन-विशुद्धि।

पत्र आपका आया, समाचार जाना। आप जानते हैं आत्मा का स्वभाव देखना-जानना है। और वह देखना-जानना हर अवस्था में रहता है। हाँ, तरतम भाव से रहता है। परन्तु ज्ञान का अभाव नहीं होता, यही आत्मा के अस्तित्व का द्योतक है। यही एक ऐसा गुण है जो संसार के सब व्यवहारों का परिचय करता है। इस गुण में न सुख देने की शक्ति है, न दुःख देने की शक्ति है। केवल इस गुण का काम जानना है। जब आत्मा में ज्ञानावरण का सम्बन्ध रहता है और उसकी क्षयोपशम अवस्था में ज्ञान का हीनाधिक रूप से विकास होता है और जितना ज्ञानावरण का उदय रहता है, वह ज्ञान गुण का विकास नहीं होने देता। इस प्रकार इस ज्ञान की अवस्था रहती है, तथा दर्शनावरण, अन्तराय कर्म का भी इसी तरह संबंध है। दर्शनावरण की ज्ञानावरण के सदृश ही व्यवस्था है। अन्तराय कर्म भी इसी तरह का है। किन्तु इन तीन घातियों के सदृश आत्मा में एक मोहनीय कर्म है, जिसका प्रभाव इन सर्व से विलक्षण और अनुपम है। उसके दो भेद हैं। एक का नाम दर्शनमोहनीय, और दूसरे का नाम चारित्रमोहनीय है। यह दर्शन-शक्ति और चारित्रशक्ति के विकास का प्रतिबंध नहीं करता, किन्तु कामला रोग की तरह श्वेत शंख को पीत शंख दिखाने की तरह विपरीत श्रद्धान द्वारा शरीरादिक में आत्मत्व कल्पना को करा के आत्मा को अनन्त संसार का पात्र बना देता है।

—पृष्ठ ७५-७६

इन्हीं महाशय के एक अन्य पत्र के उत्तर में पूज्य वर्णी जी ने लिखा है—

महाशय

दर्शन विशुद्धि ।

पत्र आया, समाचार जाने ।

सम्यग्दृष्टि के दर्शनमोह के अभाव से, स्वपर-भेद-ज्ञान हो गया है । इसी से अभिप्राय में उसके राग से राग नहीं और द्वेष से द्वेष नहीं है । किन्तु चारित्र-मोह का उदय होने से राग भी होता है और द्वेष भी होता है, हाँ तथा जो उसे अबन्ध कहा, उसका तात्पर्य अनन्तानुबंधी कषाय और मिथ्यात्व के द्वारा जो अनन्त संसार का भाजन था, वह मिट गया । तथा जो मिच्छत्तहुंड इत्यादि ४१ प्रकृतियों का बंध होता था वह चला गया । सर्वथा बंध का भी अभाव नहीं और न सर्वथा इच्छा का अभाव है । इसकी चर्चा समयसार में स्पष्ट है । विशेष वहाँ से जानना । निर्जरा अधिकार में अच्छी तरह से इसका विवेचन है ।

—पृष्ठ ७६

बाबा जी अभिप्राय की निर्मलता को सदैव साधक की अनिवार्य पात्रता माना करते थे । उन्होंने एक अन्य पत्र में लिखा—

एक बार यदि आपको दो दिन का अवकाश मिले तब समक्ष में सर्व निर्णय होगा ।

तत्त्व-चर्चा ही कल्याण का पथ है । परन्तु साथ-साथ आभ्यन्तर की निर्मलता होना चाहिये । हम लोग बाह्य निमित्तों की सुन्दरता पर मुग्ध हो जाते हैं, और जो कल्याण का वास्तविक मार्ग है, उसका स्पर्श भी नहीं करते, निमित्त-कारणों में बलवत्ता नहीं, और न होगी । केवल हमारी कल्पना इतनी प्रबल उस विषय में अनादिकाल से चली आ रही है, जो अपने स्वरूप की यथार्थता को राहु की तरह ग्रास किये है । एक बार भी यदि उसका स्वाद आ जावे तब यह आत्मा अनंत संसार का पात्र नहीं हो सकता । हमने बाजार से कुछ दिन को वस्तु लेना छोड़ दिया है । अतः आपके पत्र ही के ऊपर उत्तर लिख दिया ।

सर्व आगम और सकल परमात्मा की दिव्य वाणी में यही आया है जो पर की संगति छोड़ आत्मा की संगति करो, यही कल्याण का पथ है ।

न्याय व्याकरण के अध्ययन से रहित बहुत से विद्वान (?) अध भरे घड़े की तरह, अपना अधूरा ज्ञान यत्र-तत्र छलकाते हुए अपनी कषाय का पोषण करते हैं और दम्भ में आकर दूसरे

को अज्ञानी और मिथ्या-दृष्टि की उपाधि देने में ही अपनी सर्वज्ञता की सफलता मानते हैं। ऐसे लोगों के लिए पूज्य वर्णी जी ने जो संकेत चालीस वर्ष पूर्व दे दिये थे वे इस प्रकार हैं—

श्रीयुत माननीय महाशय बाबू खेमचन्द्र जी

योग्य दर्शन विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने। यहाँ पर पं० देवकीनन्दन जी की पञ्चाध्यायी वाली टीका नहीं है।

आप पदार्थों के ज्ञान के अर्थ यदि कुछ न्याय ग्रंथों का अवसर पाके अभ्यास कर लें, तब बहुत ही लाभदायक होगा।

संसाररूपी वन में भ्रमते हुए जीव ने वास्तविक मार्ग का अनुसरण नहीं किया, इसी से इसकी यह अवस्था हो रही है। कोई मार्ग की प्राप्ति कठिन नहीं। केवल दुराग्रह के त्यागने की आवश्यकता है। पहले तो इस शरीर से ही इसका ममत्व छूटना कठिन है। ऊपरी दृष्टि से इसे छोड़कर भी जीव सुखी नहीं होता। **बहुत से धर्म के ऊपरी अंश को जानकर संप्रदाय के आवेग में संसार को मिथ्या-दृष्टि समझने में ही अपनी प्रभुता समझते हैं।** कल्याणमार्ग का पोषक यह संप्रदाय-प्रेम नहीं। कल्याणमार्ग का कारण तो सम्यग्ज्ञानपूर्वक कषायों का निग्रह है। कषायों की प्रवृत्ति उसी के रुक सकती है जिसके अंतरंग मूर्च्छा के अर्थ बाह्य परिग्रह नहीं। श्री कुन्दकुन्द महाराज का कहना है कि बाह्य प्राणों के वियोग होने पर बंध हो अथवा न भी हो, नियम नहीं। यदि प्रमादयोग है, तो बंध है। प्रमादयोग के न होने पर बंध नहीं। किन्तु बाह्य उपाधि के सद्भाव में नियम से बंध है। क्योंकि उसका स्वत्व ही अंतरंग मूर्च्छा से रहता है। अतः यदि कल्याण की ओर लक्ष्य है तब इस कषायशत्रु के निपात के अर्थ अपने परिणामों के अनुरूप इसी ओर लक्ष्य देने की आवश्यकता है। यदि वर्तमान में त्याग न हो सके तब कम-से-कम उदासीन भाव तो होना ही चाहिये। यह उदासीन भाव ही कालान्तर में वीतराग भाव का उत्पादक हो जावेगा। यह जो विकल्प आत्मा में होते हैं उन्हें औदयिक भाव जान 'अनात्मीय ही है,' ऐसा दृढ़ निश्चय रहना ही स्वरूप-प्राप्ति का मुख्य उपाय है। जैसे उष्ण जल उष्णता के अभाव में ही तो शीत जल होगा, इसी तरह इन औदयिक भावों की असत्ता में ही तो आत्मिक गुणों का वास्तविक विकास होगा।

आजकल मनुष्य दुनियां की समालोचना करता है, परन्तु अपनी समालोचना का ध्यान नहीं, जब तक अपने परिणामों पर दृष्टि नहीं, कुछ नहीं।

जो भाई साहब (मूलशंकर भाई) यहाँ आते हैं उनसे धर्मस्नेह कहना। बहुत भव्य प्रकृति के हैं।

—पृष्ठ ८२-८३

वर्णी जी एक ओर जहां स्पष्ट और दो टूक बात कहने के आदी थे, वहीं दूसरी ओर व्यर्थ के गल्पवाद से वे सदा दूर रहा करते थे। व्यर्थ की ऊहापोह में समय गँवाना उन्होंने कभी पसन्द नहीं किया। एक पत्र में उनकी यह प्रवृत्ति बहुत स्पष्ट झलक आई :—

श्रीयुत महाशय,

दर्शन विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने।

हमारे पास इतना समय नहीं, जो इतने लम्बे प्रश्नों के उत्तर देने में लगावें, यह तो सम्मुख चर्चा के द्वारा शीघ्र ही हल हो जाते हैं। तत्त्व की मननता का मुख्य प्रयोजन कलुषता का अभाव है। आप जहाँ तक बने, पंचास्तिकाय तथा अष्टपाहुड, प्रवचनसार का अवकाश पाकर स्वाध्याय करना। अवश्य स्वीय श्रेयोमार्ग सफलीभूत होंगे।

—पृष्ठ ८४.

जिज्ञासु और मुमुक्षु सदा वर्णी जी के स्नेह भाजन रहे। उनको सही मार्गदर्शन और उपयोगी परामर्श प्रदान करने के लिये बाबा जी सदा तत्पर रहते थे :—

श्रीयुत महाशय खेमचन्द जी,

दर्शन विशुद्धि।

पत्र आया, समाचार जाने। भाई साहब! संकोच की कोई बात नहीं। आप धर्मात्मा जीव हैं। परन्तु अधिक परिग्रह ही तो पाप की जड़ है। जितना संग्रह किया जावे उतना ही दुःखजनक है। निष्परिग्रही होना ही मोक्षमार्ग है। जिनके आभ्यन्तर मूर्च्छा गई वही तो मुनि है—मोक्षमार्गी है। इस काल में स्वांग रह गया—वचन-की पटुता तथा पांडित्यकला मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्ग तो राग-द्वेष की निवृत्ति है। जो भाई आना चाहते हैं, आवें, मैं ५ अप्रेल तक ईसरी ही रहूँगा। आप गाढ़ रीति से स्वाध्याय करिए। कल्याण का पथ भेदज्ञान है। अतः जहाँ तक बने, उस पर दृष्टि दीजिए और भक्ष्य पदार्थ भोजन में आवे, इसकी

चेष्टा करिए । जब कभी आप मिलेंगे, विशेष बात कहूंगा–अपने छोटे भाई से दर्शन विशुद्धि तथा अपनी मंडली से यथायोग्य ।

—पृष्ठ ८५-८६.

आगम की मर्यादा का पूज्य वर्णी जी को बहुमान था। वे सदैव एक जिज्ञासु की तरह उसका मनन और एक निष्ठावान श्रद्धालु की तरह आगम के वचनों पर अटल श्रद्धान रखते थे। सिद्धान्त ग्रन्थों का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करके भी वे कभी अपने पाण्डित्य-प्रदर्शन के लोभ में नहीं पड़े। दूसरों को भी उन्होंने सदा ऐसा ही परामर्श दिया। "पत्रावली" के अन्तिम पत्र की ये पंक्तियाँ उनकी गम्भीर प्रकृति और निरहंकारी स्वभाव को प्रकट करती हैं :—

पत्र आया, समाचार जाने। आजकल गर्मी का प्रकोप है—उपयोग की निर्मलता का बाधक है। अतः कुछ दिन बाद प्रश्नों के उत्तर लिखने की चेष्टा करूँगा। भाई खेमचन्द्र जी, मैं कुछ जानता नहीं। केवल मुझे श्रद्धा है। अतः जहाँ तक बने, मुझे इस विषय में न पाड़िये। श्री जयचन्द जी साहब जो लिख गए उससे अच्छा लिखने वाला अब नहीं है। आपकी समाज में समयसार के रोचक हैं। मेरा ऐसा अभिप्राय है जो समयसार सर्व अनुयोगों की विधि मिलाता है। उसकी हरेक गाथा में अपूर्व रस भरा है। जो मर्मी हो सो जाने। मेरा सर्व मण्डली से धर्मप्रेम कहना, और कहना शान्ति का मार्ग न तो स्थान में है, और न शास्त्रों में हैं, न ऐसा नियम है जो अमुक शास्त्र से ही शान्ति मिलेगी। शान्ति का मूल मार्ग मूर्च्छा के अभाव में है।

आपका शुभचिंतक—
गणेशप्रसाद वर्णी

—पृष्ठ ८६.

उस प्रातः स्मरणीय, गुरुणां गुरु, मुमुक्षु शिरोमणि को शतशः प्रणाम।

जिन्हें आत्म-कल्याण करने की इच्छा है वे तत्त्वज्ञान की वृद्धि की चेष्टा करते हैं जिनकी उस ओर रुचि नहीं वे अपने को तत्त्वज्ञान के सम्पादन में क्यों लगावेंगे ?

—गणेश वर्णी

भविष्य-द्रष्टा परम गुरु

—ज्ञानचन्द्र इटौरया, दमोह

पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी बुन्देलखण्ड की अनुपम निधि थे। जैन संस्कृति के इतिहास में पिछले पाँच सात सौ वर्ष में ऐसा कोई पुरुष नहीं हुआ जिसने समाज के उपकार के लिये इतना परिश्रम किया हो, इतनी सफलता पायी हो और अपने पीछे उपकृत शिष्यों तथा भक्तों का इतना बड़ा समुदाय छोड़ा हो।

जब से मुझे उनका पहली बार दर्शन हुआ तब से आज तक मेरे मन में उनके प्रति अटूट श्रद्धा और अनन्त भक्ति रही। वे भी मुझे अपना कृपापात्र बनाये रहे। कुछ अपनी लगन से और कुछ मित्रों की प्रेरणा से थोड़े थोड़े समय के पश्चात् उनके दर्शन का योग भी लगता रहा। एक बात मुझे हमेशा अखरती और पीड़ा देती रही कि पचास वर्ष तक जिस महापुरुष ने समाज की सेवा की, उसकी वृद्धावस्था में, जब उसे सेवा की आवश्यकता हुई तब हम में से कोई उस महापुरुष की सेवा न कर सके। उनके जीवन के अन्तिम आठ वर्ष बिहार प्रदेश में सम्मेदशिखर के पास भगवान् पार्श्वनाथ की सिद्धभूमि का दर्शन करते उन्होंने बिताये। पार्श्व प्रभु के पादमूल में निर्मलतापूर्वक अपना अन्तिम समय बिताने की उनकी इच्छा, या संकल्प ऐसा दृढ़ रहा कि बुन्देलखण्ड की लाखों आंखों से बहने वाली अनुरोध और ममता की धारा भी उन्हें रोक नहीं पायी। भगवान् पारसनाथ की सिद्धभूमि का दर्शन, ईसरी के आश्रम की छत से, अन्तिम दिनो तक वे निरन्तर करते रहे।

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि बुन्देलखण्ड की तरह बिहार प्रान्त में भी वर्णी जी के भक्तों की संख्या कम नही थी। संभवतः वहाँ उनके भक्तों की शक्ति और सामर्थ्य भी विशेष था। यह भी निश्चित है कि आश्रम में उनकी सेवा-सुश्रूषा पुष्कलता से हुई होगी। भक्ति, उत्साह, लगन, सम्मान और साधन सब कुछ उनके चरणों में सदैव नतमस्तक रहते थे। ईसरी में भी यह सब कुछ उनके पास रहा ही होगा, किन्तु वहाँ कोई न्यूनता यदि थी तो यह थी कि उनका बुन्देलखण्ड वहाँ नही था। शायद यह बुन्देलखण्ड के भाग्य में नही था कि वह अपने लाड़ले को अन्तिम दिनों में भी स्नेह और सेवा जुटा पाता।

भाई नीरज जी बिना नागा हर वर्ष उनके जन्मदिन पर उनका चरण छूने पहुँचते थे। हमने नीरज जी से एक अलिखित अनुबन्ध कर लिया था कि वे हमें कार्यक्रम सूचित करेंगे और हम सतना स्टेशन पर उन्हें मिल जायेंगे। ऐसा अनेक वर्षों तक हुआ। जाते और लौटते समय हावड़ा मेल में प्रायः पूरी रात गुरु के गुणानुवाद में हम लोग बिता देते थे। उनकी अनुकम्पा के उदाहरण, कृपा की कहानियाँ और प्रेरणा के प्रसंग धीरे-धीरे इतने जुड़ गये थे हम लोगों के पास कि वह खजाना कभी खाली नहीं होता था।

लगभग चालीस वर्ष पूर्व जब पूज्य श्री वर्णी जी का दमोह में आगमन हुआ था, तब एक दिन उनके प्रातः भ्रमण के समय अचानक मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य मिला और उन्होंने

मेरी दिनचर्या की जानकारी चाही। बातों ही बातों में दान की भी चर्चा हुई। मैंने उन्हें जानकारी दी कि कुछ वर्षों से मेरे पिता जी ने एक पुण्य की पेटी में प्रतिदिन एक पैसा दान करने का नियम लिया था। चूंकि पूज्य पिता जी उस समय श्री महावीर जी में रहने लगे थे और मैंने उनके जाने के बाद एक आना प्रतिदिन दान करने का नियम बना लिया था। मेरी इस प्रवृत्ति पर, प्रातःकाल की पावन वेला में, उनके हृदय से निकला हुआ आशीर्वाद मेरे जीवन को आज तक सार्थक बना रहा है।

उन स्वर्णिम क्षणों को भी मैं कभी नहीं भुला सकता जब श्रीमान् साहु जी को श्रावक शिरोमणि के पदवी दान समारोह के अवसर पर बाबा जी ने अनेकों विद्वानों के रहते मध्यप्रान्त की ओर से मुझे अनुमोदन का अवसर प्रदान किया था। बाबा जी की सेवा करने का भी अवसर कई बार मिला। उनके घुटनों में पीड़ा रहती थी। जब भी मैं पहुंचता था तो वे मुझे तुरन्त प्रसन्न हृदय से स्थान देते थे व कुशलक्षेम भी पूछ लेते थे। एक बार जब मैंने विदाई के अवसर पर आशीर्वाद मांगा तब भाई नीरज जी के सामने जिस प्रसन्न मुद्रा में आशीर्वाद दिया था वह आज भी मेरे हृदय में अंकित है।

जब भी हम उनके दर्शन करते, हमारे मन में अद्भुत शान्ति का अनुभव होता। एक बार जब विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती का महोत्सव मधुवन में मनाया गया तब पूज्य बाबा जी भी वहाँ पधारे थे। उन्होंने पारसनाथ टोंक की वन्दना उस अवसर पर बड़े श्रद्धापूर्वक और बड़े भक्ति भाव से की थी। जिन लोगों को उस यात्रा में बाबा जी के साथ रहने का सौभाग्य मिला, वे ही उस वन्दना की गरिमा आंक सकते हैं।

उत्सव के बाद बाबा जी डोली पर मधुवन से ईसरी लौटे। मैं और भाई नीरज उनके साथ चल रहे थे। मैंने एक जगह प्रसंग निकाल कर निवेदन किया कि यदि आप बुन्देलखण्ड लौटने की कृपा करें तो यात्रा की सारी व्यवस्था हम लोग स्वतः करके आपको अपने साथ धीरे-धीरे ले जावेंगे और इसमें हम अपना सौभाग्य मानेंगे। उनका उत्तर सीधा और संक्षिप्त था- "भैया। शरीर की स्थिति ऐसी हो गयी। ई लाश खों ढो के का कर हो।"

पूज्य महाराज के क्रान्तिकारी विचारों में हमारे लिये जो सन्देश या आदेश भरा हुआ था उसका अर्थ समझने के लिये वास्तव में हम, न उनके जीवनकाल में तैयार थे, न आज ही। हरिजन मंदिर प्रवेश की उनकी घोषणा किसी कोरी भावुकता की अनुगूंज नहीं थी। उस ललकार के पीछे जैन संस्कृति के गौरवमय अतीत का आकलन, वर्त्तमान का हित और भविष्यत् के कल्याण की कामना निहित थी। शिक्षा-प्रचार का उनका जीवन संकल्प अपने आप में एक ऐसी मशाल था जिसका प्रकाश सदा सर्वदा हमें मिलता रहेगा।

आज पूज्य वर्णी जी की जन्म शताब्दी मनाते समय, उन सभी लोगों को, जो अपने आपको वर्णी जी का भक्त या अनुयायी सिद्ध करना चाहते हैं, अन्तरंग से विचार करना चाहिये कि यदि वर्णी जी सचमुच हमारी श्रद्धा के केन्द्र थे तो उनके जीवनादर्शों को आकार देने के लिये और उनकी आज्ञाओं का पालन करने के लिये हमने क्या किया और आगे हम क्या करने जा रहे हैं? हमें इस प्रश्न का भी उत्तर अपने भीतर खोजना होगा कि इस दिशा में हमें जो कुछ भी करना चाहिये था और हम नहीं कर पाये हैं। वह क्यों नहीं कर पाये हैं?

बाबा जी के कुछ संस्मरण

ले० नन्दलाल सरावगी, कलकत्ता

मेरी पहली भेट पूज्य वर्णी जी महाराज से नीमियाघाट मे ब्रह्मचारी अवस्था मे हुयी थी। लगभग चालीस वर्ष पहले की बात है। जब वे अपने हाथो से ही भोजन बना कर खाते थे। फिर तो उनके प्रति भक्ति के कारण अनेको दफे जाते-आते रहते थे। लगभग चौंतीस वर्ष पहले जब आप पावापुरी से राजगृह आये तब वहाँ पर आपने विपुलाचल पर्वत पर सीढ़ियाँ बनाने के लिये एक सभा का आयोजन किया। उसमे आपके सभापतित्व मे यह तय हुआ कि विपुलाचल पर्वत पर पक्की सीढियाँ यात्रियो की सुविधा के लिये बनायी जायें। उस वक्त तुरन्त बीस सेठो ने एक-एक हजार रुपये देकर २० हजार रुपये एकत्र किये तथा श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी ने दो हजार रुपये नगद तथा आठ सौ बस्ते सीमेन्ट के दिये, और उसी वक्त सीढियो का कार्य आरम्भ हो गया तथा छह महीनो मे बनकर तैयार हो गयी। सन् १९४५ मे आसोज बदी चौथ के दिन आपकी जयन्ती मनायी गयी। उस समय मैं पण्डित युगलकिशोर जी मुख्तार के साथ ग्वालियर गया था। उस समय आप अन्तिम समय सम्मेदाचल के निकट भगवान पार्श्वनाथ के पादमूल मे रहकर ही शेष जीवन बिताने के लिये ईसरी आश्रम मे रहने लगे।

उसके बाद मध्यप्रान्त के भाई लोग उनको ले जाने के लिये आया करते थे। उस समय बाबा जी स्व० ब्रह्मचारी प्यारेलालजी भगत का तार देकर बुलाते और उनका निर्णय जाने-आने के लिये मान्य होता था। उस वक्त मै बराबर हर महीने मे दस-बीस दिन तक इनकी सेवा मे रहता था। इससे मुझे बहुत ही आनन्द व सन्तोष होता था। मेरे जीवन मे बाबा जी को मेरी भक्ति का पात्र समझता था। उनके सम्पर्क मे आने से मुझ स्वाध्याय करने की आदत पडी, वह अभी तक चल रही है। उनके पास हम चार-पाँच भाई लोग बैठते थे, उस समय उनसे बडी-अच्छी-अच्छी शिक्षाये मिलती थी। बाबा जी के दर्शनार्थ बाहर से अनेक लोग आते थे। सबका यही ध्येय रहता था कि बाबा जी के मुख से कुछ प्रवचन सुनकर शिक्षा ग्रहण करे। उनसे साक्षात् करने श्वेताम्बर, मन्दिर-मार्गी साधु, तेरापन्थी, बाईस टोला, मुँहपट्टी वाले साधु भी आते थे और इनसे मिलकर बहुत ही प्रभावित होते थे। पूज्य कानजी स्वामी जी उनके पास दो बार आये और बहुत ही प्रसन्न तथा प्रभावित हुए। श्री तुलसी जी महाराज अपने पाँच सौ शिष्यो के साथ आपके पास आये। उनके साथ सस्कृत के एक विद्वान कवि थे। उन्होने बाबा जी की प्रशसा मे तथा तुलसी के मिलन के सम्बन्ध मे एक बडी कविता उसी समय बना कर सबको सुनायी।

स्व० श्री छोटेलाल जी ने भारत के राष्ट्रपति स्व० श्री राजेन्द्रप्रसाद जी को (सर्वोदय सम्मेलन के समय) पूज्य वर्णी जी महाराज से मुलाकात करने के लिये प्रेरणा दी थी। उस समय राष्ट्रपति ने अपने मिलिटरी सेक्रेटरी को वर्णी जी तथा ईसरी ब्रह्मचर्याश्रम का नाम लिखा दिया था। जब राष्ट्रपति जी ट्रेन से ईसरी स्टेशन पर अपने सैलून गाडी मे आराम कर रहे थे, उस

समय उनको दमा उठा हुआ था। उनको जब याद आया कि यहाँ पर बड़े साधु जी के दर्शन करने हैं तब आपने अपने सैक्रेट्री को वर्णी जी के पास भेजा कि मेरे दमा उठ रहा है, आप को कष्ट न हो तो आप स्टेशन पर मोटर द्वारा आ जायें मैं आपके दर्शन का इच्छुक हूँ। बाबा जी ने सैक्रेट्री से कहा कि हम गाड़ी पर नहीं बैठते हैं, इसलिये हम पैदल ही आपके साथ चलते हैं। उस समय स्व० लाला राजकृष्ण जी दिल्ली वाले भी साथ में गये। बाबा जी से एक घन्टे तक राष्ट्रपति जी धर्मचर्चा सुनते रहे, और बहुत ही प्रभावित हुये। (बाबा जी जब स्टेशन पर पहुँचे तब राष्ट्रपति जूते खोलकर गाड़ी से नीचे उतरे और बाबा जी का चरणस्पर्श कर उनको अन्दर ले जाकर काठ की कुर्सी पर बैठाया था।) अन्त में बाबा जी ने उनसे कहा कि यह बिहार-भूमि बीस तीर्थंकरों की पद-धूलि से पवित्र है इसलिये आप यहाँ से मद्यपान बिल्कुल उठवा देवें। राष्ट्रपति ने कहा— महाराज मैं इसको उठाने की भरसक कोशिश करूँगा पर कुछ समय लगेगा। (जिस दिन बाबा जी का निधन रेडियो द्वारा सारे भारतवर्ष में प्रसारित किया जा रहा था उस समय राष्ट्रपति ने भी कहा था कि इन बड़े महात्मा जी को मैं अच्छी तरह जानता था और उनसे प्रभावित भी था।

पूज्य बाबा जी में सरलता कूट-कूटकर भरी हुयी थी। आपके सामने कोई भी झूठ बोलने की हिम्मत नहीं करता था। रायबहादुर हरकचन्द जी जैन राँची वाले जो इस आश्रम के अध्यक्ष हैं बराबर बाबा जी की देखरेख करते रहते थे। आश्रम में इनका एक चौका बाहर से आने वाले श्रावकों के लिये बराबर चलता था। आप बाबा जी का पूरा ख्याल रखते थे।

बाबा जी गरीबों की सहायता तथा उनको अष्टमी चतुर्दशी के दिन अन्न बँटवाते थे। श्रीमान साहू शान्तिप्रसाद जी का परिवार हमेशा आपकी सेवार्थ आता था। गरीबों के लिये पाँच हजार रुपये के कपड़े भिजवा दिये थे। बाबा जी की सेवा में जैन-समाज के बड़े बड़े चोटी के पण्डितों का आगमन प्रत्येक सप्ताह में होता रहता था। जब जो पण्डित आ जाता, बाबा जी उसे शास्त्र बाँचने के लिये बैठा देते थे। विद्वानों को देखकर बाबा जी प्रसन्न हुआ करते थे। एक बार बाबा जी गीरिडीह गये हुए थे। उस समय मैं और साहू जी दोनों साथ में कलकत्ता से गये। वहाँ पर किसी पण्डित ने कहा कि सागर विद्यालय में घाटा बहुत चल रहा है। साहू जी ने बाबा जी से पूछा आप बोलें जितना मैं दे दूँ। उस समय बाबाजी ने कहा आपकी इच्छा आवे सो दीजिये। तब एक ब्रह्मचारी ने कहा कि वर्ष में पाँच हजार रुपये का घाटा रहता है। साहू जी ने उसी समय कहा कि पाँच हजार रु० वार्षिक मैं भेजता रहूँगा, सो अभी तक बराबर जाता है। फिर साहू जी ने दूसरे दिन पण्डित स्व० बंशीधर जी को अपने पास रखने के लिये आग्रह किया। पण्डित जी ने उत्तर दिया कि अब नौकरी किसी की नहीं करूँगा। तब साहू जी ने उनको बाबा जी की सेवा में रहने के लिये राजी किया तब से पण्डित जी बाबा जी के पास रहने लगे।

बाबा जी के निधन के तीन वर्ष पहले जब वैद्य जी ने इनको आहार के समय अमलतास बहुत ज्यादा मात्रा में दिला दिया, तो दो घन्टे बाद बाबा जी को बहुत पतले दस्त होने लगे और फिर वे बेहोश हो गये। तब महावीर नौकर जो उनकी सँम्भाल करता था, मेरे पास आया और कहा बाबा जी बेहोश हो रहे हैं। मैंने उसी वक्त वहाँ जाकर इनका उपचार करना शुरू किया तब उनको पाँच बजे शाम को कुछ होश आया। उन्होंने बहुत ही धीमे स्वर में पूछा सामायिक का

समय हो गया ? मैंने कहा बाबा जी आप कमजोर हैं, बैठ तो सकेंगे नहीं, आप सोये-सोये ही करें। मैं नमोकार मंत्र पढ़ने लगा, वे सुनते गये। थोड़ी देर बाद उनको कुछ होश आया तब उन्होंने मुझसे कहा तुम हमारी देखरेख कब तक करते रहोगे ? मैंने उत्तर दिया महाराज ! जब तक आप हैं और मैं हूँ तब तक आपका ख्याल बराबर रखूँगा तथा आपकी सेवा में रहूँगा।

जब स्याद्-वाद विद्यालय की स्वर्ण जयन्ती मधुवन में मनायी गयी थी आप ही के समय में उसके अध्यक्ष साहू जी चुने गये थे। उस समय भारतवर्ष के सारे प्रान्तों से बड़े-बड़े पण्डित तथा सेठ लोग पधारे थे। विद्यालय को एक लाख रुपये की सहायता मिली। बाबा जी ने श्री स्याद्-वाद विद्यालय काशी की नींव डाली और उससे बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान निकले। आपने जगह-जगह सैकड़ों विद्यालय खुलवाये। आप श्रावकों को स्वाध्याय तथा दर्शन तथा पर्व के दिनों में ब्रह्मचर्य का व्रत दिलाते। श्रावक बड़ी खुशी से ग्रहण करते और पालते थे। बाबा जी बराबर कहते थे कि जैन समाज में शिक्षा के अभाव को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये, तब जैनधर्म चल सकेगा। जैनधर्म के मर्मज्ञ विद्वानों से ही धर्म चलता रहेगा। बाबा जी के परिश्रम से ही आज जैनसमाज में हजारों विद्वान दिख रहे हैं।

बाबा जी के निधन के दो महीने पहले ही से बाबा जी ने त्याग करना शुरू कर दिया था। आप सिर्फ आहार के समय पाँच तोला गर्म जल लेते थे। जब एक महीना हो गया तब बाबा जी को वैद्यों ने कहा अब आपका समय निकट आ गया है। उनकी अन्तरात्मा से जवाब मिला कि अभी तो समय आया नहीं है। फिर वही तार चलता रहा। सब बड़े-बड़े पण्डित तथा सेठ लोग तथा अजैन लोगों का ताँता उनके दर्शनार्थ आता रहता था।

अंतिम दिन स्व० पं० बंशीधर जी ने हाथ जोड़ कर बाबा जी से प्रार्थना की—"महाराज अब महाव्रत लेने का समय आ गया है।" बाबा जी हँसे और बड़ी खुशी से महाव्रत अंगीकार किया।

बस फिर उसी समय से बाबा जी के दर्शनार्थ दिन भर लोगों का ताँता बँधा रहा। रात के १ बजकर २० मिनट पर बाबा जी का णमोकार मन्त्र पढ़ कर निधन हुआ। फिर रात भर उनके पास णमोकार मन्त्र के जाप होते रहे। सुबह उनको एक विमान कुर्सी का बना कर उसमें बैठाया गया। आपका विमान बाजार से घूमकर आश्रम में लाया गया। वहाँ पर उनकी उल्टी पूजा पं० शिखरचन्द जी ने मेरे द्वारा करायी। फिर पूरे चन्दन तथा सर्व औषधियों, नारियल, घी, कपूर से उनका दाह कर्म किया गया। उस दिन ट्रेन से, मोटरों से, बसों से हजारों की संख्या में जैन तथा उनके अन्यमती भक्त लोग आये। अब उसी स्थान पर जहाँ कि दाहकर्म किया गया था एक बड़ा मकराने पत्थर का स्तूप उनकी स्मृति में बनाया गया है।

अन्त में मैं अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

❀

तेजस्वी आत्मा वर्णी जी

ले० गुलाबचन्द्र पांड्या, भोपाल

न्यायाचार्य—१०८ पूज्य गणेशप्रसाद वर्णी जी महाराज हमारी समाज हमारे देश की ही क्या बल्कि वह तो विश्वविभूति थे। वो प्राणीमात्र के कल्याण की बात सोचते थे। उनकी जीवनगाथा से सिद्ध होता है कि वह कितने दयालु, सरलहृदयी और सच्ची आत्मा थे। उनकी वाणी का प्रभाव अद्वितीय था। धार्मिक, धनिक और निर्धन सब पर उनकी समान दृष्टि थी। अनेक कोट्याधीश उनके चरणों में नतमस्तक होकर उनकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते थे, परन्तु वर्णी जी महाराज ने कभी किसी को आदेश नहीं दिया। अपने प्रवचन में जिस किसी भी संस्था की आवश्यकता पर रंचमात्र भी आप इशारा करते दातागण अपनी अंतः प्रेरणा से बिना किसी दबाव के पूर्ति कर देते थे। यही कारण है वर्णी जी के काल में अनेक संस्थाओं-विद्यालयों-कालेज आदि की स्थापना हुई। बड़ी-बड़ी प्रतिष्ठायें हुईं, जिन कार्यों को समाज करोड़ों रुपये व्यय करके भी नहीं कर सकती थी, वर्णी जी महाराज ने समाज के हित के लिए अपने प्रभाव से बड़ी सरलता से कर दिखाये। अजैन कुल में जन्म लेने पर भी उन्होंने उच्चकोटि का जैन जीवन व्यतीत किया। वह चारित्र के धनी श्रावकोत्तम रहे। क्रमशः प्रतिमाओं को धारण करते हुए वह ब्रह्मचारी-क्षुल्लक आदि के व्रतों का पालन करते हुए उन्होंने मुनि पद धारण किया। इसमें कोई शंका नहीं उनकी पवित्र आत्मा यथासम्य विदेहक्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेगी। वर्णी जी महाराज का उपकार जैनसमाज पर इतना है कि जैनसमाज उनके ऋण से कभी उऋण नहीं हो सकती।

सर्व धर्म सम्मेलन

पूज्य वर्णी जी महाराज का चातुर्मास मुरार (ग्वालियर) में हुआ था। मुरार के सेठ दीनानाथ जी ने सिद्धचक्रविधान बड़े आयोजन के साथ किया—भोपाल नगर से मैं एवं मामा जी हुकुमचन्द जी तथा सेठ जवाहरलाल जी के साथ ग्वालियर गये। इससे पूर्व वर्णी जी महाराज के प्रति पढ़ा तो बहुत था। परन्तु दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाया था। रेल में रास्ते भर वर्णी जी के विषय में ही विचार धारा बनती रही। उनकी अनेक प्रकार की मूर्ति हृदय पटल पर आती रही—इतना विशाल व्यक्तित्व वाला मानव जिसकी प्रशंसा चारों दिशाओं में व्याप्त हो। विद्वत् समाज ही क्या जन-जन जिनके प्रति अगाध श्रद्धा-आदर भाव रखता हो। ज्यों-ज्यों ग्वालियर निकट आता जाता मन में प्रफुल्लता बढ़ती जाती थी। प्रातः जब दर्शनों को गये वर्णी जी शास्त्र प्रवचन कर रहे थे। तभी वायुयान से सेठ बैजनाथ जी सरावगी कलकत्ते से आये। और भी अनेक स्थानों के जैन बन्धु आते जा रहे थे। महाराज ने पूछा कहो भैया कहाँ से आये हो। मैंने विनम्र हो उत्तर दिया महाराज भोपाल से आये हैं। भोपाल का नाम सुनते ही वह प्रसन्न हो उठे और कहने लगे हमने भोपाल नगर स्थित नेमिनाथ दि० जैन मंदिर झिरनों की बड़ी प्रशंसा सुनी है। वहाँ व्रती आश्रम भी है। मैंने कहा—जी हां महाराज उस विशाल मंदिर में भूगर्भ से प्राप्त हुई भ० नेमिनाथ स्वामी की श्याम वर्ण पाषाण-पद्मासन हीरे के पालिश वाली

चमत्कार सांगोपांग संवत १२६४ के लेख वाली महामनोज्ञ अतिशयवान मूर्ति विराजमान है। रात्रि को पू० वर्णी जी महाराज की अध्यक्षता में सर्वधर्म-सम्मेलन हुआ। वह दृश्य मेरे हृदय पटल पर अभी तक अंकित है। बहुत अच्छा सफल और शानदार यह सम्मेलन हुआ था। हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि ने वेद-उपनिषद रामायण आदि की चौपाइयों से सिद्ध किया कि—दया धर्म का मूल है। पाप मूल अभिमान। तुलसी दया न छोड़िये, जब लग घट में प्राण। अहिंसा दया ही धर्म है। ईसाई धर्म के प्रतिनिधि ने कहा—हजरत ईसा मसीह दया के अवतार थे। दयाधर्म की खातिर वह स्वयं फांसी पर लटक गये। उनका उपदेश है—कोई एक गाल पर चांटा मारे अपना दूसरा गाल उसके आगे कर दो। इस्लाम धर्म के प्रतिनिधि ने कहा—बिस्मिल्ला उर रहमान उर रहीम—ईश्वर दयालु है। कृपालु है। दया का पालन करो।। सिख धर्म के प्रतिनिधि ने कहा—सत श्री अकाल—गुरुनानक ने कहा है—जीव-जीव सब एक हैं—हिरनी मुरगी गाय, आँख देख नर खात हैं ते नर नर्कहिं जांय।। अंत में जैन प्रतिनिधि के रूप में पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने बड़े ही विद्वतापूर्ण ढंग से अनेक ग्रंथों की गाथा में—श्लोक-सूत्र सुनाते हुए सिद्ध किया कि जैन धर्म तीर्थंकरों की परम्परा वाला अहिंसाधर्म है। इसके पालन से ही मनुष्य अष्ट कर्मों को नष्ट कर परमात्मा पद प्राप्त कर सकता है। इसलिए सर्वोत्कृष्ट धर्म जैन है। इस प्रकार सब ही धर्म वालों ने अपने-अपने धर्म की श्रेष्ठता बतलाई। अंत में पूज्य वर्णी जी महाराज ने अध्यक्ष पद से बोलते हुए अनेक ग्रंथों तथा सब ही धर्म वालों के धर्म ग्रंथों की सूक्तियों को ऐसे रखा मानों उनके सामने कोई पुस्तक रखी हो और वह उसे धारावाहिक रूप से पढ़ रहे हों। वर्णी जी ने सब धर्मों के सारभूत सिद्धांत स्पष्ट करते हुए बतलाया संसार में सबसे बड़ा धर्म मानवधर्म है।

विदाई समारोह

वर्णी जी का विदाई समारोह भी दर्शनीय था। उस दिन प्रातः से ही लश्कर-ग्वालियर-मुरार तीनों शहरों के जैन-अजैन बन्धु एवं आसपास के ग्रामों के बन्धु भी हजारों की संख्या में वर्णी जी को भावभीनी विदाई देने हेतु एकत्रित हुए थे। बाल वृद्ध माताओं बहिनों की आँखों में आँसू थे। कोई नहीं चाहता था कि वर्णी जी यहाँ से विहार करें, क्योंकि सबको उनके चातुर्मास से अपूर्व धर्मलाभ प्राप्त हुआ था। ऐतिहासिक ग्वालियर दुर्ग के अंदर एवं बाहर के विशाल जिनबिंबों के जीर्णोद्धार के लिए भी कुछ काम हुआ था। तत्कालीन मध्यभारत राज्य के राजस्वमंत्री श्री श्यामलाल जी पांडवीय ने इस विदाई समारोह में कहा था कि मेरी प्रकृति ऐसी है कि मैं किसी की प्रशंसा नहीं करता हूँ, परन्तु वर्णी जी महाराज से मैं बहुत प्रभावित हूँ। इनसे हमारे क्षेत्र के सब भाइयों को अपूर्व धर्मलाभ हुआ है। मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। हम सब अनिच्छापूर्वक वर्णी जी को विदा दे रहे हैं। अंत में वर्णी जी ने बताया भैया—मोह की महिमा अपरंपार है—इसी के कारण हम आज संसार-भ्रमण कर रहे हैं। राग-द्वेष-मोह को छोड़ने में ही हमारा कल्याण है।। इस प्रकार वर्णी जी का जीवन एक खुली किताब की तरह स्पष्ट है—इसमें न छलछिद्र है, न मोह है, न द्वेष है, न राग है—न लोभ है।

ऐसी पवित्र आत्मा को मेरे शतशः प्रणाम।

अतीत के वे अविस्मरणीय क्षण

श्री कपूरचन्द बरैया, एम. ए., लश्कर

पू० वर्णी जी भारत के एक महान आध्यात्मिक संत थे। उन्होंने जीवन पर्यंत जैन समाज की सेवा की, जहाँ तक बन सका जैनधर्म के उपदेशों को धारण करने का पूर्णरूपेण यत्न किया, यहाँ तक कि अन्त में दिगम्बर वेष में प्राणोत्सर्ग कर एक आदर्श उपस्थित कर दिया। विद्वत्ता के साथ चारित्र का ऐसा मणिकाञ्चन संयोग बहुत कम देखने को मिला। सरलता की तो वे साक्षात् प्रतिकृति थे, लेकिन साथ ही कहाँ, किससे, क्या काम लेना चाहिये इसके लिये परम चतुर थे।

शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो अद्वितीय कार्य कर दिखाया वह उनकी मौन साधना का ज्वलंत उदाहरण है। उनका समस्त जीवन चमत्कारी घटनाओं से ओत-प्रोत है। मैं उनके कई वर्षों तक निकट सम्पर्क में रहा हूँ। जब वे क्षुल्लक अवस्था में समस्त त्यागीवृंदों के साथ ग्वालियर आये तब उनके एक ही प्रवचन ने मेरा मन आकर्षित कर लिया। उस समय मैं स्थानीय कॉलेज में एक बी. ए. का छात्र था। पण्डितों की घिसी-पिटी शैली मन्दिरों में तरुण युवकों को आकर्षित नहीं कर पाती थी। वर्णी जी 'समयसार' ग्रन्थ को सामने रखकर जिस समय प्रवचन करते थे, उस समय हृदय आनन्द से परिप्लुत हो जाता था। उसके प्रत्येक सिद्धान्त को अपनी तर्कसंगत शैली में उदाहरणों व दृष्टांतों द्वारा श्रोताओं के हृदय में इस प्रकार उतारते थे मानों वे अमृत के घूंट पी रहे हों। ऐसा लगता था कि जैनधर्म के ये अनमोल रत्न एक साथ सहेज कर रख लिये जाँय। उनका मुरार (ग्वालियर) में चातुर्मास करने का निश्चय तो उस समय मेरे लिये वास्तव में एक वरदान ही सिद्ध हुआ। संभवतः यह सन् १९४८ की बात है। मन में बेहद खुशी हुई। मैं उनके प्रवचनों में नित्यप्रति जाने लगा और बड़े उत्साह के साथ उनकी अमृतमयी वाणी का पान करता रहा।

कुछ समय के पश्चात् ख्याल आया कि ऐसे सुन्दर मधुर प्रवचन यदि एक ही साथ एक जगह संकलित हो जांय तो इससे न केवल वर्तमान में ही श्रोताओं की अपूर्व तुष्टि हो वरन् भविष्य में भी उनसे यथेष्ट लाभ मिलता रहे। इस विचार के साथ ही मैंने उन्हें एक-एक करके नोट करना शुरू कर दिया। कालान्तर में वे प्रवचन इतने अधिक मात्रा में संकलित हो गये कि उन्हें पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित करने का भाव जाग उठा। फलतः 'सुख की एक झलक' का जन्म हुआ। इसके पश्चात् तो उनके प्रवचनों की ऐसी धुन लगी कि जहाँ-जहाँ भी वर्णी जी के चौमासे होते थे, वहाँ-वहाँ मैं अनायास ही उनके पास पहुँचता रहा। इस तरह प्रत्येक चौमासे के प्रवचन संकलित करके मैं उन्हें समाज के सामने भागों की शृंखला में रखता रहा। पुस्तक के १५ भाग प्रकाशित हो गये। काश! वर्णी जी कुछ वर्ष और जीवित होते तो शायद ये भागों की परिपाटी भी अनवरत चलती रहती। जनता ने उन्हें पर्याप्त पसन्द किया। मैं भी प्रसन्न था कि

जीवन में मैंने कुछ नहीं किया तो इतना अवश्य किया कि ऐसे महापुरुष की वाणी का संकलन मेरे निमित्त से हो गया।

उनका आहार; हमारे द्वार

पूज्य वर्णी जी लश्कर की तेरापंथी धर्मशाला में समस्त त्यागी-मण्डल के साथ विराजे हुये थे। उनके आहार का प्रबन्ध धर्मशाला के अतिरिक्त शहर के अन्य भागों में भी था। लोग बड़े भक्तिभाव से चौका लगा रहे थे। एक दिन मेरा मन भी उन्हें आहार देने का हो गया। मैं अपने परिवार के साथ धर्मशाला में पहुँच गया और किसी तरह एक जगह उनके लिये चौके का प्रबंध कर लिया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गुरु गोपालदास जी की पुत्रवधू जो रिश्ते में मेरी बुआ लगती थीं, उनका मोरेना से अचानक आना हो गया। वह त्यागी और तपस्वियों की बड़ी भक्तिन थीं। उसने भी प्रेरणा दी कि एक दिन के लिये चौका लगालो तो घर का समस्त दारिद्रय दूर हो जायगा। परिवार वालों ने बात मान ली और चौका भी उक्त स्थान पर प्रासुक विधि से लगा। अब प्रश्न था कि वर्णी जी का आगमन कैसे हो? सब चाहते थे कि महाराज हमारे यहाँ ही आयें। ऐसी हालत में उनका हमारे यहाँ आहार होना कठिन बात थी। मन कुछ इस प्रकार बैठ गया था कि यदि आज आहार नहीं हुआ तो दूसरे दिन चौका लगना प्रायः मुश्किल है।

ठीक समय पर वर्णी जी धर्मशाला से आहार के वास्ते उठे और सीधे शहर की तरफ चल दिये। अब तो मन धक् करके रह गया। सौभाग्य की बात थी कि धर्मशाला के बाहर यकायक हमारी बुआ हाथ में कलश लेकर पड़गाहन निमित्त सामने आ गईं। अब क्या था? पूर्ण विधि से पड़गाहने के बाद वर्णी जी पुनः धर्मशाला की ओर लौट पड़े। यह देखकर मेरे नेत्र सजल हो गये। उनका विधिवत् आहार हुआ। यही नहीं, बहुत से त्यागी ब्रह्मचारी भी उस दिन आहार लेकर हमारे चौके को पवित्र कर गये। दूसरे दिन मुरार के लिये उनका प्रस्थान हो गया।

उनकी स्मरण-शक्ति

वर्णी जी स्थायी तौर पर 'ईसरी' में विराज चुके थे। मैं उनके पास प्रतिवर्ष पहुँचता था। इन दिनों ला० राजकृष्ण जी, देहली की ओर से 'समयसार' ग्रन्थ छपकर वहाँ आया था। ग्रन्थ का सुन्दर गेटअप और छपाई देखकर मेरा मन भी उस ओर आकर्षित हुआ और एक प्रति लेने के भाव जाग उठे। मैंने ब्र० सोहनलाल जी से पूछा, कि यह ग्रन्थ कैसे मिल सकता है? मुझे भी एक प्रति चाहिये। वह बोले—मिल तो जायगी, लेकिन एक शर्त के साथ यह ग्रन्थ उन्हीं को आधी कीमत में मिल सकेगा जिन्हें वर्णी जी सिफारिश कर देगें, वैसे इसकी कीमत १५) है। मैंने कहा, बहुत ठीक।

दूसरे दिन मैं उनके कमरे में पहुँच गया और प्रार्थना की, बाबा जी! समयसार की एक प्रति चाहिये। वह बोले, ले लो भइया! ब्रह्मचारी की ओर इंगित कर दिया कि इन्हें एक प्रति दे देना। मैंने तत्काल ७।।) देकर वह प्रति ले ली।

मैंने उस समयसार को लश्कर के कुछ मन्दिरों के व्यवस्थापकों को दिखाया। उन्हें भी वह प्रति पसन्द आई। एक बोला, आप हर साल ईसरी जाते ही हैं, एक प्रति वहाँ से यहाँ के मन्दिर जी के लिए भी ले आना, जो कीमत होगी हम दे देंगे।

दूसरे वर्ष मेरा पुनः ईसरी जाना हुआ। मन में सोचा, समयसार की एक प्रति बाबा जी से और माँग ले, ७।।) में मिल जायगी, उन्हें कौन याद रही होगी कि पहले भी मैंने अपने लिये इसकी एक प्रति ले रखी है। पूरे दाम में बेच दूंगा।

मौका पाते ही एक दिन कह ही बैठा कि बाबा जी समयसार की एक प्रति चाहिये। आप की आज्ञा हो तो ले लें। वह तुरन्त बोल उठे, 'भइया! तुम एक कापी ले तो गये थे।' अब तो मैं बगलें झाँकने लगा। कुछ देर बाद साहस बटोरकर कहने लगा, लश्कर के एक मंदिर जी के लिये चाहिये। वह बात ताड़ गये और मुस्करा कर बोले, 'अच्छा! ब्रह्मचारी जी से कहकर एक प्रति और ले लो।'

दूसरी प्रति भी मुझे ७।।) मे मिल गई। वह मैंने व्यवस्थापक महोदय को इतनी ही कीमत में दे भी दी। लेकिन मन पश्चाताप से भर गया। सोचने लगा कि मैंने ऐसा मायाचारी बर्ताव उनसे क्यों कर किया? लेकिन साथ ही उनकी स्मरणशक्ति की भी प्रशंसा किये बिना न रहा गया कि इस वृद्धावस्था में एक वर्ष गुजर जाने के बावजूद भी उन्हें इतना याद रहा कि उक्त ग्रन्थ की एक प्रति मुझे पहले ही मिल चुकी है।

आज वर्णी जी हमारे बीच नहीं हैं। केवल उनकी स्मृति शेष भर रह गई है। इस शताब्दी महोत्सव के शुभ अवसर पर मेरी उनको शतशः श्रद्धाञ्जलि समर्पित है।

वाचमर्थोऽनुधावति

श्री पं. अमृतलाल जी शास्त्री—वाराणसी

मुझे पूज्य वर्णी जी के दर्शन प्रथमतः वरुआसागर में स्व० सेठ मूलचन्द्रजी सर्राफ के यहाँ हुए थे। आप अत्यन्त मधुरभाषी थे। बिना किसी भेदभाव के वे छोटे-बड़े सभी व्यक्तियों से बात करते थे। मैं अपने साथियों के साथ पूज्य वर्णी जी के पास गया था। हम सभी तीसरी कक्षा के विद्यार्थी थे। हम सभी से वर्णी जी ने बात की, और कुछ शब्द लिखवाये। देखने के बाद उन्होंने मेरे शब्दों को सही बतलाया और यह कहा कि तुम संस्कृत पढ़ो। सागर की पाठशाला में चले जाओ। सागर जाने की लालसा मेरे मन में उठी, पर कुछ कारणों से वहाँ जा न सका। स्कूल में ही पाँचवीं कक्षा तक पढ़ता रहा, पर 'संस्कृत पढ़ो'—इस वर्णिवाक्य को भुला न सका। फलतः संस्कृत पढ़ना शुरू किया।

संस्कृत पढ़ते समय एक बार मुझे रुपयों की आवश्यकता पड़ी। पूज्य वर्णी जी को ईसरी के पते पर पत्र लिखा। वहाँ से आपने तुरन्त उत्तर दिया—बाबू पन्नालालजी चौधरी से प्रतिमास सवा रु० ले लिया करना। साथ ही यह भी लिखा कि 'अब तुम्हें रु० की कमी नहीं पड़ेगी। चौधरी जी को, जो उस समय स्याद्वाद विद्यालय के सुपरिन्टेन्डेन्ट थे, आपने लिखा कि मेरे जमा रु० के ब्याज में से दो वर्षों तक अमृतलाल को सवा रु० मासिक छात्रवृत्ति देते रहना। ठीक दो वर्षों के पश्चात् कृष्णाबाई जी को जो सम्प्रति महावीरजीमें हैं, गोम्मटसार जीवकाण्ड पढ़ने के लिये भेजा। उनके द्वारा दिये गये पत्र के आधार पर मैंने पढ़ाना शुरू कर दिया और कृष्णाबाई जी ने भी प्रतिमास दस रुपये देना प्रारम्भ कर दिया। मेरी आर्थिक कठिनाई समाप्त हो गई और अध्ययन भी चलता रहा। बाद में तो मैं अध्यापन में लग गया। पूज्य वर्णी जी का वाक्य 'अब तुम्हें रुपयों की कमी नहीं पड़ेगी' मेरे लिए वरदान सिद्ध हुआ। सच तो यह है कि महान् पुरुष जैसा कहते है, वैसा ही होता है। 'वाचमर्थोऽनुधावति'।

लरका और बंदर एक जात के होत हैं—

शिखर जी जाते समय पूज्य वर्णी जी एक-दो दिन काशी में रुके थे। जब वे जाने लगे तो स्याद्वाद विद्यालय के सभी छात्र उन्हें पहुँचाने के लिये बहुत दूर तक उनके साथ गये। रास्ते में एक आदमी अपने सिर पर अमरूदों से भरा टोकरा रख कर चला आ रहा था। वर्णी जी ने उस से पूछा—पूरे अमरूद कितने में दोगे? उसने कहा पाँच रुपये में। साथ में पैदल चलने वाले ब्रह्मचारी श्री नाथूराम जी कुछ कम कराने का यत्न करने लगे। पर वर्णी जी ने कहा—बेचारा गरीब है। जो कह रहा है, ठीक है। पाँच रुपया दिलवा दिये और टोकरे के सारे अमरूद छात्रों में वितरण करवा दिये। सभी छात्र वहीं खाने लगे, तो एक ब्रह्मचारी जी बोले—जे कैसे लरका हैं, चड़ी पनैयां खान लगे ! तब पूज्य वर्णी जी बोले—'भैया, लरका और बँदरा एक जात के होत हैं।'

✽

ज्ञानमूर्ति वर्णी जी

—पं० कन्छेदीलाल जैन, शहडोल

जिन दिनों मैं सागर विद्यालय में पढ़ता था, उन दिनों पूज्य वर्णी जी भी कभी-कभी सागर उदासीन आश्रम में रहते थे। प्रशम एवं ज्ञानमूर्ति वर्णी जी के नाम से किसी संस्था की स्थापना या उनके वास्तविक गुणों की चर्चा का प्रसंग जब उनके सामने किया जाता था तो वे हमेशा यही कहते थे कि मेरा नाम संस्था के नाम के साथ न जोड़ो। वे अपनी प्रशंसा से दूर रहना चाहते थे।

मेरी इच्छा हुई कि पूज्य वर्णी जी का एक चित्र अपने पास रखूँ। किसी विद्वान के निर्देश से ऐसा चित्र लिया था जिसमें वर्णीत्रय थे।

वर्णित्रय में स्व० दीपचन्द जी वर्णी को श्रद्धा की मूर्ति कहा जाता था। अंग्रेजी के विद्वान् की जैनधर्म के तत्त्वों के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा देखकर लोगो ने यह नाम रखा था। पूज्य गणेश वर्णी को ज्ञान की मूर्ति कहा जाता था। पूज्य वर्णी जी ने नव्य-न्याय जैसे कठिन विषय में आचार्य की उपाधि तो प्राप्त की ही थी, साथ में सभी जैन-शास्त्रों का आलोडन किया था। वे जहाँ कहीं भी जाते थे, धार्मिक शिक्षाहेतु पाठशाला या विद्यालयों की स्थापना की प्रेरणा देते थे। विद्वानों एवं पाठशाला के छात्रों के प्रति उनका वात्सल्य अवर्णनीय था।

स्व० बाबा भागीरथ जी वर्णी को चारित्र की मूर्ति कहा जाता था क्योंकि वे छने जल की मर्यादा का ध्यान स्याही के प्रयोग तक में किया करते थे।

जैनदर्शन में मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को माना गया है इसे हम त्रिवेणी भी कह सकते हैं। ज्ञान को तीनों के मध्य में रखा गया है। ज्ञान एक ओर श्रद्धा को जगाने और श्रद्धा पर स्थिर रहने में सहायक होता है वहाँ चारित्र को भी उज्ज्वल रखने की प्रेरणा करता है। ज्ञान के बिना चारित्र ढोंग बन सकता है और श्रद्धा विचलित हो सकती है। अथवा अन्ध विश्वास या रूढ़ि मे बदल सकता है। इसलिए जिस प्रकार मुक्तिमार्ग मे ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसी प्रकार समाज में ज्ञानप्रसार करने वाले ज्ञानमूर्ति पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पूज्य वर्णी जी द्वारा संस्थापित सागर एवं बनारस के विद्यालयो के कारण मुझ जैसे अकिंचन कितने ही लोगो ने आत्मोपकारक-विद्याप्राप्ति का सुयोग पाया।

एक प्रवचन मे वर्णी जी ने धार्मिक संस्थाओ से निकले हुए स्नातकों को उद्बोधन दिया था कि जब तुम अर्थार्जन करने लगो तो अपनी कमाई मे से प्रतिरुपया एक पैसा पारमार्थिक संस्थाओं के लिए दान में निकालते जाना। स्नातको के लिए इस उद्बोधन को कार्यरूप में परिणत करने पर विचार करना चाहिए।

१५ अगस्त ४७ को स्वतंत्रता-प्राप्ति के दिन सागर के किले मे प्रातः दो मिनट के समय मे वर्णी जी ने कहा था कि एक और एक मिलकर दो होते है परन्तु उनमे भिन्नता न हो तो १ और १ मिलकर ११ (ग्यारह) होते है। इसी प्रकार देश और समाज के लोग संगठित हैं तो समाज या देश को संगठन शक्ति के कारण कोई क्षति नही पहुँचा सकेगा। संक्षेप मे हृदय को छूने वाली बात कहना उनका विशेष गुण था।

पूज्य वर्णी जी ने विद्या प्राप्त कर, विद्याप्रसार कर आत्मकल्याण भी किया परन्तु उस विद्या का सुयोग पाकर उसका उपयोग किस प्रकार कर रहे हैं अपने आप में एक विचारणीय प्रश्न उठाकर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

उन सन्त को प्रणाम

—पं० बालचन्द्र जैन, शास्त्री, नवापारा-राजिम

परम पूज्य श्रद्धेय वर्णी जी महाराज के उपकारों से सारा जैन समाज ही उपकृत नहीं है वरन् कहना चाहिये कि सारा प्राणिमात्र उपकृत है। जिन्होंने कि जबलपुर में अपने चादर की छत्रछाया में उन सैनिकों को भी संरक्षण दिया था जिनके बल पर कि समूचे राष्ट्र की परतंत्रता की बेडियाँ काटे जाने का प्रयत्न चल रहा था। पूज्य वर्णी जी ने समस्त जैन समाज को एक छत्र के नीचे लाने का भारी प्रयत्न किया, उस समय समाज में व्याप्त रूढ़ियों को दूर किया और बहिष्कृत लोगों को जिनमंदिर-पूजनादि के द्वार खुलवा दिये। पूज्य वर्णी जी की ही देन है कि उन बहिष्कृत जैन भाइयो को उस प्राचीन बुन्देलखण्ड में भी आज समानता का व्यवहार किया जाने लगा है। स्वर्ग-स्थित उनकी आत्मा आज भी जन-कल्याण के लिये आतुर हो रही होगी। उस महान संत के पुनीत चरणों में श्रद्धासुमन चढ़ाकर श्रद्धांजलि समर्पित करता हूं।

✻

एक लोकोत्तर पुरुष वर्णी जी

स० सिं० धन्यकुमार जैन, कटनी

श्री पूज्य वर्णी जी एक लोकोत्तर पुरुष थे। उनकी कुछ ऐसी विलक्षणताएँ थीं, जो सामान्य जनो, विद्वानो व त्यागियो में नही पाई जाती।

वे स्वयं बुद्ध थे—जैनधर्म की उपलब्धि स्वयं के पुरुषार्थ से उन्होंने की थी। इस पुरुषार्थ में उनके जन्मान्तर के संस्कार ही कारण हो सकते है। उनकी श्रद्धा जैनधर्म पर इतनी गाढ़ थी कि जीवन की कठिन से कठिन परीक्षा मे भी वह शिथिल नहीं हुई, प्रत्युत बढ़ती ही गई। उनका अध्ययन काल बड़ी कठिनाई से व्यतीत हुआ। उस समय विद्याध्ययन के कोई स्रोत जैनसमाज में नही थे। कोई विद्यालय नही था। कोई छात्रो से सहानुभूति रखने वाला उदार दातार नही था और न कोई छात्रवृत्तिफण्ड ही था। ऐसी कठिन अवस्था में, अपनी कच्ची उमर मे जैनेतर अध्यापको के पास-स्वगृहत्याग-साधन विहीन-एकाकी परदेश गमन तथा अर्थाभाव मे अध्ययन करना कितना कठिन था इसकी कल्पना से ही रोंगटें खड़े होते है।

जैनधर्म के साथ विरोधी भावना रखने वाले पंडितों के पास अध्ययन करने वाले—तथा स्वयं अजैन कुल में—उनके संस्कारों मे ही पले हुए—श्री वर्णी गणेशप्रसाद जी ने किस प्रकार विद्या प्राप्त की, अपनी जैनधर्म की श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रहे तथा उसे दृढ़तर बनाते रहे, यह

एक आश्चर्यजनक तथ्य उनके लोकोत्तर पुरुषत्व का प्रबल प्रमाण है। आगे चलकर वे केवल क्रिया-काण्डी त्यागी तथा व्याख्यानपटु पंडित नहीं बने। वे अध्यात्म के गहरे अध्येता, धर्म के मर्म का पालन करने वाले, दृढ़संकल्पी विद्वान तथा सच्चे त्यागी बने।

अपने अध्ययन कार्य को वे जीवन भर चलाते रहे। वे सहस्रों विद्यार्थियों के गुरु होकर भी जीवन भर विद्यार्थी रहे। अध्ययन उनसे अन्त तक नहीं छूटा। प्रातः काल तीन बजे वे शय्या त्याग देते थे। समयसार का अध्ययन उनके जीवन का व्रत हो गया था। श्रोताओं को भी वही सुनाते थे। जब कोई विद्वान या श्रोता कभी भिन्न विषय पर उनसे चर्चा-वार्ता करने का प्रयत्न करे या प्रश्न करे तो सब कुछ जानते समझते हुए भी वे एक कथा कह देते थे, कथा इस प्रकार थी——

"एक रँगरेज था, जो लोगों की पगड़ी रँगा करता था। उसे केवल एक रँग में पगड़ी रँगना आता था। वह था——"मथई का रँग" अनेक व्यक्ति पगड़ी लाते और उसे विविध रँगों में रँगने का रँगरेज से आग्रह करते। तब वह कहता था कि आप कुछ भी कहो, पर पगड़ी पर "मथई का रँग" जितना अच्छा लगता है वह दूसरा रँग नहीं लगता। वह इसलिए कहता था कि उसे उस एक रँग में रँगना ही पसन्द था, अन्य नहीं।

भैय्या ! मुझे भी एक ही बात आती है वह है अध्यात्म। मुझे वही पसन्द है, जो मेरी दशा उसी रँगरेज जैसी है। आप तो मेरे पास अध्यात्म की ही बात सुनो।"

यह था उनका अध्यात्म के प्रति रसिक भाव।

अपनी प्रौढ़ावस्था में-जैन समाज में सर्वत्र उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक उन्होंने विहार कर जैनसमाज का गुरुत्व प्राप्त किया। लोगों में धर्म के प्रति स्थिर श्रद्धा उत्पन्न की। सम्यक्त्व की महती प्रभावना की। समाज के बालकों को धार्मिक संस्कार व शिक्षा प्राप्त हो उसके लिए-काशी-सागर-कटनी-द्रोणगिरि-पपौरा-बरुआसागर साढूमल-देहली-सहारनपुर आदि नाना स्थानों में संस्कृत व धर्म शिक्षा के विद्यालय व छात्रालय स्थापित किए। समाज में किसी भी अपराध के द्वारा पीड़ित व्यक्ति को सुमार्ग पर लगाने तथा क्षमादान करने के लिए उनकी आत्मा में बड़ी तड़प थी।

वे चित्त के अत्यन्त दयालु थे। दुखी को देखकर वे किसी भी कीमत पर किसी भी त्याग पर उसका दुःख दूर करना चाहते थे। स्वयं कष्ट उठाकर भी अपने सीमित वस्त्रों को गरीब के लिए तत्काल दान दे देने का प्रसङ्ग उनके जीवन में अनेक बार आया है। उनकी जीवन-गाथा ऐसी घटनाओं से भरी पड़ी हैं। जब उन्होंने स्वयं भूखे रहकर भूखों को अन्न, स्वयं निर्धन होकर दूसरों को अपने पास का धन, स्वयं निर्वस्त्र होकर अपने वस्त्र देकर दुखी जीवों के दुःख तत्काल दूर किये हैं।

वे अपराधी के प्रति सद्भावना-क्षमा रखते हुए भी अपराध के प्रति कठोर रुख रखते हैं।

उनकी व्रत-साधना के प्रति कठोरता तथा पीड़ितों-पतितों के प्रति अत्यन्त सहानुभूति—दोनों परस्पर विरोधी जैसी दीखने वाली बातों का संगम—महाकवि भवभूति कवि के शब्दों में कि—

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणाम् चेतांसि, को हि विज्ञातुमर्हति ।।"

उनकी लोकोत्तर प्रवृत्ति का ही परिचायक था।

पूज्य वर्णी जी किस पर कृपालु नहीं हैं, यह नहीं जाना जा सकता था। किस परिवार के प्रति उनकी घनिष्ठता नहीं थी, यह भी नहीं कहा जा सकता था। हर व्यक्ति और प्रत्येक परिवार आज भी मानता है कि उनकी सबसे ज्यादा कृपा व स्नेह हम पर ही थी। ऐसे लोकोत्तर पुरुष हमारी दृष्टि में ही नहीं, अनेकों की दृष्टि में भी केवल वे ही थे। इसी कृपा-पूर्ण शृंखला में मैं और मेरा परिवार भी था। कटनी उनका एक प्रिय स्थान था। वे अपनी अध्ययनावस्था में भी सागर से बनारस या बनारस से सागर जाते समय जंक्शन के कारण कटनी ठहरते थे। मेरे परिवार के साथ उनका संबंध यहीं से स्थापित हुआ था।

स्व० पूज्य ब्र० गोकुलदास जी से उनका गुरुत्व तथा उनके सुपुत्र पं० जगन्मोहनलाल जी जैन शास्त्री से उनका शिष्यत्व का नाता था। साथ ही वे दोनों हमारे परिवार के अविभाज्य अंग थे और आज भी हैं। इस कारण भी वर्णी जी का मेरे परिवार के साथ धार्मिक संबंध संस्थापित था। कटनी में संस्कृत विद्यालय व छात्रावास उनकी ही प्रेरणा के फल हैं, जो पचासों वर्षों से अक्षुण्ण रूप से चले आते हैं। मेरे परिवार द्वारा शिक्षा खाते में ही विशिष्ट दान उनकी ही प्रेरणा का फल है।

मेरी स्वर्गीया माता जी उनकी अनन्य भक्त थीं। जब वे सप्तम प्रतिमाधारी थे, अपने हाथ से स्वयं पाक करते थे। उस समय माता जी ने साग्रह उनसे कहा "हमारा भाव है कि आप आजीवन हमारा निमंत्रण स्वीकार करें।" वर्णी जी ने कहा, "मुझे मंजूर है मैं तो स्वयं पाकी हूँ। जब अन्यत्र भोजन को न जाऊँगा तब तुम्हारा अन्न ही भोजन में पका लूंगा। तुम १००) रु० मात्र भेज दिया करो।"

वर्णी जी को माता जी उनकी स्वीकृति के अनुसार १००) भेज देती थीं। पर जब उन्होंने रुपया पैसा रखने का त्याग किया तो पत्र लिखकर रुपया भेजने का निषेध कर दिया। वह पत्र अन्यत्र प्रकाशित है। मैंने सागर–ईसरी–जबलपुर–सतना–सहारनपुर–दिल्ली आदि स्थानों पर जाकर उनका पुण्य दर्शन किया, उपदेश पाया और जीवन कृतार्थ किया। उनके जीवन की सम्पूर्ण घटनाएँ उनके लोकोत्तर जीवन की परिचायक हैं।

मैं उनकी इस शती पर अपनी समग्र आन्तरिक पवित्र भावना से अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ तथा ऐसी भावना है जो भव-भव में ऐसी सत्संगति प्राप्त हो।

वर्णी जी ! तुम्हें शत शत वन्दन, शत शत प्रणाम

—महेन्द्रकुमार मानव
एम० ए०, साहित्य-रत्न, विधायक, छतरपुर (म. प्र.)

पूज्य श्री वर्णीजी एक बार छतरपुर पधारे थे, सन् मुझे स्मरण नहीं है। उनके साथ थोड़ा सा सामान और ४-५ व्यक्ति थे। सामान में किसमिस, काजू, भोजन की सामग्री और एक छोटा-सा बिस्तर आदि थे। आज यह भी स्मरण नहीं है कि वे कितने दिन छतरपुर रहे थे ? मुझे स्मरण आता है कि प्रातः वे तेल की मालिस कराया करते थे। छतरपुर की जैन समाज में उस समय फूट थी। वर्णी जी सबको 'भैया' कह कर पुकारते थे। उनसे मिलकर सभी को आत्मीयता का बोध होता था। मनुष्य के मन में जैसी भावना हो वह शब्दों में प्रकट हो ही जाती है। उनके 'भैया' शब्द में बन्धुत्व का भाव प्रकट होता था और वे सचमुच में साधर्मीजनों को सगे भाई का स्नेह देते थे। वर्णी जी बुन्देलखण्ड के थे और पूरे बुन्देलखण्डी थे। उसके बाद वर्णी जी के दर्शन करने का मुझे कई बार सौभाग्य मिला, द्रोणगिरि और सागर में। और जब-जब में उनसे मिला उन्होंने मुझे बड़ा प्यार दिया। विरोध करना तो वे किसी का जानते ही नहीं थे। वर्णी जी ने छतरपुर में रहकर समाज की फूट को मिटाने का प्रयत्न किया, जिसमें वे सफल हुए। विद्यालय खोलने पर भी जोर दिया। काशी मे स्याद्वाद विद्यालय खुलवाकर उन्होने अमर कीर्ति तो अर्जित की ही है लेकिन बुन्देलखण्ड में समाज की अवनति का मूल कारण वे अशिक्षा ही मानते थे और इसीलिये जहां भी वे जाते थे वहां पर विद्यालय खोलने पर जोर देते थे। आज बुन्देलखण्ड में जो स्थान-स्थान पर जैन विद्यालय चल रहे हैं वे उन्हीं की देन हैं। यह भी उन्हीं की देन हैं कि एक समय जहाँ की समाज में अशिक्षा का जोर था आज वहाँ की (बुन्देलखण्ड) समाज में से ही अनेकानेक विद्वद्-रत्नों की उत्पत्ति हुई।

सन् १६४२ में जब मैं जबलपुर जेल में था तब मेरे साथ जेल में जबलपुर का एक जैन नवयुवक रूपचन्द्र भी था। जब वर्णी जी जबलपुर में थे उस समय की एक घटना है। जबलपुर समाज के कुछ लोग रूपचन्द्र की कुछ शिकायत वर्णी जी से कर रहे थे कि उसका आचरण खराब है। वह खान-पान से गिर गया है। अभक्ष्य भक्षण करता है। अंडा मांस खाता है इत्यादि। उसी समय रूपचन्द्र वर्णी जी से मिलने गया था, वह दरवाजे के बाहर खड़ा था। अन्दर लोग उसके बारे में बातें कर रहे थे। वर्णी जी ने उन आलोचकों को जवाब दिया कि वह समाज का लड़का है। आज वह कितना ही पतित हो गया हो लेकिन एक दिन उसे पश्चात्ताप होगा और वह सुधर जावेगा। जैन-धर्म के जो संस्कार उसके मन पर पड़े हैं वे बचपन से पड़े हैं अतः एक न एक दिन प्रभावशील सिद्ध होंगे। हमें अपनी हिम्मत नहीं हारना चाहिये। जहाँ से रूपचन्द्र ने ये शब्द सुने, उसने अन्दर जाकर वर्णी जी के चरणों में अपना सिर रख दिया और कहा कि मैं ही वह रूपचन्द्र हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी अभक्ष्य भक्षण न करूँगा। मनुष्य में वर्णी जी की बड़ी

उत्कट आस्था थी। उनका विश्वास था कि मनुष्य चाहे कितना ही वह जाय, कितना ही कुमार्गी बन जाय, वह लौट सकता है, सुधर सकता है। दूसरे उनकी आस्था थी कि कुल-धर्म के लिये कुल जाति की श्रेष्ठता आवश्यक नहीं है। जिन्हे हम नीच जाति का कहते हैं उनमें भी धर्म हो सकता है। मेरी-जीवन-गाथा मे उन्होंने उल्लेख किया है कि मछुवाहे की लड़की जिसका पिता मछली मारता था, मरती हुई मछलियो की विकलता को देख कर उसका मन द्रवित हो उठा था। और उसने अपने पिता को मछली मारने से रोका था। वर्णी जी समन्वय-वादी थे। उन्होंने ऐसे मन्दिर की कल्पना की थी कि जिसमे सभी धर्मों के पैगम्बरो की मूर्तियां संगृहीत हो और उन्होने ऐसे स्वाध्याय भवन की कल्पना की थी जिसमे सभी धर्मों के ग्रन्थ हों। जैनधर्म के कट्टर धर्मी होते हुए भी उनमें छुआछूत की भावना छू तक नहीं गई थी। वर्णी जी ने सचमुच मातृहृदय पाया था, वे वात्सल्य से भर उठते थे जब कभी किसी साधर्मीजन को देखते थे। मैं सोचता हूँ कि मनुष्य उचाइयाँ कैसे प्राप्त करता है ? तो उत्तर मिलता है कि हृदय की गहराइयो मे जाकर। और इसीलिये वर्णी जी हम सबसे ऊँचे थे।

उनके प्रति मेरा शत-शत वन्दन, शत शत प्रणाम।

मेरी डायरी के पृष्ठों पर पूज्य वर्णी जी

ले० पं० भैया शास्त्री "कौछल्ल"
काव्यतीर्थ आयुर्वेदाचार्य टी टी रोड, शिवपुरी (म प्र)

सन १९४८ की बात है जब मैं शासकीय सर्विस मे था सुना कि पूज्य वर्णी जी सोनागिरि म विराजमान हैं। अवकाश लेकर गिरिराज के दर्शनो के साथ साथ भारत के वीतराग महान् संत के दर्शनो को चल दिया। शैलराज की वन्दना कर पूज्य वर्णी जी के चरणकमल स्पर्श किए। वर्णी जी बोले भैया ! इस समय कहा से आये हो, मैने उत्तर दिया महाराज ! अब मैं शासकीय चिकित्सक के रूप मे शिवपुरी मे कार्यरत हूँ। आपका आना सुना तो दर्शनार्थ चला आया। पास मे बैठे सिद्धातशास्त्री प० फूलचन्द जी से कहा भैया ! इन्हें अल्पाऊ कराइयेगा। मैंने कहा महाराज जी मै अल्पाऊ कर चुका हूं। अब तो चाहता हूँ आपका पवित्र उपदेश और चाहता हूँ अपनी सन्देश डायरी मे आपका सन्देश। यह सुनकर प० जी की ओर सकेत करते हुए कहा कि तुम इन्हे सन्देश लिख दो। प० फूलचन्द जी सिद्धान्तशास्त्री महोदय ने डायरी लेकर सन्देश लिखना आरभ कर दिया लिखा कि "जीवन की साधना सेवा, त्याग, आत्मशुद्धि है जिसने इस त्रयी को अपनाया है उसी का जीवन सफल है"। निकट बैठे न्यायाचार्य प० महेन्द्रकुमार जी ने डायरी हाथो मे ले ली और दूसरे पृष्ठ पर उन्होने लिखा—' नेता चुनने में बुद्धिमानी करो इसमे जल्दबाजी और भावुकता घातक होती है। जीवन का लक्ष्य है मानवता के विकास के लिए अपनी समर्थतम विचार-सन्तति अर्पण करना।"

विद्वानों ने डायरी के दो पृष्ठ लिख दिए, वर्णी जी बोले भैया कहो अब और कुछ कमी रही क्या ? मैं उत्तर नहीं दे पाया कि सिद्धांतशास्त्री जी ने मेरी डायरी वर्णी जी के हाथ में दे दी, महाराज जी आप भी कुछ लिख दीजियेगा। शास्त्री जी ने कहा, ये चाहते हैं आपका पवित्र सन्देश। हम लोगों ने तो आपकी आज्ञा का पालन कर दिया। वर्णी जी मुस्कराये और पेन्सल निकाल कर लिखना आरंभ कर दिया :—

"मनुष्य उसे कहते हैं जो पराई आशा न करे, हमने आज तक पराई अपेक्षा की, इसी से संसार यातनाओं के पात्र हो रहे हैं, यदि संसार को कल्याण करने की इच्छा है तब सबं से पहिले अपनी प्रवृत्ति को पवित्र बनाने का प्रयत्न करो।"

सोनागिर	आ० शु०
२३-४-४८	गणेश वर्णी

यह था पूज्य वर्णी जी का पावन सन्देश जो वास्तव में मानव जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाला है।

वस्तुतः मानवता की कसौटी है उसका वह दैनिक जीवन जिसमें पराई आशा न की जावे, कर्तव्य और उद्देश्य को समझने के लिये आत्म-निर्भर होना महान पुरुषों का चरम लक्ष्य होना चाहिए।

यदि आप अपने को श्रेष्ठ पुरुषों में गिनना चाहते हो तो वर्णी जी के उपदेशानुसार अपनी प्रवृत्तियों को पवित्र बनाओ और ये प्रवृत्तियां तभी पवित्र बन सकती हैं जब कि पराई-आशा न की जावे।

एक सन्तुलित मस्तिष्क वाले मानव को आत्म-सम्मान ही नहीं, आत्म-कल्याण के लिए परपदार्थों का मोह छोड़ कर अपने ही में लीन होना होता है। तभी वह अपना और पराया कल्याण कर सकता है।

भौतिकवाद की चकाचौंध में फँसे प्राणियों को ज्ञानदान देकर जिनका पावन उपदेश कल्प-काल तक मुमुक्षु प्राणियों को पथ-प्रदर्शन करता रहेगा। ऐसे अज्ञानांधकार को दूर करने वाले गणेशकीर्ति महाराज के श्रीचरणों में इस शताब्दी समारोह के पुण्य अवसर पर मेरी अनन्त श्रद्धाञ्जलि अर्पित है।

दूसरे की नहीं किन्तु अपनी ही तारतम्यावस्था को देखकर विरक्त होना चाहिये। परमार्थ से तत्त्वज्ञान बिना विरक्तता होना अतिदुर्लभ है।

—गणेश वर्णी

श्रद्धाञ्जलि

—स० सि० पं० रतनचन्द्र जैन शास्त्री
बामोरकलां म० प्र०

समाज जागरण के अग्रदूत, त्यागमूर्ति, परम आध्यात्मिक संत, पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य महोदय को वर्णी शताब्दी की पुण्य वेला पर मेरी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि सादर समर्पित है।

❋

संस्मरण

—शाह हजारीलाल रामप्रसाद जैन,
जुमेराती बाजार, भोपाल

पूज्य वर्णी जी का समागम हमको श्री सोनागिर जी में हुआ। उनकी सरलता अपूर्व थी। उनके आहारदान का सुयोग प्राप्त हुआ। उसके बाद श्री नैनागिर जी रथोत्सव में मिले। साथ में शौच को गए। रास्ते में चने के खेत में एक बुढ़िया ठंड से सिकुड़ रही थी। आपने अपना खेस उसको उढ़ा दिया। मैंने कहा बाबाजी आपको ठंड लगेगी। बाबाजी कहते हैं कि हमारा पुण्य होगा तो मिल जायगा। डेरा में नहाने के बाद ही दिल्ली वाले सेठ राजकृष्ण जी प्रेमचन्द जी खेस लाते हैं और बाबाजी को उढ़ा देते हैं। आप ईसरी में थे, मैं वहाँ पहुँचा। ८ बजे रात्रि को फाटक बंद था। मैंने फाटक पर आवाज दी तो भीतर से वर्णी जी कहते हैं कि फाटक खोल दो। भोपाल से हजारीलाल आया है। अतः पूज्य श्री की सरलता दया विद्वत्ता की क्या प्रशंसा करूँ। मैं तो उनके चरणों से श्रद्धापूर्वक श्रद्धांजलि सदा ही अर्पण करता आया हूँ। सागर में भी श्रद्धापूर्वक वर्णी भवन में उनकी स्टेच्यू का अनावरण करने का सौभाग्य मिला था। अतः अब भी दो पुष्प श्रद्धा के अर्पण करता हूँ।

❋

पर द्रव्य मेरा स्व नहीं, मैं उसका स्वामी नहीं नहीं पर द्रव्य ही पर द्रव्य का स्व है और उसका स्वामी है। यही कारण है कि ज्ञानी पर द्रव्य को ग्रहण नहीं करता।

—गणेश वर्णी

सन्त-हृदय नवनीत समाना

—पन्नालाल जैन

सतना सीमेन्ट वर्क्स, सतना

"एक बार मुझे डालमियांनगर जाने का अवसर आया तो भाई नीरज जी ने प्रेरणा दी कि यदि एक दिन का समय निकाल सको तो ईसरी जाकर पूज्य बाबाजी के दर्शन अवश्य कर आना। उनकी वृद्धावस्था है, स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, पता नहीं फिर दर्शन हों, न हों।

डालमियांनगर पहुँचकर एक दिन उचित अवसर निकालकर पारसनाथ का टिकिट लेकर गाड़ी में बैठ गया और ईसरी पहुँचा। क्षेत्र की बस मधुवन जाने के लिये स्टैंड पर तैयार थी, किन्तु मुझे तो बस मे बैठने से पूर्व पूज्य बाबाजी के चरणों में धोक देना थी। लोगों से आश्रम का पता पूछता दौड़ता हुआ उदासीन आश्रम पहुँचा। श्री जिनेन्द्रदेव के दर्शनोपरांत पूज्य बाबाजी के चरणों में धोक दी। आहार के बाद पूज्य मनोहरलाल जी वर्णी के साथ धूप में बैठे हुये वे कुछ चर्चा कर रहे थे। बैठने पर पूज्य बाबा जी ने पूछा, भैया कहाँ से आये हो? जबाव दिया, महाराज सतना से। फिर प्रश्न हुआ, सतना में क्या करते हो? मैंने कहा, नौकरी। इतनी जानकारी के बाद बहुत संक्षेप में, सतना के एवं सागर के अनेक महानुभावों के हाल-चाल पूँछ लिये।

श्री मनोहरलाल जी वर्णी ने प्रश्न किया, ऊपर पहाड़ की वंदना को जाओगे? मैंने कहा, सिर्फ मधुवन तक जाऊँगा और नीचे की वंदना करके सायंकाल वापस डालमियांनगर चला जाऊँगा। मुझ से अधिक तीव्र भावना श्री सम्मेदशिखर जी के दर्शनों की, मेरी धर्मपत्नी की है। इसलिए मैं पर्वत पर जाकर वंदना नही करूँगा, कारण कि घर पहुँचने पर, यह जानकारी होने पर कि मैं श्री सम्मेदशिखर जी के दर्शन अकेले कर आया, उसे बहुत अधिक विषाद होगा। इस पर श्री मनोहरलाल जी वर्णी ने तो कहा कि अरे भैया, इस दुनिया में कौन किसका है? समय का ठिकाना नहीं। तुम्हें वंदना कर आना चाहिये। किन्तु पूज्य बाबा जी ने मेरी ओर इशारा करके कहा, नहीं भैया। ठीक कहते हो। जाओ मधुवन के ही दर्शन करो। भगवान पार्श्वनाथ चाहेंगे तो जल्द ही सपरिवार उनके दर्शन करोगे। हर्ष के मारे मुझे रोमांच हो आया। बाबा जी के चरणों में नमस्कार कर मैं स्टेशन पर वापस आकर बस से मधुवन चला गया। सायंकाल लौटने पर फिर उनके चरणों में नमस्कार कर डालमियांनगर वापस आ गया।

वर्णीजी का आशीर्वाद इतना सत्य हुआ अगले कि सात-आठ महीने में ही भाई नीरज के साथ सपरिवार ईसरी में, उनके सामने मनाई जाने वाली जयन्ती महोत्सव में, सपरिवार ईसरी पहुँचा।

उसी अवसर पर कई मित्रों एवं साधर्मी जनों के साथ अतिशय सुखकारी वंदना के पुण्यलाभ के साथ जयन्ती महोत्सव का लाभ लिया। उसके उपरान्त तो उनके अंतिम दिनों में भी कुछ समय उनकी चरण-सेवा करने का अवसर प्राप्त हुआ। वर्णी जी एक महान संत थे। उनके दर्शन से चित्त में शांति और कोमलता प्राप्त होती थी। उनके चरणों में शत-शत प्रणाम।

✲

जिसे कभी नहीं भुलाया जा सकता

—कमलकुमार जैन, द्रोणगिरि (म.प्र.)

सन् १६५३ में, शिक्षा प्राप्त करने का उद्देश्य बना कर मैं और श्री रतनचन्द्र जी बरायठा, जैन हायर सेकेण्डरी स्कूल ईसरी में अध्ययन हेतु पहुँचे। ईसरी की जलवायु मेरे अनुकूल सिद्ध नहीं हुई। साथ ही अकेलापन के कारण अच्छा भी नहीं लगा। उस समय पूज्य वर्णी जी का चातुर्मास गया जी में हो रहा था। वर्णी जी के दर्शनों के लिये गया जी चला आया। वर्णी जी का सहज स्नेह तो मुझे पूर्व में ही प्राप्त था। अक्सर द्रोणगिरि प्रवास में पूज्य वर्णी जी मेरे यहां ही ठहरते थे।

मेरे पूज्य पिता श्री पं० गोरेलाल जी का तथा हम लोगों का सारा समय ही वर्णी जी के साथ निकलता था। वर्णी जी की स्मरण शक्ति तो अद्भुत थी ही, जैसे ही उनके पास पहुँचा, देखते ही आश्चर्य से बोले—"ए कमल, तुम यहां कैसे आये? पिता जी का स्वस्थ्य कैसा है? विद्यालय कैसा चल रही है? प्रान्त में सभी ठीक हैं। यह वर्णी जी की स्वाभाविक बात थी। मैं उनके पास पहुँचा, चरणस्पर्श कर धन्य माना। सभी समाचार कहते हुये आने का उद्देश्य (ईसरी में शिक्षा का) बताया।

भोजन उपरान्त पूज्य वर्णी जी के सानिध्य में पहुँचा। बहुत समय बैठा। चर्चायें हुईं। अन्त में आपने मुझे आदेश दिया कि इधर के पढ़ने का चक्कर छोड़ द्रोणगिरि जाओ और अपने पिताजी से संस्कृत प्रथमा का अध्ययन कर पास करो बाद में बनारस चले जाना, जहां कुछ बनोगे।

उन्होंने पिता जी को पत्र लिखा, साथ ही श्री रतनचन्द जी से कहा कि इसे सावधानी से ले जाना। श्री नाथूराम जी से कह कर रास्ते का प्रबन्ध किया और स्टेशन तक पहुँचाने भेजा, यह थी उनकी आत्मीयता।

घर आया पिता जी को पत्र दिया और संस्कृत के अध्ययन में लग गया। पूज्य वर्णी जी ने पत्र द्वारा आशीर्वाद और प्रेरणा दी, पिता जी ने परिश्रम किया, मैंने संस्कृत प्रथमा पास की। परीक्षाफल आते ही पूज्य वर्णी जी को पत्र लिखा और आदेश पालन की सूचना दी। पत्र का उत्तर आया "परीक्षा पास हुये सो मेहनत का फल मिला, अब बनारस जाकर अध्ययन करो।"

कभी सोचा भी नहीं था कि शिक्षा-नगरी एवं स्याद्वाद महाविद्यालय में कभी अध्ययन करूँगा। वर्णी जी के पत्र का संबल बनारस ले गया। तत्कालीन गृह-प्रबन्धक पदमचन्द्र जी ने छात्रों से स्वीकृति-पत्र मांगा। मेरे पास तो स्वीकृति-पत्र था ही नहीं। मैं घबड़ाया और डरते-डरते पूज्य वर्णी जी का पत्र दिया। शाम को गृह-प्रबन्धक जी के साथ अधिष्ठाता जी के यहाँ गया। वर्णी जी का पत्र देखा, गृह-प्रबन्धक जी से कहा, क्या चाहते हो ? यह तो बाबा जी की स्वीकृति है। जो अधिकारियों से भी महत्त्वपूर्ण है। इन्हें प्रवेश दो और एक बात का ध्यान रखना—इसे वर्णी जी ने भरती किया है, इससे इसका ध्यान भी रखना। मुझे प्रवेश मिला, सभी सुविधायें प्राप्त हुईं। ६ वर्ष तक मैंने वहाँ अध्ययन किया। अध्ययन काल में दो-चार बार पूज्य वर्णी के दर्शनार्थ ईशरी गया। उनकी प्रेरणा से मैं कुछ बना और आज उन्हीं की कृपा से स्वतंत्र आजीविका के साथ ही सामाजिक कार्य में लगा हूँ।

सन् १९६१ में पूज्य वर्णी जी की इच्छा से और उनके अमूल्य आशीर्वाद से द्रोण प्रान्त में जागृति बनाये रखने हेतु द्रोण-प्रान्तीय नवयुवक-सेवा-संघ की स्थापना की जो निरन्तर १४ वर्ष से समाज की सेवा कर रहा है।

मुझ जैसे सहस्रों का जीवननिर्माण पूज्य वर्णी जी ने किया है। बुन्देलखण्ड में शिक्षा का प्रचार प्रसार तो उनकी ही देन है जिसे समाज कभी नहीं भूल सकेगी 'नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' के अनुसार उनकी जन्मशती के अवसर पर मैं पूज्य वर्णी जी के अनन्य उपकारों से उपकृत होता हुआ अपनी शतशः श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

*

रेखा चित्र—"मेरे वर्णी"

लेखक : रतनचन्द्र 'अभय' मुँगावली

जैन जागरण के अग्रदूत पूज्य वर्णी जी।
बीसवीं सदी के युग में.
बुन्देलखण्ड की देन—— अजैन वर्णी।
जैन समाज के मुकुट बनकर विदा हो गए।
जैन इतिहास में नया मोड़ आया।
बुन्देलखण्ड में तुम देवता की तरह पुजे॥

यह थी वर्णी की प्रतिमा। जो युग संदेश दे गई। वर्णी जी। तुम स्वयं इतिहास बन गये। युग-प्रवर्तक बने. धर्माधिकारी बने। यशस्वी लेखक बने। विद्रोही नेता बने, श्रमण-संस्कृति के प्रतीक बने, विश्व-शान्ति के मसीहा और नारी-क्रान्ति के वकील बने। तुम्हारा व्यक्तित्व हिमालय के समान सीना तानकर आज दुनिया में खड़ा है।

तुम्हारा दुबला पतला शरीर, श्यामरंग, जादू भरी वाणी में करुणा बिखरी, चेहरे को कपट की नजर भी न छू पाई, सरलता के सागर, शब्दों में मिठास। चादर ओढ़े, नंगे पाव, लँगोटी लगाये, सन्त विनोबा जैसे गाँव-गाँव और शहर-शहर में पदयात्रा करते हुए तुमने सत्य अहिंसा की मशाल को जलाया। जैन अजैन जनता ने तुम्हारा अभिनन्दन किया। जनता की बुन्देली बोलकर तुम भैया एवं भारतीय जनमानस के वर्णी बन गये।

वर्णी। तुम राष्ट्रीय जागरण के प्रहरी बने। तुम्हारी घोषणा थी। "जिनकी रक्षा के लिए ४० करोड़ मानव प्रयत्नशील हैं। उन्हें कोई शक्ति फाँसी के तख्ते पर चढ़ा नहीं सकती। आप विश्वास रखिये मेरा अन्तःकरण कहता है कि आजादहिन्द-सैनिकों का बाल भी बाँका नहीं हो सकता। तुम वे ही वर्णी हो, जिसने आजादहिंद की रक्षा के लिये अपनी चादर फैला दी थी। सन्त होकर तुमने वतन की मोहब्बत का नया कदम उठाया।

वर्णी। तुमने बुन्देलखण्ड के कोने-कोने में शिक्षा आंदोलन का श्रीगणेश किया। तुमने स्याद्वाद विद्यालय की नींव डाली, जिस प्रकार गांधी ने सेवाग्राम आश्रम को, सर सैय्यद ने अलीगढ़ विश्व विद्यालय को और पूज्य मदनमोहन मालवीय ने काशी विश्वविद्यालय को जन्म दिया।

तुम विद्वानों के कल्पवृक्ष बने, तुम श्रमणसंस्कृति के प्रवर्तक बने। तुम संस्कृत-विद्यालयों, गुरुकुलों, उदासीन आश्रमों के जन्मदाता बने। कई शिक्षालयों के तुम संस्थापक रहे। ये विद्यालय तुम्हारी कीर्ति प्रतिष्ठा के जीवित स्मारक हैं।

वर्णी। तुम ज्ञान के आकार हो, कथाकार और मानव-समाज की रचना करने वाले कलाकार हो। तुमने अपनी कलम से 'जीवन-गाथा' लिखी तुम्हारे उपदेशों का सुन्दर संकलन है। 'समय-सार' के तुम पारखी हो। आध्यात्मिक कसौटी पर तुम्हारी 'सुख की झलक' खरी उतरी। आलोचक जैसी पैनी नजर से तत्त्वार्थसूत्र का वैज्ञानिक विवेचन तुमने रचा। तुमने विद्वानों को राष्ट्र की जिन्दा यादगारें माना। वर्णी जी तुमने स्वयं लिखा था—विद्वान हमारे प्राण हैं। ज्ञानियों के सम्मान के बिना स्वर्ग व्यर्थ है। इसीलिये सरस्वती के लाड़ले उपासकों ने तुम्हें सहर्ष अभिनंदन ग्रन्थ भेंट किया।

वर्णी। तुम विश्व के मसीहा हो, जहाँ इन्सानियत बारूद के एक कण पर बैठी है। जहाँ एटम उद्जन बम्बों के विस्फोटों में शान्ति खोजी जा रही है। तुम जैनधर्म के महा उसूल, अपरिग्रहवाद के पोषक बनकर विश्व के शान्तिदूत बने, अमन का महामंत्र समर्पित करने आये।

वर्णी। तुम समाज के विद्रोही नेता थे। नारी-क्रान्ति के प्रतीक थे, बाल-विवाह तुमने होने नहीं दिये। अनमेल विवाह के तुम आलोचक बने। वृद्ध-विवाह के तुम विरोधी बने। 'दहेज-प्रथा बन्द करो' की आवाज लगाई। नारी को आत्म-निर्भर बनाने के लिए शिक्षा की नींव गढ़ी। वर्णी तुम जवानों के पथप्रदर्शक थे, तुम जैन अहिंसक सन्त थे। जैनसमाज अजैन-समाज के बीच की कड़ी थे। तुम्हारी घोषणा थी—"वास्तव में धर्म किसी वर्ग या जाति का नहीं है।

तुम जैन समाज के सूरज, चन्दा बनकर आये। तुमने सिद्ध कर दिया। "मन्दिरों तक ही धर्म को सीमित रखने वाले जैनों क्या समझें कि जैनधर्म कितना महान है।" तुमने समाज को चुनौती दी—"जैनधर्म किसी के बराबर नहीं। किसी की बपौती नहीं, किसी की जागीर नहीं। तुम जैन शलाकापुरुष थे। तुमने धर्म का संदेश दिया"—"धर्म तो सब मानवों का है। वास्तव में जिसने आत्मा के भावों पर विजय पा ली वही जैनी है।" तुम जैनजागरण के वर्णी बनकर आये और भारतीय हृदयपटल पर गणेश बनकर ओझल हो गए। विन्ध्या रोया, मसान रोई। नर्मदा, चंबल, यमुना की लहरों ने वर्णी के संदेश फैलाये। तुम बुन्देलखण्ड के अतीत की बेजोड़ कहानी बन गये। शान्तिनिकेतन से विदा होकर देवत्व को सनाथ करने स्वर्ग के अतिथि बन गये। तुम्हें कोटि कोटि प्रणाम।

*

वर्णी बाबा से मेरा परोक्ष साक्षात्कार

श्री हेमचन्द्र जैन 'हेम' (बी. ई.) हेवी इलेक्ट्रिकल्स, भोपाल

मेरे प्रारंभिक अध्ययन एवं शिक्षा की नींव डालने वाला अनुपम विद्यालय मोराजी, सागर रहा है, जिसमें मुझे सन् १९५७-५८ में कक्षा ५ से विद्या अर्जित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। प्रारंभिक अवस्था में मैं श्री वर्णीजी के जीवन एवं दर्शन से अनभिज्ञ था, उनके दर्शनलाभ का सौभाग्य मुझे प्राप्त नही हो सका। श्री. सिं. कुन्दनलाल जी के यहाँ श्री वर्णी जी के सद्‌गुणों, सुकृत्यों आदि की चर्चा हुआ करती थी जिसका लाभ मुझे प्राप्त हुआ।

आज क्या है ? वर्णीजी की जयंती! वर्णी बाबा की जय। प्रातः ४ बजे आवाज गूँजी। निद्रा भंग हो गई और मैं श्री वर्णीजी की जयंती में शामिल होने के लिये, श्वेत एवं उज्ज्वल परिधान धारण कर मोराजी पहुँचा। मुख्य द्वार पर एकत्रित छात्रों की पंक्ति में मैं भी शामिल हो गया। समस्त छात्रों का जुलूस शहर में प्रभात फेरी के लिये प्रस्थान किया, एवं मार्ग में पूज्य वर्णीजी के गुणगान होते रहे। अंत में जुलूस मोराजी वापिस लौटा तथा मिष्ठान्न-वितरण के बाद जुलूस का विसर्जन हो गया। तदनन्तर मोराजी के विशाल प्रांगण में आमसभा का कार्यक्रम रखा गया। जिसकी अध्यक्षता श्रीमान् पं. दयाचन्द्रजी 'सिद्धान्त शास्त्री' ने की। अनेक विद्वानों एवं छात्रों ने वर्णीजी के जीवन से संबंधित झाँकियों का दिग्दर्शन कराया। इस समय मेरे मन में जिज्ञासा का आविर्भाव हुआ। यहाँ मुझे प्रकाशपुंज दृष्टिगोचर हुआ और वर्णीजी के बारे में मैं सोचने लगा। इसी सोच में मुझे भोजन करने का ध्यान नहीं रहा। मेरे बड़े भाई साहब, जो इसी विद्यालय में अध्ययन कर रहे थे, मुझे खोजते हुये आये और मुझ पर काफी क्रोधित हुये। उनका पहला प्रश्न यही था कि तुमने अभी तक भोजन क्यों नहीं किया? मैंने साहस करके उनसे कहा कि मेरे मन में बार-बार यही प्रश्न आ रहा है कि श्री वर्णीजी ने सुप्त-समाज को नवचेतना प्रदान की, महान ज्ञानदान दिया तथा कई स्थानों में अपने अथक

परिश्रम से विद्यालयों का निर्माण करवाकर शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति की। उनके द्वारा इस प्रकार का कार्य किसप्रकार किया जा सका ?

प्रत्युत्तर स्वरूप मुझे भाई साहब ने "मेरी-जीवन-गाथा" पढ़ने के लिये दी। जिसको पढ़कर आत्मविभोर हो गया और सारस्वरूप निम्न आदर्श ढूंढ पाया।

(१) वर्णीजी अजैन थे। जैन बन गये। जैनाजैनों को भी जैन बना गये तथा वे समय की बहुमूल्यता दर्शा गये।

(२) वे समय के सदुपयोग से 'समय (शुद्धात्मा=समयसार) की प्राप्ति होना बतला गये।

(३) वे कठिनाइयों से जूझना सिखला गये।

(४) वे स्वकीय स्वतंत्रता का पाठ सिखा गये।

(५) वे मान, अभिमान, स्वाभिमान एवं मद का अन्तर समझा गये तथा सच्चा स्वाभिमानी बनने की शिक्षा दे गये।

(६) वे पापी से नहीं बल्कि पाप से घृणा करना सिखला गये।

(७) तथ्य को समझने के लिये एवं अनुभव करने के लिये इस मनुष्ययोनि का सदुपयोग होना चाहिये।

मेरा दुर्भाग्य ही समझिये। होनहार बलवान होती है। मैं पूज्य वर्णीजी के दर्शन नहीं कर सका। प्रत्यक्ष साक्षात्कार का लोभ बना ही रहा। मेरी अभिलाषा अधूरी ही रही। उनकी १०० वीं जन्म शताब्दी मनाई जा रही है। मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि परम श्रद्धेय पूज्य वर्णी जी बाबा के कमलचरणों में अर्पित करता हूँ।

✻

आत्मा में कल्याण शक्तिरूप से विद्यमान है, परन्तु हमने उसे औपाधिक भावों द्वारा ढक रक्खा है। यदि ये नहीं तो उसके विकास होने में विलम्ब न हो।

—गणेश वर्णी

वे करुणा निधि सन्त

—श्री अमृतलाल परवार
सिघई प्रेस, जबलपुर

अपने प्रवास के बीच वे जबलपुर पधारे थे और प्रतिदिन सारी समाज उनके उपदेश से लाभान्वित हो रही थी। अपनी व्यस्तताओ के कारण हम लोग उनकी सेवा मे नही पहुँच पाते थे। यह उनकी महानता थी कि व जहाँ भी होते थे पूरी समाज पर उनकी दृष्टि रहती थी। पूज्य पिता जी से उनका पुराना परिचय भी था। एक दिन किसी ने यह बात उनकी दृष्टि मे ला दी कि "सारी समाज आती है परन्तु अमृतलाल आपके प्रवचन मे नही आते।" पता नही क्यो सुनने ही उन्होने आज्ञा दी कि यदि वे नही आते तो हम उनके यहाँ चलेंगे।

दूसरे ही दिन बिना किसी सूचना के एकाएक हमने उनके पावन चरण अपनी देहरी पर थमथमाते देखे। हम लोग यह अनचीता सुयोग पाकर अवाक रह गये और दूसरे ही क्षण हमारा सारा कुटुम्ब उनके चरणो पर लोट गया। वे थोडी देर बैठे। धर्म की ओर रुचि रखने की प्रेरणा मीठे शब्दो मे उन्होने हमे दी और हमे अपनी सज्जनता और अपनी निरभिमानता से अपना सेवक बना लिया।

इसी बीच चि० राजेन्द्र अपना केमरा निकाल लाया और उनका एक फोटो लेने की अभिलाषा उसने जाहिर की। पूज्य बाबा जी सहर्ष तैयार हो गये और बडी सरलता से बोले—'बताओ कहाँ बैठ जाये ?

पूज्य वर्णी जी की सरलता और सहजता का सही दर्शन उस छोटी सी घटना मे हो जाता है। उनका वह अनुग्रहपूर्ण आगमन हमारे लिये बडा भारी सौभाग्य था। आज जब श्री नीरज जी उनकी जन्म-शताब्दी पर प्रकाशनार्थ "स्मृति ग्रन्थ की पाण्डुलिपि लेकर हमारे पास आये तब हमे यह भी अपना सौभाग्य लगा कि उन परम हितैषी गुरुवर की स्मृति मे सैकडो श्रद्धाञ्जलियो के बीच एक सुमन समर्पित करने का अवसर हमे भी अनायास मिल गया। उनकी पुण्यस्मृति को शत शत प्रणाम।

❀

अबोध बालक एक पैसा का खिलौना टूटने पर रो उठता है पर घर मे आग लगने पर नही। इससे यही तो सिद्ध होता है कि बालक खिलौना को अपना मानता है और घर को बाप का।

—गणेश वर्णी

काव्य-कुसुमाञ्जलि

उनके अक्षर—उनकी बात

शिक्षा के प्रचार-प्रसार मे तथा शिक्षार्थियो की सुविधा-व्यवस्था मे पूज्य वर्णीजी की सदैव बडी दिलचस्पी रहती थी। समाज की अथवा व्यक्ति की उदारता का मूल्याकन शिक्षा-सस्थाओ के विकास के आधार पर ही वे किया करते थे। सवत् २०११ मे द्रोणगिरि (छतरपुर) के गजरथ महोत्सव के समाचार पाने पर उन्होने लिखा था—

श्रीयुत महाशय कवि नीरजजी योग्य कल्याणभाजन हो
पत्र द्वारा समाचार जाने - आप लोगों को धन्य
वाद है जो कार्य सफल हुआ - किन्तु पाठशाला
की स्थिरता नहीं हुई यदि १ लाख रुपया भी ऐसे
समारोह मे हो जाता तब कुछ कठिन न था
परन्तु इस ओर किसी का लक्ष्य नहीं स्वयं
भैया २०००० देते तब शेष रुपया अनायास
हो जाता अस्तु जो हुआ वही बहुत है
१०० छात्र का प्रबन्ध भी नहीं हुआ तब क्या
कहै - विशेष लिखने को जी नहीं चाहता
ऐसा सुअवसर बार बार न मिलेगा -

चैत्रवदि २ सं २०११ आ. शु. चि. गणेश वर्णी

ऊषरे वरसि सागरजीवने दावपावकमितेऽपि चन्दने
गुल्मवर्षसि करि वारिद कीर्तिरस्तु गुणविज्ञता गता
यही दशा हमारी है —

श्रीमद्वर्णिगणेशाष्टकम्

रचयिता स्व० श्री ठाकुरदास जैन, शास्त्री, बी. ए. टीकमगढ़ (म. प्र.)

[यह सुन्दर रचना आश्विन कृष्णा ४, १५ सितम्बर १९५४ को ईसरी (श्रीसम्मेदशिखर जी) में पूज्य वर्णी जी की ८२ वीं जयन्ती के शुभवसर पर रचयिता द्वारा स्वयं उपस्थित होकर पढ़ी गई थी। श्री ठाकुरदास जी महेन्द्र हाई स्कूल टीकमगढ़ (वि०प्र०) के रिटायर्ड हेडमास्टर एवं वीर दि० जैन विद्यालय श्री अतिशय क्षेत्र पपौरा जी के अधिष्ठाता थे। आप समाज के परखे हुए सेवक एवं विद्वान् थे। —सम्पादक]

अस्ति स्वस्ति समस्त-वर्णि-तिलकः श्रीक्षुल्लकेष्वग्रणीः,
श्रीमत्पार्श्वजिनाङ्घ्रिवार्ज-मधुपः कारुण्य-पुण्याशयः।
संख्यातीत-जिनेश-निर्वृति-मही-सम्मेदशैलं श्रितः,
जीयादिन्दु-समानकीर्तिरमलः श्रीमद्गणेशश्चिरम् ॥ १ ॥

जो कल्याणभाजन समस्त वर्णियों में तिलक और श्री क्षुल्लकों में शिरोमणि रूप से शोभायमान हो रहे हैं, जो बाह्याभ्यन्तर श्री सम्पन्न भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के चरणों के भक्त हैं, जिनका अन्तःकरण कारुण्य से पवित्र हो चुका है, जिन्होंने अगणित तीर्थंकरों की निर्वाणभूमि श्री सम्मेदशिखर जी का आश्रय लिया है और जिनकी कीर्त्ति चन्द्रमा के समान लोक को धवलित करती है, ऐसे निर्मलचित्त श्रीमान् गणेशप्रसाद जी वर्णी चिरकाल तक जीवित रहें।

स्याद्वादामृत-वार्धि-वर्द्धन-विधुर्वात्सल्य-रत्नाकरः
पुण्यश्लोक-महर्षि-वाङ्मय-सुधा-पानेन तृप्तिं गतः।
आत्मख्याति-रहस्य-वित्सु धवलां प्राप्तः प्रतिष्ठां पराम्,
जीयान्निर्मलकीर्त्तिरात्मनिरतः श्रीमद्गणेशश्चिरम् ॥ २ ॥

जो स्याद्वादरूपी अमृतसिन्धु की वृद्धि करने के लिए चन्द्रमा के समान हैं, जो वात्सल्यरूपी रत्नों के सागर हैं, जो पुण्यश्लोक महर्षियों के द्वारा प्रणीत शास्त्रों के मथन से प्राप्त हुए अमृत के सेवन से उत्तम तृप्ति को प्राप्त कर चुके हैं, जिन्हें आत्मख्याति के रहस्य के विद्वानों में उच्च और समुज्ज्वल प्रतिष्ठा प्राप्त हो चुकी है, आत्मा में ही रमण करने वाले और निर्मल कीर्ति सम्पन्न वे श्रीमान् गणेशप्रसाद जी वर्णी चिरकाल तक जीवित रहें।

हंसज्ञान-मरालिकासमशमाश्लेष-प्रभूताद्भुताऽऽ-
नन्दः क्रीडति मानसेऽस्तिविशदे यस्यानिशं सर्वथा।

प्रज्ञापारमितः समस्त-गुणिभिः सम्मानितो भक्तितः,
ज्ञान-ध्यान-तपः-प्रभाव-महितो जीयाद्गणेशश्चिरम् ।। ३ ।।

जिनके प्रतीव विशद मानस में हंस—ज्ञान और मरालिका—शान्ति के आलिङ्गन से उत्पन्न हुआ आनन्द सदैव सब ओर से क्रीड़ा करता रहता है। जो प्रज्ञा में पारङ्गत हो चुके हैं। समस्त गुणिजन जिनका भक्तिपूर्वक सम्मान करते हैं। जो अपने ज्ञान, ध्यान और तप के प्रभाव से पूजित हैं, ऐसे श्री गणेशवर्णी चिरकाल तक जीवित रहें।

निज-महिम-रतो यः सर्वसत्वानुकम्पी,
मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णः ।
दुरित-तिमिर-मूलोच्छेदकारी महात्मा,
स जयति बुध-सेव्यो वर्णिवर्य्यो गणेशः ।। ४ ।।

जो आत्म-महिमा में ही रमण करने वाले हैं। सभी प्राणियों के प्रति जिनकी अनुकम्पा रहती है जिनके मन, वचन और काय में पवित्र अमृत भरा हुआ है। जो पापान्धकार के मूलोच्छेदी महात्मा हैं। विद्वानों द्वारा पूज्य वे वर्णिवर्य्य श्री गणेश विजयी रहें।

विलसित हृदि सूरिः कुन्दकुन्दोऽपि यस्य,
अमृतशशिमहर्षेस्तत्त्वदर्शी च विज्ञः ।
शम-दम-मणिमाला यस्य कण्ठे विभाति,
चिरतरमतिजीयाच्-श्रीगणेशः स वर्णी ।। ५ ।।

जिनके हृदय में भगवान कुन्दकुन्द स्वामी की वाणी सदा विलास करती रहती है। जो महर्षि अमृतचन्द्र सूरि के तत्त्वदर्शी विशेषज्ञ हैं। जिनके कण्ठ में शम और दम रूप मणियों की माला सदा सुशोभित रहती है। वे श्रीमान् गणेशप्रसाद जी वर्णी दीर्घकाल तक जीवित रहें।

चिन्तामणिर्मणिगणेष्विव तत्त्ववित्सु, तत्त्वेषु जीव इव जिष्णुरिवामरेषु ।
वृक्षेषु कल्पविटपीव शशी ग्रहेषु, श्रीमानसौ विजयते सततं गणेशः ।। ६ ।।

तत्त्वज्ञानियों में जिनका वही स्थान है जो मणियों, तत्त्वों, देवों, वृक्षों और ग्रहों में क्रमशः चिन्तामणि, जीवतत्त्व, जिनेन्द्रदेव, कल्पवृक्ष और चन्द्रमा का है। वे श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी सदैव उत्कर्ष प्राप्त करते रहें।

विशालकीर्तिर्वरवृत्तमूर्तिर्लब्ध-प्रतिष्ठ-प्रतिभा-गरिष्ठः ।
महामतिर्दिव्यवचः प्रमोदी, जीयाच्चिरं वर्णिवरो गणेशः ।। ७ ।।

जिसका सुयश विस्तृत हो चुका है, निर्मल चरित्र जिनकी मूर्ति है, जो गौरव के कारण

स्थायी एवं सम्माननीय उच्च पद प्राप्त कर चुके हैं, जिनकी बुद्धि का वैभव अतीव गुरु है, जो महामति हैं और जो महर्षियों की दिव्यवाणी में आनन्द लेते रहते हैं। वे वर्णिकुलतिलक श्री गणेशप्रसाद जी चिरकाल तक जीवित रहें।

स्रवति निजमुखेन्दोर्यः सुधायाः प्रवाहं, अनुपम-शममूर्तिर्भावशुद्धयैकसर्गः ।
प्रकटित-जिनमार्गो ध्वस्त-मोहान्धकारः, चिरतरमुपकृत्यै सोऽस्तु वर्णी गणेशः ।।८।।

जो अपने श्रीमुखचन्द्र से अमृत-प्रवाह की वर्षा करते रहते हैं। जिनकी मुद्रा से अनुपम शान्ति की आभा निकलती है। जो मनः शुद्धि में सदा एकाग्रचित्त रहते हैं। जिन्होंने रागद्वेष-मोहादि कषाय और इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त कर लेने में आत्मा का कल्याण बताया है। जिनके द्वारा मोहान्धकार का विध्वंस होता जा रहा है वे श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी दीर्घकाल तक लोकोपकार करते रहें।

श्रीगणेशाष्टकं पुण्यं, तज्जयन्तीमहोत्सवे ।
द्वयाशीतितमे ह्येतत्, कृतं विज्ञ-मनोहरम् ।।

इस श्रीगणेशाष्टक की रचना मैंने उनकी ८२ वीं जयन्ती के महोत्सव पर स्वान्तःसुखाय की है। यह विद्वानों को रुचिकर हो।

✲

ते वन्द्यपादा वरवर्णिदेवाः

सागरीय पन्नालालो जैनः साहित्याचार्यः

चञ्चच्चन्द्रिकचन्द्रचारुचरिता आचान्तचिन्ताचया-
श्चेतश्चिन्तितचिन्त्यचक्रनिचयाः सच्चित्तचित्राचराः ।
उच्चाचारविचारचारचतुराः, सत्कीर्तिसाराञ्चिता-
स्ते जीवन्तु चिरं गणेशचरणाः श्रीकुन्दकुन्दार्चिताः ।। १ ।।

जयति विजितपापो ध्वस्तमोहारितापो,
विदितनिखिलभूतः शान्तिपीयूषपूतः ।
अपगतनिजतन्द्रः सौम्यताधारचन्द्रः,
प्रहृतबुधविषादः श्रीगणेशप्रसादः ।। २ ।।

तिमिरततिविलुप्तालोकजाले समन्तात्,
प्रवरमतिविनिन्द्ये वन्द्य ! बुन्देलखण्डे ।
विहितविविधयत्नो ध्वान्तविध्वंसने त्वं,
रविरिव गुरुनाथ ! द्योतसे द्योतमानः ।। ३ ।।

विरम विरम सिन्धो ! कौस्तुभोच्छेदशोका-
ज्जहिहि जहिहि चेतश्चञ्चलत्वं चिरेण ।
स हि विमलमयूखालोकविद्योतिताशः
पुनरपि ननु यात-स्तावकीनं समीपम् ।। ४ ।।

जयति जगति धन्या सा चिरोंजाभिधेया,
विविधविबुधवन्द्या धर्ममाता त्वदीया ।
निखिलनिगमविद्या भास्वरं या भवन्तं,
सकल जनहितायोद्वर्धयामास शान्तम् ।। ५ ।।

शार्दूलविक्रीडितम्

उद्यद्दिव्यदिनेशदीधितिचयप्राग्भारभाभासुराः
दृप्यत्कामकलापलायनपराः सच्छान्तिकान्त्याकराः ।
सन्तोषामृतपानदिग्धवपुषः कारुण्यधाराधराः,
श्रीमन्तो गुणिनो जयन्तु जयिनः श्रीवर्णिपादाश्चिरम् ।। ६ ।।

वसन्ततिलकम्

जीयादजेयमहिमा गरिमा गुणानां,
स्याद्वादसिन्धुरमितः शमितः समन्तात् ।
विद्याविलाससहितो महितो मरुद्भि-
र्वर्णीन्द्रवर्णितगुणः प्रगुणो गणेशः ।। ७ ।।

मार्गेऽनुभूय विपुलातुल-दुःखराशिं,
यानादृते विबुधवन्द्य ! समागतो यत् ।
तेन स्फुटा भवति भव्यकृपा त्वदीया,
भक्तेषु सागरनिवासिजनेषु नूनम् ।। ८ ।।

विद्यानवद्य ! भवतो महतो विधाना-
देवात्र जागृतितर्ति वयमाप्तवन्तः ।
दृष्ट्वा भवन्त - मिह मञ्जुलमूर्तिमग्रे,
मोदं महान्तमघनाशनमद्य यामः ॥ ९ ॥

हे पूज्य ! हे गुणगुरो ! तव पाणिपद्मा-
दादाय जन्म विमलं वरबोधवृक्षः ।
विद्वद्विहङ्गगणसेवित-रम्यशाखो-
विद्यालयोऽय-मभितो भवतो विभाति ॥ १० ॥

शार्दूलविक्रीडितम्

शास्त्राम्भोधिविगाहनोत्थितलसत्सद्बोधभानूद्भव-
द्दिव्यालोकविलोकितावनितलाः सत्कीर्तिकेलीकलाः ।
पापातापहरा महागुणधराः कारुण्यपूराकरा
जीयासु र्जगतीतले गुरुवराः श्रीमद्गणेशाश्चिरम् ॥ ११ ॥

न्यायाचार्य ! गुणाम्बुधे शुभविधे ! स्याद्वादवारां निधे !
कः शेषो रसनासहस्रसुयुतः श्रीमद्यशोवर्णने ।
दृष्ट्वा केवल-मत्र मञ्जुलविभं त्वत्पादपद्मद्वयं,
पूजामो वयमद्य भक्तिनिभृताभ्रश्यद्गिरो भावुकाः ॥ १२ ॥

इन्द्रवज्रा

पीयूषनिष्पन्दनिभा यदीया
वाणी बुधानां हृदयं धिनोति ।
दीर्घायुषः सन्तुतरां महान्त-
स्ते वन्द्यपादा वरवर्णिनाथाः ॥ १३ ॥

✻

जिन्हें संसार तत्त्व से पृथक् होने की अभिलाषा है, उन्हें हृदय की दुर्बलता को समूल नष्ट कर देना चाहिये ।

—गणेश वर्णी

श्री गणेशाष्टकम्

गोपीलाल अमर एम. ए.
भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

यदीया वाग्धारा सुमनुज-मनः शीतल-करा,
समा भावा यस्याऽहितकरजने वा हितकरे ।
सुवर्णे काचे वा मृतजनघटे वा सुभवने,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। १ ।।

जिने देवे शास्त्रे गुरुवर-गणे दर्शनमयः,
यदीयो ज्ञानार्को विहित-जगदालोक-किरणः ।
यदीयं चारित्रं निरतिचरितं मौढ्यरहितं,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। २ ।।

समस्त-न्यायाद्यागम-परिचितोऽखण्डमहिमा,
सुधासिक्तैः शब्दैरवनितल-विस्तारित-यशाः ।
सदा तेजोदीप्तो जिन-वृष-पताकाश्रयतरः,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ३ ।।

सदा सेवा-भावात् प्रथम-गुरुणा तुष्ट-मनसा,
परित्यक्तं धूम्र-ग्रहणमनिशं यस्य कथनात् ।
कुमारावस्थायां परम-जिनधर्मे कृत-मतिः,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ४ ।।

गते बाल्ये पाणिग्रहणमभवद् यस्य सुधियः,
पितुर्मृत्युक्लेशं कठिनमगमद् यस्तदनु च ।
सुखं प्रापन्मात्रा निगम-सिमरेत्यत्र हितया,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ५ ।।

महामेधाधारी विमल-हृदयः सज्जन-सखः,
विमोही वित्रासः स्वपर-हितकारी गुणनिधिः ।
तपश्चर्याद्वारा विजित-निजकर्मारिनिकरः,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ६ ।।

समाकृष्टा वित्ताधिप-मृगगणा येन मधुरैः,
सुवीणा-शब्दाभैर्हित-सदुपदेशैं र्भ्रमहरैः ।
समाभक्ता भ्रान्ता भव-भय-वने कष्टविपुले,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ७ ।।

तपोमूर्ति-वर्णी सुकृत-हृदयः पूज्य-चरणः,
शमार्ऽहिंसादीनामनितर-समाराधन-परः ।
महान्न्यायाचार्यो गुण-गण-समृद्धो गुरु-गुरुः,
गणेशो वर्णी मे शत-शत-गुणेशो विजयताम् ।। ८ ।।

अमर-कविना स्तोत्रं, श्रीगणेशाष्टकं कृतम् ।
कल्याणं सदा लभते, यः पठति श्रृणोति च ।।

※

वर्णि-सूर्यः

पं० अमृतलाल शास्त्री, साहित्याचार्य, जैनदर्शनाचार्य
वाराणसेय संस्कृत विश्व-विद्यालय, वाराणसी

व्याप्तः सर्वत्र भूमौ, शशधरधवलः, शम्भुहासापहासी
कीर्तिस्तोमो यदीय, जनयति नितरां, क्षीरपाथोधिशङ्काम् ।
यस्मिन्सम्मग्नकाया अमरपतिगजो दिग्गजाश्चन्द्रतारा
जाताः सर्वाङ्गशुभ्राः, स जयति सततं श्री गणेशप्रसादः ।।१।।

× × ×

अशिक्षाराक्षसीश्लिष्टां, हृष्टां रूढिपिशाचिनीम् ।
द्रुतं यो द्रावयामास, वर्णिसूर्यः स वन्द्यते ।। १ ।।

अज्ञान - निबिडध्वान्ते, रूढिगर्तेऽतिभीषणे ।
उन्मार्गे पततां दिष्ट्या, वर्णि-सूर्योदयोऽभवत् ।। २ ।।

दृष्टमार्गास्ततो भक्त्या, बभूवुस्ते तदुन्मुखाः ।
चिन्ताभारं परित्यज्य, प्रापुर्मोदमनन्तकम् ।। ३ ।।

सद्बोध-किरणावल्या, विद्वन्नभसि भासुरः ।
पराधृष्योऽ-भवत्तूर्या, तेजसाति-महीयसा ।। ४ ।।

प्राच्यादिदिग्विभागेषु, स्थिता लोकाः सदाशयाः ।
तस्यानुकूलतां प्राप्ताः, स्वत एवातिभक्तितः ॥ ५ ॥

विशोष्याशासरिन्नीरं, धृत्वा सन्तोषसज्जलम् ।
पार्श्वनाथा-चलंचैत्य, मग्नः संन्यासवारिधौ ॥ ६ ॥

तस्मिन्नदृश्यतां याते, चक्रवाका इवार्दिताः ।
श्रावकाः श्राविका विज्ञाश्छात्राश्चान्येऽपि मानवाः ॥ ७ ॥

तेजसानलकल्पेषु विबुधेषु विलोक्यते ।
इदानीमपि यत्ते- जस्तत्तदीयं न संशयः ॥ ८ ॥

तदभावेऽपि तत्तेजः, समाश्रित्य तमश्छिदः ।
ज्ञानदीपाः प्रकाशन्ते, समाजे बहुसंख्यकाः ॥ ९ ॥

तेषु प्रकाशमानेषु तभ्यामपि न तत्तमः ।
रवीयं स्थानं पुनः प्राप्तुं शक्नुयात्तत्र कुत्रचित् ॥ १० ॥

गत्यन्तरं गतोऽप्यद्य हृदिस्थो नो विराजते ।
तस्मै श्रद्धाञ्जलिर्भक्त्या, श्रद्धेयाय समर्प्यते ॥ ११ ॥

—अमृतलालो जैनः

❀

वर्णिनेऽस्तु नमो नमः ।

ले० अमृतलाल जैनदर्शनाचार्य, साहित्याचार्य वाराणसी

(१)

दिवं यातोऽपि योऽस्माकं, पुरो भाति स्फुरन्निव ।
गुरूणां गुरवे तस्मै, वर्णिनेऽस्तु नमो नमः ॥

(२)

बहिरन्तः समानाय, सारासार - विवेकिने ।
नमोऽस्तु वर्णि-वर्याय, श्री गणेशाय भक्तितः ॥

(३)

छात्राणां कल्पवृक्षाय, बुधानां कामधेनवे ।
संस्थानां च सदा चिन्ता-मणये वर्णिने नमः ॥

❀

वर्णि गाथा

रचयिता—कमलकुमार जैन, कलकत्ता

समस्यापूर्तिमालक्ष्य लक्ष्यते लक्ष्यभेदतः ।
निर्व्याजया मनोवृत्त्या भक्तिभावसमेतया ।
श्री गणेशप्रसादस्य वर्णिनः क्षुल्लकस्य वै ।
त्यागमूर्तेर्विशेषेण गुणौघो गुणलब्धये ।।

(१)

यदीयभाषाः परमाः प्रसन्नाः, विवादशून्या अपवादमौन्याः ।
धन्या वदान्या वरपुण्यपण्याः जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(२)

यद्ब्रह्मचर्यं ह्यकलङ्कभावं व्यनक्ति साक्षादमृतत्वमात्रम् ।
आध्यात्मिकं मानसिकञ्च तेजः, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(३)

सर्वेषु सत्वेषु यदीयमैत्र्यं, प्रमोदभावेन सहैव वर्तते ।
विद्वत्सु विश्वेष्वितरेषु माध्यं, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(४)

विभावभावाः परिहेय-कक्षां, गता रता आत्मिक-भाव-सिन्धौ ।
स्वभावभावा विमला यदीया जीयाच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(५)

यदीयवाचां रचना ह्यवाच्या, माधुर्यगाम्भीर्यविवेच्यरम्या ।
साम्यार्थवैशेष्यविबोधगम्या, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(६)

एकोऽपि भावो न विरोधभावं भावेषु भिन्नेषु कदापि धत्ते ।
अतो ह्यसीह त्वमजातशत्रुः, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(७)

बाह्येषु भावेषु जलजवद्यो, निर्लेपभावं हि जले विधत्ते ।
यस्मै तु मोक्षो भवते भवात्स्यात्, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(८)

भूतेषु कल्याणकृते यदीयं योगत्रयं कर्मकरं परं वै ।
निरन्तरं साधुसमाधितन्त्रं जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(९)

यथाहि वातेन गतागतेन, समस्तलोकः स्थिरतां समेति ।
यदीयपुण्येन तथैव विद्वान्, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१०)

यन्मूर्तिमालोक्य जना अशान्ताः, प्रयान्ति शान्तिं परमामभेयाम् ।
इत्थं त्वमेवासि सुशान्तमूर्तिः, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(११)

यथा विहायो निजमध्यभागे, स्वतः स्वरूपाद्विविधानि पञ्च ।
द्रव्याणि धृत्वाप्यविकारवत्तत् जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१२)

त्वञ्चापि तद्वद्विमलोऽसि शश्वत् धृत्वापि कर्माणि जडान्यनादेः ।
द्रव्यस्वभावो वर एष एव जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१३)

अध्यात्मविद्या—परिशीलनेन स्वात्मा ह्यनात्मत्वमनादिकालं ।
विहाय बोधत्वमधात्त्वदीयो जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१४)

स्वात्मोपलब्ध्यैव यदीय आत्मा परात्मलब्ध्यै यतते हि शश्वत् ।
स्वभाव एवैष मतः सुदृष्टेर्जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१५)

यदीयसंघे बहवो हि सन्तः सदात्मसिद्ध्यै प्रयता विभान्तः ।
स्वान्तः प्रवृत्यैव निरुद्धबाह्याः जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१६)

अध्यात्मचर्याभिरवाप्तबोधाः समाप्तरोषाश्च निरस्ततोषाः ।
प्रक्षिप्तमोहा नितरां विमोहा जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१७)

स्याद्वादविद्याविदितस्वरूपः समस्त—सत्वाहित-हारिवाक्यः ।
भैयेति सम्बोधन—तत्परो यो जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(१८)

आद्यादिभेदेन विभिद्यमाना ज्ञाता हि-चत्वार इमेऽनुयोगाः ।
येनात्मबुद्ध्या विमला अपारा जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।

(१९)

न्यायादिविद्या-विदितात्मतत्त्वः, समस्ततत्त्वप्रतिबोधनात्मा ।
शुद्धैकरूपोऽप्यविनाशिरूपः जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

(२०)

प्रत्येकवस्तुप्रतिबोधनाय, स्याद्वादमार्गो निरवद्यमार्गः ।
निरूप्यते येन विशेषतोऽत्र, जीव्याच्चिरं वर्णिगणेश एषः ।।

समर्पणम्

पूर्वं विहितान् विविधान्,
ध्यायन् ध्यायन् तवोपकारानिह ।
नतमस्तकोऽहमधुना,
समर्पये वर्णिविंशतिकाम् ।। १ ।।

साहित्यधर्म-शास्त्री,
व्याकरणन्यायकाव्यतीर्थश्च,
विद्याधनोपजीवी,
नित्यं धर्मोपजीवी च ।। २ ।।

नाम्ना कमलकुमारः,
श्रीमच्चरणार-विन्दवन्दारुः ।
चारुश्चरित्र-चित्रान्,
श्रावं श्रावं गुणग्रामान् ।। ३ ।।
कलिकातायां वासोः,

वासो भाषा त्वदीयगुणकस्य
राशा निर्मल-वृत्तेः,
साक्षान्मोक्षस्य मार्गो मे ।। ४ ।।

समर्पयिता
कमलकुमारो जैन, गोइल्ल,
व्याकरण न्याय, काव्यतीर्थ,
साहित्य धर्म शास्त्री,
नं. ४ थियेटर रोड, कलकत्ता ।

जो आत्मा पर से ही अपना कल्याण और अकल्याण मानता है वह पराधीनता को स्वयं अंगीकार करता है ।

—गणेश वर्णी

गणेशस्तुतिः

श्री मूलचन्द्र शास्त्री श्री महावीर जी

(१)

तारुण्ये जयिना स्मरं विजयिना जित्वाथ भोगार्हके,
दध्रे येन महौजसाऽतितरसा शीलोऽपवर्गप्रदः ।
अम्बादासगुरो निपीय नितरां तर्काख्यविद्यां सुधां,
जातो यो विदुषामुपास्य इह वै स्वाचार कृत्येपटुः ।।

(२)

गङ्गोत्तुङ्गतरङ्ग-सङ्गि-सलिल-प्रान्तस्थितो विश्रुतः,
श्रीस्याद्वाद-पदाङ्कितो भुवि जने मान्योऽस्ति विद्यालयः ।
सोऽनेनैव महोदयेन महता यात्नेन संस्थापितः,
ब्रूतेऽसौ सततं विनास्य वचनं कीर्ति परां साम्प्रतम् ।।

(३)

धन्या सा जननी पितापि सुकृती गेहं च तत्पावनं,
धन्या सा घटिका रसापि महती मान्यो हसेरोऽपि सः ।
धर्म्मापि बभूव मान्यमहिता बाई चिरोंजाभिधा,
धन्यः सोऽपि गुरु र्यदस्य हृदये विद्यानिधिं न्यक्षिपत् ।।

(४)

ध्यानेनामृतवर्षिणा श्रवणयोराकर्षिणा मानवान्,
यत्र क्वापि विवाद-वैर-कलहाः शान्ति चिरस्थां गताः ।
विश्वस्ता जनता कृता च सुखिता प्रोत्साह युक्तामुना,
पुष्पामोद इव प्रयान्ति पुरतः, स्वाभाविकाः सद्गुणाः ।।

(५)

यथा सुवर्णं पुटपाकयोगाद्विनिर्मलं सल्लभते प्रतिष्ठाम् ।
तथैव विद्याप्तिकृते प्रसह्य कष्टान्यनेकानि विचक्षणेषु ।।

(६)

अवाप्यनेनापि विचक्षणेन निरन्तरोत्साहवता सतातः ।
सम्यक् प्रतिष्ठा विदुषां बभूव, सहायकोऽसौ गुणिनायकश्च ।।

(७)

व्यथां स्वकीयां च तृणाय मत्वा परस्य पीडाहरणे विदग्धः ।
जनो जनैः स्याद् यदि पूज्य एव, किमत्र चित्रं न सतामरोहि ।।

(८)

सद्भिः समाराधित एष पन्थाः, सुसेवितोऽनेन महोदयेन ।
अतो नरत्वेऽपि स्वसात्प्रवृत्या देवायितं सत्त्वहितैषिणा वै ।।

(९)

सम्यग्दर्शन-शुद्धबोधचरणं संधारयन्नादरात्,
स्वस्थानोचितसद्गुणैश्च विविधैराकर्षयन् मानवान् ।
वैराग्योद्भवकारकैर्हितवहैर्नित्यं वचोभिः श्रितः
स श्रीमान् गुरुवर्य आर्यमहितो नोऽव्याद् गणेशो मुनिः ।।

(१०)

चिरोंजाधर्मपुत्रोऽयं भूयात्स्वभवनाशकः ।
दाता बोधस्य त्राता च दुःखिनां पततां नृणाम् ।।

❀

आत्मा अनादिकाल से पर के साथ सम्बन्ध कर रहा है और उनके उदयकाल में नाना विकार भावों का कर्त्ता बनता है। यही कारण है कि अपने ऊपर इसका अधिकार नहीं।

—गणेश वर्णी

वर्णि वन्दना

रचयिता—श्री मूलचन्द्र शास्त्री श्री महावीर जी,

(१)

विद्वद्वरेण्य ! वदतांवर ! विश्वबन्धो !
सिन्धो ! गुणस्य गुणिनाथ ! विनाथभर्तः ! ।
असाटिजातिवरनन्दन ! वन्दनीय !
चूडामणे ! व्रतिजनस्य बुधावतंस ! ।।

(२)

हे भद्रताभार विनम्रगात्र !
अध्यात्मसाराश्रित-चित्तवृत्ते ! ।
विद्यार्थिनां प्राण ! परार्थकर्तः !
शरण्य ! साधो ! वरबोधदातः ।।

(३)

ज्ञानार्जने लब्धविशिष्टकृच्छ्र !
विशालदृष्टे ! गुणिवृन्दवन्द्य ! ।
बुन्देलभूमेस्तरणे ! मनस्विन् !
नित्यं जगज्जीव हिताभिलाषिन् ! ।।

(४)

कषायवृत्त्या परिवर्जितात्मन् !
सरस्वतीमन्दिर रत्नदीप ! ।
श्री जैन-धर्माभि-वशात्प्रबुद्ध !
सत्कृत्य सर्वैः समुपास्यमान ! ।।

(५)

प्रातः सदा संस्मरणीयपाद !
कीर्त्या महत्या भुवि वर्धमान ! ।
सद्दर्शनज्ञानपवित्रवृत्त !
प्रशस्य सद्भाववश प्रपूज्य ! ।।

(६)

अजातशत्रो ! परदारबन्धो !
परार्थसंसाधनबद्धकक्ष ! ।
सूक्तं च बालादपि संजिघृक्षो !
ऋज्व्या प्रकृत्या परिशोभमान ! ॥

(७)

सद्धर्मसंदेशक ! हे प्रबुद्ध
गणेश ! पूज्योऽसि गुणैरमीभिः ।
विराजसे त्वं जनतालवाले
तुभ्य नमो भव्य ! दिवंगताय ॥

(८)

सद्गुणिने ऽन्ते च दिगम्बराय
विद्वरेण्याय महोदयाय ।
नमो गणेशाय गुणैर्युताय
सदैक-रूपाय मनोऽङ्गवाण्याम् ॥

(९)

काश्यां यदाहं गुरुवर्यपार्श्वे
पपाठ तत्रैव तवाङ्घ्रिसेवाम् ।
चकार पश्चान्नहि योग ईदृग्
लब्धो मया हन्त कथञ्चनापि ॥

(१०)

नमोऽस्तु तुभ्यं सततं त्रियोग—
शुद्ध्या त्रिकालं मम भक्तकस्य ।
मन्येऽमराणां द्युसदां सभायां
संबोधनायेव दिवंगतोऽसि ॥

(११)

हे सद्गुरो ! विश्वजनीनवृत्ते ! गुणानशेषानसमर्थ एव ।
वक्तुं त्वदीयान् मम कामनेयं, पुनस्त्वमेह्यत्र जिनोपवृत्यै ॥

❀

शब्द-प्रसून

डा० नरेन्द्र 'विद्यार्थी', छतरपुर (म. प्र.)

(१)

यः शास्त्रार्णवपारगो विमलधीर्यं संश्रिता सौम्यता ।
येनालम्भि यशः शशाङ्कधवलं, यस्मै व्रतं रोचते ।।
यस्मात् दूरतरं गता प्रमदता, यस्य प्रभावो महान् ।
यस्मिन् सन्ति दयादयः स जयति, श्रीमान् गणेशः सुधीः ।।

(२)

निकन्दो विद्यानां, सकलनिलयो धर्मतपसाम्,
निधिः कल्याणानां, गुणगणचयः पूज्यचरणः ।
यतिस्थानं वाचां, कविवरगणानां श्रमहरः,
गुरु-वर्णी पूज्यो, भवतु भवतां नित्यसुखदः ।।

❁

परिणामों में शांति उत्पादक जो कार्य हों वह श्लाध्य हैं । जिस कार्य के करने में शांति न हो, वह श्लाध्य कोटि में नहीं आता । जिस कार्य के अनन्तर शांति आ जावे, अभिमान-कर्तृत्व का लेश न हो, वही महनीय कार्य है । पञ्चेन्द्रिय विषय सेवन से उत्तरकाल में तृष्णारोग की शांति नहीं होती । अतः उन विषयों के सेवन को कोई भी श्लाध्य मानने को प्रस्तुत नहीं होता । प्रायः विषयसेवन को प्रत्येक व्यक्ति दुःख का कारण मानता है । यद्यपि विषय दुःख के जनक नहीं; क्योंकि वे तो पद्गलद्रव्य के गुण हैं । अतः न दुःख उत्पादक हैं और न सुख के जनक ही हैं । रागादि परिणाम ही दुःख के जनक हैं । क्योंकि जिस समय रागादि परिणाम होते हैं उस समय आत्मा में स्वास्थ्य नहीं रहता । जब तक रागादि की निवृत्ति न हो आत्मा पराधीन रहता है । जिस समय उसके रागादि परिणाम ध्वस्त हो जाता है उसी समय आत्मा में व्यग्रता मिट जाती है । व्यग्रता के अभाव में आत्मा स्वयमेव सुख, शांति का अनुभव करने लगता है ।

वर्णी वाणी, १/६६

पार्श्वनाथ टोंक की अन्तिम वन्दना। साथ में हैं श्री गणेश विद्यालय सागर के मन्त्री श्री नाथूराम गोदरे और दूसरी ओर श्री नीरज जैन ।

एक चादर में बंधा है विश्व का विश्वास
— स्व० हरिप्रसाद हरि—

आहार के बाद : उपदेश
श्रोता है श्रावक शिरोमणि साहू शान्तिप्रसाद और रमारानी जैन

(पूज्य बाबाजी का साक्षात् चित्र प्रस्तुत करने वाली एक सुन्दर रचना)

एक चादर में बँधा है विश्व का विश्वास

—स्व० हरिप्रसाद 'हरि'

पीत पट में ही बँधे से,
हड्डियों में प्राण;
और वाणी में बिंधे से
वेदना के बाण।
विनत पलकें-कल्पनाओं—
के समेटे बिन्दु,

वक्ष! या प्रत्यक्ष ही,
सिमटा हुवा सा-सिन्धु।
हास्य रोदन बस रहा—
है आज कितने पास,
एक चादर में बँधा है,
विश्व का विश्वास।

पूज्य वर्णीजी के प्रति

—स्व० धन्यकुमार जैन 'सुधेश', नागौद, म. प्र.

तुम जगजीवन के गेय रहो
जग रहे तुम्हारा गीतकार ।

अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है, अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

हे तीर्थंकर के आत्म-त्याग, हे 'गणधर' के शुचि आत्मगान ।
हे 'बाहुबली' के आत्मतेज, हे 'भारतभू' के आत्मध्यान ।।
हे 'श्रेणिक' के नव आत्मबोध, हे कुन्दकुन्द के आत्मधर्म ।
हे 'महाधवल' के आत्मज्ञान, हे 'समयसार' के आत्ममर्म ।।
तुम सी विभूति को पाकर ही, है आत्मवाद को अहंकार ।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।।
अध्यात्म विशारद ! तुमको है, अध्यात्म जगत का नमस्कार !

हे 'वीतराग' के धर्मचक्र ! हे मुनि 'समन्त' के धर्मध्यान ।
'चामुण्डराय' के धर्मभाव; हे 'नेमिचन्द्र' के धर्मज्ञान ।।
हे 'वारिषेण' के धर्मयोग, हे 'विष्णुसाधु' के धर्मप्रेम ।
हे 'चन्द्रगुप्त' के धर्मलाभ; हे 'खारवेल' के धर्मक्षेम ।
दी बहा तुम्हीं ने यहां पुनः, इस पुण्य धरा पर धर्मधार ।।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवादके चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है; अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

तुम वीतरागताके प्रतीक; हैं तुम्हें एक से शूल फूल ।
कवि कहे कहां तक ? तुम सोने-मिट्टी का अन्तर चुके भूल ।।
तुम लीन आत्म-हित चिन्तन में, काया का तुमको नहीं ध्यान ।
तन्मयता में तुम बने स्वयं, अब अपने ध्याता, ध्येय, ध्यान ।।
हे निर्विकार मन निर्विकार, वच और कर्म भी निर्विकार ।

अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

शिक्षाप्रचार के हेतु भ्रमण ही, रहा तुम्हारा चिर विलास ।
क्षण भर भी आश्रय पा न सका, अज्ञान तुम्हारे आसपास ।।
अतएव तुम्हारी ऋणी जैन, जन-मन-गण की प्रत्येक श्वास ।
निजरूप निरख तव वाणी में, जिनवाणी का मुख भी सहास ।।
माता की गरिमा को विलोक, झंकृत कवियों के हृदय तार ।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवाद के चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

श्रद्धासे गद्‌गद कण्ठ हुवा, तुमसे लघु कवि क्या कहे सन्त ।
बस यही चाहता तुम्हें कुशल, देखे हर आगामी वसन्त ।।
युगपति ! गणेश ! युग के मस्तक, पर रहे तुम्हारा वरद-हस्त ।
युगचक्र तुम्हारे इंगित पर, चलने में ही हो चिरभ्यस्त ।।
तुम सदा जगतके गेय रहो, जग रहे तुम्हारा गीतकार ।
अध्यात्मविज्ञ ! अध्यात्मवीर ! अध्यात्मवादके चमत्कार ।
अध्यात्मविशारद ! तुमको है अध्यात्मजगत का नमस्कार ।।

वर्णी जी महाराज के कर कमलों में

सादर समर्पित

हे आत्मतत्त्व के तेजपुंज, मानवता के हे परम देश ।
श्रमदम शम सुमनों के निकुंज, गुरु वर्ण पूज्य वर्णी गणेश । १ ।

पाकर चरणों का शुभाशीष, जगने पाया नूतन विकास ।
तुम चले बांछने को जगमें स्याद्वाद धर्म का सत्प्रकाश । २ ।

हीरा उजयारी की कुटिया, के दीपक बनकर के आये ।
आलोकित करके दिग्दिगन्त, सूरज से बन करके छाये । ३ ।

तुमने अलमाए प्राणों में, चेतना मंत्र सा फूंक दिया।
तमसावृत जीवन मंदिर को, तुमने पावन आलोक दिया। ४।

हे तपः पूत ! हे शान्तिमूर्ति ! कारुण्य - सिन्धु के हे उभार।
कल्याणमार्ग के अथक पथिक, तुम आत्मगुणों के हो अगार। ५।

तुम शिशु सा सरल हृदय लेकर, मां सा स्नेह वितरते हो।
परहित कातर हे पुण्यमूर्ति, सबका हितचिन्तन करते हो। ६।

ले संस्थाओं की दीपशिखा, तुमने जगको जगमगा दिया।
जो कभी नहीं मिट सकता वह, ऐसा पावन आलोक दिया। ७।

फूलों का हृदय लिए तुम हे, शूलों के पथ पर चलते हो।
होकर के ही निः संग सदा, गुणनिधि से जीवन भरते हो। ८।

समझे हम तुम मानव विराट, हो आत्मतेज के पुंज अहो।
ओ साधक ज्ञापक बनकर तुम, चितमें आनन्द समीहक हो। ९।

कल्याणमार्ग के परिचायक, शाश्वत निधियों के हे अगार।
भौतिक जग के प्रति उदासीन, जीवन समरसता के उभार। १०।

ओ पूज्य तपोनिधि चरणों में, श्रद्धा से शीश झुकाते है।
तब सौम्यमूर्ति की आभा में, हम अपने पन को पाते हैं। ११।

—अध्यापक एवं छात्र समुदाय
जनता हायर सेकेन्डरी स्कूल
बड़ा मलहरा (छतरपुर) म. प्र.

❀

स्नेह ही बन्धन का जनक है। यदि संसार में नहीं फँसना है तो परका सम्पर्क त्यागना ही भद्र है।

—गणेश वर्णी

तुम्हारा ही वह पौरुष धन्य ?

—श्री हुकमचन्द्र बुखारिया, ललितपुर (उ. प्र.)

सम्प्रति युग के हे एक श्रेष्ठतम
पुरुष वृद्ध !
मुट्ठी भर दुर्बल हाड़ों के हे स्तूप !!
जियो तुम अविचल जब तक
दूर क्षितिज पर तप्त दिवाकर,
शीतल शशि, नक्षत्र अनेकानेक—
प्रकाशित हैं जगमग-जगमग !
माना—
अब तक इतिहास
वहन करता आया है भार—
अनेकों का—
लघु या कि महान,—
—भले सुख्यात या कि बदनाम,
स्वार्थमय या कि परम निष्काम,
विकृत अति या कि पूर्ण अभिराम !
गहन गम्भीर वही इतिहास
किन्तु अब शनैः शनैः भयभीत
हुआ जाता यह सोच-विचार—
कि निकटागत में तुम जब प्राप्त
उसे होओगे ही अनिवार्य,
संभालेगा तब कैसे भार
तुम्हारा वह ? हे गहन महान् !
अनेकों शिशु भोले सुकुमार,
अशिक्षित बने भूमिके भार,—
डोलते थे जीवनके अर्थ,
किन्तु असफल होते थे व्यर्थ !
तुम्हारा मानव करुणा—स्रोत—
सुकोमल—ममता ओत-प्रोत—
न सह पाया यह त्रास महान,
महामनु—वंशज का अपमान—
हो उठा आहत-सा कटि-बद्ध,
प्रतिज्ञा-बद्ध, बज्र-संकल्प,
विश्व-कल्याण-भावना साथ !
तुम्हारा ही वह पौरुष धन्य !
तुम्हारा ही वह साहस धन्य !!

× ×

कि स्थापित करा दिए सर्वत्र
बड़े-छोटे अनेक वे स्थान—
जहां विद्या करती है हास,—
संस्कृति करती समुद विलास;
जहां की पावन रज में लोट
दुधमुंहे शिशु भोले नादान
शनैः बनते सविवेक जवान;
और यौवन—मय नारी—प्राण—
तरुण पाकर विद्या का दान
सहज ही बन जाते विद्वान्,
सीख जाते संस्कृति का ज्ञान—
कि कैसे लायी जा सकती
कठिन सूनी घड़ियों में भी,
मनोहर मन्द मन्द मुस्कान !
किया जा सकता है कैसे
सुखी जीवनका शुभ आह्वान !!
और लाया जा सकता है
अर्द्धनिशि में भी स्वर्ण-विहान !!!

संत की चादर

—नीरज जैन, सतना

पूज्य बाबाजी के करुणा-प्लावित हृदय की मनोरम झांकी प्रस्तुत करने वाली एक प्रासंगिक रचना।)

१९४६ में आजादहिन्द सेना के बंदियों पर लाल किले में ऐतिहासिक मुकदमा चल रहा था। उसमें द्रव्य की सहायता के लिए जबलपुर में एक विशाल आमसभा हो रही है। एक सज्जन प्रारम्भिक वक्तव्य दे रहे हैं—

—"सेनानी बोस ने लेकर आजाद हिन्द—
सेना; ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध छेड़ा था,
दिल्ली का लाल किला लक्ष्य था, उन्होंने अभी—
बर्मा, मलाया और सिंगापूर जीते थे।
किन्तु दुर्भाग्य का उदय था सब स्वप्न रहा;
कौन टाल सकता है होनी अनहोनी को ?
—पशुता के बल पर ही विजयी ब्रिटेन हुआ,
टूट गया उस दिन सितारा भाग्य भारत का।
अवसर पाते ही बोस अदृश्य हुए—
किन्तु वह प्रतिज्ञा अभी भी उन्हें चुभती थी—
'दिल्ली का लाल किला अब भी परतन्त्र है'।
—और वे सैनिक जो राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर—
प्राणार्पण करने चले थे; आज बंदी हैं,
—उस ही किले में—यह कैसी भाग्य-लीला है ?

× × ×

चाहते हैं शासक—मिटादें नाम उनका औ'
फिर भी निर्दोष रहें—आज, इसी बूते पर
न्याय का नाटक भी हाय किया जाता है।
किन्तु देश देगा सहयोग यदि पूरा तो
शीघ्र यह नाटक सुखान्त आप देखेंगे।
जयहिन्द ! मेरा निवेदन समाप्त हुआ—
बैठने के पहिले कहूंगा बस इतना ही—
"आप शान्त बैठें हमारे आयोजन में
पूज्यपाद वर्णीजी चार शब्द बोलेंगे।"
"वर्णीजी चार शब्द बोलेंगे" सुनते ही
समीपस्थ श्रोता ने समोद कहा, धीरे से—
" 'गणेश' से होगा श्री गणेश जिस उत्सव का—
उसकी सफलता में संदेह—अनावश्यक है"।

× × ×

और तब मंच पर दिखाई दिया उस ही क्षण—
आत्म-बल-संयत, था एक संत बूढ़ा सा।
यद्यपि वह संत था 'निस्पृह' औ' 'निर्विकार',
भौतिक—बन्धनों से मुक्त; किन्तु उस त्यागी के—
पावन पुनीत चरणों पर न्योछावर थी—
इन्द्र की भी संपदा औ' वैभव कुबेर का
—किसी भांति वीरों के प्राणों की रक्षा हो—

यह थी पुकार समुपस्थित श्रोताओं की,
शान्ति एवं रक्षा का सुन्दर संदेश लिए—
वर था महात्मा का सम्मिलित उसी में—
'भारत के वीर निर्दोष बच जावेंगे।'
वृद्ध दृढ़ स्वर में बोला—'बन्धु निश्चित ही
न्याय के लिए भी इन्हें द्रव्य आवश्यक है।
यथाशक्ति द्रव्य सहयोग आप देंगे ही—
मेरी यह चादर प्रदत्त इन्हें सादर है'।

× × ×

सुनते ही जन-सागर श्रद्धा से उमड़ा सा
भरने लगा मुक्त हृदय झोलियां स्वदेश की;
और तब सहस्रों स्वर मिल कर पुकार उठे—
"गुरुवर गणेश पूज्य वर्णी की जय हो"
"पूज्य वर्णी की जय हो"।

× × ×

सहसा एक श्रोता सशंक, और धीरे से—
बोला—"यह साधु है विचित्र किसी ने भी क्या
पाकर वरदान कभी मामले भी जीते हैं ?
और यह खद्दर की चद्दर जो दी है यहाँ
क्या उन बंदियों के ओढ़ने के काम आवेगी ?"
सविनय सुनते ही स्वयंसेवक एक बोल उठा—
सच है बन्धु ! साधु सचमुच विचित्र है;
सत्य औ' अहिंसा का जो है आराधक, भला
वह भी किसी कारण कभी क्या झूठ बोलेगा ?

और यह चादर, है चादर उस योद्धा की,
जिसने मद, लोभ, मोह, काम, क्रोध, जीते हैं।
जानते नहीं हो एक संयमी की चादर पै'
एक साथ संपदा त्रिलोक की निछावर है।
बंदी क्या ? उसे तो ओढ़ सकता है सारा जग
पाप से बचाने की उसमें सामर्थ्य है।'
सुनकर यह श्रोता ने लज्जित हो-हाथ जोड़—
श्रद्धायुक्त मस्तक झुकाया साधु चरणों में।
तब तक तो भक्तों में होड़ लग चुकी थी, वे—
तत्पर थे अपना सर्वस्व भेट देने को;
चाहते थे बदले में लेकर उस चादर को—
पुनीत-पाद-पद्मों में चढ़ाना गुरुदेव के।

× × ×

सुर भी लगाते यदि होड़ उस चादर के—
पाने को, तो भी यह विधि का विधान है।
अपना सर्वस्व भी लुटाकर उसे पाने में—
रहते असमर्थ, क्योंकि मानव नहीं, देव थे—
और यह अवसर मिला था हम मानवों को।

× × ×

शीघ्र ही सहर्ष संवाद सुना सबने यह
'सैनिक स्वतन्त्र हुए जयहिन्द सेना के'
निबलों की पुकार भावनाएं आत्म त्यागी की—
सिद्ध हो गया कि, साकार सत्य होती हैं।

जाओ सुपन्थ के पथिक

—नीरज जैन, सतना

(फरवरी १९५३ में पूज्य बाबाजी के ईसरी गमन करते समय सतना में पठित)

(१)

जब मानव मूर्छित हुवा, चल गया,
जटिल अविद्या का टोना।
तुम ज्ञान - सूर्य बन उगे,
प्रकाशित हुवा देश का हर कोना॥

कोई तो नगर नहीं छोड़ा,
जिसमें न एक विद्यालय हो।
कर रहे सहस्रों ज्ञान - लाभ,
कहते "श्री वर्णी की जय हो।"

(२)

जब अहंकार वश मानव ने,
मानव को दर से दुतकारा।
समता के शान्त प्रचारक का,
तब तुमने जीवन - व्रत धारा॥

पथ में कितनी बाधा आईं,
भ्रम में हमने क्या नहीं कहा?
दृढ़ संकल्पी! तुम मौन बढ़े,
क्या नहीं सुना, क्या नहीं सहा?

(३)

हम मोह लोभ में लीन हुवे,
तुम लखकर करुणा से कांपे।
पथ बतलाने हित ग्राम-ग्राम,
तुमने इन चरणों से नापे।।

नप गई डगर, नप गए नगर,
नप गया देश का छोर-छोर।
पड़ गए जहां ये पुण्य-चरण,
हो उठी धरा भी सुख-विभोर।।

(४)

समता की धारा बह निकली,
उठ गए जिधर ये सबल-चरण।
मानव मानव का भेद मिटा,
अशरण को भी मिल गई शरण।।

अब पारस प्रभु के चरणों में,
तुम करने काल व्यतीत चले।
ममता की धारा मोड़ चले,
औ' मोह—मल्ल को जीत चले।।

(५)

भव - भय - हर्ता मंगल - कर्त्ता,
पारस जिनेश की जय बोलो।
औ' पतितोद्धारक, परम शान्त,
'वर्णी गणेश' की जय बोलो।।

आओ सुपन्थ के पथिक,
सुगमता-सहित लक्ष्य हो प्राप्त तुम्हें।
हो शूल, धूल या शीत, घाम की,
बाधा तनिक न व्याप्त तुम्हें।

(६)

तुम सुख - पूर्वक दर्शन पाओ,
पारस - प्रभु शरण - सहाई का।
हर समय तुम्हारे साथ रहे,
वरदान 'चिरोंजा बाई' का ।।

पारस - प्रभु का दर्शन पाकर,
बाबाजी फिर दर्शन देना।
हम आँखें बिछा रखेंगे प्रभु
हीनन को शीतल कर देना ।।

(७)

तुम बढ़ो, उमड़ती आंखों में,
आँसू की धारा मत देखो।
देखो प्रकाश की ओर, मोह का,
यह अंधियारा मत देखो ।।

जब तुम ही माने नहीं,
मानता कैसे यह मन अज्ञानी।
जब रमता जोगी ही न रुका,
क्या रुकता आँखों का पानी ।।

(८)

तुम कहीं रहो बस शान्ति-सहित,
बुन्देल खण्ड के लाल जियो।
हो साल हजार महीनों का,
औ, तुम ऐसे सौ साल जियो ।।

किसको पुण्य जयन्ती ?

—नीरज जैन, सतना

(१९६६ में पूज्य बाबाजी की वर्षगांठ पर पठित)

आज धरा क्यों पुलकित सी है, स्वच्छ निरभ्र गगन है;
और हर्ष से उत्फुल्लित-प्रमुदित जन-जन का मन है।
किसे देखने दिनकर का रथ, नभ में आन रुका है?
कौन रत्न 'सागर' का, 'गिरि' की सीमा पर चमका है?
हर हिलोर सागर की, किसके लिए अधीर हुई है?
लहर-लहर में परि-चित्रित, किसकी तस्वीर हुई है?
जैन-जगत में फहर रही है, किसकी यश-वैजंती?
हम सब मिलकर मना रहें, किसकी पुण्य-जयन्ती?
कौन मनस्वी है वह जो, रागादिक से रीता है?
कौन तपस्वी है वह जो, समता अमृत पीता है?
वह तुम हो! जिसने पहिले, अपना अंतर झाँका है,
और अभागे मानव का भी, सही मूल्य आँका है।
भेद-भाव के तूफानों में, हमने तुम्हें पुकारा,
मिथ्यातम के अगम सिंधु में, तुम बन गए किनारा।
चिर अज्ञान-निशा में लाए, तुम-शुभ-ज्ञान सवेरा,
वह तुम हो, जिसने वन्ध्या को, 'माता' कह कर टेरा।
वह तुम हो, जिसको जननी से, अधिक धर्म माँ भाई,
तुमको पाकर अमर हो गई, धन्य 'चिरौंजा बाई'।
ममता, समता, क्षमता, की, शुचि धाराओं के संगम,
तुम्हीं कर सके महावीर की, वाणी को हृदयंगम।
तुमने कहा कि जीव-मात्र को, धर्मामृत पीने दो,
गूँज उठा तब महावीर का, 'जियो और जीने दो।'
मानवता की थाती के, ओ' सबल सचेतन प्रहरी,
तुम्हें हुई अनुभूति विश्व-बन्धुत्व तत्त्व की गहरी।

यही कामना है युग-युग तक,
'जन हिताय' तुम डोलो।
युग युग तक जन-जन के मन में,
समता का रस घोलो॥

शाश्वत सहज प्रकाश है

—नीरज जैन, सतना

(वर्णी-जयन्ती १९५९ को पठित) दि० २५-८-५९

सन्त तुम्हारा जीवन मानवता का चरम विकास है,
लौं कम्पित है, किन्तु अकम्पित शाश्वत सहज प्रकाश है।

तनका ताप तुम्हारे मन को छूने में असमर्थ है,
और वेदनी के दल की सारी बरजोरी व्यर्थ है,
जहां निराकुलता का सीमा-हीन सिन्धु लहरा रहा,
वहां तुच्छ तन की पीड़ा के वेदन का क्या अर्थ है।

तीन दोष विश्रृंखल बाहर जितनी बाधा दे रहे,
भीतर उतना ही रत्नत्रय का निर्दोष विकास है।

देह दीप—दुर्दान्त—दोषमाला से हुवा मलीन है,
जर्जर—जीवन—ज्योति—जरा के आघातों से क्षीण है,
यह नरभव के आयुनिषेकों का जो पारावार था—
निमिष प्रति निमिष खिरता जाता, पल पल होता हीन है।

काया का कारागृह जितना दुर्बल और अशक्त है,
उतना ही दृढ़ सुदृढ़ तुम्हारे अन्तर का आवास है।

इन्द्रिय शिथिल रहें पर जागृत पूर्ण चेतना (ज्ञान) है,
काया हो निस्तेज, आत्मा वैसा ही बलवान है।
नश्वर यह व्यवहार, व्याधि, पीड़ा, उपचार समस्त है—
ओ प्रबुद्ध विज्ञानी ! स्व-पर विवेक तुम्हें हर आन है।

'ॐ नमः सिद्धेभ्यः है' आने वाली हर स्वास में—
भीतर अंतर्मुखी चेतना का अद्भुत विन्यास है।

*

आशंका भरी एक चिट्ठी नरेन्द्र विद्यार्थी के नाम

—नीरज जैन, सतना

(अवसान पूर्व जन्म-जयन्ती पर १९६० में ईसरी से लिखा एक पत्र)

बन्धु !
गत वर्षों की भाँति
पर्युषण के जाते ही,
हम प्रस्थित हो गये, और फिर—
परम पूज्य बाबा की
जन्म-जयन्ती के अवसर पर
उस कुटिया में जाकर,
माथा टेका,
जिसमें विगत पाँच वर्षों से
पूज्य चरण विश्राम पा रहे ।

× × ×

धूम-धाम से सब भक्तों ने,
अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर,
अपने को कृतकृत्य बनाया ।
बड़े-बड़े पद-रज पाकर ही
अपनी लघुता प्रकट कर सके ।

× × ×

अब यह अनुभव हुवा,
पूज्यवर बाबा जी का—
अन्तरंग का स्वास्थ्य,
(और अस्वास्थ्य देह का)
दिन प्रति दिन बढ़ता जाता है ।

किन्तु आत्म आनन्द निरन्तर
ध्यान धरा पर प्रवहमान है ।
वैसे नश्वर तन—
अविनश्वर आत्म तत्त्व का
थोड़े दिन का मीत
बन्धु अब दिखलाता है ।
आगे जो भवितव्य,
किन्तु यह अहम प्रश्न है—
बाबा जी के बिना समूचे ही समाज में
घनीभूततम छा जाएगा ।
और भयाकुल होता है मन,
कि उलझन भरी राह में तब फिर
पथ-प्रदर्शिका किरण प्यार की
कौन सहज ही चमकाएगा ।

× × ×

नहीं सोच पाता फिर आगे,
नहीं जानता फिर क्या होगा ?
किन्तु अमिट होनी के आगे,
अपनी कुछ औकात कहाँ है ?
चलो कामना करें
पूज्य श्री के चरणों की
छाया युग युग तक
हम सबको और प्राप्त हो ।

बच्चों के वर्णी जी

—डा० नरेन्द्र विद्यार्थी, छतरपुर (म. प्र.)

था अशोक भोला सा बालक, करता फिरे किलोल।
कौतुक-वश पहुँचा प्रदर्शनी, देखा चित्र अमोल ।।

परम-तपस्वी, साधु-सन्त-जन, के थे चित्र अनेक।
आकर्षक था वर्णी जी का, केवल चित्र सुनेक ।।

पहुँचा निज माता के सन्मुख, लेकर के वह चित्र।
माता मेरी जल्द बता दे—"किसका है यह चित्र ?

काका जैसा ओढ़ें चादर, लगते जैसे सन्त।
बाबा जैसी लाठी टेकें, बैठे लगें महन्त ।।

भाई जैसी पोथी पढ़ते, बनते बूढ़े छात्र।
जिन्हें न खेद शोक चिंता है, एक लेश भी मात्र ।।

कभी-कभी जो बातें करते, हँसते हैं ज्यों बाल।
मन प्रसन्न हो या नाराजी, कभी न पलटें चाल ।।

कौन अलौकिक महा-पुरुष का, है यह सुन्दर चित्र।
माता मेरी जल्द बता दे, परिचय-पूर्ण-पवित्र !"

माँ का उत्तर :—

चिरंजीव तू भाग्यवान है, सफल परिश्रम आज।
परम-तपस्वी, गुरुवर हैं यह, राजर्षि सिरताज ।।

ज्ञान-कल्पतरु की छाया सम, विद्या-केन्द्र अनेक।
संस्थापित कर जैन-जगत में, किए अनेक-सुनेक ।।

समय-समय पर जिनकी वाणी, बालक - वृद्ध - जवान।
जागृत करती और सिखाती, मानव की पहचान ।।

यही चिरौंजा माँ के सुत हैं, भारत-माँ के लाल।
दीन-दु:खी-जन इनको पाकर, उन्नत करते भाल ।।

विज्ञ - शिरोमणि विद्वानों में कहलाते विबुधेश।
बेटा ! प्यारे ! इनको कहती दुनिया वर्णि-गणेश ! !

गणेश मन भाया था ।

—श्री सुमेरचन्द्र 'कौशल' एडवोकेट (सिवनी)

संयम को धारण कर,
लिया ब्रह्मचर्य व्रत
कर्मशत्रु का विनाश,
चित्त में समाया था ।
काम क्रोध मोह लोभ
आदि आठ जीतूं कब ।
यही एक सोच, सोच;
मन, अकुलाया था ।
कीर्ति का न भूखा था,
लोलुपी न यश का था ।
यद्यपि सत् कर्म का ही,
बीड़ा उठाया था ।

न्याय का आचार्य और,
विद्या भंडार परम ।
भारत के ओर छोर,
जिसका यश छाया था ।
जैनधर्म जाति लाज,
वर्णी जी के थी हाथ ।
जानता है सब समाज,
काम जो कराया था ।
गणपति, गौरीसुत,
गिरिजा को पूत नहीं ।
सत्य यही "कौशल",
गणेश मन भाया था ।

✻

ओ, महासंत वर्णी महान

—प्रेमचन्द्र जैन विद्यार्थी दमोह (म. प्र.)

बुंदेलखण्ड की धरिणी पर,
वर्णी जी का अवतार हुआ ।
पदरज को छू गौतमतिय सा,
मानवता का उद्धार हुआ ।

क्षणभंगुर जीवन से जिनको,
किंचित् अभिमान नहीं आया ।
जिनके चरणो में शीस झुका,
झुक गई विश्व-व्यापी माया ।

जिनके आदर्शों पर चलकर,
मानव को पथ-निर्वाण मिला ।
जिनके आशीषों से, पीड़ित—
शोषित जनको कल्याण मिला ।

दानी, ज्ञानी ओ महासंत,
भव-सागर को नौका समान ।
शत शत प्रणाम, ओ वीतराग,
ओ ! महासंत वर्णी महान ।

✻

मेरे वर्णी मेरे महान

—श्री ज्ञानचंद्र जैन 'आलोक' डालमियानगर,

(वर्णी जयन्ती १६५६ पर पठित)

भारत - भू के भूषण - स्वरूप,
गौरव गुण—गरिमा से गरिष्ठ।
जनहित की सफल साधनायें,
एकान्तलीन, तुम हो बशिष्ठ ॥ १ ॥

× ×

तुम कर्मवीर, कृतिमान स्वयं,
कर्ता, कारक, कारण महान।
तव दिव्य दृष्टि में दिखता है,
परभिन्न एक आत्मा महान ॥ २ ॥

× ×

तुम क्रोध रहित, करुणासागर,
हो तपःशुद्ध, उन्नत विचार।
प्राचीन सभ्यता के प्रतीक,
हे अमर - ज्योति, हो मदनमार ॥ ३ ॥

× ×

तुम ज्ञान और गरिमागर्भित,
हो वृद्ध तपस्वी एक - निष्ठ।
स्थित हो जहाँ सुसंस्थित थे,
आशा है तुममें सुप्रतिष्ठ ॥ ४ ॥

जैनों का गत छह दशकों का
इतिहास तुम्हारी गाथा है।
जीवन दृष्टा, जीवन के कवि
जन जन स्वदेश का भ्राता है ॥ ५ ॥

× ×

चिन्तन तेरा वर्णी असीम,
अध्यात्म - विषय के ऊपर है।
तेरे क्षण क्षण का सदुपयोग,
होता रहता इस भू पर है ॥ ६ ॥

× ×

न्यायाम्बुधि तेरा यशगौरव,
अम्बर से दिनकर आंक रहा।
टकटकी लगा, करतूली ले,
तेरी ही प्रतिमा बना रहा ॥ ७ ॥

× ×

तुम जागरूक, ध्वनिवाहक हो,
हे मात चिरोंजा के नन्दन।
शत शत जीओ इस भूतल पर,
कर रहा विश्व नत अभिनन्दन ॥ ८ ॥

चन्दा सूरज जब तक तब तक, गाएँ तेरा हम यशोगान,
मेरे वर्णी, मेरे महान !

मानवता के अमर प्राण

वैद्य श्री ज्ञानचंद्र जैन "ज्ञानेन्द्र" ढाना, म. प्र.

तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर
मानवता के अमर प्राण ।

(१)

अज्ञान तिमिर की घोर घटा
जब उमड़ घुमड़ कर आई थी,
घर घर में घुस कर जड़ता ने
जब जड़ मजबूत जमाई थी।
तब खोले विद्यालय अनेक
गढ़ डाले अगणित ज्ञानवान,
लोहे को सोना बना दिया
ओ पारस मणि, ओ नर महान।
कैसे कर पायें कोटि कण्ठ से
कोई कवि तव यशोगान,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर,
मानवता के अमर प्राण ।

(२)

त्यागी समाज की देख दशा
छाई चहुँ ओर निराशा थी,
यम, नियम, आहार विहारादिक की
प्रथक-प्रथक परिभाषा थी ।
तब स्वयं सन्त बनकर तुमने
तीर्थङ्कर वाणी के स्वरूप,
आध्यात्मवाद व सत्य अहिंसा
का वर्षाया मेह - रूप ।
ओ महामना ! ओ तपः पुञ्ज !
ओ निर्विकार ! ओ निरभिमान,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर,
मानवता के अमर प्राण ।

(३)

"भैया" इस नेह सिक्त स्वर में
जादू था, या थी सुधा धार,
कितने सद्ग्रंथों का निचोड़
मधुरस मिठास का छिपा सार।
आतमरस की वाणी वर्णित है
भवसागर में तरणी सी,
इस लिये तुम्हें दुनियाँ वाले
कहते वर्णी जी ! वर्णी जी !
हे कोटि-तीर्थ, हे कोटि-धाम,
स्वीकार करो शत-शत प्रणाम,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर
मानवता के अमर प्राण ।

(४)

कितनों ने जीवन सफल किया
चरणों में माथा टेक टेक,
इंगित पर करके दान धन्य
हो गये अवनि पर नर अनेक।
वह गली-गली बन गई पूज्य
डग-मग डग-मग पग पड़े जहाँ,
वह - भूमिखण्ड बन गया तीर्थ
रुक गये एक क्षण आप जहाँ।
जर्जर तन और लँगोटी पर
न्यौछावर होते कोटि काम,
तुम शत-शत वर्ष जियो जगती पर
मानवता के अमर प्राण ।

चिरोंजा माँ के चरणों में !

वैद्य श्री ज्ञानचन्द जैन 'ज्ञानेन्द्र' ढाना, म. प्र.

तेरी स्तुति वन्दन को कोई
शब्द खोज नहिं पाता हूं।
हठकर फिर भी तेरे पवित्र
चरणों में शीश झुकाता हूं।
हर मातायें जन्मती हैं
कूख से ही तो शिशु हमेश।
पर तुमने तो गोदी में ही
जन्मा है सुत 'वर्णी गणेश'।
शोभित हैं कितने ही मानव
उसकी लघु एक निशानी से।
कितने विद्यालय, देवालय
गुंजित हैं जिसकी वानी से।
काशी, वरुआ सागर, सागर में
जगा गये जो ज्ञान ज्योति।
कि जबलपुर और ललितपुर में
उस प्रखर रश्मि से है उद्योत।

पड़ गये जहाँ पग चर्चित है
वह गाँव और वह गली गली।
वह भूमि हो गई धन्य जहाँ
झलकी आतम-रस की वल्ली।
वर्णी जी की गौरव - गाथा में
कितने 'पन्ना-लाल' जड़े।
जो आदर्शों सिद्धान्तों के
कितने कैलाश कर रुपे खड़े।
जिनकी वाणी की वीणा से
कितने वंशीधर ध्वनि पाये।
कितने ही 'कुन्दन' से चमके
व कितने ही शोभा पाये।
कितने 'शान्ति प्रसाद' पाये
व सहजानन्द आनन्द धाम।
अर्पित है उन युग चरणों में
शत शत वन्दन, शत शत प्रणाम।

*

हृदयोद्गार

—श्री राजकुमार शास्त्री, निवाई (जयपुर)

सरल सौम्य, सौजन्य सिन्धु साधक सर्वोत्तम।
सत् श्रद्धा के योग्य, सभी के हे परमोत्तम।
परमेष्ठी के भक्त, परम - पद के अभिलाषी।
शत शत वंदन तुम्हें, लहो तुम पद अविनाशी।
हे प्रभो-क्षुल्लक गणेश स्वस्थ सतत शतायु हों।
वर्णी, लोक कल्याण हित जुग जुग जियें चिरायु हों।
श्रद्धा समेटे सब हृदय को 'राज' की कुसुमांजलि।
स्वीकार हो, तव पद कमल पर तुच्छ यह श्रद्धांजलि।

*

पूज्य वर्णी जी के प्रति

(ईसरी में दिनांक ७-२-५८ को पठित)

—श्री निर्मल जैन, सतना

हे क्षमा दया की मूर्ति तुम्हें शत नमस्कार।
साकार सरलता के स्वरूप शत नमस्कार।
बुन्देलखण्ड के प्राण तुम्हें शत नमस्कार।
ओ मात चिरोंजा के संचित अरमान तुम्हें शत नमस्कार।

तुमने हमको जो दिया प्रभो,
हम ऋणी रहेंगे युग–युग तक।
गाते इस गौरव की गाथा,
हम नहीं थकेंगे युग-युग तक।

पर अभी और भी कुछ हमको,
प्रभु इन चरणों से लेना है।
कैसे हम आगे बढ़ें कहो,
यह बिन नायक की सेना है।

यदि एक बार फिर हो जाये,
उस ओर कृपा की कोर प्रभो।
तो बँध जाये बुंदेलखंड की,
टट रही यह डोर प्रभो।

तुम देखो तो बुंदेलखंड का,
जन-जन तुम्हें बुलाता है।
तुम तोड़ नहीं सकते उस,
धरती से जोड़ा जो नाता है।

तुम हेरो तो उठ जायें, तुरन्त ही,
कोटि-कोटि डग उसी ओर।
तुम टेरो तो उठ जायें, उसी क्षण,
कोटि-कोटि पग उसी ओर।

तुम भावों को यदि मूर्त,
रूप दो एक बार।
तो जाग उठे हर नगर,
गांव का छोर — छोर।

पारस प्रभु का आशीर्वाद,
है सदा तुम्हारे साथ प्रभो।
बुंदेलखंड की बागडोर,
है सदा तुम्हारे हाथ प्रभो।

प्रभु एक बार बुंदेलखंड,
की भूमि पुनः पावन कर दो।
लाखों हृदयों को एक बार,
इस वाणी से शीतल कर दो।

❋

शत–शत अभिनन्दन

—हास्य कवि श्री हजारीलाल 'काका'

भाव प्रसून युगल चरणों में श्रद्धा सहित समर्पण,
वर्णी जी को इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन,

(१)

उन्निस सौ इकतिस अश्विन की चौथ रात अंधियारी,
हीरालाल पिता, माता पाई जिनने उजयारी,
श्री गणेशप्रसाद नाम से बीता जिनका जीवन
वर्णी जी का इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन,

(२)

धन्य धरा हो गई हँसेरा की वर्णी को पाकर
अमर हुई माता उजयारी वर्णी सा सुत जाकर
धन्य हो गये पिता गोद में ले हीरा सा नन्दन,
वर्णी जी का इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन

(३)

भारत के कई विद्यालय गाते हैं जिनकी गाथा,
जिनसे कई विद्वान निकल कर जिन्हें नवाते माथा
आज उन्हीं त्यागी गुरुवर को हाथ जोड़कर वंदन,
वर्णी जी का इस शताब्दी पर शत शत अभिनन्दन,

❋

सौ सौ बार प्रणाम

—श्री शर्मनलाल जैन "सरस"

सदा अग्रसर रहे विश्व - हित, लिया न कभी विराम,
हे ! युग-पुरुष तुम्हें इस युग का, सौ सौ वार प्रणाम।

(१)

अंगद जैसा बना तुम्हारा, जीवन का हर मोड़,
तुमने दूषित परिपाटी को, दिया क्षणों में तोड़,
सामाजिक जीवन का तुमने, किया नया उत्कर्ष,
श्वास श्वास पर लिखा तुम्हारा, इतिहासिक संघर्ष,
मानवता के लिए हमेशा लगे रहे अविराम,
हे युग-पुरुष तुम्हें इस युग का, सौ सौ वार प्रणाम।

(२)

थे—तुम ऐसे संत, तुम्हारा वाक्य वाक्य था मंत्र,
थे—तुम सत्य शिवम सुन्दर तम, मूर्तिमान जनतंत्र,
तुम—अपने युग के गौतम थे, बापू की तस्वीर,
तुमने सदा पराए आँसू, समझी अपनी पीर,
तुमने बदल दिया था, युगका—कोलाहल कुहराम,
हे—युग-पुरुष तुम्हें इस युगका, सौ सौ वार प्रणाम।

(३)

नहीं कर सका पूर्ति तुम्हारी, तुमसा बन कर अन्य,
हुई धरा बुंदेलखंड थी, तुम्हें जन्म दे धन्य,
तुमने जो विद्यालय खोले, दिया दिव्य आलोक,
उससे मुक्त न हो पायेगा, इस धरती का लोक,
युगों युगों युग याद करेगा, लेकर पावन नाम,
हे युग-पुरुष तुम्हें इस युगका सौ सौ वार प्रणाम।

(४)

वर्णी तुमने जो छोड़ी है, आदर्शों की छाप,
आज समय ने उसे पुकारा, सच मुच अपने आप,
जहाँ कहीं हो मानवता के, प्यारे पहरे दार,
"सरस जैन" की इस अवसर पर लो श्रद्धा स्वीकार,
यही हमारे सुमन समपर्ण कर, करते प्रणाम,
हे युग-पुरुष तुम्हें इस युगका सो सौ वार प्रणाम।

वर्णीजी की अमर कहानी

—श्री धरणेन्द्रकुमार जैन 'कुमुद' शास्त्री,

श्रद्धा से नत मस्तक तेरे चरणों में गुरुदेव हमारा।

(१)

देकर जन्म बुंदेलखण्ड ने, भारी अपना मान बढ़ाया,
धन्य चिरोंजाबाई जिनने, गुरुवर तुम्हें सुयोग्य बनाया।
सागर-सागर बना ज्ञान का, तुमसे पावन तीर्थ कहाया,
अहो भाग्य है जैन जाति, तूने वर्णी-सा नेता पाया।
आँक नहीं सकता कोई है, अगम ज्ञान भण्डार तुम्हारा।
श्रद्धा से नतमस्तक तेरे, चरणों में गुरुदेव हमारा।

(२)

गाँव-गाँव घर-घर में जाकर, तुमने योगी अलख जगाया,
लुप्त हुई आध्यात्मिकता का, फिर भारत में स्रोत बहाया।
वीरप्रभु के परम धर्म का, मर्म मानवों तक पहुँचाया,
और कुपथ से उन्हें हटा, दे सदुपदेश सन्मार्ग दिखाया।
देव ! अलौकिक प्रतिभा से, सब भगा अविद्या का अँधियारा,
श्रद्धा से नत मस्तक तेरे चरणों में गुरुदेव हमारा।

(३)

गाँव गांव में जाकर के तुमने प्रचार की मन में ठानी,
संघ सहित चल पड़े साथ में, त्यागी और अनेकों दानी।
दुनियाँ कहती चमत्कार भय, बाबा तेरी है मृदुवानी,
मोहित कर लेती है सब को तेरी अद्भुत आत्म कहानी।
बनो जितेन्द्री और विवेकी, यही तुम्हारा सुन्दर नारा,
श्रद्धा से नत मस्तक तेरे, चरणों में गुरुदेव हमारा।

(४)

संयम सदाचार की तुमने, निर्मल धारा पुनः बहाई,
सुखद शान्ति दायक सुबोध की, अमल अखण्डित ज्योति जलाई।
काम कषाय मोह निग्रह में, तुमने पूर्ण सफलता पाई,
सत्य अहिंसा की महानता, तुमने दुनियाँ को समझाई।
भावी सन्तति याद करेगी, देख कलामय कार्य तुम्हारा,
श्रद्धा से नत मस्तक तेरे चरणों में गुरुदेव हमारा।

वर्णी जी के चरणों में

श्री धरणेन्द्रकुमार जैन शास्त्री 'कुमुद'

तुम्हें शतवन्दन सन्त महान् ।

अपने अथक यत्न के बल पर उन्नति की बाधाएँ सहकर,
बनें विरोधी भी अनुयायी, आज तुम्हें पहिचान ।

(२)

तुम मानवता के निर्माता, आत्मतत्त्व के अनुपम ज्ञाता,
है अगाध पाण्डित्य तुम्हारा, तुम गुरुवर्य महान ।

(३)

तुमने ज्ञान प्रसार किया है, विद्वानों को जन्म दिया है,
कलह विवादों से सुदूर रह, किया आत्म कल्यान ।

(४)

रहा सदा यह ध्येय तुम्हारा, बनें समाज विवेकी सारा,
क्रियाकाण्ड अरु कुरीतियाँ सब हो जाएँ निष्प्रान ।

(५)

जैनागम के वृद्ध पुजारी, हैं सेवाएँ अमूल्य तुम्हारी,
कहो उऋण कैसे हो सकते, कर किञ्चित सम्मान ।

(६)

फिरभी हम, सब प्रमुदित होकर, करते श्रद्धांजली समर्पित,
करो इन्हें स्वीकार तपस्वी हो तुमसे उत्थान ।

वर्णी महान !

—श्री फूलचंद्र 'मधुर' सागर, म. प्र.

वर्णी महान ! वर्णी महान !
युग युग तक श्रद्धा से, मानव गावेगा तेरा यशोगान
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

तुमने युग धर्म सिखाया है,
जीवन का मर्म बताया है,
गुमराह युगों के मानव को,
फिर जीवन पथ दिखलाया है।
लघु मानव है कितना समर्थ, बतलाता तेरा स्वाभिमान
वर्णी महान वर्णी महान !!

कहता जग हम स्वच्छन्द नहीं,
टूटे जीवन के बन्ध नहीं,
इस पर बोले गुरुवर्य ! आप,
"मानव इतना निष्पन्द नहीं"
दो तोड़ विवशता के बन्धन, बन जाओ अब भी युगप्रधान।
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

तुम जगा रहे हो निखिल विश्व,
लेकर के कर में ज्ञान दीप,
वह ज्ञान कि जिससे मानव का,
अन्तस्तल है बिलकुल समीप,
युग युग तक अनुप्राणित होगा, पाकर जग तेरा ज्योति दान
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

उज्वल यश-किरणों से तेरी,
हो रहा व्याप्त यह धरा धाम,
तू इस युग का योगी महान,
युग का तुझको शत शत प्रणाम,
श्रद्धा से नत हो उठे आज, चरणों में तेरे, प्राण प्राण।
वर्णी महान ! वर्णी महान !!

ओ जैन जाति के बादशाह !

—श्री जीवेन्द्रकुमार सिंघई, सागर.

(भक्ति-भाव से ओत:प्रोत कवि की एक भावपूर्ण रचना)

ओ ! जैन जाति के बादशाह,
ओ ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।

तुम बढ़े साधना के पथ पर,
मानवता का अभिमान लिये ।
ओ सत्य अहिंसा के राही,
जन जन के नव अरमान लिये ।।

ओ अडिग ! हिमाचल से प्रहरी,
हम सबकी कसकी तुम्हें पीर ।

ओ ! जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

काशी में एक उभार उठा,
तब सागर में भी ज्वार उठा ।
ओ वर्णी तेरे इंगित पर,
सब में शिक्षा का प्यार उठा ।।

क्यों कृष्ण भला चुप बैठ सके,
खिच रहा सभा में जहां चीर ।

ओ जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

युग पुरुष' अरे ओ 'युग दृष्टा',
'युग नायक' शत शत नमस्कार ।

तेरी गति में युग की करवट,
स्वासों में जन जन की पुकार ।।

युग युग तक तेरी कीर्ति अमर,
होगी ओ युग के सूत्रधार !
हे बोधि वृक्ष, हे योगीश्वर,
हे गंगा जैसे विमल नीर ।।

ओ जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

लिप्सा की काली संध्या में,
मानव का दामन काला था ।
तब तू ही एक प्रकाश दीप,
फैलाता चला उजाला था ।

तूने मानव को पहिचाना,
मानव की पीड़ा पहिचानी ।
जीवन भर उसकी अंजलि में,
अमृत का ही रस ढाला था ।।

फैला है तेरा तेज पुंज,
प्राची तक तम का क्षितिज चीर ।।

ओ जैन जाति के बादशाह,
ओ, ब्रह्मचर्य के अटल वीर ।।

★ अध्यात्मिक योगी ! ★

— श्री नेमिचन्द्र विनम्र, सागर.

(१)

हे पूज्यवर्य ! हे गुण-निधान !
हो गई धन्य यह वसुंधरा ।
तुमने अपने विद्या रवि से,
अज्ञान-तिमिर को, दिया हटा ।।
"शिक्षा से ही मानव बढ़ते,
शिक्षा ही जीवन–दायक है ।
तुमने ही है यह सिखलाया,
शिक्षा विवेक उन्नायक है" ।।
बस एक अमिट यह चाह पाल,
तुम बने सदा से हो अकाम ।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।।

(२)

तुम परम मधुर भाषण-कर्ता,
अतर–बाहर हृद से निर्मल ।
है वाणी शुचितम गंगाजल,
गुञ्जित सुरभित जिसमें नभ-थल ।
हे क्षमा-देवि के चिर सुहाग ।
तुमको वरकर वह हुई अमर ।।
हृदतल में सदा तुम्हारे तो ।
उमड़ा रहता करुणा-सागर ।।
अधरों पर शिशु मुस्कान धार,
कर्तव्य–निरत तुम अनविराम ।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।।

(३)

"मेरे जिनवर का नाम राम,
हे संत ! तुम्हें सादर प्रणाम" ।
युग कवि की इस श्रद्धांजलि से,
श्रद्धा का सार्थक हुआ नाम ।।
निन्दा स्तुति दोनों ही से तो,
अपने को चिर निर्लिप्त रखा ।
कर्मों की कालिख हरने को,
तुमने तप को कर लिया सखा ।।
निज तपश्चरण से, हे ऋषिवर !
पा ही लोगे कैवल्य-धाम;
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।

(४)

वह पुण्य दिवस जब आश्रम में
तुमसे ऋषि भावे स्वयं मिले ।
वे भूमि-दान के अन्वेषक;
जिससे लिप्सा के मेरु हिले ।।
तुम आध्यात्मिक सुख के दाता;
कर रहे मलिन अन्तर पवित्र ।
वे भौतिक क्लेशों के नाशक,
कर रहे शुद्ध मानव - चरित्र ।।
तुम दोनों ही युग पुरुष मान्य,
ज्योतित करते भारत सुनाम ।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम ।।

(५)

ब्यासीवें जन्म दिवस पर कवि;
भावों का अर्घ चढ़ाता है।
छन्दों की छोटी सी माला;
पहिनाने हाथ बढ़ाता है।

कवि पर युग युग तक तना रहे,
इन वरद करों का वर–वितान।
भारत के आध्यात्मिक योगी,
स्वीकार करो जग का प्रणाम।

*

गुरु गणेश

श्री रवीन्द्र कुमार जैन

री ! अरी लेखिनी तू लिख दे,
मेरे गुरु की गुरुता महान।
चित्रित कर दे वह सजग चित्र,
जिसमें उनकी प्रभुता महान ॥१॥

ओ ! दृढ़ - प्रतिज्ञ ओ सन्यासी,
ओ ! आर्ष - मार्ग के उन्नायक।
ओ ! विश्व - हितैषी, लोकप्रिय,
ओ ! आदि भारती के गायक ॥२॥

वात्सल्य - मूर्ति सच्चे साधक,
ओ ! नाम - मात्र अंशुक - धारी।
ओ ! भूले युग के मान्य पुरुष,
जन - मन में समता - संचारी ॥३॥

तुम नहीं परिस्थिति के वश में,
तुमने ही उसको किया दास।
अपमानों अत्याचारों में,
पल कर तुमने पाया प्रकाश ॥४॥

सान्त्वना - पूर्ण तेरी वाणी,
मानव - मानस की परिचित की।
कुछ कह देती समझा देती,
सत्पथ दर्शाती परिमित सी ॥५॥

मानस - सानस कितना निर्मल,
है राग द्वेष का लेश नहीं।
तुम निः संकोची सत्य - प्रिय,
है छद्म तुम्हारा वेष नहीं ॥६॥

*

शत शत वन्दन शत शत वन्दन

वैद्य श्री दामोदरदास जैन, घुवारा, छतरपुर

(१)

विद्यासागर गुण गुण आगर, नीतिज्ञ तपस्वी विपुल ज्ञान ।
कर्मठ आदर्श गुणी सुसन्त, आध्यात्मिक निधि के हे निधान ।।
हे प्राणवान गौरव-विशाल, क्षुल्लक गणेश वर्णी सु नाम ।
ऐसे महात्मा के पद में, शत शत बन्दन शत शत प्रणाम ।।

(२)

हे धर्ममूर्ति राजर्षि व्रती, विद्याप्रेमी प्रकाण्ड–पण्डित ।
सत्शोधक तत्वसमीहक हे, उत्कृष्ट त्यागि शान्ति-मण्डित ।।
मानवता के आदर्शरूप, जीवन की निधियों के ललाम ।
शुभवक्ता हित उपदेशी को, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।

(३)

आध्यात्मिक सन्त सुज्ञान-सूर्य, बहु शत संस्था के निर्माता ।
निश्छलता के प्रतिरूप अरे, सर्वोदय के तुम हो ज्ञाता ।।
हे विद्वानों के हितचिन्तक, स्तम्भ अहिंसा न्याय–धाम ।
विद्वेष-हारि तुम पूज्यपाद–शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।

(४)

आगम-बारिधि मथकर तुमने, पाया आत्मिक अमृत महान ।
बन गये अमर जगको तुमने, बांटा अमरत्व अरे प्रकाम ।।
निर्माति ज्ञान गुरु-तुम गुण का-नहिं अन्त कहां क्या किया काम ।
ज्वाज्वल्यमान जग के नेता, शत शत वन्दन शत शत प्रणाम ।।

*

महासन्त श्री वर्णी जी

श्री ब्र० माणिकचंद्र जी चवरे, कारंजा [बरार]

वेद अग्नि से बचे जो थोड़े कहीं कहीं मिल जाते हैं।
पुरुष वेद से बिरले उनमें वेद विजेता वर्णी हैं। १।

बालस्वभावी युवा विवेकी वृद्ध अनुभवी बाबा हैं।
बाहिर स्वर्णी भीतर शुक्ला-वर्ण हमारे वर्णी हैं २।

स्वयं सचेती दृष्टि बदौलत बदला जीवन सारा है।
समयसार वह जीवन साथी जिनका ऐसे वर्णी हैं। ३।

चैतन्य रस से रचा पचा चितपिण्ड अखण्ड निराला है।
तोल-मोल से, धरम तुला से, वर्णी हंस निराला है। ४।

छोड़ तन वर्णी महान पद पा गये

-श्री प्रकाश जैन, प्रभाकर, पटना

शिखर सम्मेद के सुहावने उस अंक बीच,
लगता निशंक हो मयंक खुद आ गया।
भक्त चातकों का व्यूह जय जय बोलता था,
जिसने भी चाहा वही सुधा-बिन्दु पा गया।
ज्ञानियों के ज्ञान की पिपासा तृप्त होती सदा,
मानियों का मान शीश सादर झुका गया।
चन्द्रहीन गगन त्यों वर्णी विहीन उस,
आश्रम उदास में अंधेरा आह! छा गया।

कारे कजरारे, धूम - धवल - धुंआरे - घन,
भर जाते जल से तो तुरत बरसते।
पादपों की डालें, भर जाती हैं फलों से,
नत शशि हो सदैव तरु धरती परसते।
उसी भाँति ज्ञान गरिमा औं, तप-तेज युक्त,
फिर भी सदैव नम्र होकर हरसते।
वर्णी! तुम्हारी तप-कृश छवि देखते जो,
उनके हृदय में थे सावन सरसते।

रात थी अंधेरी, घनघोर घन छाए हुए,
चांद औं सितारे सब मुंह सा छिपा गए।
चपला तड़पती विकल वेदना को लिए,
अम्बर की आँख में भी अश्रु बिन्दु छा गए।
ईसरी के आश्रम में व्यथित-से भक्त - गण,
धन्य भाग मानते थे दरस को आ गए।
सिद्ध को नमन, मन वचन से किया और,
छोड़ तन वर्णी महान पद पा गए।

दुःखी था समाज क्योंकि उठ गया छाया छत्र,
वर्णी थे वर की विभूति इस कालके।
राज के प्रमुख भी वियोग से विकल हुए,
थे वे चूंकि शीश-फूल भारत के भाल के।
विद्वत्-समाज भी अधीर हुआ, चूकि नहीं,
दरस मिलेंगे, ज्ञान मानस मराल के।
भारती दुःखी क्योंकि खाली हो गयी थी गोद,
सुनेगी कहाँ से बोल फिर उस लाल के।

एक बार फिर आना होगा

श्री फूलचन्द्र पुष्पेन्दु, खुरई (म. प्र.)

बाढ़ आँसुओं की आई है, बाँध धैर्य का टूट चुका।
अहमिन्द्रों का भाग्य जगा है, किन्तु हमारा फूट चुका।

(१)

मर्त्यलोक में धर्म-राज्य के, झंडे अपने आप झुके।
स्वर्गलोक में वर्णी अभिनन्दन के, झंडे फहर चुके॥
मर्त्यलोक में धर्म-पिता की, देह चिता पर जलती है।
स्वर्गलोक में अमर आत्मा-वर्णी जी की पलती है॥
मर्त्यलोक में हाहाकारों की, छाई घनघोर घटा।
स्वर्गलोक में छिटक रही है, वर्णी जी की दिव्य छटा॥

(२)

किन्तु नहीं है स्वर्गलोक में, मोक्षधाम सम्मेद शिखर।
जैसा है वह मर्त्यलोक में, उसकी पावन धरती पर।
पार्श्वनाथ की चरण - वंदना, कैसे वहाँ करेंगे आप?
णमोकार की या सोऽहम् की, कैसे वहाँ करेंगे जाप?
वहाँ नहीं बुंदेलखंड है, नहीं चिरोंजाबाई जी।
वहाँ नहीं विद्यालय कोई, होती नहीं पढ़ाई भी॥

(३)

वहाँ न 'भैया' बोला जाता, वहाँ नहीं मुनि हो सकते।
बीज भव्यता का तुम हममें, नहीं वहाँ से बो सकते॥
फिर कैसे अपने स्वभाव में, सहजरूप से ठहरोगे?
तो क्या सचमुच एक बार फिर, नरभव धारण कर लोगे?
स्वर्गलोक से मिला न करता, मोक्षनगर का टिकट प्रभो।
मर्त्यलोक का बुकिंग खुला है, मोक्ष यहाँ से निकट प्रभो।

✻

पूज्य वर्णी जी के निधन पर

—श्री निर्मल जैन, सतना [म, प्र.]

तुम गये कि जैसे मानवता का,
मंदिर कलश - विहीन हो गया।

तुम गये कि जैसे बुंदेलखंड का,
खंड खंड श्रीहीन हो गया।

तुम गये कि जैसे समता का,
शब्दार्थ खो गया शब्दकोष से।

तुम गये कि जैसे ममता की,
प्रतिमूर्ति लुप्त हो गई देश से।

☆

द्वितीय खण्ड

व्यक्तित्व और कृतित्व

उनके अक्षर—उनकी बात

उद्वेग या सक्लेश ही मनुष्य को दुखदायी होते हैं। ससार के समस्त कार्य समय पाकर ही सिद्ध होते हैं यह अमर सन्देश पूज्यवर्णी जी के एक पत्र में इस प्रकार गुंथित हुआ—

श्रीयुत चिरंजीवी नरेन्द्र जी योग्य कल्याणभाजन हो—
पत्र आया समाचार जाने—जो भव्य विचार करता मनुष्य है
यह अन्त में सुखी ही होगा— अतः जहां तक बने चित्त में
उद्वेग न करना — समय पाकर कार्य होगा—
मैंने पहले का पत्र त्याग कर लिया है और अब प्रायः पत्र
देना भी त्याग दिया है १ मास में १ बार ही पत्र दूंगा
ही आप के विषय में मेरी धारणा है जो तुम्हारा
जीवन सुखमय होवेगा——
आ. शु. चि.
गणेश वर्णी
ईसरी बाजार
चैत्र सुदि १४
सं २०११ जि हजारीबाग
जो अन्य पूछें मैं भविष्य का धुक्ष
हो नहीं रखता

कौन स हैं वे प्रमुख गुण जिनकी सुरभि से यह मानव जीवन सुरभित हो सकता है ?—

मानव में स्वप्रशंसा और परकी निन्दा नहीं होना चाहिए
तथा योग्य सदाचार होना चाहिए— तथा मानवकर्त्तव्य पालन
के अर्थ आगमाभ्यास की परमावश्यकता है—दान करना श्रेष्ठ है
परन्तु अन्याय से प्रवृत्ति न हो—

गणेश वर्णी

१

वर्णी जी और उनकी उपलब्धियां

डा. पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, सागर

जन्म वसुन्धरा—

बुन्देलखण्ड विन्ध्याचल का वह इला-खण्ड है—भूखण्ड है, जहां गुरुदत्तादि मुनियों की निर्वाणभूमि द्रोणगिरि, वरदत्तादि ऋषि-राजों की सिद्धिस्थली रेशन्दी गिरि, अन्तिम अननुबद्ध केवली श्रीधर स्वामी की मुक्तिभूमि कुण्डलपुर, नङ्ग अनङ्ग मुनिराजों की साधना भूमि सोनागिरि, अतिशय क्षेत्र पपौरा, अहार तथा भारतीय कला का अनुपम निकेतन खजुराहो विद्यमान है। इन क्षेत्र भूमियों में निर्मित, उत्तुङ्ग कलापूर्ण जिन-मन्दिर जैनधर्म की गरिमा को प्रकट कर रहे हैं। इसी बुन्देलखण्ड में क्षत्रिय शिरोमणि महाराज छत्रसाल की शौर्य कथाएँ तथा आल्हा ऊदल आदि की गौरव गाथाएँ जन जन के मानस में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाये हुए हैं। 'सौ दण्डी एक बुन्देलखण्डी' यह लोकोक्ति जहां बुन्देलखण्ड के निवासियों की शौर्य कथा को प्रकट करती है वहां सौ दण्डी—संन्यासियों के बराबर एक बुन्देलखण्डी की संयम साधना स्वतः होती है—इस अर्थ से उसकी धर्मपरायणता को भी सिद्ध करती है।

इसी बुन्देलखण्ड के ललितपुर जिला में महरौनी तहसील के अन्तर्गत मदनपुर थाने से लगने वाला एक हँसेरा गांव है। यहां के वैष्णव धर्मावलम्बी असाटी वैश्य जाति में श्री हीरालाल असाटी रहते थे। उनकी पत्नीका नाम उजियारी था। हीरालाल मध्यम स्थिति के व्यक्ति थे। संतोष से अपने परिवार का पालन करते थे। यद्यपि वे वैष्णव धर्मावलम्बी थे तथापि जैनधर्म के णमोकार मन्त्र की महिमा का स्वयं अनुभव कर चुके थे इसलिये जैनधर्म की ओर उनका आकर्षण रहता था।

हीरालाल जी एक बार बैल पर सामान लादकर दूसरे गांव से अपने घर आ रहे थे। संध्या का कुछ-कुछ अन्धकार फैल रहा था। उसी समय उन्हें सामने से दहाड़ता हुआ एक भयंकर सिंह दिखा। रक्षा का कुछ उपाय न देख उन्होंने बैल का सामान नीचे गिराकर उसे स्वतन्त्र कर दिया और स्वयं स्थिर आसन लगाकर णमोकार मन्त्र का जाप करने लगे। सिंह कुछ भी उपद्रव किये बिना उनके पास से ही आगे निकल गया। सिंह के चले जाने पर वे अपने घर आ गये। इस घटना से उनकी आन्तरिक श्रद्धा हो गयी कि जिस जिनधर्म के णमोकार मन्त्र ने आज मेरी रक्षा की है उसकी महिमा अवश्य ही लोकोत्तर है। उसकी शरण से ही जीवों का कल्याण हो सकता है।

ज्योति-पुञ्ज का उदय—

आश्विन कृष्णा ४ वि. सं. १९३१ के प्रातः काल श्री हीरालाल की धर्मपत्नी उजियारी की कुक्षि से एक बालक का जन्म हुआ जो आगे चलकर गणेशप्रसाद वर्णी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पुत्र जन्म की खुशियों से हीरालाल का द्वार गीत वादित्र की ध्वनि से गूंज उठा। 'होनहार विरवान के होत चीकनेपात,' के अनुसार बालक गणेशप्रसाद के बाल्य-काल से ही कुछ ऐसे शुभ लक्षण प्रकट हुए थे जो उनकी भावी गरिमा को प्रकट करते थे। ज्योतिषी ने बताया कि पुत्र बड़ा भाग्यशाली होगा।

हँसेरा में पढ़ाई के कोई साधन नहीं थे अतः हीरालाल छह वर्ष के बालक को लेकर मड़ावरा आ गये। यहाँ के स्कूल में गणेशप्रसाद ने सात वर्ष की अवस्था में प्रवेश किया और चौदह वर्ष की अवस्था में मिडिल पास कर लिया।

मड़ावरा एक अच्छी बस्ती है। जन धन सम्पन्न कस्बा है। यहां ग्यारह शिखर बन्द जिन मन्दिर हैं। एक वैष्णव मन्दिर भी है। मन्दिरों की अधिक संख्या होने से यह

मन्दिरों का गाँव कहलाता है। पूर्णिमा की चांदनी रात में मन्दिरों के शुभ्र शिखर निराली धवलिमा छोड़ते हैं। हीरालाल का मकान गोरावालों के मन्दिर के सामने है। मन्दिर का विशाल चबूतरा है, उस पर गर्मी की ऋतु में शास्त्र प्रवचन होता था। बालक गणेश प्रसाद उस प्रवचन को बड़ी रुचि से सुनता था। पद्म-पुराण की कथा उसे रामायण की कथा से अधिक रुचिकर प्रतीत होती थी। जैन मन्दिर में जब झांझ मँजीरों के साथ भगवान् का पूजन होता था तब गणेशप्रसाद अपने कौतूहल को नहीं रोक पाता था और शान्तभाव से मन्दिर में जाकर पूजा का दृश्य देखा करता था। रात्रिभोजन और अनछने पानी से उसे घृणा हो गयी थी। पूर्वभव के संस्कार से बालक में जैनकुल के लक्षण धीरे-धीरे स्वतः प्रकट होते जाते थे।

विवेक का वैभव—

कुल-परम्परा से चली आ रही मिथ्या रुढ़ियों में वह विवेक से यथार्थता को खोजता था पर खोजने पर भी जब यथार्थता नहीं दिखती तब उन्हें छोड़ने में उसे संकोच नहीं होता था। गणेश प्रसाद सायंकाल शाला के वैष्णव मन्दिर में जाता था। जब वह रामायण की कथा सुनता और जैन मन्दिर में सुनी पद्म-पुराण की कथा की तुलना करता तब उसे लगने लगता था—उसका मन तर्क करने लगता था। खासकर मोक्ष गामी हनुमान् को वानर मानना उसे बिलकुल ही नहीं रुचता था। उसे पद्मपुराण के अनुसार वानर वंश में उत्पन्न हुआ मानना अधिक उपयुक्त लगता था। एक बार शाला के मन्दिर में पेड़ों का प्रसाद बांटा गया परन्तु गणेश प्रसाद ने यह कहकर कि 'मैं रात्रि को नहीं खाता' प्रसाद नहीं लिया। एक बार गुरु जी ने बालक गणेश प्रसाद से हुक्का उठा लाने को कहा। तो गणेश प्रसाद हुक्का फोड़कर आया और गुरु जी से कह दिया कि गुरु जी उससे बहुत दुर्गन्ध आती थी, इसलिये मैंने उसे फोड़ दिया। आप उसे क्यों पीते हैं? गणेश प्रसाद की भावना को आदर देते हुए गुरु ने कहा—अच्छा अब हुक्का नहीं पिएंगे। १२ वर्ष की अवस्था में गणेशप्रसाद के यज्ञोपवीत का अवसर आया तब कुल-पुरोहित ने एक मन्त्र देते हुए कहा कि इसे किसी को बताना नहीं। गणेश प्रसाद ने कौतूहल-बुद्धि से तर्क करते हुए कहा कि गुरुजी आपने तो यह मन्त्र सैकड़ों शिष्यों को बतलाया होगा। फिर बतलाने से मुझे क्यों रोकते हैं? बालक के तर्क से पुरोहित जी आग बबूला हो गये और माता को भी बहुत दुःख हुआ, परन्तु गणेश प्रसाद ने माता को दो टूक उत्तर दे दिया कि मांजी मेरी इस क्रिया-काण्ड में श्रद्धा नहीं है, मैं तो जैनधर्म को ही कल्याण कारी धर्म मानता हूँ।

परिवार का दायित्व—

मड़ावरा मिडिल स्कूल तक ही पढ़ाई का साधन था इसलिये १४ वर्ष के बाद इनका पढ़ना बन्द हो गया। ४ वर्ष खेल-कूद में गये। १८ वर्ष की अवस्था में विवाह हो गया। गणेशप्रसाद के दो भाई और थे। एक का विवाह हो चुका था, दूसरा छोटा था। परन्तु दोनों का ही असमय में देहान्त हो गया। विवाह के बाद ही पिता का भी स्वर्गवास हो गया। स्वर्गवास के पूर्व पिता ने गणेश प्रसाद से कहा—

"बेटा, संसार में कोई किसी का नहीं, यह श्रद्धान दृढ़ रखना। मेरी एक बात और दृढ रीति से हृदयंगम कर लेना। वह यह कि मैंने णमोकार मन्त्र के स्मरण से अपने को बड़ी-बड़ी आपत्तियों से बचाया है। तुम निरन्तर इसका स्मरण रखना। जिस धर्म में यह मन्त्र है उस धर्म की महिमा का वर्णन करना हमारे जैसे तुच्छ ज्ञानियों द्वारा होना असंभव है। तुमको यदि संसारबन्धन से मुक्त होना इष्ट है तो इस धर्म में दृढ श्रद्धान रखना और इसे जानने का प्रयत्न करना। बस हमारा यही कहना है।"

जिस दिन पिता ने यह उपदेश दिया था उस दिन ११० वर्ष की अवस्था वाले इनके दादा ने वैद्य से पूछा कि महाराज! हमारा बेटा कब तक अच्छा होगा? वैद्य महोदय ने कहा कि 'शीघ्र नीरोग हो जायगा'। यह सुन-कर दादा ने कहा—मिथ्या क्यों कहते हो? वह तो प्रातःकाल तक ही जीवित रहेगा? दुःख इस बात का है कि मेरी अपकीर्ति होगी—'बुड्ढा तो बैठा है पर लड़का मर गया।' इतना कहकर वे सो गये। जब प्रातःकाल उन्हें जगाने के लिये गणेश प्रसाद गये तब वे मृत पाये

गये। उन्हें जलाकर लोग आये कि इधर पिता-हीरालाल का देहान्त हो गया। दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। खूब रोये, पर रोने से क्या होता ? परिवार का सारा दायित्व अठारह वर्ष के गणेशप्रसाद पर आ पड़ा। पर वह घबराये नहीं। आजीविका के लिये मदनपुर गाँव में मास्टरी करली। चार माह काम किया, फिर ट्रेनिंग लेने के लिये आगरा चले गये। वहाँ दो मास ही रह सके। फिर इन्दौर रियासत के शिक्षाविभाग में नौकरी कर ली। देहात में रहना पड़ा अतः मन नहीं लगा और घर वापिस आ गये।

मार्गदर्शक कड़ोरेलाल भायजी—

द्विरागमन के बाद जब पत्नी घर आयी तो वह भी माता के बहकाये में आ गयी। उसने भी कहा कि जैन-धर्म छोड़कर कुल-धर्म में आ जाओ। परन्तु गणेश-प्रसाद अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं हुए। माता का स्नेह और पत्नी का अनुराग उन्हें जैनधर्म की श्रद्धा से विचलित नहीं कर सका। इनके चचेरे भाई लक्ष्मण का विवाह था। उस समय ये अपनी जातिवालों के साथ पङ्क्तिभोजन में शामिल नहीं हुए, इसलिये जाति वालों ने बहुत धमकाया कि हम तुम्हें जाति से बन्द कर देंगे। इन्होंने उसकी जरा भी चिन्ता नहीं की। कारी टोरन में मास्टरी करते थे वहाँ से चलकर टीकमगढ़ आ गये। यहाँ श्रीराम मास्टर से परिचय बढ़ा। उन्होंने जतारा स्कूल का मास्टर बना लिया। जतारा में मोतीलाल वर्णी और कड़ोरेलाल भायजी तथा स्वरूपचन्द्र जी बानपुरिया आदि से सम्पर्क बढ़ा। मोतीलाल वर्णी और गणेशप्रसाद नयी अवस्था के थे परन्तु कड़ोरेलाल भायजी अच्छे तत्त्व-ज्ञानी थे। वे बार-बार समझाया करते थे कि उतावली मत करो, जैनधर्म के मर्म को समझो तब चारित्र के मार्ग में आगे बढ़ो। बातचीत के दौर में इन्होंने भायजी को यह भी बता दिया कि मैंने अपनी माँ और पत्नी को यह कह कर छोड़ दिया है कि जबतक जैनधर्म को धारण नहीं करोगी तब तक हम आपसे सम्बन्ध नहीं रखेंगे। आपके हाथ का भोजन नहीं करेंगे। भायजी साहब ने समझाया—किसी का बलात् धर्मपरि-वर्तन नहीं कराया जाता। जतारा के तालाब पर बैठकर इन सबके बीच चर्चा होती थी तो गणेशप्रसाद के मुख से यही एक प्रश्न निकलता था—भायजी साहब ? वह मार्ग बताओ जिससे मैं संसारबन्धन से छूट जाऊँ।

धर्ममाता चिरोंजा बाईजी—

एक बार कड़ोरेलाल भायजी ने कहा कि सिमरा में एक चिरोंजा बाई रहती हैं। वे जैनधर्म का अच्छा ज्ञान रखती हैं उनके पास चला जाय। गणेशप्रसाद ने कहा कि बिना बुलाये कैसे जाया जाय ? उन्होंने कहा कि वहाँ एक क्षुल्लक रहते हैं। उनके दर्शन के लिये चला जाय वहीं बाईजी से मिलाप हो जायगा। निदान, गणेशप्रसाद अपनी गोष्ठी के साथ सिमरा पहुँचे। क्षुल्लक जी के दर्शन हुए। भायजी साहब ने गणेशप्रसाद से शास्त्र पढ़वाया। बाई जी ने शास्त्रश्रवण करने के बाद सबको भोजन के लिये घर पर आमन्त्रित किया। अपरिचित होने से गणेशप्रसाद भोजन में शरमा रहे थे। यह देख बाई जी ने करोड़ेलाल भायजी से कहा कि यह बालक क्या मौन से भोजन करता है ? इसे देख मुझे ऐसा लग रहा है जैसा जन्मान्तर से इसके साथ मेरा सम्बन्ध हो। भोजन के बाद भायजी ने और भी विशेष जानकारी देते हुए कहा कि यह मड़ावरा का रहने वाला है। वैष्णवधर्म के धारक असाटीकुल में इसका जन्म हुआ है, परन्तु अब जैनधर्म का श्रद्धालु है। इसकी परिणति से ऐसा जान पड़ता है कि यह पूर्वभव में जैनधर्मी था। किसी कारण इस भव में अजैनकुल में उत्पन्न हुआ है।

बाई जी ने कहा—बेटा ! तुझे देख मेरे हृदय में पुत्र का स्नेह उमड़ रहा है और मुझे लगता है कि 'तू मेरा जन्मान्तर का पुत्र है। मेरी सारी सम्पत्ति आज से तेरी रक्षा के लिये है। तू संकोच छोड़कर आनन्द से रह। भायजी ने कहा—इसकी माँ और पत्नी भी है। बाई जी ने कहा—कुछ हानि नहीं है। उन्हें भी बुला लो। मैं सबका पालन करूँगी। बाईजी ने यह भी कहा कि क्षुल्लक जी विशेष ज्ञानी नहीं हैं इसलिये यदि तुम्हें पढ़ने की इच्छा है तो जयपुर चले जाओ। वहाँ तुम्हारी भावना पूरी होगी। व्यवस्था मैं कर दूँगी।

एक दिन शास्त्र सभा के बाद गणेश प्रसाद ने क्षुल्लक जी से कहा कि महाराज ? ऐसा उपाय बताओ जिससे संसार का बन्धन छूट जाय । क्षुल्लक जी ने कहा सब हो जायगा । हमारे साथ रहो और शास्त्र लिख कर आजीविका करो । गणेशप्रसाद को क्षुल्लक जी द्वारा बताया हुआ आजीविका का साधन पसन्द नहीं आया । उन्होंने निर्भयता के साथ कह दिया – 'महाराज मैं आजीविका के लिये तो मास्टरी करता हूँ', आपके द्वारा बताया हुआ उपाय मुझे पसन्द नहीं है । आप तो वह मार्ग बताइये जिससे भव-भ्रमण का चक्कर छूट जाय ।

सिमरा से वापिस आते समय बाई जी ने कहा–बेटा ! चिन्ता नहीं करना, भाद्रमास में यहीं आ जाना । गणेश प्रसाद बाई जी की आज्ञा शिरोधार्य कर जतारा चले गये और भाद्रमास में सिमरा आ गये । इन्होंने एक माह के लिये छहों रसों का त्याग कर दिया । बाई जी ने व्रत का पालन कराया और अन्त में उपदेश दिया—तुम पहले ज्ञानार्जन करो, पश्चात् व्रतों को पालना । शीघ्रता मत करो, जैनधर्म संसार से पार करने की नौका है । इसे पाकर प्रमादी मत होना । कोई भी काम करो, समता से करो । जिस कार्य में आकुलता हो उसे मत करो । गणेश प्रसाद ने बाई जी की आज्ञा स्वीकृत की और भाद्रमास बाद निवेदन किया कि मुझे जयपुर भेज दो ।

बाई जी ने सब सामान जुटा कर उनको जयपुर जाने की व्यवस्था कर दी । बाई जी को प्रणाम कर गणेश प्रसाद सोनागिरि के लिये चल पड़े । वहां की वन्दना कर ग्वालियर पहुंचे और चंपाबाग की धर्मशाला में ठहर गये ।

जयपुर की असफल यात्रा—

एक दिन धर्मशाला के कोठा में सामान रख कर शौच से निर्वृत्त होने के लिये बाहर गये । लौटकर देखते हैं तब ताला खुला मिला । सब सामान चोरी चला गया । साथ में जो छन्ना लोटा धोती और एक छाता ले गये थे वही शेष बचा । बिना साधन के जयपुर नहीं पहुंच सके । छह आना में छाता बेंच कर दो दो पैसे के चना चबाते हुए घर वापिस आ गये । इस असफल यात्रा का समाचार उन्होंने बाई जी से भी नहीं कहा । जतारा से तीन मील दूर मार्रा गांव में स्वरूप चन्द्र जी बानपुरया के यहां रहने लगे । उनके साथ स्वाध्याय कर कुछ तत्त्वज्ञान प्राप्त किया । किसी समय उन्हीं बानपुरया के साथ खुरई गये । उस समय श्रीमन्त सेठ मोहनलाल जी के प्रभाव से खुरई का बड़ा महत्त्व था । अच्छे अच्छे ज्ञानी जीवों का वहां आगमन होता रहता था । उस वक्त वहां पन्नालाल जी न्यायदिवाकर आये हुए थे । उनका सारगर्भित प्रवचन सुन कर गणेशप्रसाद बहुत प्रसन्न हुए ।

बात का घाव—

एक दिन अवसर पाकर उन्होंने पण्डित जी को अपना परिचय देकर कहा "आप मुझे संसार सागर से पार होने का मार्ग बतलाइये, मैं वैष्णव कुल में जन्मा हूँ परन्तु मेरी श्रद्धा जैन धर्म में हो गयी है ।" पण्डित जी ने कहा कि लोग जैनधर्म के तत्त्व को समझते तो हैं नहीं सिर्फ भोजन के लोभ से जैनधर्म धारण करने की बात करने लगते हैं । न्यायदिवाकर जी के यह वचन गणेश प्रसाद के हृदय में तीर से चुभ गये । उन्होंने कहा— महानुभाव ! मैंने आप से कुछ धन की सहायता या मधुर भोजन की याचना तो की नहीं थी, सिर्फ आत्म कल्याण का मार्ग पूछा था । आपने इतने कटुक शब्द कह कर मुझे निराश कर दिया । इसे मैं अपना दुर्भाग्य समझता हूं । सौभाग्य होगा तो मैं भी कभी जैनधर्म के रहस्य को समझ सकूंगा । खुरई में दो तीन दिन रह कर गणेशप्रसाद मां के पास मड़ावरा पहुंच गये । मां ने समझा कि मेरा बेटा अब सुमार्ग पर आ गया है । उसने फिर से अपना वैष्णवधर्म धारण करने की प्रेरणा की, परन्तु चिकने घड़े पर पानी के समान मां का ममता पूर्ण उपदेश गणेश प्रसाद के हृदय में स्थान न पा सका । वे चलकर बमराना आ गये । बमराना में श्री सेठ लक्ष्मी चन्द्र जी से परिचय हुआ । उन्होंने आदर से गणेश प्रसाद को रक्खा और जब जाने लगे तब दस रुपये देकर विदा किया । बमराना से मड़ावरा आये और पांच दिन रह कर मां से अनुमति लिये बिना ही रोशन्दीगिरि तथा कुण्डलपुर की यात्रार्थ घर से निकल पड़े । पैदल ही चलते थे अतः क्रम क्रम से अनेक गांवों में ठहरते हुए रोशन्दीगिरि और

पश्चात् कुण्डलपुर पहुंचे। घर पर कोई आकर्षण नहीं था। हृदय में आत्म कल्याण की भावना सजग थी इसलिए तीर्थ-यात्रा की भावना से आगे बढ़ते गये। जबलपुर तथा सिवनी के मार्ग से चलते चलते रामटेक पहुँच गये। भगवान् शान्तिनाथ की सौम्य मुद्रा के दर्शन कर मार्ग का सब श्रम भूल गये। रामटेक से अमरावती होते हुए मुक्ता गिरि पहुँचे। प्राकृतिक सुषमा के भाण्डार मुक्तागिरि के दर्शन कर गणेशप्रसाद का हृदय पुलकित हो गया।

कर्मचक्र—

पैसे की कमी और पैदल भ्रमण से गणेशप्रसाद का शरीर क्षीण हो गया। खाज हो गयी और तिजारी नामक ज्वर आने लगा। मार्ग में अनेक कष्ट भोगते हुए पैदल ही गज-पन्था पहुँच गये। वहाँ मारवी के एक सेठ के साथ गज-पन्था की वन्दना की तथा सेठ जी के यहाँ भोजन किया। सेठ जी ने व्रत-भाण्डार में बहुत दान दिया पर गणेशप्रसाद के पास इकन्नी ही शेष रही थी वही उन्होंने व्रत भाण्डार में दे दी। इस इकन्नी के दान ने गणेशप्रसाद की दशा बदल दी।

बम्बई का वैभव—

मारवी वाले सेठ उन्हें अपने साथ बम्बई ले गये। बम्बई का वैभव देखकर गणेशप्रसाद आश्चर्य में पड़ गये। सेठ जी उन्हें धर्मशाला में ठहराकर तथा आठ आना पैसे देकर चले गये। मलिन वस्त्र पहिने हुए गणेश प्रसाद भूलेश्वर के मन्दिर में शास्त्र-स्वाध्याय करने लगे। इतने में खुरजा निवासी बाबा गुरुदयालदास की दृष्टि इन पर पड़ी। उन्होंने सब परिचय पूछा और कहा कि कहाँ ठहरे हो? गणेश प्रसाद ने धर्मशाला का स्थान बताया। थोड़ी देर बाद बाबा जी उज्वलवस्त्र और खाद्यसामग्री लेकर उनके पास पहुंचे और बोले "दुःखी मत होना, हम तुम्हारी सब प्रकार की सहायता करेंगे।" बाबा जी कुछ कापियां इन्हें दे गये और कह गये कि उन्हें बाजार में फैरी द्वारा बेंच आना। कापियों के बेंचने से गणेश प्रसाद के पास इकतीस रुपये छह आने हो गये।

विद्याध्ययन का सुयोग—

उस समय बम्बई में पन्नालाल जी बाकली वाल रहते थे। उनके पास गणेशप्रसाद रत्नकरण्ड श्रावकाचार पढ़ने लगे। उन्हीं के आदेशानुसार जीवाराम जी से कातन्त्रव्याकरण पढ़ने लगे। भाद्र मास में गणेशप्रसाद ने इन दोनों विषयों में परीक्षा दी और पास होकर २५) पुरस्कार प्राप्त किया। उसी वर्ष दानवीर सेठ माणिक चन्द्र परीक्षालय खुला था। यह उसके प्रथम परीक्षार्थी थे। उस समय बम्बई में गोपालदास जी बरैया भी रहते थे उन्होंने भी गणेशप्रसाद का उत्साह बढ़ाया। देहली के झवेरी लक्ष्मीचन्द्रजी ने कहा कि हम १०) मासिक देंगे, खूब अध्ययन करो। यह सब साधन बम्बई में अनुकूल थे पर पानी अनुकूल न होने से गणेश प्रसाद पूना गये और वहाँ से केकड़ी गये। केकड़ी में कुछ समय रहकर चिरकांक्षित जयपुर पहुंच गये।

जयपुर में ठोलियाजी की धर्मशाला में ठहर गये। जमुना प्रसादजी काला ने सब व्यवस्था कर दी जिससे वीरेश्वर शास्त्री के पास कातन्त्रव्याकरण और चन्द्रप्रभ चरित पढ़ने लगे। तत्वार्थ सूत्र और एक अध्याय सर्वार्थ सिद्धि भी पढ़ ली। पढ़ने के बाद बम्बई परीक्षा में बैठ गये। कातन्त्रव्याकरण का प्रश्न पत्र लिख रहे थे तब घर से पत्र आया उसमें पत्नी के देहान्त का समाचार लिखा था। गणेशप्रसाद ने मन ही मन विचार किया कि आज मैं बन्धन-मुक्त हो गया। जमुनालाल जी काला ने जब पत्र पढ़ा तब सान्त्वना देते हुए कहा कि चिन्ता न करो हम दूसरी शादी कर देंगे। गणेशप्रसाद ने कहा कि अभी तो प्रश्न-पत्र लिख रहा हूँ फिर सब समाचार श्रवण कराऊँगा। परीक्षाबाद जमुनालाल जी को सब समाचार सुना दिया और बाई जी को भी पत्र लिख दिया कि आज मैं बन्धन-मुक्त हो गया। अब निःशल्य भाव से अध्ययन करूँगा।

जयपुर से मथुरा—

परीक्षाफल निकलने पर पं० गोपाल दास जी बरैया ने गणेश प्रसाद को पत्र लिखा कि मथुरा में महासभा का विद्यालय खुला है चाहो तो यहीं अध्ययन करो। पत्र पाते ही वे मथुरा पहुंच गये और पं० बलदेव दास जी से सर्वार्थ सिद्धि पढ़ने लगे। सौभाग्य से पं. ठाकुरदास जी

की नियुक्ति मथुरा के विद्यालय में हो गयी और उनके पास वे अच्छी तरह अध्ययन करने लगे। दो वर्ष तक मथुरा में रहे, फिर वहाँ से खुरजा चले गये।

मथुरा से खुरजा—

खुरजा में दो वर्ष रहकर बनारस की प्रथम परीक्षा और न्याय-मध्यमा का प्रथम खण्ड पास किया। इसी खुरजा से चलकर जेठमास की कड़कती गर्मी में आपने तीर्थराज सम्मेद शिखर जी की वन्दना की। वहाँ परिक्रमा में मार्ग भूल जाने से जब प्यास की बाधा ने सताया तब एकाग्र चित्त से पार्श्वप्रभुका स्मरण किया जिसके प्रभाव से वन में जल से लबालब भरा हुआ कुण्ड उन्हें मिला। उसका पानी पीकर पिपासा शान्त की। सम्मेदशिखरजी से लौट कर बाई जी के पास कुछ समय तक रहे और वहाँ से टीकमगढ़ में रहने वाले महानैयायिक श्री दुलारझा के पास चले गये। उनके पास मुक्तावली तथा पञ्च-लक्षणावली आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया। श्री दुलार झा यद्यपि न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् थे तथापि बलिप्रथा के समर्थक होने से इनका मन उनके पास नहीं रमा अतः बाई जी के पास सिमरा वापिस चले गये।

कुछ समय बाद बाई जी से आज्ञा लेकर हरिपुर चले गये। यह इलाहाबाद से पूर्व झूंसी से पन्द्रह मील पर हंडिया तहसील में है। वहाँ पं० ठाकुरदास जी रहते थे, बड़े ही सौम्य प्रकृति के विद्वान् थे। उनके पास तीन चार माह रहकर आपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और सिद्धान्त कौमुदी का कुछ अंश पढ़ा। ठाकुरदास जी तथा उनकी पत्नी की इन पर अपूर्व कृपा थी। गणेशप्रसाद को वे पुत्रवत् घर पर ही भोजन कराते थे और इन्हें भोजन कराने के लिये स्वयं पानी छानकर पीने लगे थे। रात्रि भोजन का त्याग कर दिन में ही भोजन करने लगे थे। पं० ठाकुरदास जी के पास कुछ समय अध्ययन कर गणेशप्रसाद संस्कृत विद्या की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी चले गये। यह वि. सं. १९६१ की बात है। विद्याध्ययन की टोह में गणेशप्रसाद दस बारह वर्ष तक इधर उधर भटक लिये थे। इनकी अवस्था अब तीस वर्ष के लगभग हो गयी थी।

जैनत्व का अपमान—

उस समय वाराणसी के क्वीन्स कालेज में न्याय के मुख्य अध्यापक जीवनाथ मिश्र थे। एक दिन गणेशप्रसाद ने उनके घर जाकर तथा एक रुपया भेंट का चढ़ाकर प्रार्थना की कि मुझे न्यायशास्त्र का अध्ययन करना है। आपकी आज्ञा हो तो आपके बताये समय पर उपस्थित हो जाया करूँ। मिश्र जी ने गणेशप्रसाद से पूछा कि कौन ब्राह्मण हो? उत्तर में जब उन्होंने कहा कि 'मैं ब्राह्मण नहीं जैन हूँ' तब शर्मा जी का क्रोध भड़क उठा। उन्होंने रुपया फेकते हुए कहा कि मैं जैनों को नहीं पढ़ाता। बहुत कुछ अनुनय विनय करने पर भी जब उनकी क्रोधाग्नि शान्त नहीं हुई तब गणेशप्रसाद निराश होकर मेदागिन लौट आये और कमरे में बैठकर खूब रोये। उनके मुख से यही निकलता था कि जिस वाराणसी में सुपार्श्व और पार्श्व इन दो तीर्थंकरों का जन्म हुआ। जैनधर्म की दुन्दुभी बजी। उस वाराणसी में जैनत्व का इतना अपमान? यहाँ जैनधर्म की शिक्षा देने वाला एक भी आयतन नहीं।

स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना—

रात्रि को स्वप्न में गणेशप्रसाद से कोई कहता है कि तुम बाबा भागीरथ को बुलाओ। उनके सहयोग से तुम्हारा मनोरथ अवश्य ही सिद्ध हो जायगा। स्वप्न तो स्वप्न ही था, जागने पर कोई नहीं दिखा। प्रातःकाल होने पर वे स्नानादि से निवृत्त हो मन्दिर गये। फिर इधर उधर घूमते हुए श्वेताम्बर विद्यालय में पहुँचे। उसके संचालक धर्मविजय सूरि को सब कथा सुनायी। सुन कर वे उन्हें उस विद्यालय के अध्यापक अम्बादास जी शास्त्री के पास ले गये। प्रथम साक्षात्कार में ही शास्त्री जी ने गणेशप्रसाद की भावना को परख लिया और कहा कि हम यहाँ से एक घण्टा बाद घर चलेंगे तब हमारे साथ चलना। गणेशप्रसाद एक घंटा बाद शास्त्री जी के साथ उनके घर पहुँचे। शास्त्री जी ने पढ़ाने की स्वीकृति दी और गणेशप्रसाद बड़ी प्रसन्नता से उनके पास अध्ययन करने लगे। इसी बीच उन्होंने बाबा भागीरथ जी को पत्र देकर बुला लिया। बाबाजी आगये परन्तु पैसे के बिना विद्या-

लय कैसे खुले ? इस चिंता में दोनों व्यग्र थे। चर्चा करने पर कामा के रहने वाले झम्मनलाल ने गणेशप्रसाद को एक रुपया दिया। गणेशप्रसाद ने एक रुपये के ६४ पोष्ट कार्ड खरीद कर ६४ जगह पत्र लिखे। अनेक लोगों ने उनकी भावना को समझा और अच्छी सहायता के वचन दिये। फलस्वरूप श्रुतपञ्चमी (जेठ सुदी ५ वि. सं. १९६५) के शुभ मुहूर्त में दानवीर सेठ माणिकचन्द्र जी के हाथ से भदैनीघाट पर स्थित मन्दिर के मकान में स्याद्वाद-विद्यालय का उद्घाटन हो गया। गणेशप्रसाद की सलाह से अम्बादास जी शास्त्री तथा अन्य दो अध्यापक नियुक्त हो गये। धीरे-धीरे छात्र संख्या बढ़ने लगी। गणेशप्रसाद स्वयं ही विद्यालय के छात्र बन गये और बाबा भागीरथ जी की देख रेख में विद्यालय का काम चलने लगा। बाबा जी बड़ी व्यवस्था और निःस्पृहता के साथ विद्यालय का संचालन करते थे। जैन समाज के विद्वानों में अग्रगण्य स्व० पं० वंशीधर जी न्यायालंकार स्व० पं० देवकीनन्दन जी और स्व० पं० माणिकचन्द्र जी न्यायाचार्य आदि महानुभाव उस विद्यालय के छात्र बने और धुरंधर विद्वान् बन कर निकले। स्याद्वाद विद्यालय आज जैन समाज का सर्वोपरि विद्यालय माना जाता है।

हिन्दू-विश्व-विद्यालय में जैन कोर्स की स्थापना—

कुछ समय बाद वाराणसी में नररत्न महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय के पुरुषार्थ से हिन्दू विश्वविद्यालय खुला। उसमें अनेक प्राच्यदर्शनों के ग्रन्थ कोर्स में रखे गये। पं० अम्बादास जी शास्त्री गणेशप्रसाद के हाथ जैनदर्शन के कितने ही ग्रन्थ लिवा कर पाठ्यक्रम निर्धारिणी सभा में पहुँचे। उसकी अध्यक्षता स्व० मोतीलाल जी नेहरू कर रहे थे। शास्त्री जी के प्रयत्न से विश्व विद्यालय में जैनदर्शन का पाठ्यक्रम निर्धारित कर किया गया और उसके अनुसार पढ़ाई तथा परीक्षा चालू हो गयी। इसी बीच धर्ममाता चिरोंजाबाई के सिर में शूल रोग हो गया जिसके कारण गणेशप्रसाद को उनके पास जाना पड़ा। बाई जी बरुआसागर आकर रहने लगी थी।

सागर में सत्तर्कसुधातरङ्गिणी पाठशाला की स्थापना—

एक बार विमानोत्सव में सम्मिलित होने के लिये गणेशप्रसाद जी ललितपुर गये थे। सागर के भी कुछ सज्जन उस विमानोत्सव में सम्मिलित हुए थे। सागर के लोग आग्रह कर गणेशप्रसाद जी को सागर ले आये और अपने यहाँ भी एक बड़ी पाठशाला खोलने की प्रार्थना करने लगे। फलस्वरूप समाज की उदारता से यहाँ वीरनिर्वाणसंवत २४३५ वि. सं. १९६८ की अक्षय तृतीया के शुभ मुहूर्त में भी सत्तर्क सुधा तरङ्गिणी नाम की पाठशाला स्थापित हो गयी। तब से यह पाठशाला दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करती चली आ रही है। वही पाठशाला आज गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय के नाम से समाज में प्रख्यात है। हजारों गरीब छात्रों का इससे उपकार हुआ है। गणेशप्रसाद जी यहाँ स्थायी रूप से रहने लगे। धर्ममाता चिरोंजाबाई जी भी यहीं रहने लगीं। इनकी देख रेख में समाज ने विद्यालय को अच्छी सहायता पहुँचायी।

निवृत्ति की ओर—

इसी सागर में गणेशप्रसाद जी ने जो अब तक समाज में बड़े पण्डित जी के नाम से प्रख्यात हो चुके थे ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया और कुण्डलपुर में बाबा गोकुलदास जी (पं० जगमोहन लाल जी कटनी के पिता) के पास ब्रह्मचर्य प्रतिमा धारण करने से आप 'वर्णीजी' नाम से प्रसिद्ध हुए अब आपकी वेषभूषा परिवर्तित होकर एक धोती दुपट्टा के रूप में रह गयी।

रूढ़ियों की राजधानी—बुन्देलखण्ड में—

उस समय बुन्देल खण्ड में अनेक रूढ़ियों का प्रचार था। जरा-जरा सी बात में लोगों को जाति से च्युत कर दिया जाता था। बाद में उनसे पक्की और कच्ची पंगत लेकर ही उन्हें शुद्ध किया जाता है। इस प्रक्रिया से गरीब लोग बड़े संकट में रहते थे। वर्णी जी ने अपने सहयोगियों के साथ जगह-जगह भ्रमण कर अनेक कुरूढ़ियों का निवारण कराया और त्रस्त गरीब जनता का उद्धार

कराया। नैनागिरि, द्रोणगिरि, पपौरा तथा अहार आदि स्थानों पर शिक्षा संस्थाएँ खुलवाईं जिससे प्रान्त में शिक्षा का अच्छा प्रचार हुआ। जहाँ संस्कृत की बड़ी पूजा और मूल तत्त्वार्थसूत्र बांच देने वाले भायजी भी दुर्लभ थे वहाँ आज संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् तैयार हो गये।

चकौती में—

संवत् १९८४ में वर्णी जी शान्तिलाल नैयायिक के साथ न्याय-शास्त्र का विशिष्ट अध्ययन करने के लिये दरभंगा जिला में स्थित चकौती गये और वहाँ सहदेव झा नैयायिक के पास सामान्यनिरुक्ति पढ़ने लगे। वहाँ का वातावरण नव्यन्याय से तन्मय था। जहाँ देखो वहाँ अवच्छेदकावच्छेदेन की ध्वनि सुनायी पड़ती थी। वहाँ पढ़ने की तो सुविधा थी परन्तु समस्त मैथिल ब्राह्मण मत्स्यभोजी थे। खास अवसर पर बकरा की वलि भी चढ़ाते थे इसलिये वर्णी जी सदा उदास रहते थे। आहार की पर्याप्तता न होने से इनका शरीर भी दुर्बल पड़ गया। एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण ने इनसे दुर्बलता का कारण पूछा तब इन्होंने कहा कि जहाँ मैं रहता हूँ वहाँ लोग मत्स्य का मांस पकाते हैं उसकी दुर्गन्ध से मुझे भोजन अच्छा नहीं लगता। वृद्ध ब्राह्मण ने गांव के लोगों को एकत्रित कर नियम करा दिया कि जब तक यह विद्याध्ययन के लिये अपने ग्राम में रहते हैं तब तक कोई मत्स्य मांस न पकावे न खावे और न किसी प्रकार का वलिदान ही चढ़ावे। इस प्रकार वर्णी जी की भावना के अनुसार गाँव का वातावरण अहिंसा रूप में परिवर्तित हो गया।

इसी चकौती में एक द्रौपदी नामक ब्राह्मण की लड़की रहती थी। विधवा होने पर उसने घोर पाप किया परन्तु अन्त में उसके हृदय में पाप से इतनी अधिक ग्लानि हो गयी कि उसने सब के समक्ष अपने गुप्त पाप का उल्लेख किया तथा निराकुल हो पुरी की यात्रा के लिये गयी और वहाँ शंकर जी को जल चढ़ाती-चढ़ाती परलोक को प्राप्त हो गयी।

चकौती में रहते समय वर्णी जी की पीठ में एक भयंकर फोड़ा हो गया जिसके कारण आठ दिन तक बहुत कष्ट में रहे। बिहारी मुसहड़ ने उस पर कोई जड़ी पीस कर लगायी जिससे बारह घण्टा नींद आयी और फोड़ा बैठ गया। वर्णी जी ने उसे दश रुपये का नोट देना चाहा परन्तु उसने लेने से मना कर दिया और अच्छा भाषण दे डाला। उपस्थित लोगों को ऐसा लगा कि नीच जाति में भी उच्च विचारों का होना दुर्लभ नहीं है। चकौती से चलकर नवद्वीप गये परन्तु वहाँ भी सामिष भोजन की प्रचुरता देख कलकत्ता चले गये। वहाँ पं० ठाकुरदास जी के साथ पहले ही परिचय था। उन्होंने एक बंगाली विद्वान् से परिचय करा दिया जिससे उनके पास न्यायशास्त्र का अध्ययन करने लगे। वर्णी जी के हृदय में न्यायशास्त्र के प्रति गाढ अभिरुचि थी। यही कारण रहा कि वे उसकी गहराई तक पहुँचने के लिये निरन्तर परिभ्रमण करते रहे।

गुरु भक्त वर्णीजी—

वर्णीजी अत्यन्त गुरुभक्त थे। अम्बादास जी शास्त्री के पास जब उनकी अष्टसहस्री पूर्ण हुई तब उन्होंने भक्ति से गद्गद होकर हीरा की एक अंगूठी समर्पित कर दी। एक बार संवत् १९७२ में वे शास्त्री जी को सागर भी लाये थे। मलैया प्यारेलाल किशोरीलाल जी के यहाँ मन्दिर की शिखर पर कलशारोहण का उत्सव था। उस उत्सव में शास्त्री जी का संस्कृत में भाषण कराया था और स्वयं ने उसका हिन्दी भाव जनता को समझाया था। उसी समय सागर विद्यालय के लिये बीस हजार का ध्रौव्य फण्ड प्राप्त हुआ था। अम्बादास जी ही क्यों जिस-जिस के पास आपने अध्ययन किया उन सब की भक्ति में कभी कमी नहीं की। विद्वान् मात्र के प्रति आपके हृदय में अपार आदर था। जो विद्वान्, वर्णी जी के शिष्यानुशिष्य होते थे उनका भी उत्तम आदर करते थे और समाज में उनकी प्रतिष्ठा बढ़े इसका सदा ध्यान रखते थे।

उदारमना वर्णीजी—

वर्णीजी की उदारता की क्या चर्चा की जाय, वे उदारता गुण के मानों अवतार ही थे। अपने लिये आयी हुई वस्तु को वे सदा दूसरों को बांट देते थे। एक बार वाराणसी से लंगड़ा आमों की टोकनी लेकर सागर आ रहे थे। सागर के करीब पड़ने वाली गनेशगंज स्टेशन

पर उन्होंने देखा कि कुछ गरीब लड़के मुसाफिरों के द्वारा फेंकी हुई आम की गुठलियों को उठाकर चूस रहे हैं। उन्होंने उन बालकों को पंक्तिबद्ध खड़ा कर साथ में लाये हुए सब लंगड़ा आम बांट दिये। सागर आने पर जब बाई जी ने पूछा—भैया ? बनारस से लंगड़ा नहीं लाये ? वर्णी जी ने उत्तर दिया—बाई जी लाया तो था परन्तु गनेशगंज स्टेशन पर गरीबों को बांट आया। बाई जी ने संतोष प्रकट करते हुए कहा कि अच्छा किया। उन्हें कब नसीब होने वाले थे।

दया के अवतार—

वर्णी जी दूसरे के दुःख को देख कर सिहर उठते थे—उनका रोमरोम अनुकम्पित हो जाता था। दुःखी मनुष्य का दुःख दूर करने के लिये आप शीतकाल में भी अपना श्वेत दूसरे को दे देते थे और स्वयं ठण्ड से कांपते हुए घर आ जाते थे। एक बार बरायठा से सागर वापिस आते समय एक हरिजन महिला को पानी पिला कर लोटा उसे ही दे दिया तथा अपने शरीर पर धारण किया हुआ धोती दुपट्टा भी दे डाला और एक लंगोट पहिने संध्या के अन्धकार में सागर वापिस आये। मनुष्य ही नहीं कुत्ता, बिल्ली तथा गधे आदि पशु तक आपकी दया के पात्र थे।

हृदय के पारखी—

वर्णीजी में दूसरे का हृदय परखने की अद्भुत क्षमता थी। उद्दण्ड से उद्दण्ड लड़कों के हृदय को वे परख लेते थे और उन्हें अपने साथ लाकर पढ़ाते लिखाते थे। जैन समाज के ख्याति प्राप्त विद्वान स्व. पं. देवकी नन्दन जी बरुआ सागर के रहने वाले थे। बड़े उद्दण्ड लड़कों में से थे जब वे उन्हें वाराणसी ले जाने लगे तब बरुआ सागर के लोगों ने कहा कि इस उत्पाती को क्यों लिये जा रहे हो ? पर वर्णीजी ने कहा कि जिसे आप उत्पाती समझते हैं उसी की खुशामद करते हुए आप लोगों का मुख सूखेगा ? हुआ भी ऐसा ही।

वक्तृत्व कला के पारगामी—

वर्णीजी के वक्तृत्व में अमृत झरता था। उनकी वाणी श्रवण करते समय श्रोता ऐसा अनुभव करने लगता था कि 'मुख चन्द्रतें अमृत झरै'—मानों इनके मुख रूपी चन्द्रमा से अमृत ही झर रहा है। आगम के गहन विषयों को नाना दृष्टान्तों और उपकथाओं के द्वारा श्रोता के हृदय में उतार देने में आप सिद्धहस्त थे। न केवल धार्मिक विषय, अपितु राष्ट्रीय विषयों पर भी आपका वक्तृत्व अत्यन्त लोक-प्रिय होता था। हजारों की जनता मन्त्रमुग्ध की तरह आपकी वाणी का रसास्वादन करती थी। जिस जलसे, मेले अथवा सभा-सोसायटी में वर्णीजी पहुँच जाते थे उसमें रौनक आ जाती थी। यदि आप हँसाने बैठें तो श्रोताओं को खूब हँसाते थे और रुलाने बैठें तो श्रोता आंसू पोंछते पोंछते परेशान हो जाते थे। आपकी भाषा बुन्देलखण्डी मिश्रित खड़ी बोली थी। फिर जहाँ जैसा अवसर देखते थे वैसा भाषा को परिवर्तित कर लेते थे।

वर्णीजी का जीवन स्वयं अनेक घटनाओं से भरा हुआ है। उन्हीं घटनाओं को वे इस कला के साथ प्रस्तुत करते थे कि कभी श्रोता की हिचकी बँध जाती थी और कभी हास्य से लोटपोट हो जाता था। बालक, वृद्ध, तरुण, स्त्री, पुरुष, सभी लोग उनकी कला से प्रभावित रहते थे। उनका प्रवचन सुनने के लिये नर नारियों की बहुत बड़ी संख्या पहले से ही जाकर आगे का स्थान घेर लेती थी। उनके परिचय का कोई विद्वान या श्रीमान् पीछे पहुँचने के कारण यदि सभा में बैठने के लिये उचित स्थान नहीं पा सका और उस पर उनकी दृष्टि पड़ गयी तो उसे वे तत्काल आगे बुला लेते थे। कभी किसी की निन्दा उनके मुख से सुनने में नहीं आयी। प्रशंसा के द्वारा वे सामान्य व्यक्ति का प्रभाव भी जनता पर अच्छा जमा देते थे। कोई वक्ता यदि उनके सामने बोलता था तो उसके बोलने के बाद वे यही कहते थे—बहुत अच्छा कहा आपने। इसी प्रकार यदि किसी प्राथमिक लेखक का लेख या कविता पर उनकी दृष्टि पड़ती थी तो वे उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे—भैया बहुत अच्छा लिखा आपने। मैंने देखा है कि सन् १९४४ में उनके सागर आने पर जो कवि-सम्मेलन बुलाया था उसमें आप रात के दो बजे तक बैठे रहे। एक बार रेशन्दी गिरि के मेला में एक लड़की ने इस आशय की कविता सुनायी कि 'आज

का मानव पत्नी को तो सीता बनाना चाहता है पर स्वयं रावण बनता जा रहा है।' कविता से प्रसन्न होकर आपने अपना खेस उतार कर उसे पुरस्कार में दे दिया और रात-भर आप शीत की बाधा सहते रहे।

सफल लेखक—

पूज्यवर्णी जी ने अपनी स्वाभाविक भाषा में बहुत कुछ लिखा है। उन्हें डायरी लिखने की कला प्राप्त थी। डायरी में वे घटनाओं का उल्लेख तो करते ही थे साथ में उससे निकलने वाले परिणाम को भी सुभाषित के रूप में लिख देते थे। समाधि मरण में स्थित व्यक्तियों के लिये जो उन्होंने पत्र लिखे थे उनके कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे पत्र क्या हैं मानों आगम का सार उनमें समाया हुआ है। 'मेरी जीवन गाथा' नाम से जो उन्होंने आत्म-कथा लिखी है उसकी लोक-प्रियता इसी से सिद्ध है कि उसकी अल्पकाल में ही चार आवृत्तियां निकल चुकी हैं। उनकी डायरियों के सुभाषितों का सार लेकर भी डा. नरेन्द्रजी ने वर्णीवाणी के ४ भाग प्रकाशित करा दिये हैं। श्री कपूरचन्द्रजी बरैया लश्कर ने उनके प्रवचनों का सार संक्षेप लेकर 'सुख की झलक' नाम से १५ भाग प्रकाशित किये हैं।

कुन्दकुन्द के समयसार पर जो उन्होंने प्रवचनात्मक ढंग से टीका लिखी है। उसका प्रकाशन वर्णी ग्रन्थमाला वराणसी से हो चुका है। वह समाज के स्वाध्याय प्रेमी जनता को अत्यन्त रुचिकर हुआ है और उसके फलस्वरूप उसकी पहली आवृत्ति अल्पकाल में समाप्त हो गयी है। उसका द्वितीय संस्करण निकालने की तैयारी हो रही है। गद्य लिखने के साथ आपने कितने ही दोहों की भी रचना की है जो सुभाषित के रूप में कितने ही जगह दीवालों पर अंकित किये गये हैं। वर्णीस्मृतिभवन सागर की दीवालों पर ऐसे गद्य-पद्यात्मक अनेक उपदेश आयलपेंट से लिखाये गये हैं। श्लोक-वार्तिक की टीका लिखना भी उन्होंने शुरू किया था पर वह पूरी नहीं हो सकी। उसके कुछ पत्र ही उनके कागजातों में पाये गये थे। इस प्रकार हम उन्हें एक सफल लेखक के रूप में पाते हैं।

गौरव संरक्षक—

वर्णीजी शिक्षा-संस्थाओं के संचालन के लिये यद्यपि समाज से दान की प्रेरणा करते थे तथापि वे प्रान्त के गौरव का अवश्य ध्यान रखते थे। उनकी अधिक भावना यही रहती थी कि जिस प्रान्त में संस्था चल रही है उसी प्रान्त के लोग उस संस्था का संचालन करें। इसी में उनका गौरव है। प्रान्त के बाहर के लोग यदि स्वेच्छा से देते थे तो उसे स्वीकार करते थे और किसी प्रकार उन्हीं दाता के समक्ष उस प्रान्त के लोगों की शक्ति को भी वृद्धिगत करते थे। इसके लिये एक दृष्टान्त पर्याप्त है—

एक बार समाज के मान्य सरसेठ हुकम चन्द्रजी साहब वर्णीजी के दर्शनार्थ सागर पधारे। वर्णीजी के प्रवचन से प्रभावित होकर सेठ जी ने पच्चीस हजार का चेक उनके चरणों में यह कहते हुए रख दिया कि आप जहाँ चाहें दे दें। दूसरे दिन के प्रवचन में जब सेठजी विराजमान थे तब वर्णीजी ने सागर की समाज को संबोधते हुए कहा कि सेठजी के यह पच्चीस हजार रुपये यदि आप लोगों को अपनी संस्था—विद्यालय के लिये चाहिये हैं तो इसमें इतने ही आप लोग मिलाइये। अन्यथा मैं किसी दूसरी संस्था को दे दूंगा। क्योंकि सेठजी ने इनका वितरण मेरी इच्छा पर निर्भर किया है। सागर की समाज ने आध घंटे के अन्दर पच्चीस हजार का दान लिखा दिया। इससे संस्था को द्विगुणित लाभ हो गया और सागर समाज के गौरव की वृद्धि भी हुई।

लाखों का दान कराकर भी उन्होंने कभी रुपये को हाथ नहीं लगाया। रुपयों का वसूल करना संरक्षण करना तथा उनका उपयोग करना यह व्यवस्थापकों के ऊपर छोड़ देते थे। प्रान्त के बाहर की संस्थाओं का चन्दा यदि कहीं उनकी उपस्थिति में होता था तो वे सागर के सिंघई कुन्दन लालजी का दान अवश्य लिखा देते थे और वर्णीजी की सूचना आने पर सिंघईजी उस रकम को भेज देते थे।

समदर्शी—

कषायवश कई नगरों अथवा ग्रामों में फूट पड़ जाती है परन्तु वर्णी जी अपनी चतुराई से वर्षों से चला आया मनोमालिन्य अल्प समय में ही दूर करा देते थे। वे बड़े

दूरदर्शी थे, प्रथम तो उनके सन्निधान में लोग उत्तेजित होते ही नहीं थे। यदि अपवाद रूप में कहीं उत्तेजना फैलती थी तो उसे ढील देकर इस तरह निपटा देते थे कि जिससे वातावरण अधिक दूषित नहीं हो पाता था। वे कहा करते थे कि उलझी हुई रस्सी को जोर से मत खींचो अन्यथा गांठ पड़ जाने से सुलझना कठिन हो जायगा।

विकट स्वाभिमानी—

एक बार वर्णीजी, सागर से द्रोणगिरि जा रहे थे। मोटर की आगे की सीट पर आपको बैठा दिया गया। परंतु कुछ देर बाद सरकारी आफीसर के आने पर उन्हें वह सीट छोड़कर पीछे बैठने के लिये बाध्य किया गया। वर्णीजी को यह बात सह्य नहीं हुई और उन्होंने सवारी मात्र का त्याग कर दिया। उनके मुख से यही वाक्य निकला कि परपदार्थ को अपनी इच्छानुकूल कौन परिणमा सकता है? वाहन का त्याग कर देने के कारण वे पैदल ही सागर से पार्श्वप्रभु के पादमूल में गये और कुछ वर्षों बाद पैदल ही वापिस आये। ७०० मील की लम्बी पैदल यात्रा कितनी कष्टप्रद हो सकती है यह सहज ही समझा जा सकता है परन्तु वर्णीजी अपनी बात के धनी थे इसलिये उन्होंने उसे पूर्ण रूप से निभाया।

सन् १९४४ में जब ईसरी से सागर आये तब आपने दशम प्रतिमा के व्रत स्वतः लिये थे। उनके आने पर सागर में हर्ष की एक लहर दौड़ पड़ी थी। कवि सम्मेलनों में कविताएँ पढ़ी जाती थीं—'सागर में आई एक लहर'। सागर के आसपास भ्रमण कर उन्होंने जनता में शिक्षा के प्रति अच्छा आकर्षण उत्पन्न किया था। फलस्वरूप कटनी, जबलपुर, तथा खुरई आदि में अच्छा चंदा हुआ था और उससे चालू संस्थाओं को अच्छा पोषण प्राप्त हुआ था। जबलपुर की मढ़िया जी का विकास तथा वहाँ वर्णि विद्यालय की स्थापना वर्णीजी के प्रभाव से ही संपन्न हुई थी।

सागर से पैदल ही बिहार कर वे बरुवा सागर गये थे। बरुवा सागर से वर्णीजी का बहुत बड़ा संपर्क रहा है। सागर आने के पहले चिरोंजाबाई जी बरुवा सागर ही रहती थीं। वहाँ के सिंघई मूलचन्द्र जी बाई जी को अपनी बहिन मानकर बड़े सम्मान के साथ रखते थे। बाई जी के कारण वर्णी जी का भी वहाँ आना जाना होता रहता था। 'मेरी जीवन गाथा' में वर्णी जी ने बरुवा सागर में घटित अनेक घटनाओं का अच्छा वर्णन किया है। वर्णी जी के प्रभाव से वहाँ जैन विद्यालय की स्थापना हुई थी। बाबू रामस्वरूप जी वर्णीजी के प्रमुख भक्तों में थे।

सागर से पैदल ही भ्रमण करते हुए जब बरुवासागर पहुँचे तब वहाँ बड़ा उत्सव हुआ था। वहीं पर वर्णी जी ने जिनप्रतिमा के सामने फागुन सुदी ७ वीर निर्वाण २४७६ को क्षुल्लक दीक्षा ली थी। क्षुल्लक अवस्था में ही आपका उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली में बिहार हुआ था और लौटते समय फिरोजाबाद में आपकी हीरक जयन्ती मनायी गयी थी।

हीरक जयन्ती—

जब वर्णी जी ईसरी से सागर पधारे थे तब उनकी हीरक जयन्ती मनाने का आयोजन निश्चित किया गया था। परंतु श्रीमान् साहु शान्तिप्रसाद जी के इस आग्रह से कि वर्णी जी जैसे संत पुरुष की हीरक जयन्ती किसी बड़े शहर में बड़े रूप से मनायी जाना चाहिये। सागर की जनता ने उनकी उचित संमति को आदर देते हुए अपने यहाँ हीरक जयन्ती का उत्सव स्थगित कर दिया। परन्तु भावना बलवती थी अतः उसे समूल समाप्त नहीं किया जा सका। 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' तैयार करने की योजना बनी और ग्रन्थ के निर्माण में शक्ति लगायी जाने लगी। श्री पं० खुशालचन्द्र जी गोरावाला वाराणसी के संपादकत्व में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हुआ और उसके समर्पण के लिये दानवीर सेठ छदामीलाल जी फिरोजाबाद ने अपने यहाँ एक बड़ा उत्सव किया। उसी समय वर्णी जी महाराज की हीरकजयन्ती मनायी गयी। काका कालेलकर के करकमलों द्वारा वर्णीजी को 'वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ' समर्पित किया गया। फिरोजाबाद का वह मेला दर्शनीय मेला था। उस समय आचार्यवर्य सूरसागर जी महाराज भी ससंघ वहाँ पधारे थे। विशालंवती सम्मेलन हुआ था और सेठ छदामीलाल जी ने विशाल मन्दिर का शिलान्यास

कराया था। आज फिरोजाबाद का वह मन्दिर भारतवर्ष का एक दर्शनीय मन्दिर माना जाता है।

सागर में पुनरागमन—

हीरक जयन्ती के आयोजन के बाद आप क्रमशः विहार करते हुए पैदल ही पुनः सागर पधारे। सागर के साथ उनका कुछ आत्मीय भाव था। यहाँ की संस्थाओं के विस्तार को देखकर उन्हें आन्तरिक हर्ष होता था। उनका चातुर्मास भी सागर में ही हुआ। वैसे उनके प्रवचन प्रतिदिन हुआ करते थे परन्तु पर्युषणपर्व के प्रवचन जो कि यहाँ के चौधरन बाई के मन्दिर में हुआ करते थे बड़े आकर्षक रहे। उन प्रवचनों को सुनने के लिये विशाल मन्दिर में बड़ी भीड़ एकट्ठी होती थी। प्रवचन क्या थे मानों अमृत के झिरना थे। उन प्रवचनों का सार आगे दिया गया है।

एक दिन अचानक ही आपने घोषणा कर दी कि मैं आज सम्मेद शिखर के लिये प्रस्थान करूँगा। सारी समाज में यह समाचार बिजली की भांति फैल गया। जनता ने बहुत आग्रह किया परन्तु उन्होंने अपना निश्चय नहीं बदला और शीतकाल की मावठ के होते हुए भी यहाँ से प्रस्थान कर दिया। मार्ग की व्यवस्था श्री चंपालाल जी सेठी गया-वाले करते थे। सतना, रीवां, मिर्जापुर तथा बनारस आदि स्थानों में विहार करते हुए गया पहुँचे। चातुर्मास का समय आ गया था इसलिये वहीं वर्षा योग किया। चार पाँच माह गया में धर्मामृत की वर्षा हुई। वर्षा योग समाप्त होने पर चिरकांक्षित ईसरी पहुँच गये और अन्त अन्त तक उसी प्रान्त में रहे। जब कभी गिरीडीह अथवा कोडरमा जाना हुआ।

स्याद्वाद विद्यालय बनारस और गणेश विद्यालय के स्वर्ण जयन्ती महोत्सव—

स्याद्वाद विद्यालय और गणेश विद्यालय आपके द्वारा संस्थापित शिक्षा संस्थाओं में प्रमुख संस्थाएँ हैं। समाज में काम करते हुए इन संस्थाओं का लम्बा समय बीत गया है। संस्थाओं के संचालकों की इच्छा हुई इन संस्थाओं के स्वर्णजयन्ती उत्सव करने की। वर्णी जी ईसरी से अन्यत्र नहीं जा सकते थे इसलिये उत्सवों की आयोजना उन्हीं के पादमूल में सम्मेदशिखर जी में की गई। सन् १९५६ में स्याद्वाद विद्यालय का उत्सव हुआ। सन् १९५७ में गणेश विद्यालय का उत्सव संपन्न हुआ। सागर विद्यालय के उत्सव के समय श्री कानजी स्वामी भी ससंघ सम्मेद शिखर जी पधारे थे। एक मञ्च पर पूज्यवर्णी जी और कान जी स्वामी को समासीन देख जनता हृदय में प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी। दोनों विद्यालयों को यथा-योग्य आर्थिक सहायता भी इस अवसर पर प्राप्त हुई।

ईसरी का विकास—

देखते-देखते ईसरी का अत्यधिक विकास हुआ है। पूज्यवर्णी जी के विराजमान रहने से वह स्वयं एक तीर्थ बन गयी है और शिखर जी आने जाने वाले लोगों का वहाँ रुकना अनिवार्य जैसा हो गया है। वहाँ बीस पंथी और तेरा पंथी धर्मशालाओं के निर्माण के अतिरिक्त श्री पार्श्वनाथ उदासीनाश्रम का भी निर्माण हुआ है। उदासीन श्रावकों के रहने के लिये विस्तृत भवनों, की रचना हुई है। प्रवचन-मण्डप बनाये गये हैं और धर्माराधना के लिये उदासीना-श्रम के सामने ही एक विशाल मन्दिर बनवाया गया है। कुछ सहधर्मी बन्धुओं ने अपनी कोठियां भी वहाँ बनवाई हैं। श्री ब्र. कृष्णाबाई ने एक महिला श्रम का निर्माण करा कर उसमें एक मन्दिर भी बनवाया है जिसमें पार्श्वनाथ भगवान् की विशाल प्रतिमा विराजमान करायी है।

अन्तिम साधना—

वर्णी जी सागर पहुँचकर जब दूसरी बार पैदल ही सम्मेद शिखर के लिये प्रस्थान करने लगे तब उनसे कहा—'बाबा जी! इस वृद्धावस्था में इतनी लम्बी पैदल यात्रा कष्टदायक हो सकती है अतः आप इसी प्रान्त में द्रोणगिरि, नैनागिरि तथा कुण्डलपुर आदि क्षेत्रों में से जहाँ रहना चाहें रहें। ७०० मील पैदल यात्रा न करें।' लोगों की प्रार्थना सुनकर उन्होंने कहा भैया! हमारा संकल्प पार्श्व-प्रभु के पादमूल में समाधि मरण करने का है। प्रथम तो

मुझे विश्वास है कि मैं उनके पादमूल में अच्छी तरह पहुँच जाऊँगा। फिर कदाचित् न पहुँच सका तो संकल्प तो वहीं का है। वर्णी जी का उत्तर सुनकर लोग चुप रह गये।

वृद्धावस्था धीरे-धीरे उनके शरीर पर आक्रमण करती गयी और उसके फलस्वरूप उनकी गमन शक्ति एकदम क्षीण हो गयी। चर्या के लिये जाना भी कठिन हो गया। अब तक आपकी अवस्था ८७ वर्ष तक पहुँच चुकी थी। सावन के माह में उन्होंने हृदय में सल्लेखना का संकल्प कर लिया और आगमानुसार उसकी सारी व्यवस्था निश्चित कर ली। वे समझते थे कि सल्लेखना धारण करने का यदि प्रचार करता हूँ तो यहाँ जनता की अत्यधिक भीड़ इकट्ठी हो जायगी। इसी कारण उन्होंने अपना यह नियम किसी के सामने प्रकट नहीं किया। किंतु जैसा उन्होंने नियम ले रक्खा था उसी के अनुसार वे चलते रहे। जब उनके संन्यासकाल में अन्न या उसके रस का काल निकल चुका तब उन्होंने प्रमुख आत्मीय लोगों का आग्रह होने पर भी रस और पानी के सिवाय कुछ नहीं लिया। जब रस का भी काल निकल गया तब पानी के सिवाय कुछ नहीं लिया और अन्तिम १७ घंटों में तो स्वेच्छा से नग्न दिगम्बर मुद्रा के धारक बन कर चतुराहार विसर्जन पूर्ण रूप से कर दिया। समताभाव से भाद्रपद कृष्णा ११ वीर नि० २४८७, वि. सं. २०१८ सन् १९६१ को रात्रि के एक बजकर २० मिनट पर इस नश्वर देह का परित्याग कर वे स्वर्गवासी हो गये। चारों ओर शोक की लहर व्याप्त हो गयी। सूचना पाते ही हजारों की भीड़ ईसरी में एकत्रित हो गयी। उनके पार्थिव शरीर को एक विमान में रख कर शवयात्रा निकाली गयी और वापिस आने पर उदासीना-श्रम के प्राङ्गण में अंतिम संस्कार किया गया। देखते देखते अग्नि की भीषण ज्वालाओं ने उनके पार्थिव शरीर को आत्मसात् कर लिया।

जगह-जगह शोक सभाएं हुईं और समाचार पत्रों ने अपने श्रद्धांजलि विशेषांक निकाले। आज उनको दाह स्थान पर संगमर्मर का सुन्दर स्मारक बना हुआ है जो वहाँ पहुँचने वालों के हृदय में पूज्य वर्णीजी की मधुर स्मृति उत्पन्न कर देता है और दर्शक एक लम्बी आह भर कर चुपके से अपने आँसू पोंछ लेता है। उन्हें स्वर्गवासी हुए १३ वर्ष बीत चुके हैं। उनकी स्मृति धीरे-धीरे धूमिल होती जाती है परन्तु विद्वत्परिषद् के सदस्यों में उनके शिष्य प्रशिष्यों की एक लम्बी शृंखला है। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सभी विद्वान् उनसे समुपकृत हैं अतः विद्वत्परिषद् ने शिवपुरी में सम्पन्न अपने रजतजयन्ती अधिवेशन में यह निर्णय किया कि विक्रम संवत् २०३१ को उनका शताब्दी समारोह मनाया जाय। और इस प्रसङ्ग से हमारी विद्वत्परम्परा उनके गुणस्मरण द्वारा अपनी कृतज्ञता प्रकाशित कर सके।

वर्णीजी का कृतित्व—

वर्णी जी ने अपना समस्त जीवन परोपकार में ही बिताया। उनकी मनोवृत्ति अत्यन्त निःस्पृह थी। वे स्वयं का कोई स्वार्थ नहीं रखते थे इसलिये उनकी वाणी का प्रभाव दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जाता था। जिससे जो कह दें वह उस कार्य को सम्पन्न करने में अपना गौरव समझता था। वर्णी जी का विश्वास था कि सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति का साधन सम्यग्ज्ञान ही है इसीलिये वे सम्यग्ज्ञान के प्रचारार्थ अनेक शिक्षा संस्थाएं स्थापित करते रहते थे। यहाँ कुछ स्थानों की संस्थाओं का उल्लेख किया जाता है जो वर्णी जी के द्वारा स्थापित अथवा वृद्धिगत हुई हैं—

(१) वाराणसी में जेठ सुदी ५ वीर निर्वाण संवत् २४३२ को स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना।
(२) सागर में वैशाख सुदी ३ वीर निर्वाण २४३५ को सत्तर्कसुधा तरङ्गिणी दि. जैन पाठशाला की स्थापना, जो अब गणेश दि. जैन विद्यालय के नाम से प्रख्यात है।
(३) मड़ावरा में विमानोत्सव के समय स्थानीय जैन पाठशाला की स्थापना।
(४) बरुवा सागर में जैन विद्यालय की स्थापना तथा उसका संपोषण।
(५) द्रोणगिरि में वैशाख वदी ७ वीर नि. सं. २४८५ को जैन विद्यालय की स्थापना।

(६) जबलपुर में शिप्रा मन्दिर की स्थापना।
(७) अहार क्षेत्र में शान्ति नाथ दि. जैन विद्यालय की स्थापना।
(८) शाहपुर (सागर) में जैन विद्यालय की स्थापना।
(९) खतौली में कुन्द-कुन्द महाविद्यालय की स्थापना।
(१०) जबलपुर में दूसरी बार गुरुकुल की स्थापना।
(११) कटनी में कन्या विद्यालय का वृद्धीकरण।
(१२) इटावा में संस्कृत विद्यालय की स्थापना।
(१३) ललितपुर में वर्णी इन्टर कालेज की स्थापना।

इनके सिवाय स्थानीय पाठशालाएं अनेक स्थानों पर स्थापित कराई थी। अनेक तीर्थ क्षेत्रों पर विकास कार्य सम्पन्न कराये थे और अनेक नगरों में आपसी वैमनस्य को दूर कर परस्पर सामंजस्य स्थापित किया था। इस दृष्टि से इस युग में पूज्य वर्णी जी का कृतित्व सर्वोपरि है।

यह तो रहा परोपकार गत कृतित्व परन्तु जब उनके आत्मोपकार गत कृतित्व की ओर दृष्टि जाती है तब लगता है कि इनके समान कृतित्व किसी दूसरे का नहीं है। अजैन कुल में उत्पन्न होकर जैनधर्म धारण करना उसका पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त करना और साधारण सद्-गृहस्थ की भूमिका से लेकर मुनिपद तक की भूमि को प्राप्त करना साधारण बात नहीं है।

इनकी सरल–शान्त मुद्रा, स्नेहभरी दृष्टि और वात्सल्यपूर्ण वाणी में बड़ा आकर्षण था। विरोध की भावना लेकर इनके समक्ष पहुँचने वाले व्यक्ति भी सब विरोध भूलकर उन्हें आत्मीय समझने लगते थे। विरोधियों का विरोध शान्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। इसके लिये एक उदाहरण पर्याप्त है—

द्रोणगिरि सिद्ध क्षेत्र पर एक पाठशाला की स्थापना हुई और छात्रों के रहने के लिये कुछ कमरे बनाये गये इससे जैनेतर जनता के कुछ विद्वेषी लोगों में ईर्ष्या का भाव उत्पन्न हुआ। उन्होंने छात्रों को मकान के बाहर लघुशंका आदि करने पर परेशान करना शुरू कर दिया। छात्र दुःखी हुए। वहाँ जैनों के अत्यन्त अल्प घर थे अतः छात्रों का कोई प्रमुख रक्षक नहीं था। वर्णी जी को जब इस बात का पता चला तब वे ग्रीष्मावकाश में १-२ माह द्रोणगिरि रहे। उस काल में उन्होंने दीवान साहब आदि से बहुत बड़ा संपर्क बनाया। उसी समय मैं भी सागर से द्रोणगिरि गया। दो चार दिन के लिये वर्णी जी को शाक साथ में लेता गया क्योंकि देहात होने से वहाँ शाक मिलती नहीं थी। वर्णी जी ने उस शाक में से थोड़ी शाक अपने लिये रखवा कर शेष शाक दीवान आदि के घर भिजवा दी। मैंने कहा बाबा जी, यह शाक तो मैं आपके लिये लाया था। वे बोले—*भैया ! अपन लोग तो चाहे जब खाते हैं यहाँ के लोगों को यह दुर्लभ है।* यह रही शाक की बात, फल वगैरह भी उनके पास पहुँचते थे उन्हें भी वे इसी तरह वितरण कर देते थे। वर्णी जी की इस उदारता का फल यह हुआ कि सब विरोधी लोग अपने आप शान्त हो गये और छात्र निर्द्वन्द्वरूप से वहाँ रहने लगे।

वर्षा योग—

क्षुल्लक दीक्षा के बाद निम्नांकित स्थानों में वर्षायोग धारण कर आपने वहाँ भव्यजीवों को उपदेशामृत से संतृप्त किया।

वीर निर्वाण	विक्रम संवत्	ईसावीय सन्	स्थान
२४७४	२००५	१९४८	मुरार
२४७५	२००६	१९४९	दिल्ली
२४७६	२००७	१९५०	इटावा
२४७७	२००८	१९५१	ललितपुर
२४७८	२००९	१९५२	सागर
२४७९	२०१०	१९५३	गया
२४८०	२०११	१९५४	ईसरी
२४८७ तक	२०१८ तक	१९६१ तक	"

———

२

आत्म-विश्लेषक गणेश वर्णी का पत्र साधक गणेश वर्णी के नाम

श्रीमान् वर्णी जी !

योग्य इच्छाकार

बहुत समय से आपके समाचार नहीं पाए, इससे चित्तवृत्ति संदिग्ध रहती है कि आपका स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। संभव है आप उससे कुछ उद्विग्न रहते हों और यह उद्विग्नता आपके अन्तस्तत्व की निर्मलता के कृश करने में भी असमर्थ हुई हो। यद्यपि आप सावधान हैं परन्तु जब इस शरीर से ममता है तब सावधानी का भी ह्रास हो सकता है। आपने बालकपने से ऐसे पदार्थों का सेवन किया जो स्वादिष्ट और उत्तम थे। इसका मूल कारण यह था कि आपके पूर्व पुण्योदय से श्री चिरौंजाबाई जी का संसर्ग हुआ, तथा श्रीयुत सर्राफ मूलचन्द जी का संसर्ग हुआ। जो सामग्री आप चाहते थे, इनके द्वारा आपको मिलती थी। आपने निरन्तर देहरादून से चाँवल मँगाकर खाए, उन मेवादिका भक्षण किया जो अन्य हीन पुण्यवालों को दुर्लभ थे तथा उन तैलादि पदार्थों का उपयोग किया जो धनाढ्यों को ही सुलभ थे। केवल तुमने यह अति अनुचित कार्य किया किन्तु तुम्हारे आत्मा में चिरकाल से एक बात अति उत्तम थी कि तुम्हें धर्म की दृढ़ श्रद्धा और हृदय में दया थी,। उसका उपयोग तुमने सर्वदा किया। तुम निरंतर दुःखी जीव देखकर उत्तम से उत्तम वस्त्र तथा भोजन उन्हें देने में संकोच नहीं करते थे। यही तुम्हारे श्रेयोमार्ग के लिए एक मार्ग था। न तुमने कभी भी मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया, न स्थिरता से पुस्तकों का अवलोकन ही किया, न चरित्र का पालन किया और न तुम्हारी शारीरिक संपदा चारित्र पालन की थी। तुमने केवल आवेग में आकर व्रत ले लिया। व्रत लेना और बात है और उसका आगमानुकूल पालन करना अन्य बात है। लोग तो भोले हैं जो वाचाल और बाह्य से संसार असार है ऐसी काय की चेष्टा से जनाते हैं। उन्ही के चक्र में आ जाते हैं, उन्हीं को साधु पुरुष मानने लगते हैं, और उनके तन, मन, धन से आज्ञाकारी सेवक बन जाते हैं। वास्तव में न तो धर्म का लाभ उन्हें होता है और न आत्मा में ही शान्ति का लाभ होता है। केवल दम्भिगणों की सेवाकर अन्त में दम्भ करने के ही भाव हो जाते हैं। इससे आत्मा अधोगति का ही पात्र होता है।

इस जीव को मैंने बहुत कुछ समझाया कि तूं पर-पदार्थों के साथ जो एकत्व बुद्धि रखता है उसे छोड़ दे परन्तु यह इतना मूढ़ है कि अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ता, फलतः निरन्तर आकुलित रहता है। क्षणमात्र भी चैन नहीं पाता।

ईसरी
माघ शुक्ल १३ सं० १९९९ } आ० शु० चिं०
गणेश वर्णी

—(वर्णी-वाणीभाग ४ से उद्धृत)

३

रोशनी का बेटा

डॉ. नेमीचन्द जैन, (संपादक तीर्थंकर), इन्दौर

आदमी जनमता है, जीता है, और कालकवलित हो जाता है। यह उसकी स्पष्ट नियति है। सामान्यतः इस प्रक्रिया में लोग जान भी नही पाते कि कभी कोई हुआ भी था, या नहीं। ऐसे लोग धरा के बोझ होते हैं और धरती इनकी अपेक्षा बांझ होना अधिक पसन्द करती है; किन्तु गणेशप्रसाद वर्णी का जीवन आरम्भ से ही बिलकुल भिन्न था। वे जिस धातु के थे, उसके बहुत कम लोग होते हैं। यह नही कि उनमें दुर्बलताएँ नही थी, थी; किन्तु वे बहिरन्तर उन्हें जानते थे और उनसे अनवरत जूझते थे। उनमें अन्तर्दृष्टि का एक बारहमासी दिया सदैव जलता रहता था। वे उन आँखों से नहीं देखते थे जिनसे दुनिया देखती है, वरन् वे उन आँखों का उपयोग करते थे जो व्यक्ति को योगीश्वर बना देती है।

क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी की निष्कामता, सारल्य, साफगोई और प्रतिक्षण जागरूकता की कोई मिसाल नहीं है। वे अपनी निष्कपटता और साहस के आगे किसी के भी बहिरन्तर को जान जाते थे। वे कभी किसी से डरते न थे। नीतिकुशल और आत्माभिमानी वे थे ही, साथ ही संकल्प और धुन के भी पक्के थे। बहुधा धुन के पक्के लोग व्यसनों की ओर मुड़ जाते हैं और उनकी संकल्प-शक्ति रचना की अपेक्षा ध्वंस में उतर जाती है; किन्तु वर्णीजी एक दूरद्रष्टा पुरुष थे, और जानते थे, उन्हें क्या करना है? उनका एक-एक पल अज्ञान से जूझने और उसे पूरी ताकत से पछाड़ने में गया। उन्होंने जो, जैसा और जितना काम किया है वह कई सौ आदमी एक पूरे युग में लगे रहने पर भी नहीं कर सकते थे। वे ज्ञान की, विचार की, विवेक की शक्ति को भलीभाँति जानते थे, इसलिए ज्ञान की समाई उनसे जहाँ बनी वहाँ उन्होंने प्रज्वलित कर दी। यथार्थ में वे रोशनी के बेटे थे। उनकी माता का नाम उजियारीबाई था। पिता बाल्यावस्था में ही नही रहे। वर्णीजी की दूरदर्शिता यह थी कि जैनेतर परिवार में रहकर भी वे जैनों के सद्विचार को पकड़ते रहे। उनमें किसी भी धर्म के प्रति द्रोह था ही नही; वे तो आत्म-कल्याण के पथिक थे, उसमें जो उपकारक सिद्ध होता था, उसे स्वीकारते थे।

माना, उनका असली क्षेत्र कर्म का, साधना का; बुन्देलखण्ड ही रहा, किन्तु उसे भी उन्होंने किसी संकीर्ण धरातल पर नहीं रखा। उन्होंने जैनधर्म से प्रेरणा लेकर मानव-मात्र की सेवा की। उनकी सेवा-भावना ने कभी यह नहीं देखा कि कोई किस जाति, या संप्रदाय का है; उन्हें जहाँ भी, जब भी कोई संकट में दिखलायी दिया, उसकी भरपूर मदद उन्होंने की। करुणा उनके रोम-रोम में थी। जैनधर्म का मुख्य धरातल करुणा ही है। 'मेरी जीवन-गाथा' एक ऐसा दस्तावेज है जिसमें जैन समाज के सौ वर्षों के मानसिक विकास को दर्पण की तरह देखा जा सकता है। इस 'गाथा' को पढ़कर ऐसा लगता है कि

जन्म : हंसेरा : उत्तरप्रदेश : आश्विन कृष्णा ४, वि. सं. १९३१ (१६-९-१८७३)
निधन : ईसरी : बिहार : भाद्रपद कृष्णा ११, वि. सं. २०१८

वह विराट-भव्य-जीवन्त व्यक्तित्व आज भी हम सबके बीच है। ऐसे लोग मरा नहीं करते, समाज के प्राणों में वितरित हो जाते हैं। सौ साल हुए एक महाशक्ति ने जन्म लिया था; यह अध्यात्म की ताकत थी; कर्मठता, निश्छलता, और निश्चलता की ताकत थी। यही कारण है कि क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी ने जिन कामों का श्रीगणेश किया वे आज भी उनकी कीर्ति-कथा कह रहे हैं। आज स्थिति बदल गयी है, नये काम हो नहीं पाते हैं, पुराने कामों को चलाने की जोखिम उठाने को कोई तैयार नहीं है; इसीलिए आज नये काम शुरू करना उतना जरूरी नहीं है जितना यह जरूरी है कि हम देखें कि जो काम इस आदमी के द्वारा स्थापित किये गये हैं आज किस स्थिति में हैं। इन्हें देखें, निभायें और इनकी अगली सांस की व्यवस्था करें।

गणेशप्रसाद वर्णी स्वभाव के क्रोधी थे, संस्कार के सुकुमार थे। स्वभाव में खालिस चाणक्य थे किन्तु संस्कार में धरती-जैसी क्षमा के स्वामी थे। वे खुर्दबीन की भाँति सूक्ष्मद्रष्टा थे और दूरबीन की तरह दूरद्रष्टा। वे गुलाब से खिले हुए; और आषाढ़ के पहले दिन की धरती की तरह सुवासित थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता, जो आज के नेतृत्व में नहीं है, यह थी कि वे प्रशंसा जमकर करते थे। निन्दा तो वे जानते ही नहीं थे। उनकी 'मेरी जीवन-गाथा' का काफी बड़ा भाग प्रशंसाओं से भरा पड़ा है। यही कारण है कि उनके अनुयायियों के ऐसे दल आज उपस्थित हैं जो कुछ कर गुजरने की अभिलाषा रखते हैं। वे असीम उदारता के धनी थे, उपेक्षा, अवहेलना, या तिरस्कार की बात उनके दिमाग में कभी आती ही नहीं थी। किसी को आत्मीय बना लेना और मंगल कार्य की ओर उसके चित्त को मोड़ देना वर्णीजी के लिए बच्चों-जैसा खेल था; इसीलिए उनकी वाणी टकसाल थी, जिससे वे जब चाहते, जितना चाहते अपने वर्ण-वर्ण का स्वर्ण बना लेते थे। उनकी जीवन-गाथा में ऐसे अनगिन प्रसंग हैं जो इस कथन की साक्ष्य भर सकते हैं। असल में वे मानवीयता की कला के धनी थे और ऐसे किसी अवसर को हाथ से नहीं जाने देते थे जिसके द्वारा रूढ़ियों के कीचड़ में गहरे धंसे समाज को ऊपर खींचा जा सके। गणेशप्रसाद वर्णी ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने जैनसमाज को अन्धी परम्पराओं के अन्धे कुए से बाहर खींचा और अनेकान्त की शुभ नसैनी से सज्जित किया ताकि वे ऊपर ही बने रह सकें। धन-दौलत का मोह तो उन्हें था नहीं, साधना और समर्पण उनके दायें-बायें हाथ थे। वे समर्पित होना जानते थे, काम करना जानते थे। वे इस बात का प्रतिपग ध्यान रखते थे कि जहाँ तक सम्भव हो आदमी की आँख को ज्ञानार्जन की शलाका से आँजा जाए। मूलतः उनका ध्यान समाज के स्थूल, या बाह्य व्यक्तित्व की ओर नहीं था; वे चाहते थे वर्तमान तो बने ही भावी पीढ़ियों को भी रोशनी मिलती रहे।

वर्णीजी वैसे बहुत सुन्दर नहीं थे, किन्तु हम उन्हें कुरूप भी नहीं कह सकते; उनकी आत्मा का अनुशासन अपूर्व था और वे अन्तरंग में अत्यन्त व्यवस्थित थे। उनका चित्त सुन्दरता की खान था, विशुद्धत्व का कोष था। उन्हें अनुशासन खूब रास आता था और इसीलिए वे व्यर्थ की पोंगापंथी में नहीं पड़ते थे। वे कभी किसी पोथी से बंधे नहीं और न ही कभी किसी पोथीधारी की खुशामद उन्होंने की। वे ज्ञान की पूजा करते थे, और वह उन्हें जहाँ भी मिला, उसे पाने के लिए वे लम्बी से लम्बी और कष्टसाध्य यात्राएँ करते रहे।

चिरौंजाबाई का व्यक्तित्व उनकी सांसों में ढल गया था। बाईजी ने गणेशजी को खूब सहा है। गणेशजी का गुस्सा, उनके करुणा से ओतप्रोत खब्त, उनकी मनमानी; सब कुछ बाईजी ने सहे; किन्तु बाई बहुत गहरी थीं। वे धर्म का मर्म जानती थीं; वे यह भी जानती थीं कि गणेशप्रसाद मामूली व्यक्ति नहीं है। उसमें समाज की नयी 'इमेज' बैठी है; इसीलिए उन्होंने 'वर्णीजी इन द मेकिंग' को अभंग सहन किया। बाईजी की अपार सहिष्णुता और संयम ही आगे चलकर वर्णीजी के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बने।

वर्णीजी की 'मेरी जीवन गाथा' मानव-समाज का एक बहुमूल्य आलेख है। वह इतिहास की भाँति महत्त्व-पूर्ण तो है ही, प्रकाशस्तम्भ की भाँति व्यक्ति की और समाज की रक्षा करने में भी समर्थ है। जितना महत्त्व अशोक के शिलालेख का या 'पावा नयी, पावा पुरानी'

की बहस का है, उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है यह किताब जिसके लाखोंलाख संक्षिप्त संस्करण निकलने चाहिये। इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि जीवन-गाथा-कार ने कहीं भी स्वयं को क्षमा नहीं किया है। इसमें कोई ऐसा प्रसंग नहीं है जो जैन समाज के हृदय को प्रकट नहीं करता हो। दोनों खण्ड पढ़कर जहाँ एक ओर वर्णीजी महाराज का व्यक्तित्व अपनी संपूर्णता में हमारे सामने आ जाता है, वहीं दूसरी ओर समाज के उपयोगी अवयवों का भी अन्दाज लग जाता है और हम यह भी जानने लगते हैं कि हम कहाँ कमजोर हैं और हमें कहाँ-कहाँ मरम्मत की जरूरत है।

वर्णीजी में नेतृत्व की, निष्काम और संकल्पवान नेतृत्व की बहुत बड़ी प्रतिभा थी। वे जो भी धार लेते थे, उसे बड़ी नीतिमत्ता से पूरा करते थे। समाज को सच्चरित्रता और सम्यग्ज्ञान की ओर मोड़ने का काम जिस कुशलता से उन्होंने किया वह हर आदमी के हाथ की बात नहीं थी। वस्तुतः उनकी जीवन-गाथा धूप-सी सुखद और चाँदनी-सी शीतल है। वह संकट में मुस्कराहट भरती है और परिग्रह में निष्काम अपरिग्रह का उपदेश देती है। वह जैनधर्म का एक आचरणगत भाष्य है, जो मानवता की डगर पर कदम डाले किसी भी आदमी के लिए पाथेय का काम दे सकती है। उनकी यह जीवन-गाथा बड़े-से-बड़े अंधेरे से जूझने का पुरुषार्थ उत्पन्न करने में समर्थ है।

वर्णीजी का व्यक्तित्व पुण्यशाली था। धन-दौलत पर वे न्यौछावर नहीं थे, धन-दौलत उन पर न्यौछावर थी। वे समाज के अनुगामी नही थे, समाज उनका अनुगामी था। वे स्वभाव के स्वच्छन्दतावादी थे; रूढ़ियों का व्यर्थ बोझ उनको पसन्द न था। इसीलिए वे कभी बंधी-बंधायी स्थितियों में नहीं चले। उन्हें जड़ता अप्रिय थी, जीवन्तता में जीने में उन्हें आनन्द मिलता था। चुप बैठना उनकी प्रकृति नहीं थी, वे कुछ-न-कुछ स्व-पर कल्याण में करते ही थे। उनकी जैनधर्म पर अटल आस्था थी, किन्तु वे रेखे भर भी अन्धविश्वासी नहीं थे। उनमें किसी प्रकार का पूर्वाग्रह भी नहीं था; जहाँ जो भी अच्छा दिखलायी देता था, उसे वे स्वीकार कर लेते थे। वे गुणग्राही थे; सारग्राही थे; आत्मानन्दी थे। उन्हें जहाँ भी, जो भी अच्छा दिखायी देता था, उसकी मुक्त सराहना से वे कभी उदासीन नहीं होते थे। 'मेरी जीवन-गाथा' ऐसे प्रसंगों का विश्वकोश ही है।

वर्णीजी की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे आदमी का मूल्य करते थे, आदमियत की परख रखते थे। नफरत का उनके व्यक्तित्व में कोई स्थान ही नहीं था। वे करुणावान थे, और उनके हृदय में अकारण बन्धुत्व और अहेतुक स्नेह सदैव हिलोरें लेता था। उनकी करुणा जिसे छू लेती थी, वह सुवर्णी वर्णी से बड़ा, बन जाता था। उनमें व्यक्ति की गहरी परख थी, इसीलिये वे सही वक्त पर, सही आदमी को, सही संदर्भ के लिए चुन लिया करते थे। उनकी मेधा का यह करिश्मा भी 'मेरी जीवन-गाथा' में कई जगह देखा जा सकता है।

गुणों की परख, या सूंघ उनमें गजब की थी। एक अच्छे शातिर जासूस की भाँति उन्हें यह भाँपते देर नही लगती थी कि कौन व्यक्ति कैसा है, और उसका किस संदर्भ में उपयोग किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि वे परम आत्मा के गुप्तचर थे, और सारे जीवन-भर यही पता लगाते घूमते रहे कि जैन समाज में कौन कितना भव्य है और कितना काम कर सकता है। कहाँ कौन से अंचल में जैन संस्थाओं की आवश्यकता है, कहाँ की जैन समाज बिना देव-दर्शन के अन्न-ग्रहण कर रही है, कहाँ कौन जैन मन्दिर सांस तोड़ रहा है, कहाँ जैनत्व खण्डित, या दूषित हुआ है। ऐसी सारी नाजुक स्थितियों की परख-पहिचान उनमें थी, और उस ओर निधड़क दौड़ पड़ने का अपार साहस-पुरुषार्थ भी उनमें था। यही कारण है कि बीमारी के दिनों में भी वे आत्मकल्याण के साथ-साथ समाज के कल्याण में भी बराबर घूमते रहे।

ऐसे संकट के समय जबकि जैनधर्म का अध्ययन-अध्यापन-अनुसंधान एक बहुत ही नाजुक दौर से गुजर रहा था, इस महापुरुष ने वाराणसी में एक नहीं दो-दो संस्थाओं को जन्म दिया। ८७ वर्ष की जीवनावधि में इस व्यक्ति ने अतिस्वन विमान की गति-सा काम किया और जैन समाज के रथ को प्रगति, कुण्ठाहीनता, और वैज्ञानिक चिन्तन के राजमार्ग पर डाल दिया। मजा यह था

कि वर्णी महाराज तो बिलकुल पैदल चलते थे; किन्तु उनकी सेवा-भावना उनसे कई कदम आगे चलती थी। उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड अंचल में जन्म लेकर इस महान् व्यक्तित्व ने मानवता की इतनी सेवा की कि सारा भारत निरुत्तर रह गया। पता नहीं आज का नेतृत्व वर्णी महाराज की अपरिग्रही निष्काम चेतना से कोई सीख-सबक क्यों नहीं लेना चाहता है; वस्तुतः दोष व्यक्ति का नहीं है, युग का है। आदमी आज जितना स्टेशनरी पर खर्च करना चाहता है, प्रचार-प्रसार पर खर्च करना चाहता है, उतना वास्तविक काम पर खर्च करने की उसकी नीयत नहीं है। वर्णीजी के पोस्टकार्ड एक संस्था को जन्म दे सकते थे किन्तु आज का आदमी अच्छा सुटंकित पत्र लिखकर भी एक मामूली-सी संस्था खड़ी नहीं कर सकता। भावना चाहिये, भावना में पावनता का बल चाहिये और भीतर से फुसकार भरती उमंग चाहिये। यह सब था वर्णी महाराज में।

इसीलिए आज जबकि उनकी जीवन-गाथा की लाखों जेबी प्रतियाँ घर-घर में पहुँच जानी चाहिये तब हम पाषाणपट्ट, या छायावान, या अभिनन्दन-ग्रन्थ की ओर ध्यान दे रहे हैं। ऐसा क्यों नहीं किया जाता कि वर्णीजी को सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए हम एक 'जैन शिक्षा-महाविद्यालय' की स्थापना करें जो सम्पूर्ण भारत के लिए अधुनातन जानकारियों से लैस जैन पंडित, अध्यापक और प्रसारक तैयार करे; जहाँ उनका विधिवत् प्रशिक्षण हो और जब भी जरूरत हो उनके ज्ञान को नयी महक और ताजगी देने को वहाँ उन्हें बुलाया जाए। वर्णीजी की जन्मभूमि हंसेरा हो, कर्मभूमि सागर हो और निधन भूमि ईसरी हो, किन्तु इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि उनका व्यक्तित्व क्षेत्रकालातीत था और इसलिए उनका स्मारक भी क्षेत्रकालातीत होना चाहिए।

205, उषानगर, सुखनिवास मार्ग,
इन्दौर-2 (म. प्र.)

—वीर-निर्वाण विचार-सेवा, इन्दौर, के सौजन्य से

न भविष्यति

"वर्णी जी जैसा विद्वान, वर्णी जी जैसा सुवक्ता, वर्णी जी जैसा सरल, वर्णी जी जैसा दयालु, वर्णी जी जैसा समभावी, वर्णी जी जैसा उदार, वर्णी जी जैसा महामना होना दुर्लभ है। एक ही व्यक्ति में इतने सद्गुणों का आवास विरल ही देखा जाता है। जो एक बार उनके दर्शन कर लेता था वह सदा के लिए उनका भक्त बन जाता था। जो एक बार उनका प्रवचन सुन लेता था उसे फिर अन्य किसी का प्रवचन अच्छा नहीं लगता था। कहावत है कि हितकर और मनोहर वचन दुर्लभ हैं। किन्तु वर्णी जी के मुख से सदा ही हितकारी और मनोहारी वचन निकलते थे।"

—कैलाश चन्द्र शास्त्री

४

जैन संस्कृति के विकास में—
वर्णीजी का योगदान

लेखक : पं० दयाचन्द्रजी साहित्याचार्य, सागर

जो वास्तविक श्रद्धा ज्ञान तथा आचरण के साथ विश्व के प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखते हैं वे महात्मा कहे जाते हैं। विश्व के विरले ही मानव इस पद से विभूषित हैं। उनके जीवनवृत्त का अध्ययन कर तदनुकूल सदाचरण करके साधारण मानव भी महात्मा बन सकता है। इसलिए मानवता के विकास हेतु एवं जगत में शान्ति स्थापित करने के लिए सर्वदा महात्माओं की संगति करना आवश्यक है। गुणी पुरुषों की संगति के बिना मानव गुणवान नहीं बन सकता।

स्वर्गीय महात्मा गांधी की संगति और उपदेश से उनके साधारण सेवक तथा अनुयायी भी महान् सुधारक और विचारक देखे गये हैं।

भारतवर्ष के सन्त महात्माओं की परम्परा में श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज भी एक महान् सन्त आधुनिक युग में हो गये हैं, जो संस्कृत भाषा-विज्ञ महान् आध्यात्मिक सन्त थे। उनके जीवन चरित्र की विशेषताएं और घटनाएं मानव समाज के लिए अति शिक्षाप्रद हैं।

यहाँ हम जैन संस्कृति के उन मौलिक सिद्धान्तों पर विचार करेंगे जिन पर आकृष्ट होकर तदनुकूल आत्म पुरुषार्थ करते हुए वर्णीजीने अपने जीवन को उन्नतिशील और जैन संस्कृति के विकास में सहयोग देने के लिए सुयोग्य बनाया।

(१) **अध्यात्मवाद**—विश्व के सब द्रव्यों से पृथक् आत्मद्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता है जोकि निश्चय दृष्टि से विशुद्ध ज्ञानदर्शन सुखशक्ति स्वरूपसंपन्न तथा सूक्ष्म अरूपी है। व्यवहार दृष्टि से वर्तमान में पुद्गल कर्म परमाणुओं का संयोग होने के कारण रागद्वेष आदि विकारों से सहित, जन्म मरण रूप अशुद्ध पर्याय वाला तथा अज्ञानी हो रहा है। वह अपने पुरुषार्थ से विशुद्ध चैतन्य स्वभावी परमात्मा हो सकता है।

(२) **अहिंसा**—क्रोध, मान, कपट, लालच, राग, द्वेष, मोह रूप विकार भावों के द्वारा अपने तथा अन्य प्राणी के इन्द्रिय आदि द्रव्यप्राणों का एवं ज्ञान दर्शन आदि भावप्राणों का नाश होना हिंसा है। विकारों के अभाव में द्रव्य तथा भाव प्राणों का नाश नहीं होना तथा आत्मा में शुद्ध परिणाम का होना अहिंसा है। अहिंसा परम धर्म है तथा विश्व शान्ति का सफल साधन है। "अहिंसा परमो धर्म. यतो धर्मस्ततो जय:"।

(३) **अनेकान्तवाद-स्याद्वाद**—जगत् का प्रत्येक पदार्थ अनंत धर्म वाला है। प्रत्येक धर्म अपने परस्पर विरोधी धर्म के साथ सत्ता रखता है। उन धर्मों की सिद्धि या कथन स्याद्वाद (अपेक्षा) शैली से होता है। जैसे एक ही पुरुष अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। इस प्रकार पिता पुत्र रूप दो धर्म एक ही पुरुष में सिद्ध होते हैं। उसी प्रकार

एक वस्तु में ही नित्य अनित्य रूप दो धर्म पाये जाते हैं। द्रव्य दृष्टि से जो वस्तु नित्य है, पर्याय दृष्टि से वही वस्तु अनित्य भी है।

(४) **अपरिग्रहवाद** आत्मा पुद्गल धर्मद्रव्य अधर्म-द्रव्य आकाश और काल इन ६ द्रव्यों के समुदाय रूप इस लोक में आत्मा का स्वकीय द्रव्य एक परमाणु मात्र भी नहीं है। आत्मा इन द्रव्यों का स्वामी नहीं है और न ये द्रव्य आत्मा के हैं। आत्मा इन छह द्रव्यों का न कर्ता है, न नाशक है और न रक्षक है। द्रव्यों का परिणमन स्वयमेव होता है। इन द्रव्यों का संयोग और वियोग परस्पर अवश्य होता रहता है। यह लोक किसी व्यक्ति या ईश्वर की रचना नही है। इस सिद्धांत का जीवन में प्रयोग करने के लिए आचरण की दो धारायें होती हैं। प्रथम परिग्रहत्याग महाव्रत—जिसमें अन्य द्रव्यों का तथा राग द्वेष आदि विकारों का मोह त्याग कर आत्मा में ही रमण किया जाता है। इस महाव्रत के धारी मुनिराज प्रयोजनवश यद्यपि पीछी कमंडलु पुस्तक अपने पास रखते हैं तथापि उन वस्तुओं में भी उनका ममत्वभाव नही होता। जन्म से मरण तक के साथी शरीर में भी उनका मोह नही होता है। द्वितीय धारा, परिग्रह परिमाण अणुव्रत है, जिसमें एकदेश पर—वस्तुओं का त्याग किया जाता है। इस अणुव्रत का धारी गृहस्थ नागरिक प्रतिज्ञा करता है कि मैं जीवन में यथा योग्य निश्चित सीमा के भीतर सम्पत्ति रखूंगा, अन्य द्रव्य का मुझे त्याग है। इस प्रकार संतोष से जीवन व्यतीत करता है।

(५) **मुक्तिवाद**—जैन दर्शन में इस विश्व के अंतर्गत कार्माण जाति के परमाणुओं की सत्ता मानी गई है। राग, द्वेष, मोह आदि विकार भावों के कारण वे परमाणु आत्मा से संबंधित होते हैं। अर्थात् वे परमाणु दुग्ध और जल की तरह आत्मा के प्रदेशों में मिल जाते हैं। उनके प्रभाव से आत्मा को जन्म मरण आदि के दुख भोगने पड़ते हैं। आत्मा में क्रोध आदि कषाय तथा मिथ्यात्व आदि विभाव उत्पन्न होते हैं। उन कर्म-परमाणुओं के सुयोग से यह आत्मा पराधीन संसारी जीव के रूप में रहता है। अब यह आत्मा समीचीन श्रद्धा, वास्तविक ज्ञान और यथार्थ चारित्र के माध्यम से आत्म-शुद्धि या पूर्ण स्वतंत्रा का पुरुषार्थ करता है तब यह पराधीन संसारी आत्मा ही एक समय परमात्मा और सर्वज्ञ हो जाता है। ज्ञाता दृष्टा और आनन्द स्वरूप अक्षय बल संपन्न होता है। यही जैन दर्शन का मुक्तिवाद है। यहाँ आत्मा से परमात्मा बन जाने का मार्ग प्रत्येक जीव के लिये खुला है।

जैन संस्कृति में स्वयं-बुद्ध दीक्षित वर्णीजी

जैन संस्कृति का विकास या उत्थान वही व्यक्ति कर सकता है कि जिसने मनसा, वाचा, कर्मणा जैन संस्कृति में अपने जीवन को ढाल दिया हो। इष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए जो व्यक्ति स्वयं मार्ग पर नहीं चल सकता है वह दूसरे को कदापि नहीं चला सकता। श्री वर्णी जी ने विचार किया कि यदि हम जैन संस्कृति के तत्वों को नहीं अपनाते हैं तो आत्म कल्याण नहीं कर सकते, और न जैन संस्कृति का विकास ही कर सकते हैं। जैन संस्कृति पर स्वयं चलकर ही अन्य व्यक्तियों को भी उस पर चलाना उपयुक्त हो सकता है।

इस प्रकार विचारधारा में बहते हुए वे पूर्वजन्म के संस्कार से एवं स्वयं बुद्धिबल से जैनत्व में दीक्षित होने का मौन पुरुषार्थ करने लगे। सर्वप्रथम वे जैन धर्मानुयायी विशेष व्यक्तियों की संगति प्राप्त कर उत्साह सम्पन्न हुए। जैन संस्कृति के प्रति दृढ़ श्रद्धा ग्रहण की, जैन शास्त्रों का प्रवचन श्रवण करना प्रारंभ किया। मांसाहार, मधु तथा नशीली वस्तुओं का सेवन न करने पर भी नियमानुकूल उनके आजीवन त्याग करने की प्रतिज्ञा की। रात्रि भोजन का त्याग किया। पंच परमेष्ठी देवों का दर्शन स्तुति करना प्रारंभ किया। जीव हिंसा का त्यागकर दयाभाव को जागृत किया। शुद्ध छने जल का दैनिक उपयोग करने लगे। इस प्रकार आठ मूलगुणों को धारण कर तथा द्यूतक्रीड़ा (जुआ) आदि सप्तव्यसनों का त्यागकर दस वर्ष की अवस्था में जैन संस्कृति के मार्ग पर वर्णी जी ने प्रथम कदम बढ़ाया। आपके जीवन की यह महती विशेषता ज्ञात होती है कि आपने पूर्व संस्कार, स्वयंबुद्धि तथा स्वाभाविक श्रद्धा के आधार पर ही जैन धर्म में दीक्षा ग्रहण की। किसी

लौकिक आशा, लोभ और आदर सम्मान के कारण उन्होंने दीक्षा ग्रहण नहीं की। यद्यपि आपकी माता और कुटुम्बी इस नव-दीक्षा का विरोध करते थे, तथापि आपने अपने विचार एवं श्रद्धा में कोई परिवर्तन नहीं किया। अपने सिद्धांत पर ही सुदृढ़ बने रहे।

पहिले वर्णी जी श्रद्धा तथा ज्ञान का विकास जैन संस्कृति के अनुरूप आत्म हित के लिए सतत करते रहे। इसके पश्चात् संयम एवं चरित्र की ओर अपना विशेष आचरण करने के लिए प्रयत्नशील होने लगे। यद्यपि आप संयम की साधना अभ्यास रूप में करते थे। तथापि आत्मा को शुद्ध पवित्र बनाने के लिए आपने प्रतिज्ञा रूप में नैष्ठिक प्रतिमा को धारण करना आवश्यक समझा और वि. सं. १९६९ एवं वीर नि. सं. २४३९ में कुन्डलपुर क्षेत्र (दमोह) में श्री बाबा गोकुलचंद्र जी ब्रह्मचारी के निकट श्री महावीर पूजन के अनन्तर विधिपूर्वक सप्तम प्रतिमा में नैष्ठिक दीक्षा को ग्रहण कर लिया। इस दीक्षा से आप ब्रह्मचारी या वर्णी पद से प्रसिद्ध हो गये।

कई वर्षों के पश्चात् वीर सं २४७४ में बरुआसागर में नंदीश्वर पर्व के शुभ अवसर पर आपने क्षुल्लक पद को ग्रहण किया। अंत समय में मुनि पद को धारण कर, श्री १०८ गणेशकीर्ति जी महाराज के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार जैन संस्कृति के अनुसार आपने जीवन में श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का विकास किया।

धार्मिकता के विकास में योगदान—

सन्त वर्णी जी ने समाज में मनसा, वाचा, कर्मणा धार्मिकता के विकास में सतत प्रयास किया। विद्वत्ता प्राप्त करने के पश्चात् आपने प्रात.काल एवं सायंकाल दैनिक प्रवचन किए। धार्मिक पर्व तथा उत्सवों में अनेक व्याख्यान सभाओं में भाषण दिए। इन सभाओं में आपने निश्चय धर्म तथा व्यवहार धर्म के एकीकरण रूप उपदेश दिए। प्रथम निश्चय धर्म की व्याख्या करते हुए आपने दर्शाया कि आत्मा के अस्तित्व पर सत्यश्रद्धा, यथार्थ तत्त्वज्ञान और वास्तविक आचरण करना जरूरी है। उसकी सिद्धी या साधना के लिए व्यवहार धर्म का पालन करना दर्शाया कि प्रत्येक मानव को हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पंच पाप कार्यों का त्याग करना आवश्यक है। मद्य त्याग आदि अष्ट मूलगुणों का धारण करना भी अत्यावश्यक है। इन निश्चय तथा व्यवहार धर्मों का अविरोध रूप पालन करने से ही मानव जीवन पवित्र होता है। आत्मा का यथार्थ कल्याण होता है। इनके अतिरिक्त आपने दर्शाया कि गृहस्थों को निश्चय तथा व्यवहारपूर्वक छह दैनिक कर्त्तव्यों का पालन करना नितांत आवश्यक है। वे कर्त्तव्य इस प्रकार हैं १. श्री पंच परमेष्ठी परम देवों का विधिपूर्वक दर्शन पूजन करना। २. सविनय गुरुभक्ति एवं सत् संगति प्राप्त करना। ३. धार्मिक तथा नीतिपूर्ण उपयोगी ग्रंथों का अध्ययन करना। ४. इन्द्रिय संयम तथा प्राणि संयम का पालन करना। ५. इच्छाओं को रोकना, व्रत तथा आवश्यक नियमों का विधिपूर्वक पालन करना। ६. स्वपर हित की कामना से आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान तथा अभयदान इन चार प्रकार के त्याग भावों का आचरण। इन छह दैनिक कर्त्तव्यों का पालन करने से मानव का जीवन महान् तथा आत्मा पवित्र हो जाती है।

चातुर्मास के अवसरों पर आपने समयसार, प्रवचनसार आदि आध्यात्मिक शास्त्रों पर सरल भाषा में प्रवचन देकर जैन तथा जैनेतर जनता को आत्म कल्याण का संदेश दिया है। इसी प्रकार श्री दशलक्षण पर्व, अष्टान्हिका पर्व आदि पर्वों के अवसरों पर भी दशलक्षण धर्म, षोड-शकारण धर्म और रत्नत्रय धर्म का निश्चय व्यवहारमयी मिश्रित शैली से व्याख्यान कर समाज में धार्मिकता का प्रसार किया है।

आपके इन प्रवचनों का जैन तथा जैनेतर समाज पर अच्छा प्रभाव होता था। वि. सं. १९८२ में एक दिन बरुआसागर में वर्णी जी का शास्त्र प्रवचन हो रहा था। पड़ोसी धीवर की एक दश वर्षीय कन्या भी शास्त्र सुनने आई। प्रकरण चल रहा था कि "किसी जीव को मारना हिंसा है। हिंसा से जगत् में निंदा ही नहीं, प्रबल पापबंध भी होता है जिससे हिंसक व्यक्ति को भव-भव में अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं।" इत्यादि। लड़की बहुत प्रभावित होकर घर गई। तड़ातड़ ओले उस समय बरस रहे थे। घरों के खपरे पड़ापड़ चकनाचूर हो रहे थे, तूफानी आँधी से अनेकों मकान और बड़े-बड़े वृक्ष धराशायी हो

रहे थे। बिचारा मल्लाह परेशान था। कुटिया का छप्पर उड़ चुका था, कपड़े लथपथ पानी में भींग चुके थे। इस दशा में लड़की ने धैर्य बंधाया—पिताजी! संसार में सुख दुख के कर्त्ता न राम हैं न रहीम हैं। सुख दुख हमारे पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। पूर्वभव में जो पाप किए थे, उनका फल है कि हम दीन दरिद्री और नीच हुए। मजदूरी करने पर भी दाने दाने और कपड़े लत्ते को तरसते हैं, इत्यादि। छोटी सी अनपढ़ लड़की की ऐसी बातें सुनकर पिता गद्‌गद् हो गया, आंखों में आंसू आ गए। प्रेम के साथ उसने लड़की से पूछा—बेटी! तुम्हें यह ज्ञान कहाँ से मिला? किसने पढ़ा दिया? लड़की ने उत्तर दिया—पिताजी, सराफ जी के यहाँ काशी के जो पंडित जी आये हैं उन्हीं के शास्त्र प्रवचन में सुना था। माँ बाप दूसरे ही दिन लड़की के साथ वर्णीजी के पास पहुँचे और आजीवन मद्य, मांस, मधु खाने का एवं मछली मारने का त्याग कर दिया। वर्णीजी ने उसे कुछ देना चाहा परन्तु उसने कहा कि जो आपसे लेने की इच्छा थी, मैं स्वयं ले चुका। केवल आशीर्वाद मुझे चाहिये जिससे मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्णरूपेण पालन कर सकूँ।

श्री वर्णीजी का अंतिम उपदेश—

"कल्याण मार्ग केवल आत्मतत्व के यथार्थ भेद विज्ञान में है। भेद विज्ञान के बल से ही आत्मा स्वतंत्र होती है, पूर्ण स्वतंत्रता ही मोक्ष है।"

"श्री वर्णीजी एक महान् प्रवचनकार थे। 'समयसार' उनके प्रिय ग्रन्थों में से एक था जिसको उन्होंने अन्त तक नहीं छोड़ा। जब कभी वह प्रवचन करने बैठते, तब इसी ग्रंथ को सामने रखकर अपनी सरल एवं मधुर भाषा में इस प्रकार समझाते थे कि श्रोताओं को उसमें अपूर्व आनंद आता था। छोटे-छोटे चुटकुले, मनोहर दृष्टान्त एवं अपने जीवन की बीती हुई घटनाएं सुना करके तो वे प्रवचनों में चार चाँद लगा देते थे। जिससे श्रोता का आलस्य दूर हो जाता था और वह अपने में एक ताजगी एवं उत्कंठा का अनुभव करता था। यही वजह थी कि समयसार जैसे गंभीर तत्व विषयक ग्रंथ को भी लोग बड़े मनोयोग पूर्वक सुनते थे और उनकी आगे आगे सुनने की जिज्ञासा बनी ही रहती थी।"

जैन दार्शनिक साहित्य के विकास में योगदान—

दर्शनशास्त्र तत्व और सिद्धांत को कसने की एक कसौटी है। जब किसी सिद्धान्त का परीक्षण या निर्णय करना होता है तो तर्क शास्त्र का आश्रय लिया जाता है। वर्णी जी ने भी भारतीय षट्‌दर्शनों का इसी लक्ष्य से अध्ययन किया कि जैन सिद्धांतों को तर्कशास्त्र की कसौटी पर परीक्षण कर उनका दृढ़ श्रद्धापूर्वक ज्ञान प्राप्त किया जाय।

आपने जैनेतर विद्वानों के पास रहकर भारतीय दर्शनों का गहन अध्ययन किया और उसके आधार से जैन सिद्धान्त अहिंसा अनेकांतवाद आदि का परीक्षण कर दृढ़ श्रद्धापूर्वक उनका ज्ञान प्राप्त किया।

आपने जैन दर्शन साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के लिए बहुत प्रयास किए। जैन दार्शनिक ग्रंथों का पठन पाठन जैन संस्कृत विद्यालयों में चालू कराया। जैन परीक्षालयों में उनका पाठ्य-क्रम नियत कराया।

बंगीय संस्कृत शिक्षा परिषद् कलकत्ता की जैन न्यायतीर्थ परीक्षा देने के लिए छात्रों तथा अध्यापकों को प्रेरित किया। जैन न्याय ग्रन्थों की टीका के लिए विद्वानों को उत्साहित किया। जैन दर्शनपाठी छात्रों को छात्रवृत्ति की व्यवस्था कराई। हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में जैन दर्शन का पाठ्य-क्रम निश्चित कराया और उसके अध्ययन का श्रीगणेश कराया। भारत के प्रमुख नगरों देहली, मथुरा, आगरा, प्रयाग, जबलपुर, सागर, वाराणसी आदि नगरों में विशाल आम सभाओं में आपके दार्शनिक भाषण हुए।

जब मुरार (ग्वालियर म. प्र.) स्थान में आपका चातुर्मास योग हुआ उस समय आपकी अध्यक्षता में वहाँ एक सर्वधर्म सम्मेलन हुआ। अनेक धर्मवादियों के भाषणों के पश्चात् अध्यक्ष पद से आपका मार्मिक भाषण हुआ। आपने दर्शाया कि—"भैया! संसार में सबसे बड़ा धर्म मानव धर्म है। जब मानव दानवता को छोड़कर

एक दूसरे के सुख दुख में हाथ बटायेगा तभी संसार में सुख शान्ति आयेगी। धर्म लड़ने के लिए नहीं, एक दूसरे की मदद करने तथा आत्म कल्याण के लिए है। इत्यादि।" आपने अनेक संस्कृत के श्लोक सुनाये तथा मानवता व मानव धर्म की अनेक उदाहरणों द्वारा प्रशंसा की। इस भाषण से सर्वसभा प्रभावित हुई।

जैन साहित्य के विकास में योगदान—

वर्तमान युग में जैन साहित्य का प्रकाशन भी जैन संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार का महत्त्वपूर्ण साधन है। वर्णीजी ने शिक्षाप्रद आत्मकथा, समयसार की हिन्दी टीका और सैकड़ों आध्यात्मिक तथा नैतिक पत्र लिखकर जैनतत्त्वों का प्रचार किया है। आपके महत्त्वपूर्ण भाषण लिपिबद्ध होकर तथा प्रवचन एवं भाषण "टेपरिकार्ड" के रूप में बनकर समाज में जैन साहित्य का प्रचार करते हैं। यद्यपि आपने जीवन में शब्द लेखात्मक निर्जीव साहित्य की रचना विशेष रूप से नहीं की, तथापि जैन संस्कृति के सैकड़ों विद्वानों को तैयार करके सजीव साहित्य की रचना विशेष रूप से की है। ये विद्वान मौखिक तथा लिखित रूप से जैन साहित्य का प्रचार कर रहे हैं। इन जैन विद्वानों को तैयार करने के लिए आपने देश में जैन शिक्षा संस्थाओं की भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्थापना की है। वे संस्थाएँ जैन विद्यालय, जैन पाठशाला, छात्रावास, कन्याशाला, महिलाश्रम, वर्णी इन्टर कॉलिज, जैन हाईस्कूल और उदासीन आश्रम के नाम से आज भी विद्यमान हैं जो जैन संस्कृति के विद्वानों का निर्माण करती हैं।

श्री वर्णी जी के इस प्रयत्न के पूर्व जैन साहित्य का प्रसार इस भारत में प्रायः न्यूनरूप में था। आपके सतत प्रयत्न द्वारा जैन संस्थाओं के माध्यम से जैन साहित्य का प्रसार देश में अधिक रूप में हुआ। जैन समाज में विद्वानों का अधिक सद्भाव हुआ और जैन साहित्य के पठन पाठन के साथ जैन साहित्य का महत्वपूर्ण निर्माण भी होने लगा।

समाज संरक्षण में योगदान—

संस्कृति और समाज का परस्पर घनिष्ठ संबंध है। संस्कृति से समाज का संरक्षण और समाज के संरक्षण से संस्कृति का संरक्षण होता है। जैन संस्कृति के अनुरूप समाज में सभ्यता का निर्माण करना, जैन संस्कृति का विकास करना है। वर्णी जी ने जैन संस्कृति के अनुरूप समाज का संगठन, सुधार, शिक्षण और पतितोद्धार किया है। उनके द्वारा किये गये समाज संरक्षण के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं—

(१) हरदी (सागर म. प्र.) में पंच कल्याणक के उत्सव पर, बड़गांव के करीब ५० वर्ष से बहिष्कृत २०० जैन भाइयों को वहां की समाज में मिलाकर समान अधिकार दिलवा दिया।

(२) करीब २५ वर्ष से बहिष्कृत जतारा निवासी एक जैन कुटुम्ब को जतारा समाज में मिला दिया और उसे मंदिर प्रवेश का अधिकार दिलवाया। मंदिर में वेदी का निर्माण कराया तथा मूर्ति विराजमान करायी। उस बहिष्कृत भाई ने बहुत द्रव्य का दान भी दिया जिससे मंदिर की व्यवस्था की गई।

(३) हलावनी (झांसी उ. प्र.) में एक कुटुम्ब कई वर्षों से समाज से बहिष्कृत था। दर्शन पूजन करने का भी अधिकारी नहीं था। वर्णीजी ने पंचों को समझाया और उसे समाज में मिलाकर दर्शन पूजन का अधिकार दिलवा दिया।

(४) नीमटोरिया के एक बहिष्कृत कुटुम्ब को पंचों की सम्मति से समाज में मिलाया गया और समानाधिकार दिलाया गया।

(५) शाहपुर (सागर) में एक स्त्री कुएँ में गिरकर मर गई। समाज ने उस स्त्री के कुटुम्ब का बहिष्कार कर दिया। खाली किए गए कुए का पानी पीना भी बंद कर दिया। वर्णीजी ने कुएँ के घाट पर बैठकर मंत्र पढ़कर क्रमशः १०८ लौंगें कुएँ में डाल दीं और पानी खिंचवाया। भुंजे चने बुलवाये। समाज ने चने खाकर पानी पिया और महावीर स्वामी की जय बोलकर कुएँ का उद्घाटन किया। कुटुम्ब को समाज में मिलाकर दर्शन पूजन का अधिकार दिलाया।

(६) शाहपुर के निकट छोटे-छोटे ग्रामों के अनेक जातिभ्रष्ट बहिष्कृत पुरुषों एवं महिलाओं का स्थितिकरण कर समाज का संरक्षण किया।

एक समय बुन्देलखण्ड में विशाल सभा के मध्य वर्णी जी ने समाज के संरक्षण हेतु एक दस सूत्री प्रस्ताव पारित-कर समाज सुधार की घोषणा की थी।

श्री वर्णी जी का उद्देश्य था "अपनी संस्कृति को भूल जाने से या छोड़ देने से समाज भी एक दिन नष्ट हो जाता है।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही आपने जैन संस्कृति के विकास एवं संरक्षण के लिये आजीवन पुरुषार्थ किया। आपने जैन संस्कृति के उपर्युक्त समस्त अंगों तथा उपाङ्गों का विकास किया और देश के अधिकांश भाग में उसका प्रचार एवं प्रसार किया।

सम्यक्त्व का निमित्त

श्रीयुत १०५ महाशय क्षुल्लक मनोहरलाल जी,

योग इच्छाकार।

पत्र आया, समाचार जाने। पदार्थ का निरूपण विवक्षाधीन है। नयों के विषय में लिखा सो ठीक। मेरी समझ में वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। जो सामान्य को कहता है वह द्रव्यार्थिक है जिसका विषय केवल द्रव्य है। दूसरा विशेष को विषय करने वाला है। उसे व्यवहारनय कहते हैं। इनमें अनेक विकल्प हैं। अस्तु, **निमित्त को न मानने वाले ही निमित्त से काम ले रहे हैं।** वहाँ निमित्त को न मानने वालों की प्रचुरता है फिर आपको किस अर्थ ले गये ? कुछ समझ में नही आता। अस्तु, फोकट चर्चा निमित्त की है। मेरा तो यह विश्वास है जो यथार्थ निरूपण करने वाला है, वही सम्यक्त्व का निमित्त हो सकता है। सम्यक्त्व जिसके होगा उसकी श्रद्धा होगी तभी तो होगा। विशेष क्या लिखें।

कार्तिक वदी १२
सं २००९

आपका शुभचिंतक
गणेश वर्णी

—वर्णी वाणी ४/४६

५

पूज्य गुरुदेव के सम्पर्क में

पं० शिखरचन्द्र जी, न्यायकाव्यतीर्थ, ईसरी

(१) "स्वयं" शब्द

ईसरी बाजार के उदासीनालय में साथ रहते हुए मेरे अनेक वर्ष पूज्य वर्णी जी के संपर्क में व्यतीत हुए हैं। उनके शास्त्र प्रवचन और शंका समाधान के अवसर पर साथ रहने का सौभाग्य मुझे अनेकों बार प्राप्त हुआ है। उनके कुछ विचार और समाधान नीचे लिखे जाते हैं—

स्वयं परिणमन्तेऽत्र इत्यादि वाक्यों में सूत्रों में स्वयं-शब्द को लोग क्रियावती शक्ति का परिणमन और भाववती शक्ति का भी परिणमन स्वतः स्वतन्त्र स्वभाव से स्वीकार करते हैं। वे पर्यायकी उत्पत्ति में सामग्री को स्वीकार करते ही नहीं हैं। अथवा कोई स्वीकार करते हैं तो भी निरर्थक मानते हैं। उपस्थिति मात्र मानते हैं। और उसकी उपस्थिति मात्र रहने से उस सामग्री पर निमित्तपने का आरोप लगा देते हैं। ऐसा मतभेद बहुत दिनों से चला आ रहा है।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव या कर्तापना नहीं स्वीकार करते हैं। इसके प्रमाण में वे स्वयं सबको आगे रखते हैं। उसके समाधान के लिये —

२० वर्ष पहले ईसरी में श्रीमान् पंडित बाबूलालजी कलकत्ता से महाराज के पास आये थे। तब उन्होंने महाराज से समाधान करने की प्रार्थना की थी। महाराज ने भी एक प्रवचन देना स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन टेप रिकार्ड मशीन लेकर वे मध्याह्न में निश्चित समय पर प्रवचन लेने के लिये उपस्थित हो गये। उस समय का टेप रिकार्ड उनके पास सुरक्षित है। उसकी पुस्तक भी उन्होंने उस समय छपा दी थी।

उस समय महाराज ने प्रवचन में कहा था कि स्वयं शब्द का अर्थ है कि—"कारण के बिना नहीं"। कारण के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता है।

कारण का अर्थ उपादान निमित्त दोनों हैं। एक उपादान स्वयं नही परिणमता है। परिणमता उपादान कारण ही है। परन्तु परिणमन में सहायक अवश्य चाहिये। व्याकरण में लिखा है कि भिद्यतेघटः दण्डेन। नहि भिद्यते घटः दण्डेन। अपितु घटः स्वयं भिद्यते। इसका अर्थ यह है कि घट दण्ड से फूटता है। नहीं—दण्ड से घट नहीं फूटता है। अपितु स्वयं फूटता है।

तो क्या स्वयं शब्द से दण्ड का सर्वथा निषेध स्वयं हो गया। नहीं—उस निमित्त की मुख्यता नही है। शिथिल अवयवों की ही मुख्यता है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना। हठवाद को आश्रय न देना।

जब हम द्रव्य की उपादान शक्ति को ही देखते हैं तब स्वयं कहा जाता है। जैसे जीव पुद्गल स्वयं गमन करते हैं तो भी सहायक निमित्त धर्म द्रव्य भी होता है। दीपशिखा स्वयं टेढ़ी होती है। उसके टेढ़ी होने में निमित्त वायु है।

उरझै सुरझै आपही ध्वजा पवन के जोर।
उरझै सुरझै जीवही देत कर्म झकझोर॥

(२) उपादान कारण, निमित्त सापेक्ष होता है—

कई बार कलकत्ता आदि से कितने ही लोग महाराज का प्रवचन सुनने आते थे। वे अपने अभिप्राय से विवाद

और बहस भी कर बैठते थे। कभी उलझ भी जाते थे, और तब महाराज युक्तियों से समझाते थे। मैं भी साथ में रहता था। अंत में आगम प्रमाण देते थे।

सारांश यह है कि अकेला द्रव्य बाह्य उपकरणों की अपेक्षा रहित कार्य-रूपसे नहीं परिणमता है। कार्य की उत्पत्ति के लिये अनेक उपकरणों की जरूरत होती है। इत्यादि।

(३) निमित्त का प्रभाव पड़ता है—

आप यदि यह कहो कि निमित्त का प्रभाव नहीं पड़ता है तो महाराज कहते थे कि आपका प्रभाव मुझ पर नहीं पड़ेगा ? और मेरा प्रभाव आप पर नहीं पड़ेगा। तो फिर क्यों चर्चा करते हो। आप मेरे निकट क्यों आये हो। इस बात से वे चुप रह जाते थे। फिर कुछ देर में दूसरी चर्चा छेड़ देते थे।

(४) उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों समान हैं—

जैसे एक रुपये के पचास पचास पैसे दो जगह समान होते हैं। इसी प्रकार पर्याय की उत्पत्ति में दोनों समान हैं। दोनों का आधा आधा हिस्सा है। इस पर राजा भोज का दृष्टान्त जो महाराज कहते थे। सो इस प्रकार है—

राजा भोज के यहां कितने ही प्रकार के अनेक विद्वान् थे। उनमें दस विद्वान् प्रधान थे। उन्हें बड़ा गर्व था कि हम विद्वान् हैं। एक दिन में १०० श्लोक बनाते हैं। वे प्रभात में नदी पर स्नान करने जाते थे सो स्नान कर आते समय वे अपनी धोती आकाश में फेंक देते थे। वह धोती यों ही अधर आकाश में सूखती चली आती थी। वे भी भूमि से कुछ ऊपर जल्दी-जल्दी चले जाते थे। यह उनके ब्रह्मचर्य का प्रभाव था। उन्हें इसका अत्यधिक गर्व हो गया कि हम अपने ही परिश्रम से प्राप्त अन्न खाते हैं। हम कोई के अधीन नहीं है। यह खबर चारों दिशाओं में फैल गई। राजा भोज ने भी यह बात सुनी। तब उसे बड़ा खेद हुआ।

पहले राजा भोज ही उनके भोजन, दूध, ईंधन, नमक, आवास आदिका सब पूरा प्रबन्ध करता था। जब राजा भोज ने अपना तिरस्कार अपने ही सेवकों से सुना तो राजा को बहुत खेद हुआ कि ये विद्वान् मुझे थोड़ा भी सहायक नहीं मानते हैं।

अतः एक दिन भोजनशाला में राजा ने नमक लेजाने का सेवकों को निषेध कर दिया। जब भोजन करने विद्वान् बैठे थे तो रसोइया ने प्रथम ही सूचित कर दिया कि राजा ने नमक नहीं भेजा है। सो नमक का प्रबन्ध कर लीजिये।

अभी तक तो वे विद्वान् निराकुल होने से १०० श्लोक प्रतिदिन बनाया करते थे। अब आकुलता होने लगी सो कम श्लोक बनने लगे।

दूसरे दिन राजा ने ईंधन नहीं भेजा सो रसोई ही नहीं बनी। तब और भी आकुलता उत्पन्न हो गई। इसमें उनका कुछ समय खर्च होने लगा। तब और भी कम श्लोक बनने लगे। जब राजा ने पूछा कि श्लोक कम बनने का क्या कारण है। तब उन विद्वानों ने आकुलता बताई और सामग्री का अभाव।

अन्त में राजाभोज ने कहा कि आपको एक अपना ही गर्व करना अच्छा नहीं है। हम भी निमित्त हैं। हमारा भी उसमें हिस्सा है। इस प्रकार उन विद्वानों को निमित्त भी स्वीकार करना पड़ा। और उन्होंने गर्व करना छोड़ दिया।

ऐसा उपादान निमित्त का बराबर का दर्जा जानना।

(५) एक पर्याय के अनेक कर्त्ता—

उपादान कारण का एक कर्म होता है। उसमें करण-रूप निमित्त कारण अनेक होते हैं। एक कर्मका उपादान-कर्त्ता एक होता है। उसके निमित्तकर्त्ता अनेक होते हैं। एक क्रिया एक उपादान की होती है। उसके निमित्तकर्त्ता अनेक होते हैं। एक उपादान की अनेक क्रिया भी होती हैं। जैसे अग्नि की स्वेदन, दाहन, पाचन, तैल शोषण वर्तिकादाह, अंधकार नाशन, प्रकाशकारण आदि। सामग्री भेदाद्धि कार्य भेदः। यह जिनागमत नहीं हैं। प्रत्युत जिन सम्मत हैं। जैसे एक अधःकरण के चार आवश्यक और अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण के आठ आवश्यक होते हैं। और भी अनेक कार्य होते हैं। चांवल का भात कर्म की पाक

क्रिया का उपादान एक तन्दुल ही है। परन्तु उसमें पात्र, जल, अग्नि, वायु आदि अनेक निमित्त हैं।

(६) पुद्गल पर निमित्त का आरोप—

जब जीव विभावरूप परिणमता है तब पुद्गल को निमित्त होने का आरोप कर दिया जाता है। जब महाराज के सामने यह चर्चा आती तो महाराज कहते थे कि जीव के ऊपर जब आरोप नहीं मानते तो पुद्गल पर आरोप लगाने का क्या अधिकार है। आरोप का अर्थ होता है अभियोग, अपराध, दूषण। यदि पुद्गल के ऊपर अभियोग का मुकदमा चलता तो मैं पुद्गल की तरफ से गवाही देता कि हां साहब! पुद्गल का कोई अपराध नहीं है। सब जीवका ही अपराध है। जीव ही अपने परिणामों को बिगाड़ता है और पुद्गल को बँध जाना पड़ता है। जीव के किये हुये कर्म का दण्ड पुद्गल देता है तो इसमें पुद्गल को दोषी ठहराना उचित नहीं है। अतः आरोप शब्द का भी प्रयोग ठीक नहीं है। दोनों का निमित्त नैमित्तिकपना मानना ठीक है।

अतः निमित्त साधकतम है। जैसे काष्ठ छेदन करने वाले के लिये कुठार आदि। यदि निमित्त पर आरोप लगाकर उसे व्यर्थ ही कहा जाय तो विभाव पर्याय बनेगी ही नहीं। सभी एक उपादान से होने से स्वभाव पर्याय ही कही जायगी। फिर ज्ञान में आगम का भी निमित्त व्यर्थ हो जाने से "आगमचेट्ठात दोजेट्ठा" और "आगमचक्खू साहू" यह आचार्य-श्री का वचन भी आरोपयुक्त हो जायगा।

(७) बंध की अपेक्षा जीव पुद्गल एक ही हैं—

बंधपडि एयत्तं सिद्धान्त के अनुसार तथा प्रवचन सार ज्ञेयाधिकार के अनुसार असमान जातीय पर्याय होती है। मैं स्वयं में कितना ही भेद विज्ञान करता हूं कि शरीर भिन्न है। आत्मा भिन्न है। जब मेरे शरीर में पीड़ा होती हैं तो मैं ही भोगता हूं। कोई सहायक नहीं होता है।

इस बुढ़ापे में पता लगता है कि कैसा शरीर भिन्न है। नहीं तो मैं क्यों दुःख सहता। शरीर ही सहता। खूब व्याख्यान देता और विदेश तक चला जाता। क्या कहें। यह शरीर कभी न अपना हुआ और न होगा। तो भी संबंध तो एक क्षेत्रावगाह अपूर्व है ही।

(८) विद्वानों से सहायता—

एक बार महाराज ने चतुर्दशी का उपवास किया था। उस ही दिन एक विद्वान् पं. उदयचंद्र जी बनारस से गुरु भक्ति से प्रेरित होकर आये थे। तब उन्होंने अपना परिचय दिया था कि पंडित जी! मैं अभी यहां लङ्का से बौद्ध दर्शन का अध्ययन करके आया हूं। और मुझे आपके प्रसाद से पढ़ाने का स्थान भी मिल गया है। अब आपके आशीर्वाद की ही केवल जरूरत है। उत्तर में महाराज ने कहा कि तुम्हारी निर्मलता ही तुम्हें पूर्ण आशीर्वाद है।

फिर बौद्ध दर्शन पर चर्चाएं अनेक हुईं। इससे महाराज अति प्रसन्न हुये। उस दिन पूज्य श्री ने उन अभ्यागत पंडित जी का भोजनादि से सत्कार किया।

इसी प्रकार ईसरी में आने वाले अनेक विद्वानों को उपकृत किया। इस विषय में महाराज कभी पीछे नहीं रहते थे। विद्वानों को हृदय का हार कहते थे और गोवत्स की तरह अन्तरङ्ग से पूर्ण प्रेम रखते थे।

(९) केवल ज्ञान की अपेक्षा क्रम-बद्ध पर्याय नहीं

भगवान् के ज्ञान में मतिज्ञान से अनंतगुणी सब ही पर्यायें युगपत ही झलकती हैं। इसमें कोई विवाद नही है। यह तो प्रतिभासका विषय है। प्रतिभास में क्रम कैसा।

उपदेश की वचन की अपेक्षा क्रम होता है। जैसा बहुविध मतिज्ञान है, सो उसके बहुत प्रकारों के जानने में क्रम है क्या। कोई क्रम नहीं है। नही तो भगवान का प्रतिभासज्ञान भी क्रम-बद्ध हो जायगा। तो वे अनंतकाल बीत जाने पर भी अनेक पदार्थों की अनेक गुण पर्यायों का पूरा ज्ञान कभी नही कर सकेंगे। यह क्रम-बद्ध का सिद्धान्त आचार्यों ने स्वीकार नही किया है।

(१०) संकट में धीरता—

कोई भी व्यक्ति दुःखी होकर महाराज के पास आता तो महाराज कहते थे कि मोह ही तो दुःख कराता है। सो मोह को छोड़ो। मोह में दुःख होता ही है। फिर यह वचन सुनाते थे—

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरारे।
अनहोनी नहिं होसी कबहूं काहे होत अधीरा रे।

(११) अकालमृत्यु—

कर्म सिद्धान्त की अपेक्षा अकाल मृत्यु है। कर्म-सिद्धान्त भी श्री वीतराग जिनेन्द्रदेव कथित है। सुख दुःख जीवन-मरण आदि व्यवहारनयके ही विषय हैं। सामग्री के ही अधीन हैं। इन बातों में परमार्थनय लगाना उचित नहीं है। जहां जो नय लगे, वही नय वहां लगाना चाहिये। सबही जगह एक नयका विचार यथार्थ नहीं होता है।

(१२) पूजा से केवल पुण्यबन्धही नहीं—

यह उपदेश श्रीकानजी स्वामी के सन्मुख मधुवनमें सर्वप्रथम दिये व्याख्यान में दिया था। उसमें ऐसा अभिप्राय प्रगट स्पष्ट किया था कि पूजा परंपरा मोक्षका मार्ग है। केवल पुण्यबंध की ही कारण नहीं है।

क्योंकि पूजामें कोई विषयकषाय पोषनेका अभिप्राय ही नही है। पूजामें जिनेन्द्रका ही गुणगान है। और जो कुछ कहा भी है सो भक्ति के वश ही कहा है। इससे जड़की क्रिया या पुण्यबंधका ही कारण मानकर पूजा में धर्म का निषेध करना ठीक नहीं है। भक्ति तो गुणानुराग रूप ही है। जो कि निवृत्ति परक है।

पूजाको प्रभावना अंग में सम्मिलित किया है। पूजा को मुख्य श्रावक का धर्म कहा है। दानमें और वैयावृत्य में भी कथन किया गया है तथा इसे सम्यक्त्व की उत्पत्ति में भी कारण माना गया है अतः हेय नहीं है।

महावीराष्टक स्तोत्र में कहा है—

यदर्च्चाभावेन प्रमुदितमना दर्दुर इह।
क्षणादासीत्स्वर्गी गुण गणसमृद्धः सुखनिधिः॥
लभन्ते सद्भक्ताः शिवसुखसमाजं किमु तदा।
महावीरस्वामी नयन पथगामी भवतु नः॥

इसमें शिव, सुख, समाज (सामग्री) का लाभ पूजा से सद्भक्तों को बताया है।

(१३) महाराज की शिक्षा—

उनकी इच्छा सबके जीवन को पवित्र बनाने की ही रहती थी। भैया काये उते सब अच्छे हैं। ऐसी सबकी कुशल पूंछते थे। तो देखो कि अष्टमी चतुर्दशी तीन अष्टाह्निका, तीन सोलहकारण, दशलक्षण पर्वों में जरूर ब्रह्मचर्य रखना चाहिये। बाजार की चीजें न खाना चाहिये। जहाँ तक बने घर में रहकर ममत्व को घटावो। जितना घर में प्रतिदिन खर्च होता है, उस पर कम से कम एक रुपया पर एक पैसा दान के लिये जरूर निकालो। फिर कहीं भी दो। एक पाठ मेरी भावना का जरूर याद करो। श्री मंगतराम कवि की बारह भावना का पाठ किया करो। और घर में बच्चों को भी धर्म शिक्षा जरूर दिया करो। एक ग्राम में एक विद्वान् स्थानीय जरूर हो जो सबको शिक्षा दिया करे। स्वाध्याय कराये। बाहर से विद्वान् बुलाने की पर्व आदि में कभी भी जरूरत न पड़े। नियत साफ रखो। व्यापार ईमानदारी से करो। इसी में अब तुम्हारा कल्याण है। बिड़ी सिगरेट नशा का त्याग करो।

(१४) राग में राग मत करो—

राग ही संसार का मूल है। राग से आत्मा अशुचि होता है। पराधीन बनता है। एक पनेमें अनेकपना आ जाता है। आत्मा अनात्माका भेद मिट जाता है। पर-वस्तुओं का अभिलाषी होता है। परिग्रहकेही संचयमें दिनरातही श्रम किया करता है। इससे आकुलताही उत्पन्न होतीहै। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानही निरंतर बने रहते हैं। इन्द्रिय विषयोंसे कभी संतोष नही होता है। अतः रागमें आत्माकी श्रद्धा करना उपयुक्त नहीं है। इसलिये राग और आत्माके भेदविज्ञानको मत भूलो। और चाहे सबको भूल जावो।

(१५) अंतिम शब्दलिखित रूप में—

जब साहु आलोकप्रकाशजी अंतिम समयमें आये थे। श्रीमान् सेठ भागचंद्रजी सोनी सपत्नीक अजमेरसे महाराजके अंतिम दर्शनार्थ ईसरीमें पधारे थे। अन्यभी श्रीमान्धीमान् उपस्थित थे। तब सबही पुरुष श्रीमहाराज से दो शब्द सुनना चाहते थे। सभी भक्तिसे हाथ जोड़े बैठे थे। मानों अपनी श्रद्धांजलि ही समर्पण कर रहे हों।

बोलने में असमर्थता होनेसे महाराज ने स्लिटपर कांपते हुये हाथों से दो शब्द हंसमुख मुद्रासे लिख दिये।

"अपने बनो"

ये दो शब्द आजभी सबके लिये अमोघ मंत्र बने हुये

हैं। इसमंत्रका बड़ा गंभीर अर्थ है कि समयसार बनो, स्वाधीन बनो। अनादि से पर-पुद्गलके ही आधीन रहे। अब तो यह आदत छोड़ो। इससे बढ़कर अंतिमशिक्षा और क्या हो सकती है। गागर में सागर समा दिया है। यही सर्वस्वाध्यायका फल है।

(१६) महाराज का सर्वजीवन—

इस प्रकार महाराजका सर्वजीवन स्वाध्याय करते कराते सुनते सुनाते व्यतीत हुआ। समयसार तो आपके घटमें ही विराजमान था, जिसको स्वप्नमें भी उच्चारण करते थे। कभी नही भूलते थे। महाराज का स्वाध्यायका ही एक व्यसन था। जो महाराज अंतिम क्षणतक मोक्ष-मार्ग प्रकाश, रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्मपुराण आदि ग्रन्थों-को आद्योपान्त कई बार तक श्रवण करते रहे। उनके निमित्तसे अनेक पुरुष और महिलाएं भी स्वाध्याय प्रेमी बन गई।

(१७) अनादर—

महाराज जिनवाणीके अनादरसे सदैव डरते थे। यों तो किसी भी तुच्छवस्तु का भी अनादर स्वप्नमेंभी नहीं चाहते थे। यह शिक्षा माताजी श्री चिरोंजाबाईजी से पाई थी। अतः महाराज अपने जीवनमें उनका उपकार कभी नही भूलते थे।

(१८) परहित निरतता—

महाराजकी आत्मा परके दुःख देखनेके लिये बड़ी कातर थी। पशुपक्षी के भी दुख निवारण करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते थे। दीन दुःखियोंको सदा मिष्ट भोजन कराने के लिये उद्यत बने रहते थे। महाराज कभी किसीको झूठा या सड़ा फल देना पसंद नहीं करते थे। दीनों को वस्त्र बनयान तक बंटवाते रहते थे। जिससे आजभी कितनेही दीन-हीन पुरुष आजभी ईसरीमें महाराज को स्मरण करते हैं। अजैन समाजभी उनके शब्दोंको सुनने के लिये सदा इच्छुक रहती थी। महाराजकी प्रसन्न मुद्रासे दर्शन के लिये मार्ग में सभी करबद्ध खड़े हो जाते थे।

(१९) पुरुष परीक्षा—

महाराजको पुरुष परीक्षाभी शीघ्रही उसके आचरण को देखकर आजाती थी कि यह व्यक्ति कैसा है। जो जैसा व्यक्ति हो तो उससे वैसीही बात करते थे। अपनी उदारता से उसको सुयोग्य बना देते थे।

(२०) राष्ट्रपति से परिचय—

एक बार राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी अखिलग्राम-पंचायत बिहार राज्यकी सभाके सभापति होकर ईसरी में आये थे। उनका व्याख्यान हुआ। अनंतर जब वे सैलून (स्पेशल रेल बोगी) में चले गये, उनका महाराजसे मिलनेका भाव था। जब उन्हें स्मरण दिलाया गया तो तुरंतही अपने सेक्रेटरी को महाराज के पास भेजा। महाराजभी तुरंत सैलून पर चले गये। साधुजनोंके ऊपर आदर दृष्टिसे भी महाराज को अधिक आदर दृष्टिसे बैठाया। वे नीचे बैठे। महाराज पाँच मिनट चटाई पर ऊँचे बैठे। कुशल वार्ताके बाद मद्यबंदीके लिये प्रेरणाकी। उनने भी कहाकि मैं इसको ध्यान में रखूंगा। यह बात मुझे भी प्रिय है। आदि।

(२१) बिनोवाजी गुरु रूप से मानते थे—

जब महाराज जी गया में थे तब श्री बिनोवाजी भी भ्रमण करते हुये गया में आये। फिर प्रातः महाराजके दर्शन के लिये विशेष रूपसे पधारे। तब उनकी मुद्रा कितनी विनययुक्त थी वह देखनेही योग्य थी। अद्वितीय सम्मेलन था। महाराजको देवताके रूपमें बताया।

(२२) शुभचिन्तक—

महाराज सबके ही शुभचिन्तक थे। मेरेलिये विशेष आश्रयदाता अंतिम क्षण तक होने के कारण वे मेरे लिये सर्वस्व उपास्य देवता थे। प्रातः स्मरणीय आराध्य संरक्षक एक ही थे। उनका परभवकाही चला आया मेरे साथ गाढ़ प्रेम था। इसीलिये मैं अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि उनके चरण कमलों में समर्पित करता हूं। ऐसे महान् गुरुदेव को अष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ।

बदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वंद्याः॥

———

६

ज्ञान रथ के प्रवर्तक

—प्रो० उदयचन्द्र जैन एम० ए०, जैन-बौद्ध-सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी भारतवर्ष की उन विभूतियों में से थे जिन्होंने अपने जन्म से इस भारत भूमि को अलंकृत ही नहीं किया किन्तु समाज सेवा, देश सेवा, शिक्षा प्रचार आदि के पवित्र कार्यों द्वारा इस देशवासियों का अत्यन्त उपकार किया है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सबने पहले स्वयं अपने जीवन का निर्माण किया और इसके अनन्तर संसार के प्राणियों के कल्याण के लिए अन्तिम क्षण तक कार्य करते रहे। पूज्य वर्जी जी का जीवन भी इसी प्रकार तपःपूत, लोकोद्धारक तथा सर्व हितैषी रहा है। आज वर्णी जन्म शताब्दी के शुभ अवसर पर हमें यह देखना है कि वर्णी जी ने किस प्रकार सबसे पहले अपने अन्दर ज्ञान ज्योति प्रज्वलित की और इसके पश्चात् समाज में व्याप्त अज्ञानान्धकार को दूर करने के लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र ज्ञान ज्योति का प्रसार कैसे किया। वे सच्चे अर्थ में 'ज्ञानरथ' के प्रवर्तक हो गये। सच्चे गुरु का जो कार्य है उसे जीवन भर किया। ऐसे गुरुओं को सदा नमस्कार करना हमारा परम कर्तव्य है। इसीलिए कहा गया है:—

अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।

वर्णी जी ने सात वर्ष की अवस्था में विद्यारंभ किया और चौदह वर्ष में मिडिल पास हो गये। इससे आगे पढ़ने के साधन न थे, अतः अधिक विद्याभ्यास से उस समय वञ्चित रहना पड़ा। १८ वर्ष की आयु में विवाह हुआ जिसके बाद ही पिता जी का स्वर्गवास हो गया। आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। इस कारण मदनपुर गाँव में मास्टरी कर ली। वहाँ चार मास रहकर नार्मल स्कूल में शिक्षा लेने के लिए आगरा चले गये। वहाँ दो मास ही रह सके। इसके बाद जयपुर की ओर गये। एक माह बाद इन्दौर पहुँचे और शिक्षा विभाग में नौकरी कर ली। देहात में रहने के कारण उपयोग की स्थिरता न होने से घर चले आये। दो माह बाद कारीटोरन गाँव की पाठशाला में अध्यापकी कर ली। पुनः कुछ समय के बाद जतारा के स्कूल में अध्यापक हो गये। तत्पश्चात् पूर्वपुण्य से सिमरा गाँव में माता चिरोंजाबाई का सुयोग मिल गया। यह पूर्व पुण्य का ही प्रभाव था कि वर्णी जी को देखकर बाई जी के हृदय में पुत्र जैसा स्नेह उत्पन्न हो गया और कहा कि मैं जब तक हूँ तुम्हारी पुत्रवत् रक्षा करूँगी। और चिरोंजाबाई जी ने वर्णी जी की धर्ममाता बनकर वर्णी जी के जीवन को समुन्नत बनाने के लिए अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया।

वर्णी जी को विद्या प्राप्त करने की धुन सवार तो थी ही। जब वर्णी जी ने सुना कि जयपुर में बड़े-बड़े विद्वान् हैं तो बाई जी से कहा कि मुझे जयपुर भेज दो, मैं जयपुर जाकर विद्याभ्यास करूँगा। तदनन्तर बाई जी की आज्ञा प्राप्त कर जयपुर की ओर प्रस्थान कर दिया। किन्तु लश्कर (ग्वालियर) की धर्मशाला में सामान चोरी हो जाने के कारण जयपुर जाकर विद्याध्ययन करने का विचार वर्षों के लिए टल गया। किसी प्रकार लौटकर जतारा आ गये। कुछ समय बाद स्वरूपचन्द्र जी बनपुरया के साथ खुरई के लिए प्रस्थान किया। जतारा से खुरई जाते हुए टीकमगढ़ पहुँचे। वहाँ श्री गोटीराम जी भायजी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनके प्रवचन को सुनकर वर्णी जी के मन में यह भाव हुआ कि क्या मैं भी

किसी दिन इसी प्रकार जैनधर्म का ज्ञाता हो जाऊँगा। खुरई पहुँचने पर पं० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर का सारगर्भित प्रवचन सुनकर वर्णी जी ने पं० जी के समक्ष यह जिज्ञासा प्रकट की कि क्या ऐसा भी कोई उपाय है जिससे मैं जैनधर्म का रहस्य जान सकूँ। जब पं० जी को यह मालूम हुआ कि ये वैष्णव से जैनी हो गये हैं तब उन्होंने कहा कि तुमने बड़ी भूल की जो जैनी हो गये। न तो तुम वैष्णव ही रहे और न जैनी ही। यह सुनकर वर्णी जी ने खेदपूर्वक कहा कि पं० जी, आप से शपथ-पूर्वक कहता हूं, अब उसी दिन आपके दर्शन करूँगा जिस दिन धर्म का मार्मिक स्वरूप आपके समक्ष रखकर आपको सन्तुष्ट कर सकूँगा। आज आप जो वाक्य मेरे प्रति व्यवहार में लाये हैं, तब आपको वे वाक्य वापिस लेने होंगे।

वर्णी जी तीर्थयात्रा के बड़े प्रेमी थे। साथ ही अच्छे विद्वान् की खोज में रहते थे, जिससे कि अच्छी तरह विद्याध्ययन किया जा सके। इसी दृष्टि से रेशन्दीगिरि, कुण्डलपुर, रामटेक, मुक्तागिरि और गजपन्था की यात्रा के बाद बम्बई पहुँच गये। पास में एक पैसा भी नहीं बचा था। संयोग से वहाँ खुरजा के रहने वाले बाबा गुरुदयाल सिंह ने भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था कर दी। १०) रुपया नगद दिये तथा १०० कापियाँ देकर कहा कि इन्हें बाजार में जाकर फेरी में बेच आना। एक कापी छह आना से कम में मत बेचना। कापियाँ बेचने पर ३१ रु० छह आने हो गये। स्व. पं० गोपालदास जी बरैया उस समय बम्बई में कार्य करते थे। वे भी वर्णी जी से प्रसन्न हुए और कहने लगे कि तुम आनन्द से विद्याध्ययन करो और कोई चिन्ता मत करो। बम्बई में पं० जीवाराम जी शास्त्री से कातन्त्र व्याकरण तथा पं० पन्नालाल जी बाकलीवाल से रत्नकरण्ड-श्रावकाचार पढ़कर दोनों ग्रन्थों की परीक्षा दी और अच्छी सफलता प्राप्त की। २५) रुपया इनाम मिले। परीक्षाफल देखकर दिल्ली के श्री लक्ष्मीचन्द्र जी झवेरी ने कहा कि हम दस रुपया मासिक बराबर देंगे, तुम सानन्द अध्ययन करो। बम्बई का पानी अनुकूल न होने से कुछ समय के लिए पूना चले गये। फिर वहाँ से केकड़ी गये। १५ दिन बाद जयपुर पहुँचे। वहाँ पं० वीरेश्वर शास्त्री के पास पढ़ने लगे। यहाँ कातन्त्र व्याकरण, चन्द्रप्रभचरित, तत्त्वार्थसूत्र और सर्वार्थसिद्धि का अध्ययन किया। कातन्त्र व्याकरण की परीक्षा देते समय पत्नी के स्वर्गवास का पत्र मिला। पत्र पढ़कर वर्णी जी ने कहा कि आज मैं बन्धन से मुक्त हुआ। उसी दिन एक पत्र बाई जी को सिमरा लिख दिया कि अब मैं निःशल्य होकर अध्ययन करूँगा। एक वर्ष जयपुर रहे। इसके बाद आगरा से पं० गोपालदास जी बरैया का पत्र मिला कि मथुरा में दि० जैन महाविद्यालय खुलने वाला है, तुम शीघ्र चले आओ। पत्र पाते ही वर्णी जी आगरा चले गये और बरैया जी से न्यायदीपिका पढ़ने लगे। बरैया जी वर्णी जी से पूर्ण सन्तुष्ट थे। मथुरा में जैन महाविद्यालय की स्थापना हो गई। वर्णी जी उसमें भर्ती हो गये। बरैया जी उसके मंत्री थे। बरैया जी ने वर्णी जी से कहा कि हम तुम्हारे व्यवहार से पूर्ण सन्तुष्ट हैं, तुम्हें जो कष्ट हो हमसे कहना, हम निवारण करेंगे। मैं तुम्हें दो रुपया मासिक अपनी ओर से दुग्धपान के लिए देता हूँ। मथुरा में दो वर्ष अध्ययन किया। पश्चात् कारणवश खुरजा चले गये। खुरजा में भी दो वर्ष रहकर बनारस की प्रथमा परीक्षा तथा न्यायमध्यमा का प्रथमखण्ड यहीं से पास किया। तत्पश्चात् नियतिवश खुरजा छोड़कर वैशाख मास में शिखर जी की यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। और जेठ की भीषण गर्मी में शिखर जी की वन्दना की। शिखर जी की यात्रा के बाद मऊ पहुँचे और मऊ से बाई जी के पास सिमरा पहुँच गये। वहाँ डेढ़ मास रहने के बाद न्यायशास्त्र के विशिष्ट विद्वान् श्री दुलारझा के पास अध्ययन के लिए टीकमगढ़ चले गये और उनके पास मुक्तावली, पञ्चलक्षणी, व्यधिकरण आदि ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। किन्तु दुलारझा के बलिप्रथा के पोषक होने के कारण कुछ समय बाद ही वहाँ से सिमरा आ गये। तदनन्तर इलाहाबाद से पूर्व में झूसी से १५ मील पर हण्डिया तहसील के हरिपुर गाँव में पं० ठाकुरदास जी के पास जाकर प्रमेयकमलमार्तण्ड पढ़ने लगे। वहाँ चार मास रहे। फिर वहाँ से वाराणसी चले गये।

उस समय गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज में पं. जीवनाथ

मिश्र न्याय के प्रमुख अध्यापक थे। वर्णी जी ने उनके पास जाकर न्यायशास्त्र पढ़ने की इच्छा प्रकट की। किन्तु जब उनको पता चला कि वर्णी जी जैन हैं तब उन्होंने कहा कि यहाँ से चले जाओ, हम नास्तिक लोगों को नहीं पढ़ाते। इस से वर्णी जी के हृदय में तीव्र वेदना हुई। फिर भी वे निराश नहीं हुए और गुरुदेव की खोज में भ्रमण करते हुए एक श्वेताम्बर विद्यालय में पहुँच गये। वहाँ विद्यालय के अध्यक्ष श्री धर्मविजय सूरि से भेंट हुई। धर्मविजय सूरि वर्णी जी को न्याय के अध्यापक पं. अम्बादास जी शास्त्री के पास ले गये और कहा कि शास्त्री जी से अध्ययन करो, तुम्हें कोई रोक टोक नहीं। अम्बादास जी शास्त्री ने भी प्रसन्न होकर कहा कि तुम हमारे यहाँ आओ, हम तुम्हें सहर्ष पढ़ावेंगे। वर्णी जी ने उनसे न्यायशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ कर दिया। किन्तु सदा ही उनके मन में तीव्र इच्छा रहती थी कि वाराणसी में एक दि० जैन विद्यालय का होना आवश्यक है। इस मनोरथ को पूर्ण करने के लिए बाबा भागीरथ जी वर्णी को भी बुला लिया। दोनों रात दिन यही चर्चा करते रहते थे कि कौन से उपायों का अवलम्बन किया जाय जिससे काशी में एक दि० विद्यालय स्थापित हो जावे। उस समय संयोगवश श्री झम्मनलाल जी कामावाले मिले और उन्होंने विद्यालय की स्थापना के निमित्त एक रुपया दिया। उस एक रुपया ने बटबीज का काम किया। उस एक रुपया से ६४ पोस्टकार्ड खरीदे गये और समाज के ६४ विशिष्ट व्यक्तियों को विद्यालय खोलने के विषय में लिखा गया। अनेक लोगों के आशाजनक उत्तर प्राप्त हो गये। बाबू देवकुमार जी रईस आरा, सेठ माणिकचन्द्र जी बम्बई आदि ने पूर्ण सहायता का आश्वासन दिया। अन्त में जेठ सुदी पंचमी (विक्रम सम्वत् १९६२) के दिन स्याद्वाद जैन विद्यालय के उद्घाटन करने का निर्णय किया गया। इस दिन समाज के अनेक गण्य मान्य व्यक्ति वाराणसी आ गये। विद्यालय का उद्घाटन श्रीमान् सेठ माणिकचन्द्र जी के द्वारा सम्पन्न हुआ। पं. अम्बादास जी शास्त्री आदि तीन अध्यापक नियुक्त किये गये। वर्णी दीपचन्द्र जी सुपरिन्टेन्डेन्ट हुए। वर्णी गणेशप्रसाद जी स्याद्वाद विद्यालय के प्रथम छात्र हुए। यह संयोग और आश्चर्य की बात है कि वर्णी जी स्याद्वाद विद्यालय के संस्थापक और छात्र दोनों हुए। बाद में भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त से छात्र आने लगे।

वर्णी जी पं. अम्बादास जी शास्त्री के पास अष्टसहस्री का अध्ययन करने लगे। यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र का एक गम्भीर और क्लिष्ट ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ को मनोयोगपूर्वक पढ़ लेने से स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्तों का सम्यक् बोध हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—

श्रोतव्याऽष्टसहस्री किमन्यैः सहस्र संख्यानैः।
विज्ञायते ययैव स्वसमय-पर-समय-सद्भावः ।।

वर्णी जी ने अष्टसहस्री का अध्ययन एक वर्ष में समाप्त कर लिया। जिस दिन यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ उस दिन वर्णी जी ने शास्त्री जी के चरणों में ५००) रुपया की हीरा की एक अँगूठी भेंट करके कहा कि 'महाराज, आज मुझे इतना हर्ष है कि यदि मेरे पास राज्य होता तो मैं उसे भी आपके चरणों में समर्पित करके तृप्त नहीं होता। न्यायशास्त्र का अध्ययन करते हुए वि०सम्वत् १९६४ में संस्कृत कालेज की न्यायमध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। पुनः कुछ वर्षों बाद हिन्दू विश्वविद्यालय की न्यायशास्त्री परीक्षा में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया। बाद में न्यायाचार्य के भी तीन खण्ड पास कर लिये। इतना होने पर भी पढ़ने की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई और कारणवश वाराणसी छोड़कर टीकमगढ़ आ गये और पं. दुलारझा से पढ़ने लगे। दुलारझा के पुत्र शान्तिलाल भी न्याय के अच्छे विद्वान् थे। वर्णी जी उनको लेकर बरुआसागर चले गये तथा उनसे वहाँ न्याय पढ़ने लगे। फिर कुछ समय बाद शान्तिलाल के साथ चकौती (जि० दरभंगा) चले गये और वहाँ सहदेवझा के पास पढ़ने लगे। कुछ मास चकौती में रहने के बाद नवद्वीप (बंगाल) पहुँचे। किन्तु जब पता चला कि यहाँ सब छात्र माँसभोजी हैं तो उसी दिन वहाँ से कलकत्ता चले गये। वहाँ संस्कृत कालेज में न्यायशास्त्र का अध्ययन करने लगे। ६ मास कलकत्ता रहने के बाद फिर वाराणसी आ गये और शास्त्री जी से अध्ययन करने लगे। इस प्रकार वर्णी जी ने ज्ञान-प्राप्ति के लिए कष्टों को सहन करते हुए अथक परिश्रम किया और भारत के प्रत्येक

उच्चकोटि के विद्वान् से कुछ न कुछ सीखने का प्रयत्न किया।

विद्यालयों की स्थापना

वर्णी जी वि० सम्वत् १९६२ में वाराणसी में स्याद्वाद महाविद्यालय की स्थापना कर ही चुके थे। वर्णी जी बुन्देलखण्ड के निवासी थे। वर्णी जी के मन में उत्कट भावना थी कि इस प्रान्त में भी एक उच्चकोटि के विद्यालय की स्थापना होना अत्यावश्यक है। उस समय बुन्देलखण्ड के लोगों की रुचि विद्याध्ययन में प्राय नहीं थी। यदि किसी के धर्म करने के भाव हुए तो श्रीजी के जलविहार में द्रव्य लगा दिया। किसी के अधिक भाव हुए तो मन्दिर बनवा दिया या पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा करा दी। परन्तु विद्यादान की ओर किसी की दृष्टि न थी। जो सूत्रपाठ करना जानता था वह पण्डित कहलाता था। यह सब देखकर वर्णी जी के चित्त में यह विचार उठा करते थे कि जिस प्रान्त में प्रतिवर्ष लाखों रुपये धर्मकार्य में व्यय होते हों वहां के निवासी यह भी न जानें कि देव, शास्त्र और गुरु का क्या स्वरूप है, अष्टमूलगुण कौनसे हैं, यह कितने खेद की बात है। इस कारण वर्णी जी को इस प्रान्त में एक विशाल विद्यालय और छात्रावास की कमी निरन्तर खलती रहती थी। इस कमी को दूर करने के लिए वर्णी जी के प्रयत्न से अक्षयतृतीया (वि०सम्वत् १९६५) के दिन सागर में श्री सत्तर्क-सुधा-तरङ्गिणी जैन पाठशाला की स्थापना की गई। इस के लिए वर्णी जी ने गाँव गाँव में घूम कर धनसंग्रह किया। सागर के महानुभावों का भी अच्छा सहयोग मिला, जिससे उक्त विद्यालय अच्छी तरह चलने लगा। अब उसका नाम श्री गणेश दि० जैन संस्कृतमहाविद्यालय है। इस प्रकार वाराणसी में श्री स्याद्वाद महाविद्यालय और सागर में श्री गणेश दि० जैन महाविद्यालय स्थापित कर आपने जैन संस्कृति के संरक्षण और पोषण के सबसे महान् कार्य किये हैं। इनके अतिरिक्त वर्णी जी के प्रयत्न, प्रेरणा और सहयोग से अनेक विद्यालय और कालेजों की भी स्थापना हुई है। वि० सं. १९८५ में द्रोणगिरि क्षेत्र पर एक विद्यालय की स्थापना की गई। इस विद्यालय का नाम श्री गुरुदत्त दि० जैन विद्यालय रक्खा गया। जबलपुर में शिक्षामन्दिर, की स्थापना अहार क्षेत्र पर श्री शान्तिनाथ विद्यालय की स्थापना, शाँहपुर में एक जैन विद्यालय की स्थापना, खतौली में कुन्दकुन्द विद्यालय की स्थापना, मढ़िया जी (जबलपुर) में वर्णी गुरुकुल की स्थापना, इटावा में श्री ज्ञानधन दि० जैन संस्कृत विद्यालय की स्थापना, ललितपुर में वर्णी इण्टर कालेज की स्थापना इत्यादि अनेक शिक्षायतनों की स्थापना मानवमात्र के हृदय में ज्ञानज्योति को प्रज्वलित करने के संकल्पस्वरूप ही हुई है।

शिक्षा, विद्वानों और विद्यार्थियों के प्रति वर्णी जी के विचार

मुझे विद्यायतन देखकर बहुत हर्ष होता है। वास्तव में विद्या ही मनुष्य के कल्याण की जननी है और विशेष रूप से वह विद्या जो कि स्वपर भेदविज्ञान की जननी है। शिक्षाप्रचार की दृष्टि से बुन्देलखण्ड की स्थिति शोचनीय है। लोग गजरथ आदि महोत्सवों में ही खर्च करते हैं, पर इस ओर जरा भी ध्यान नही देते। शिक्षाप्रचार के लिए अनेक प्रयत्न हुए परन्तु जितनी चाहिए उतनी सफलता नही मिली। लोग जलविहार मे ५०००) तक लगा देंगे किन्तु विद्यादान में प्रसन्नता से पाँच रुपया भी न देंगे। मेरी निजी सम्मति तो यह है कि एक ऐसा मन्दिर बनवाना चाहिए जिसमें सब मतवालों की सुन्दर से सुन्दर मूर्तियाँ हों और उनके ऊपर सङ्गमर्मर में उनका इतिहास लिखा हो। मन्दिर के साथ एक विशाल पुस्तकालय हो जिसमें सब आगमों का संग्रह हो। प्रत्येक मतवालों को उसमें पढ़ने की सुविधा रहे। हर एक विभाग में एक निष्णात विद्वान रहे जो कि अपने मत का सिद्धान्त सबको अच्छी तरह समझा सके। इसके लिए सर्वोत्तम स्थान वाराणसी है। हमारी तो धारणा है कि जैनियों में अब भी ऐसे व्यक्ति हैं जो अकेले ही इस महान् कार्य को कर सकते हैं।

वाराणसी में एक विद्यालय है। सबसे उत्तम स्थान है। किन्तु धनाभाव के कारण वहाँ केवल जैन छात्रों को ही स्थान मिल पाता है। यदि पच्चीस रुपया मासिक छात्रवृत्ति ब्राह्मण छात्रों को दी जावे तो सहस्रों छात्र जैनधर्म

के सिद्धान्तों के पारगामी हो सकते हैं और अनायास ही धर्म का प्रचार हो सकता है। जब मैं सागर में मोराजी के विशाल प्राङ्गण में बहुत से छात्रों को आनन्द से एक साथ खेलते-कूँदते और विद्याध्ययन करते देखता था तब मेरा हृदय हर्षातिरेक से भर जाता था।

कटनी में सन् १६४५ में वर्णी जी के सान्निध्य में श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् का प्रथम अधिवेशन हुआ था। उस समय अनेक विद्वानों के समागम को देखकर वर्णी जी ने विद्वानों के प्रति जो उद्‌गार प्रकट किये थे वे निम्नप्रकार हैं—

"मुझे तो पण्डितों के समागम से बहुत ही शान्ति मिली और इतना विपुल हर्ष हुआ कि इसकी सीमा नहीं। जिस प्रान्त में सूत्रपाठ के लिए दस या बीस ग्राम में कोई एक व्यक्ति मिलता था, वह भी शुद्धपाठ करने वाला नहीं मिलता था। आज उन्ही ग्रामों में राजवार्तिक आदि ग्रन्थों के विद्वान पाये जाते हैं। जहाँ गुणस्थानों के नाम जानने वाले कठिनता से मिलते थे, आज वहाँ जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड के ज्ञाता विपुल संख्या में पाये जाते हैं।"

सच्ची प्रभावना

वर्णी जी ने लिखा है कि जिस ग्राम में मन्दिर और मूर्तियों की प्रचुरता है यदि वहाँ मन्दिर न बनवाया जाय तथा गजरथ न चलाया जाय तो कोई हानि नहीं। वही द्रव्य गरीब लोगों के स्थितिकरण में लगाया जावे और उनके बालकों को शिक्षित बनाया जावे। यही सच्ची प्रभावना है। प्रभावना दो प्रकार से हो सकती है। एक तो पुष्कल द्रव्य व्यय करके गजरथ चलाना, पञ्चकल्याणक करना, मन्दिर बनवाना इत्यादि। प्राचीन समय में लोग इसी प्रकार की प्रभावना करते थे। परन्तु इस समय इस प्रकार की प्रभावना की आवश्यकता नहीं है। दूसरे प्रकार की प्रभावना यह है कि लोगों का अज्ञान दूर करके उनमें समीचीन ज्ञान का प्रचार करना, दरिद्रों को भोजन देना, अनाथों को वस्त्र देना, आजीविका-विहीन मनुष्यों को आजीविका से लगाना इत्यादि। वर्तमानकाल में इसी प्रकार की प्रभावना की अत्यन्त आवश्यकता है।

इस प्रकार वर्णी जी ने अपने उदार विचारों और निःस्वार्थ सेवाओं के द्वारा जैन समाज में एक अनोखी जागृति उत्पन्न की है। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने जो महान् कार्य किये हैं उससे जैन समाज का गौरव बढ़ा है। जहाँ तत्त्वार्थसूत्र का मूलपाठ करने वाले विद्वान् दुर्लभ थे वहाँ आज धवला आदि सिद्धान्त ग्रन्थों के विशेषज्ञ अनेक विद्वान् दृष्टिगोचर हो रहे हैं। यह सब वर्णी जी की पवित्र भावना का ही फल है। मैंने अपने विद्यार्थी जीवन में पपौरा जी और वाराणसी में कई बार वर्णी जी के दर्शन किये और प्रवचन सुने। सन् १६६० में हिन्दू विश्वविद्यालय में नियुक्ति के तुरन्त बाद उनके जीवनकाल के अन्तिम वर्णी जयन्ती-समारोह में उपस्थित होने का अवसर मिला। पुनः सन् ६१ में उनके स्वर्गवास के कुछ दिन पहले उनके अन्तिम दर्शन का सौभाग्य मिला। ऐसे तपःपूत और लोकहितैषी महामानव के चरणों में उनकी जन्मशताब्दी के पवित्र अवसर पर मेरा शत शत प्रणाम।

———

जहां तक बने, शान्ति से धर्मसाधन करना। आकुलता न करना, आकुलता करना ही धार्मिक भावोंका बाधक है। जो मनुष्य मोक्षमार्गके सामने हो गया वह तो सुखी ही है। अपनेको सम्यग्बोध होनेपर अवश्य एक दिन शान्तिका मार्ग अनायास मिल जावेगा। देखो, सर्वार्थसिद्धिके देवोंको सम्यग्ज्ञान तो है, परन्तु मोक्षमार्ग मनुष्यपर्यायसे होगा तब क्या उनकी आयु अशान्ति में जाती है? नहीं, अतः शान्ति से जीवन बिताना।

—अध्यात्म पत्रावली—३४

७

विद्वानों की परम्परा का भविष्य

श्री पं० जगन्मोहन लाल जी सिद्धान्त शास्त्री, कटनी

(वीर-निर्वाण-भारती दिल्ली के विद्वत्-सम्मान-समारोह में दिये गये भाषण का अंश)

भगवान महावीर की इस २५०० वीं सदी के १००-वर्ष जैन-जगत में एक क्रान्ति का रूप लेकर आये। गुरु गोपालदास जी बरैया तथा पूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी, इन दो महात्माओं ने समाज में ज्ञान के उज्ज्वल दीप जलाए। आज के विद्वान् उसी शिष्य-परम्परा के दीपक हैं। सैकड़ों विद्वान् प्रतिवर्ष तैयार हुए तथा होते आ रहे हैं। तथापि इस सदी के अन्त के साथ साथ वह परम्परा भी समाप्ति के अन्तिम चरण पर जा रही है। संस्कृत प्राकृत के धार्मिक व दार्शनिक विद्वान प्रायः समाप्त होते जा रहे हैं। जिन नवयुवक विद्वानों पर हमारी आशाएँ थी, वे हमसे पूर्व ही, अभी अभी, काल-कवलित हो चुके हैं।

आज की नई पीढ़ी अब इस दिशा की ओर से विमुख है। उसके अनेक हेतु हैं। प्रथम तो वातावरण नास्तिकता की ओर जा रहा है। दूसरे विद्वानों को समाज में पर्याप्त सम्मान प्राप्त नही रहा। कुछ स्थानों में समाज ने कुछ गिने चुने विद्वानों को सम्मान दिया भी है तो वह कोई विशेष उत्सव पर उनकी आवश्यकता देखकर। अन्य समय तो समाज का वेतनभोगी, समाज के नौकर के रूप में ही मान्य रहा। इससे ज्यादा इज्जत उसे नही मिली। उसका फल भी समाज को उतना ही प्राप्त हुआ जितना वह नौकर से ले सकता था। तीसरे वेतन की अल्पता ने इस आर्थिक युग में उन्हें झकझोर दिया। वे अनुभव करने लगे कि इस लाइन में अपने बालकों को लगाने पर न पराधीनता मिटेगी और न दरिद्रता मिटेगी। फलतः समाज के अन्य बालकों की तरह उनके बालक भी लौकिक शिक्षा के मार्ग में गए जहाँ सरकारी या उच्चतम कम्पनियों की अर्थप्रदायी सर्विस प्राप्त हुई। चौथी कठिनाई विद्वानों के सामने आज भी जटिल है। वह है बच्चे बच्चियों की शादी की समस्या। समाज में उनका निर्वाह नहीं है। कन्या की शादी में उससे भी समाज दहेज की आशा करती है। लड़के की शादी में बिना सोना चढ़ाए गति नही होती। साथ ही वह समाज के नेतृत्व के कारण दहेज न मांग सकता है और न पा सकता है।

इन सब कठिनाइयों के कारण न तो विद्वान् अपने बालकों को उक्त शिक्षा की तरफ अग्रसर करते हैं न अब समाज ही अपने बालकों को उस ओर भेजती है। फलतः संस्कृत विद्यालय छात्रों के अभाव में अपने अन्तिम दिन देख रहे हैं।

———

८

उनका एक प्रेरक पत्र नई पीढ़ी के नाम

प्रस्तुति--नीरज जैन

पूज्य वर्णी जी समाज को सदैव उन्नति और उत्कर्ष की दिशा देते रहे। नई पीढ़ी का मार्ग-दर्शन करने की उनकी दृष्टि विशेष थी। समाज के प्रति उनकी ऐसी प्रेरणा के सबल उदाहरण समय समय पर हमें मिलते रहते थे।

"घर खर्च पर प्रति रुपया एक पैसा दान" उनका सर्वोपरि उपदेश था। इस प्रकार की दान की प्रवृत्ति से वे देखते थे कि जहाँ सहज ही लाखों रुपये की राशि प्रतिवर्ष एकत्र हो सकती थी वहीं प्रतिदिन, प्रति समय, दान की भावना प्रवर्तमान रहने से हमारे जीवन में सहज अनुकम्पा का भाव आता था।

जबलपुर के जैन नवयुवक-मण्डल के नाम लिखा, उनका एक ऐसा ही प्रेरणाप्रद पत्र मेरे संकलन में है। पत्र में दान के अतिरिक्त भी नैतिकता के पोषक उत्तम उपदेशों का समावेश है। पत्र इस प्रकार है—

श्रीयुत नवयुवक मंडल

योग्यदर्शन-विशुद्धिः।

हम सानन्द हैं चिन्ता की बात नहीं। हमारा कहना है जो आपके घर भोजन और वस्त्र आदि में व्यय हो उसमें १ रुपया पर पाव आना दान मेंरख लो। यदि यह काम हो गया तब अनायास ही जबलपुर की सर्व संस्थाएँ अनायास चल जावेंगी, परन्तु यह सामूहिक होना चाहिये। कल्पना करो, जबलपुर में चार हजार जैन हैं तब कम से कम चार हजार रुपया प्रतिदिन भोजनादि में व्यय होता होगा। प्रतिदिन चार हजार पैसे दान में आवेंगे, जिसके साढ़े बासठ रुपये हुए। एक मास के एक हजार आठ सौ पचहत्तर रुपये हुए। इनमें यदि एक छात्र पर पच्चीस रुपया व्यय हो तो पचहत्तर छात्र अध्ययन कर सकते हैं।

जहाँ तक बने आवश्यकतायें कम करो स्व-दार सन्तोष करो। ब्रह्मचर्य की रक्षा करो। विशेष फिर।

आ० शु० चि०
गणेश वर्णी।

नोट—जो अपना शत्रु हो उसका भी अनिष्ट चिन्तन न करो। प्राणिमात्र पर दया करो, किसी को हीन न मानो। मर्यादा को उल्लंघन कर काम न करो। त्याग ही धर्म है, ग्रहण ही अधर्म है। इसका रहस्य पण्डित ब्रह्मचारी कस्तूरचन्द्र जी से पूछ लेना।

—गणेश वर्णी।

यह तो एक संयोग है कि यह पत्र जबलपुर के नवयुवक मण्डल के नाम लिखा गया। वास्तव में उनका यह परम-पावन, प्रेरक और आज्ञावाचक उपदेश तो समाज के प्रत्येक घर और नई पीढ़ी के प्रत्येक भाई बहिन के नाम लिखा गया माना जाना चाहिए।

यदि हम वर्णी जी महाराज के उक्त आदेश उपदेशों की कोई कीमत आंक सकें तो एक पैसा प्रति रुपया का दान कोई ऐसी अशक्य माँग तो नहीं है जो पूरी करने में हम में से किसी को भी कोई असुविधा हो।

आइये विचारें कि इस पत्र का हमें क्या उत्तर देना है ?

"आत्माका निज स्वरूप भी चेतनारूप है। उसकी व्यक्ति ज्ञान-दर्शन रूपमें प्रगट अनुभवमें आती है। परन्तु अनादि परद्रव्य संयोगसे नाना परिणमन द्वारा विकृतावस्था उसकी हो रही है। परन्तु इससे ऐसा न समझना कि स्वरूप प्रगट होना असम्भव है। असम्भव तो तब होता जब उसका लोप हो जाता, सो तो नहीं है। असली स्वभाव का प्रकट होना कठिन है। विस्मृत हस्तगत रत्नके समान हैं पर जिस तरह कोई अपनी वस्तु भूल जाता है और यत्र तत्र खोजता है। बस, इस न्यायसे यह जीवात्मा अपने असली निजरूप को भूल कर पर-पदार्थोंमें हेरता है। अपने को आप नहीं जानता। मोहनिमित्त प्रबल हो रहा है। उसमें फँसकर सुखके कारणोंमें दुःखप्रतीति करता है, दुःखके कारणोंमें सुख मान रहा है। इस विपरीत भावसे निजनिधि भूल रहा है।"

—अध्यात्म पत्रावली–५०

१

वर्णी जी और समाज

—सुमेरचन्द कौशल एडवोकेट, सिवनी

जैन समाज में पूज्य पंडित गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य (श्री१०८ श्री मुनि गणेशकीर्तिजी महाराज) का उच्चस्थान है। आपका समस्त जीवन मानव-कल्याण और समाज-सेवा में ही बीता है। जैन समाज तो आपका खासकर अत्यन्त ऋणी है। क्योंकि अत्यन्त कठिनता-पूर्वक अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् आपने अपना जीवन जैनधर्म—जिसे आप मानवधर्म समझते थे—के प्रचार और प्रसार में ही लगा दिया था। आपके ही प्रसाद से जैन समाज में स्थान स्थान पर पाठशालाएं, विद्यालय और महाविद्यालय खुल चुके हैं। आपकी पीयूष-वाणी का प्रभाव इतना विचित्र होता था कि वर्त्तमान का पूंजीवादी धनिक भी विद्यादान के लिये अपनी थैलियों के मुंह खोल देता था। वर्णीजी जहां कहीं भी जाते थे, स्त्री पुरुषों, नवयुवक वृद्धों, बालक बालिकाओं का समूह सदा आपके दर्शनार्थ तथा अमृतवाणी का पान करने के लिये चुम्बकसा खिंचा एकत्रित हो जाता था। इस प्रभाव की पृष्ठभूमि थी आपकी आजीवन आत्म-साधना तथा अन्तरंग बहिरंग जीवन की समरसता थी। जिसने स्वपर कल्याणार्थ एक लँगोटी और एक उपरना मात्र रखकर सर्वस्व समाज को अर्पण कर दिया था। निष्कपटता और दया के क्षेत्र में आप संसार के उच्चतम संतों के समकक्ष थे। निष्कपट इतने कि अपनी खामियों कमजोरियों का स्वयम् वर्णन कर देते थे और किसी ने अगर कोई उनकी गलती बताई तो उसे उसी क्षण स्वीकार भी कर लेते थे। दयावान इतने कि अपने समक्ष किसी दुखी नंगे भूखे को देखकर स्वयम् अपना खंडवस्त्र उसे प्रदान कर देते थे। और जब तक भूखे की भोजन-व्यवस्था न हो जाय चैन नहीं लेते थे। जीवन के अंतिम क्षणों में एक लम्बे समय की शारीरिक बिकट विकृति को उदासीनतापूर्वक सहन करते हुए, आपने अत्यन्त शांत और गंभीर रहकर, समस्त परिग्रह—लँगोटी व चादर छोड़कर मुनिपद-सहित समाधि—सल्लेखना-पूर्वक स्वर्गारोहण किया।

वर्णी जी अद्वितीय आदर्श संत थे। लाभ, ख्याति और पूजा की भावना से वे सदा कोसों दूर रहे। अपने पास आपने कभी एक पैसा नहीं रक्खा। हजारों रुपयों का दान आपके एक इशारे मात्र से हो जाता था और लोग लालायित रहते थे कि वर्णीजी आज्ञा के रूप में उन्हें कहीं के लिये दान देने को कहे और वे जितना कहें तत्क्षण दे दिया जावे। परन्तु आप ने हठ या आग्रहपूर्वक कभी किसी को जबरन दान के लिये नहीं कहा। आपके सान्निध्य में स्वेच्छा से लोग प्रेमपूर्वक दान देते थे।

यशोलिप्सा आपको छू तक न सकी थी। उसका एक ही उदाहरण—सैकड़ों अन्य उदाहरणों के होते हुए भी—पर्याप्त है। आपने आचार्यवर श्री कुन्दकुन्द-स्वामी के ग्रन्थ "समयसार" की टीका लिखी। प्रथम तो विद्वानों को उसकी खबर ही न लगने दी तथा जैसे तैसे उन्हें मालूम भी हुआ और उनने चाहा कि वर्णी जी उन्हें वह टीका सोंप दें। परन्तु वर्णीजी ने वैसा कुछ न किया। उनके मरणोपरान्त ही वह समाज के हाथ लग सकी।

वर्णी जी एक महान सच्चे सुधारक थे। आपके प्रभाव से बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रांत में हजारों स्थानों पर अनेक वर्षों से पड़ी हुई फूट दूर हुई। कहीं कहीं तो दो नहीं तीन-तीन चार-चार पटियां (दल, तड़ें) थीं। आप आपसी झगड़ों का निपटारा इस खूबी-बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से करते

थे, जो अपने आप में एक अनोखी बात होती थी। उसकी मिसाल अन्यत्र नहीं मिलती। इन बातों के जानकार आज भी वर्णी जी की प्रशंसा करते और आनंदित होते नहीं अघाते हैं। आप सामाजिक आचार में द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार परिवर्तन को उत्तम समझते थे। इसी लिये समाज सुधार का जो कार्य वर्णी जी के द्वारा हुआ है, वह अन्य के द्वारा नहीं।

धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि से जिसमें एक व्यक्ति का कल्याण है; उसमें समाज का हित भी निहित है। क्योंकि आत्मोन्नति और सदाचार के जितने नियम हैं; उनके पालन से ही स्वपर कल्याण संभव है। जैसे अहिंसा, सत्य आचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पालन तथा क्रोध, लोभ, मान, माया, मत्सर, अहंकार से रहितपन। अब जो मनुष्य अपना जीवन इस प्रकार उच्च बनाएगा उससे उसका कल्याण तो होगा ही, साथ ही साथ उसके उच्च आचरण का प्रभाव समाज पर अवश्य पड़ेगा, जिससे समाज ऊँचा उठेगा। कारण, व्यक्तियों के समूह का नाम ही समाज है।

इसी भारतीय सांस्कृतिक पथ का अनुसरण कर वर्णी जी—श्री गणेशकीर्ति जी महाराज ने अपना और समाज का कल्याण किया।

वर्णी का वर्णन अगम, कैसे करें बखान।
शब्दाञ्जलि ही चढ़ाकर, कौशल पाता मान।।

चलते फिरते स्मारक

पूज्य वर्णी जी का सच्चा स्मारक तो वे सैकड़ों विद्वान हैं जिन्होंने उनके द्वारा स्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, श्री गणेश वर्णी विद्यालय सागर आदि में अध्ययन करके ज्ञानलाभ के साथ आत्मलाभ किया है। वर्णी जी को जितना स्नेह अपने इन विद्वानों से था उतना अन्य किसी से नहीं था। उन्हें देखकर उनकी आत्मा प्रफुल्लित होती थी। और सचमुच में जैन समाज से विद्वानों की कमी को दूर करके वर्णी जी महाराज ने एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की थी। यदि समाज उनकी इस देन को ही सुरक्षित रखने का बीड़ा उठा ले तो यही वर्णी जी का सच्चा स्मारक हो सकता है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

१०

कथाका विसर्जन : और विसर्जनकी कथा

— नीरज जैन, एम. ए.

महापुरुष अपने जीवन से हमें बहुत-सी शिक्षा देते हैं और प्रायः अपने मरण से भी वे हमें बहुत कुछ सिखाते हैं। यदि उनका जीवन एक प्रयोगशाला है तो मरण उनका सफल आविष्कार है। यदि जीवन एक पाठशाला है तो मरण उनकी परीक्षा है।

पूज्य वर्णी गणेशप्रसाद जी इस युग के मान्य महापुरुष थे। उनके दीर्घ साधनामय और समर्पित जीवन को आदर्श बनाकर यदि हम यह सीख सकते है कि क्षुद्र मानव-जीवन को विकसित करके कैसे धर्म और समाज के लिये उसकी उपादेयता सिद्ध की जा सकती है, तथा आत्मसंयम के द्वारा किस प्रकार उसकी सार्थकता स्थापित की जा सकती है तो, इसमें सन्देह नही कि उनके विवेकपूर्ण अवसान को ध्यान में लाकर हम भलीभांति यह भी जान सकते है कि किस प्रकार मरण को महानता प्रदान करके उसे भी अनुकरणीय बनाया जा सकता है।

बाबा जी के देहावसान के पाँच सप्ताह पूर्व से, उनकी चरण सेवा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। आज तेरह वर्ष का लम्बा समय व्यतीत हो जाने के बाद भी, उस महाप्रयाण की प्राय. सभी छोटी-बड़ी घटनाएं, एलबम के चित्रों की तरह मुझे अपने मानस पटल पर स्पष्ट अंकित दिखाई देती हैं।

वह साहसिक संकल्प—

१९६१ के रक्षाबन्धन के कुछ दिन पूर्व की बात है। बाबा जी मोतीझिरा की लम्बी बीमारी से मुक्त होकर कुछ स्वस्थ-सा अनुभव कर रहे थे। एक दिन अकस्मात् गुरुजी श्रद्धेय पण्डित जगन्मोहनलाल जी का रेलगाड़ी में से लिखा एक पोस्टकार्ड सतना में मुझे प्राप्त हुआ। लिखा था—

"पूज्य बाबा जी का स्वास्थ्य कुछ सुधार पर है। ज्वर शान्त हो गया है। मरण आसन्न नहीं है। फिर भी, न जाने क्यों, वे अन्न ग्रहण नहीं कर रहे हैं। तुम जाकर प्रयत्न करो। शायद तुम्हारी बालहठ कुछ काम कर जाय।"

पत्र देखते ही चित्त एकदम बेचैन हो उठा। दूसरे ही दिन सपरिवार मैं ईसरी पहुंच गया। बाबा जी के एक और मूक सेवक भाई पन्नालाल जी सतना से ही साथ हो गये।

सुबह साढ़े आठ बजे हमलोग आश्रम पहुंच गये। मन में तो एक ही लगन थी कि बाबा जी को अन्न का आहार देना है। सुना, कुछ भी ग्रहण नहीं करते हैं। फलों के दो-चार तोले रस का ही शरीर को आसरा है।

झटपट नहा धोकर मैंने मूंग की दाल का पानी तैयार कराया और एक छोटी कटोरी में उसे लेकर प्रस्तुत हो गया। चर्या की विधि प्रारम्भ हुई और लगभग एक छटांक मौसमी या अनार का रस, चार-पांच घूंट में, बाबा जी ने ग्रहण किया। मैंने दाल का पानी बढ़ाया, बहुत आग्रह किया, पर उन्होंने एक बूंद भी उसे लेना स्वीकार न किया। पहली बार निषेध में जो उनका हाथ हिला सो हिलता ही चला गया। मेरी दाल बिल्कुल नही गली।

पाचन की प्रक्रिया के लिये फलों के रस और दाल के छाने हुये पानी में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। वैद्यों का भी परामर्श था कि दाल के पानी से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे अन्नाहार पर आ जाना हितकर होगा। इस सबके

बावजूद भी उनके निषेध की दृढ़ता देखकर मुझे विश्वास हो गया कि यह निषेध, अनिच्छा या अरुचिजन्य साधारण निषेध नहीं है। इसके पीछे अवश्य ही कोई दूसरा संकल्प होना चाहिए।

बाबा जी सामायिक के उपरांत विश्राम में थे। अशक्ति के कारण लेटे ही लेटे उनकी ये क्रियायें चलती थी। मैं भी भोजनादि से निवृत्त हुआ और अपनी टोह में लग गया। उनकी डायरी निकालकर पढ़ डाली। निरन्तर लिखने का उनका क्रम तो कभी का टूट चुका था परन्तु कोई विशेष बात होने पर कभी-कभी बोलकर डायरी में लिखा देते थे। एक एक पंक्ति छान डाली पर कहीं कुछ संकेत मिला नहीं।

उनके पास आने वाले पत्रों का निरीक्षण-परीक्षण भी व्यर्थ रहा। अन्त में उनकी समयसार की प्रति मैंने उठाई। मुझे ज्ञात था कि कई बार पूज्य बाबा जी विशेष महत्त्व के पत्र-कागज आदि समयसार के आवरण में खोंस देते हैं। अहिंसा प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित समयसार की इस मोटी प्रति पर खाकी रंग के मोटे ही कपड़े का एक आवरण था, जो बाबा जी को लिखे गये विशेप पत्रों आदि का शरणस्थल हुआ करता था। तीन-चार कागज उसमें प्राप्त हुए। उन्हीं में वह लिखित संकल्प मुझे प्राप्त हो गया जिसे पढ़ने पर, वैद्यों के परामर्श के बावजूद भी, दाल के पानी के प्रति उनके दृढ़तापूर्ण निषेध का सही अर्थ मेरी समझ में आ गया। पत्र इस प्रकार था :

"यद्यपि हमारा रोग दो वर्ष से हम अनुभव कर रहे हैं, निष्प्रतीकार है। परन्तु हमारे जो साधर्मी भाई हैं, वह कहते हैं कि आप सौ वर्ष जीवेंगे। यह उनका कहना तथ्य है या अतथ्य है, बहुज्ञानी जानें, या जो कहते हैं वे ही जानें। परन्तु मुझे विश्वास है, अब समाधि मरण के उपायों का अविलम्ब अवलम्बन श्रेयस्कर है।

इसका उपाय पेय पदार्थ है। अर्थात् आहार को छोड़कर स्निग्ध पान करना बहुत उपयोगी होगा। आधा सेर दूध और दो अनार का रस जो पाव सेर से अधिक न हो। आठ दिन इसका प्रयोग करना चाहिये। यदि यह उपयोग समाधि-मरण के अनुकूल पड़ जावे तो अगाड़ी सात छटांक दूध और आधा पाव अनार का रस का उपयोग करना चाहिये। और इस उपयोग में सफल हों तो आगामी काल में तक्र आदि का प्रयोग करना चाहिये। ऐसी आशा है कि साधर्मी भाई सम्मति देंगे अथवा इसे अनुचित समझें तो जो उचित हो उसे उपयोग में लावें।

"अब केवल सन्तोष कराने से मेरा तो कल्याण दुर्लभ होगा।"

आपका शुभचिन्तक
—गणेश वर्णी

पत्र आश्रम के छपे पैड पर पेंसिल से लिखा हुआ था। एक भक्त विद्वान् को बोलकर यह पत्र लिखाया गया था और उस पर तिथि तारीख का कोई उल्लेख नहीं था। बाबा जी के सबल-संकल्प का यह दस्तावेज आज भी मेरे पास सुरक्षित है। लगता था बाबा जी ने अपने शरीर-त्याग की यह तैयारी, काफी सोच-समझकर यथा समय ही कर ली थी। इधर कुछ सप्ताहों में जिस क्रम से भोजन घटाकर मात्र दो चूल्लू रस तक वे अपना आहार ले आये थे, उससे भी स्पष्ट था कि वे अपने निर्णय के अनुसार ही अपनी सल्लेखना के मार्ग पर चल रहे हैं।

स्मृतियों की घनी छाँव में—

जब से मैंने होश संभाला तब से बराबर वर्णी जी के श्रीचरणों का समागम मुझे मिलता रहा। छुटपन में उनका नाम "बड़े पंडित जी" सुना करता था। बाद में 'वर्णी जी' की संज्ञा उनके व्यक्तित्व का प्रतीक बन गयी। अब, क्षुल्लक दीक्षा लेने के बाद, अथवा यों कहें कि वृद्ध हो जाने के कारण, सब लोग उन्हें 'बाबा जी' कहने लगे थे। मेरे पिता स्व० सिंघई लछमनलाल जी से वर्णी जी का स्नेहभाव रहा है, और वे प्रायः हमारे यहाँ रीठी आते जाते रहे हैं। इसी सुयोगवश शैशव से लेकर आजतक मैंने

सदैव वर्णी जी महाराज का वरद हस्त अपने माथे पर महसूस किया था। उनका सान्निध्य ही अनेक प्राकुलताओं को हरण करके चित्त को अनुपम शान्ति देता था। मेरे जैसे सैकड़ों लोग थे जो ऐसा ही कुछ अनुभव करते थे। सान्त्वना का यह सम्बल कभी छूटना भी है ऐसी कल्पना कभी मन में प्रायी ही नहीं थी। अब आज, बाबा जी का लिखाया हुआ, सल्लेखना का यह संकल्प-पत्र जब उद्घाटित हुआ तो पढ़कर एक क्षण के लिये मुझे चक्कर आ गया। निकट भविष्य के गहन अन्धकार की भयावह कल्पना मन को कंपाने लगी।

महायात्रा का पाथेय—

सिद्धान्ताचार्य श्रीमान् पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री और कलकत्ते के निष्ठावान् सरावगी बन्धु बाबू छोटेलाल जी तथा बाबू नन्दलाल जी, ब्र० बाबू सुरेन्द्रनाथ जी, पं० बंशीधर जी न्यायालंकार इन्दौर आदि उस समय बाबा जी की सेवा के लिये आश्रम में ठहरे हुए थे। मैंने तत्काल वह पत्र बाबू जी को दिखाया। इन लोगों को भी इस संकल्प का आभास मिल चुका था। थोड़े विचार-विमर्श के उपरान्त सब लोग उनके पास एकत्र हुए और पंडित कैलाशचन्द्र जी ने उनसे प्रार्थना की कि एक बार शरीर को निरोग और शक्ति सम्पन्न करने की अनुकूलता को अवसर दिया जाना चाहिए। हम लोगों ने भी अपने-अपने राग के अनुरूप यही विनती की, परन्तु सल्लेखना के प्रति बाबा जी के अडिग निश्चय में कोई परिवर्त्तन करा लेना संभव न हुआ। उनका संकल्प अकम्प था और दृढ़ता अचल थी।

पूज्य वर्णी जी की सत्तासी वर्ष की आयु और जरा-जीर्ण शरीर की रुग्णावस्था को ध्यान में रखकर तथा संसार और शरीर के प्रति उनकी उदासीनता के परिप्रेक्ष्य में देहत्याग के उनके दृढ़ संकल्प को परख कर सबने यह जान लिया कि अब उन्हें उनके इस निश्चय से हटाना न उचित है, न संभव। अतः पंडित जी ने रुद्धकण्ठ और भाव भीने शब्दों में वर्णी जी के परिणामों की स्थिरता की प्रशंसा करते हुए विनय की कि अब हम लोग उनके संकल्प में साधक ही होंगे, बाधक नहीं।

पता लगाने पर विदित हुआ कि जुलाई के प्रथम सप्ताह में उन पर ज्वर का आक्रमण हुआ था जो दो चार दिन मलेरिया का छद्म रूप दिखाकर शीघ्र ही मोतीझिरा में परिणत हो गया था। इस सावधिक ज्वर के प्रतिकार हेतु ही जुलाई के तीसरे सप्ताह में उन्होंने अन्न-भोजन बन्द कर दिया था। उनका अंतिम अन्न-ग्रहण संभवतः १६ या १७ जुलाई को हुआ था। इस प्रकार इस पर्याय के अंतिम पचास दिन उन्होंने अत्यंत समता सहित, अन्नाहार के त्यागपूर्वक व्यतीत किये।

हृदय-मन्थन के वे दिन—

वर्णी जी ने सल्लेखना ले ली है, यह घोषित होते ही ईसरी का वह आश्रम 'तीर्थधाम' बन गया। समाचार जंगल की आग की तरह थोड़े ही समय में समाज में फैल गया और चारों तरफ से उनके स्वास्थ्य के प्रति जिज्ञासा और चिन्ता प्रकट की जाने लगी। दर्शनार्थियों की संख्या भी दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी।

बाबा जी इस बीच प्रायः निरोग हो गये थे। कभी-कभी कोप दिखाने वाले साधारण ज्वर के अतिरिक्त कोई रोग जन्य उपद्रव नहीं था। पांव के घुटनों का दर्द अवश्य सच्चे मित्र की तरह उनका साथ दे रहा था। इस स्थिति में भी वे शरीर की अवस्था के प्रति नितान्त उदासीन और प्रसन्न चित्त दिखाई देते थे। मैंने जैनशास्त्रों में कई जगह पढ़ा था और विद्वानों के मुख से कई बार सुना था कि शरीर पृथक है और आत्मा पृथक है। ईसरी में अब हमलोग इस सैद्धान्तिक परिभाषा का प्रयोगात्मक रूप साक्षात् देख रहे थे। एक ओर जड़धर्मी शरीर शिथिल और अशक्त होता जा रहा था वहीं दूसरी ओर आत्मा की शक्ति बढ़ती चली जा रही थी। एक ओर शरीर दूषित और विकारग्रस्त होता जा रहा था वहीं दूसरी ओर आत्मा के दोष और विकार उपशान्त होते चले जा रहे थे। एक ओर शरीर पीड़ा और ताप का अनुभव कर रहा था वहीं दूसरी ओर आत्मा आनन्द और शान्ति का आस्वादन करती अनुभव में आती थी।

यही वह दिन थे जब वर्णी जी की अडिग आस्था कसौटी पर थी और समयसार की उनकी जीवन-व्यापिनी

परीक्षा का अन्तिम प्रश्नपत्र उनके सामने था। ऐसा लगता था कि इस परीक्षा के लिये उनकी तैयारी बहुत अच्छी है और उनका उत्साह और उनकी सावधानी बराबर बनी हुई है। "समयसार" तो वर्णी जी की साँसों में बस गया था। मूल गाथाओं के साथ आचार्य अमृतचन्द्र के कलश भी चालीस वर्ष पूर्व से उन्हें कण्ठस्थ थे। इस टीका के पृष्ठ के पृष्ठ कई बार सोते समय भी तन्द्रा की स्थिति में उनकी वाणी में निसृत होते थे। कहा जाता है कि आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन के बाद भगवान कुन्दकुन्द की वाणी का इतना तलस्पर्शी अध्ययन किसी के द्वारा नहीं हुआ जितना वर्णी जी महाराज के द्वारा किया गया। वे समयसार के एकमात्र अधिकृत अध्येता माने जाते थे। सोनगढ़ में कान्हजी स्वामी ने जब अपने कुल का गृहीत मिथ्यात्व वाला मार्ग छोड़कर सम्यक् मार्ग की शरण लेने का उद्योग किया और समयसार का अध्ययन करना चाहा तब उनके सामने सिद्धान्त के अनेक गूढ़ प्रश्न उपस्थित हुए। समयसार की यात्रा में कई जगह अटकाव और भटकाव की स्थिति का सामना कान्हजी स्वामी को उस समय करना पड़ा। उस समय उनकी दृष्टि भी वर्णी जी पर गयी। कलकत्ते के कुछ जिज्ञासु मित्रों को सोनगढ़ से अपनी शंकायें गुजराती भाषा मे लिखी जाती थीं। उन्हें हिन्दी में करके वर्णी जी के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था। वर्णी जी उन प्रश्नों के समाधान विस्तार से समझाकर लिखते थे। तब उनकी वह वाणी कलकत्ते से गुजराती लिपि में सोनगढ़ पहुँचती थी। इस प्रक्रिया से वर्णी जी महाराज का सहारा लेकर सोनगढ़ के साधकों का समयसार का अध्ययन सम्पन्न हुआ था। इन पत्रो का एक संकलन "अध्यात्म पत्रावली" के नाम से सोनगढ़ से लगभग चालीस वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हुआ था। कालान्तर मे सोनगढ़ की मान्यताओं में अनेकान्त की छवि धूमिल होती गयी और एकांगी आग्रह वहाँ स्थापित हुआ, तब प्रयत्नपूर्वक इस 'अध्यात्म पत्रावली' का लोप किया गया। किन्तु यह एक पृथक प्रकरण है। यहाँ उसका विश्लेषण अभीष्ट नहीं।

पूज्य वर्णी जी की सल्लेखना के इस महासंकल्प बीच जब हम यह देखते थे कि शरीर की पीड़ा के उपरान्त भी पूज्य वर्णी जी उसी सहजता और एकाग्रता के साथ समयसार का चिन्तन मनन और कभी कभी होंठों के भीतर उसका उच्चारण कर रहे हैं, तब उनकी साधना के प्रति सबका मस्तक अनायास झुक जाता था।

आश्रम में घटनाचक्र तीव्रगति से घूम रहा था। महाराज का उठना-बैठना और बोलना क्रमशः बन्द हो गया। आहार—खाद्य, पेय, औषधि आदि का क्रमशः त्याग हुआ। सल्लेखना की विधि-विधान और उसका नियमन श्रीमान् पंडित वंशीधर जी न्यायालंकार के निर्देशन में हो रहा था। कहीं से दक्षिण के एक ऐलक महाराज पधार गये थे। वे भी वैय्यावृत्य और सुश्रुषा में सहायक होते थे। कमरे के बीचों बीच घास के सन्थारे पर महाराज को लिटाया गया था।

प्रायः पूरे समय, महाराज शान्त और विचारमग्न, अपनी शैय्या पर निर्उद्विग्न लेटे रहते थे। उनके कान के समीप धीमी और स्पष्ट ध्वनि में निरन्तर कुछ न कुछ पाठ हम लोग किया करते थे। कभी बुधजन की 'बारह भावना' या 'छहढ़ाला', कभी दौलतराम की 'छहढ़ाला' या कोई पद। कभी 'एकीभाव' या 'भक्तामर स्तोत्र' और प्रायः आचार्य अमृतचन्द्र के 'समयसार कलश'। महाराज जब तक चाहते, सुनते थे। वे जब स्वतः कुछ चिन्तन करना चाहते थे, तब एक निश्चित इशारे से यह पाठ बन्द कर दिया जाता था। उनकी वाणी तो पहले ही थक चुकी थी, परन्तु वे निरन्तर सावधान और पूरी तरह सतर्क थे। जिस महयात्रा की साधना के लिये वे अपना बुन्देलखण्ड छोड़कर, हजारों अपने लोगों की ममताभरी मनुहार से मुँह मोड़कर और लाखों भोले भक्तो के आंसुओं की धारा में से मानों तैरकर इस सिद्ध भूमि पर पारस प्रभु के पादमूल में आये थे, उस महायात्रा की घड़ी अब क्षण-प्रतिक्षण पास आती जा रही थी। दौड़ की स्पर्धा करने वाला खिलाड़ी, लक्ष्य रेखा को सामने देखकर जैसे पूरी शक्ति लगाकर अपनी गति को अधिक संयत और अधिक तीव्र कर देता है, उसी प्रकार वर्णी जी महाराज की जीवन व्यापी साधना, समाधि के लक्ष्य को

सम्मुख आया देखकर अधिक संयत और अधिक तीव्र हो उठी थी। करवट दिलाने के लिये, पैर या हाथ सिकोड़ने या फैलाने के लिये, लघुशंका आदिक शरीर धर्म के लिये दो अंगुलियों के निश्चित संकेत निर्धारित हो गये थे। वे आवश्यकता पड़ने पर जितनी एक रूपता और निस्पृहता के साथ इन संकेतों का प्रयोग करते थे उसी से यह बात स्पष्ट हो जाती थी कि वे कितने सजग और सावधान हैं। दर्शनार्थी भक्तों की निरन्तर बढ़ती हुई भारी भीड़ को ऐसा नियन्त्रित कर दिया गया था कि सबको उनका दर्शन प्राप्त हो किन्तु उससे उनका चिन्तन और उनकी एकाग्रता बाधित न हो।

ज्योति का विलय—

दिनांक १-९-६१ को उन्होंने फलों के रस का भी त्याग कर दिया। मात्र जल ग्रहण की छूट रही परन्तु शरीर की अशक्ति के कारण क्रिया के अभाव में जल लेना भी संभव न हुआ। देहावसान के १६ घंटे पूर्व दिनांक ५-९-६१ को उनकी सहर्ष अनुमति पूर्वक जल के त्याग के साथ ही उनके वस्त्रों का भी त्याग कराकर उन्हें दिगम्बर मुद्रा धारण करायी गयी। "**१०८ मुनि श्री गणेश कीर्ति**" उनका दीक्षा का नाम घोषित किया गया। आज भाद्रपद कृष्णा एकादशी का वह दिन आ ही गया, जब जीवन के यज्ञ की अन्तिम आहुति पड़ने वाली थी। इतने दिनों में कई बार ऐसा हुआ कि उनका शारीरिक क्लेश अनायास बढ़ गया। कभी थर्मामीटर के पारे ने १०५ पर जाकर विश्राम किया, कभी घुटनों और जोड़ों में भयंकर पीड़ा उठी और कभी भीषण दाह ने श्वास नलिका में ऐंठन पैदा करने का उपक्रम किया। परन्तु हम स्पष्ट देखते थे कि शरीर की यह परिणति शरीर तक ही सीमित है। महाराज की ज्ञाता-दृष्टा आत्मा को लेशमात्र भी आकुलता पहुँचाने में शरीर के ये उपद्रव सफल नहीं हो पा रहे थे। यद्यपि आज शिथिलता कुछ बढ़ गयी थी किन्तु उनकी सजगता और सावधानी में कोई कमी नही आयी थी। आधी रात से उनकी श्वांस में कफ के लक्षण प्रकट हुए और दो घड़ी के भीतर एक बजकर बीस मिनट पर उन्होंने अन्तिम श्वांस ली। जीवन यदि साधना का नाम था तो आज वह सफल हो गयी। जीवन यदि एक परीक्षा थी तो आज वह समाप्त हो गयी। और जीवन किसी अनजानी दिशा की यात्रा के बीच की यदि एक बाधा-मात्र थी तो आज वह दूर हो गयी। चिर पथिक अपनी रुचिर आत्म साधना का पाथेय बांधकर अचिर यात्रा पर प्रस्थित हो गया।

मुनि श्री गणेशप्रसाद जी की समाधि का समाचार जैसे-जैसे लोग पाते गये, आश्रम जनाकुल होता गया। अपने आंसू अपने ही हाथों पोंछकर जब मैं सावधान हुआ तो मैंने देखा कि बाबू छोटेलाल जी निढाल हो कर एक ओर पड़े हैं। बाबू नन्दलाल जी ऐलक महाराज के साथ मिलकर वर्णी जी के पावन शरीर की व्यवस्था में लगे हैं। गया के श्री चम्पालाल जी सेठी आनन्द के अतिरेक में बेसुध हो गये हैं। हाथ में करताल लेकर ऊँचे स्वर से भजन बोलकर वे पागल की तरह नाच रहे हैं। सौ-पचास कण्ठ और दस-बीस चरण और भी थे, जो उनका साथ दे रहे थे। कमरा इन भक्तों से भरा था।

महाराज के देह त्याग के थोड़ी ही देर पहले साहु शान्तिप्रसाद जी के सुपुत्र श्री आलोक प्रकाश कलकत्ते से कार द्वारा पहुँचे थे। एकदम अस्त-व्यस्त और व्याकुल। अब वे महाराज के चरणों के वियोग का शोक और अन्त समयमें उनका दर्शन पा लेने का सन्तोष एकसाथ भोग रहे थे। बड़ी तत्परता से उन्होंने धनबाद सन्देशा भेजकर तार, टेलीफोन और टेलीप्रिन्टर से महाराज की समाधि का समाचार अविलम्ब प्रसारित करा दिया।

शेष अवशेष—

आगे की बात बहुत संक्षिप्त है। शायद इसलिये कि वे घटनायें मेरे सामने घटीं और मैं और मेरा केमरा ये दोनों, यन्त्रवत् ही साथ-साथ उसके साक्षी रहे। प्रातः शरीर पूजन हुआ। उनकी देह को विमान में सजाकर दो घण्टे तक लोग जुलूस में घुमाते रहे। इसी बीच चारों तरफ से कारों, टैक्सियों, बसों और अन्य साधनों का सहारा लेकर लगभग ३००० लोग ईसरी में एकत्र हो गये। पारसनाथ आश्रम के प्रांगण में उनके साधना कक्ष के ठीक सामने एक बड़े चबूतरे का निर्माण हुआ। उसीपर चन्दन, नारियल, घी और कपूर का एक बड़ा ढेर लग गया जिसके

बीच में उनका तपःपूत शरीर विराजित करके उसे अग्नि को समर्पित कर दिया गया। वह सन्तापहारिणी छवि क्षण भर में भस्मीभूत हो गयी जिसके दर्शनमात्र से सारे दैहिक, दैविक और भौतिक ताप स्वतः शान्त हो जाते थे। वे यशस्वी हाथ देखते-देखते अदृश्य हो गये जिनका वरद स्पर्श, पारस का प्रभाव रखता था। वे चरण अचानक ही दृष्टिपथ से ओझल हो गये जिन पर मस्तक टेककर हम, और हमारे जैसे सैकड़ों लोग अपने आपको धन्य मानते थे।

देखते-देखते चिता की लपटें शान्त हो गयी और चारों तरफ के गांवों से आदिवासी स्त्री-पुरुषों का ऐसा रेला आया जिसने अपने इस सिद्ध महात्मा की पावन भस्मी की एक-एक चुटकी उठाकर चबूतरा साफ कर दिया। बाबा जी के अनन्य भक्त प्रो. खुशालचन्द्र गोरावाला और नरेन्द्र विद्यार्थी ने जो थोड़ी सी अस्थियां संचित कर लीं वे शेष रह गयीं। मेरे केमरे ने इन सब घटनाओं की जो छबियां अंकित कर ली वे शेष रह गयी, और शेष रह गयी वे अनगिनती स्मृतियां जो हजारों लोगों के मन और मस्तिष्क मे सूम के धन की तरह आज भी संचित हैं, सुरक्षित हैं और अविस्मरणीय हैं।

उपसंहार

यह समाधि महोत्सव ईसरी के पारसनाथ उदासीन आश्रम में सम्पन्न हुआ और जैन शिक्षा और संस्कृति के अभ्युत्थान का प्रथम अध्याय इसके साथ समाप्त हो गया। आज दीर्घकाल के बाद जब उन घटनाओं को स्मरण कर कर के लिखने का अवसर आया तब अनेक ऐसी स्मृतियां भी ताजी हो गयी जिन्हें लिपिबद्ध करने की बात इसके पहले कभी सोची नहीं थी। "संस्मरण" तो खट्टी-मीठी सभी तरह की स्मृतियों का नाम है। इसलिये इस लेख के उपसंहार के रूप में उन कुछ स्मृतियों की झलकियाँ यहाँ प्रस्तुत करने से मैं अपने आपको नही रोक पा रहा हूँ।

अनुदार नियन्त्रण—

उन दिनों ब्र० श्री रतनचन्द मुख्तार आश्रम के अधिष्ठाता पद को सुशोभित कर रहे थे। उन्होंने इस घटना चक्र के बीच जिस असहिष्णुता और अनुदारता का परिचय दिया वह अपने ढंग की अद्वितीय कही जानी चाहिये। महाराज के अस्वास्थ्य के समाचार अथवा समाधि-संकल्प के समाचार समाज तक पहुँचाने के लिये उन्होंने कोई उद्यम नहीं किया और इन समाचारों को रोकने की भरसक कोशिश की। मैंने दिनों वहाँ यह अनुभव किया कि महाराज के दर्शनार्थ आश्रम में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति अधिष्ठाता महोदय को उपसर्ग सा प्रतीत होता था और मुझे आज यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि मुख्तार साहब का रवैया यदि थोड़ा सहिष्णु, थोड़ा पर-सापेक्ष, रहा होता तो महाराज के सैकड़ों भक्त उनके अन्तिम दर्शन मे वंचित न रह जाते। वास्तव में अधिष्ठाता महोदय की दृष्टि में इस महाप्रयाण का वह महत्त्व उस समय था ही नहीं जो महाराज के हजारों भक्तों के हृदय में था। मुख्तार साहब इस सारे कार्य को ऐसे 'निबटा' देना चाहते थे जैसे वर्णी जी का देहावसान एक साधारण घटना से अधिक कुछ न हो।

देहावसान के पश्चात् रात्रि को दो बजे आश्रम की तरफ से अन्त्येष्टि की जो रूपरेखा बनायी गयी, वह कुल मिलाकर इतनी थी, कि सुबह साढ़े सात बजे आश्रम के पीछे, हाईस्कूल के पास वाले सूखे मैदान में उनके शरीर का दाह-संस्कार होगा। मैं देख रहा था कि इस योजना में न कहीं जन साधारण की भक्ति के अतिरेक को उमड़ने का कोई स्थान है न पूज्य वर्णी जी के स्मारक का कोई प्रावधान। मैं यह भी सोच रहा था कि यदि इसी योजनानुरूप यह दाह-संस्कार हो गया तब सुबह चारों ओर से भाग कर आने वाले शोकाकुल, दर्शनार्थी, जन समुदाय के दिल पर क्या गुजरेगी।

अधिष्ठाता महोदय के पास अपनी बात मनवाने के सबल शास्त्रीय कारण थे, किन्तु भावुकता या कोमल भावनाओं का उनमें नितान्त अभाव दिखायी दे रहा था। साढ़े सात बजे वे इसलिये अन्त्येष्टि करना चाहते थे *क्योंकि आचार ग्रन्थों में अन्तर्मुहूर्त का व्यपदेश है।* आश्रम से दूर बीहड़ स्थान उन्होंने इसलिये पसन्द किया था कि आश्रम के आँगन में लम्बी घास लगी थी और वहाँ

अन्त्येष्टि करने से कुछ अधिक जीव हिंसा होने का अन्देशा था। वे हम लोगों की पीड़ा हजार समझाने पर भी नहीं समझ पा रहे थे और बार-बार ग्रन्थों के प्रमाण प्रस्तुत किये जा रहे थे। अन्त में किसी प्रकार हम लोग इस बात पर उन्हें राजी कर पाये कि यह त्यागियों का काम नहीं है, गृहस्थों का है। उसकी व्यवस्था हम गृहस्थों को ही करने दी जाय। इस पर भी अन्त्येष्टि को नौ बजे से अधिक नही टाला जा सका और साढ़े नौ बजे रेल से पहुँचने वाले सैकड़ों लोग जो देख सके वह केवल राख का ढेर था।

वास्तव मे समाधि के अन्तिम पांच दिनों में मुझे अधिष्ठाता के अनुशासन से अनेक बार उलझना पड़ा। उनके असहिष्णु दृष्टिकोण ने कदम-कदम पर मुझे ऐसा मानसिक कष्ट दिया जिसे मैं सहज नही भुला पाया और घर लौटकर मैंने पत्र में उन पर अपना आक्रोश प्रकट किया। तब तक संभवतः उनकी कषाय भी ढीली हो चुकी थी। उत्तर में उन्होंने मुझे लिखा :

उदासीन आश्रम
ईसरी बाजार
(हजारी बाग)
२८-९-६१

श्रीयुत नीरज जी,

सप्रेम जयजिनेन्द्र।

आज आपका क्षमावणी पत्र मिला। देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। आप महान् हैं जो मुझ जैसे अपराधी को भी क्षमा करने में समर्थ है। मेंने पत्र दिया किन्तु उत्तर न पाकर निराश हो बैठा था किन्तु बार-बार यह विचार आता था कि निःरज से तो ऐसी आशा नही। संभव है पत्र न मिला हो। पता अधूरा हो। आज मेरा वह विचार ठीक निकला। निराश को आशा बंधी। मैं अपने अपराध की निन्दा करता हूं और क्षमा याचना करता हूं।"

आपका
—रतनचन्द

इस पत्र में जो सदाशयता दिखायी दे रही है वह भी मुख्तार सा० के व्यक्तित्व का एक अंग है। समय-समय की परिणति है। अस्तु।

बाबा जी के उत्तराधिकारी—

समाधिकाल में आश्रम में जो लोग उपस्थित थे उनमें एक क्षुल्लक महाराज इस बात के लिये विशेष चिन्तित और व्यग्र दिखायी देते थे कि कब और कैसे वे पूज्य वर्णी जी महाराज के 'पीठासीन' उत्तराधिकारी घोषित किये जायें। उन्हें शायद यह भ्रम हो गया था कि उत्तराधिकारी घोषित होने मात्र से वे हजारों-लाखों भक्तजनों की वही श्रद्धा, वही भक्ति, और वही समर्पण प्राप्त कर लेंगे जो अब तक पूज्य वर्णी जी महाराज को अपने तपःपूत और साधना-सिक्त जीवन में प्राप्त था।

उन महाशय ने अपने आपको पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी का उत्तराधिकारी घोषित कराने के लिये उनके जीवित रहते क्या पापड़ बेले, यह जानने के लिये तो मेरे पास तब समय नहीं था; परन्तु बाबा जी की चिता जलते ही जब वहाँ एकत्रित हजारों नर-नारियों की भीड़ ने एक श्रद्धांजलि सभा का रूप ले लिया, किसी ने एक माइक वहाँ चालू कर दिया, और कुछ लोग अपने शोक-संतप्त उद्‌गार प्रकट करने का प्रयत्न करने लगे, तब उन महाशय के किसी साधक ने वही इस बात का प्रस्ताव कर दिया कि अब से श्री 'अमुक' जी बड़े वर्णी जी का स्थान ग्रहण करेंगे। समाज उन्हें मान्यता दे। पद लोलुपता और 'यश, ख्याति, लाभ तथा पूजादि' चाह की आकुल उत्कण्ठा का इससे बड़ा उदाहरण मैंने अपने जीवन में नहीं देखा था। जब एक ओर गुरु का पावन शरीर चिता की लपटों में भस्मीभूत हो रहा हो उसी समय उसी जगह कोई उनके पद के लिये न केवल प्रयत्नशील हो जाये, वरन् खुली दुरभिसन्धि प्रकट करने लगे, यह किस पुरुषार्थ की पराकाष्ठा थी, सो हम स्वतः विचार करें।

इस श्रद्धांजलि सभा में जब मुझे बोलने का अवसर दिया गया था तब मेरा गला इस तरह बाष्प रुद्ध हो रहा था कि कुछ हिचकियों के अतिरिक्त मैं कुछ भी कहने में सफल न हो सका। परन्तु उत्तराधिकार का यह बे मौके और बेतुका प्रस्ताव सुनकर मैं अपने आपको रोक भी नहीं पाया और वहीं उसी समय मैंने इस चर्चा का विरोध

किया। एक दो लोगों ने और भी उस प्रकरण के अनौचित्य पर अंगुली उठायी और ऐसा लगा कि यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया है। पर बाद में ज्ञात हुआ कि हमारा ऐसा सोचना गलत था।

दोपहर को आश्रम के प्रवचन भवन में दूसरी श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गयी और उसके बाद सभी लोग अपने-अपने घर लौटने लगे। मुझे भी दूसरे रोज लौटना था ही। लौटने के पहले एक बार महाराज के कमरे में जाकर उनके चित्र, उनकी चौकी, उनकी जाप उनकी समयसार की प्रति को देखने-छूने का लोभ हमलोग संवरण न कर सके और मैं तथा विद्यार्थी नरेन्द्र उस कमरे की ओर पहुंच गये। हमने जाकर जो देखा वह हमारी कल्पना से परे का दृश्य था। पूज्य वर्णी जी के उपयोग की सारी वस्तुएं बड़ी जल्दबाजी में उस कमरे से हटाकर अन्यत्र एक छोटी कोठरी में भर दी गयी थीं और उस कमरे में वे ही क्षुल्लक महाशय अपने सामान के साथ आसन जमाये हुए वर्णी जी के उत्तराधिकारी पद पर अपना अभिषेक कराये जाने की कल्पना में तल्लीन थे।

दुःख और आवेग, हंसी और आक्रोश का हम लोगों ने एक साथ अनुभव किया, परन्तु चौबीस घण्टों में आश्रम के भीतर जो कुछ देखा था उससे मन ऐसा ऊबा, तथा बाबा जी के बिना उस आश्रम का सूनापन इतना खलने वाला लगा, कि वहाँ घड़ी भर भी रुकने का उत्साह या साहस हम लोग न जुटा पाये। चिता का चबूतरा खाली हो चुका था। बाबा के जैनेतर भक्त जन-बच्चो सहित दिन भर आते रहे थे और उस चबूतरे की राख और बालू सब बटोर ले जा चुके थे। हम लोगों ने भरी आंखो के साथ अन्तिम बार चबूतरे का भस्म-वन्दन किया और स्टेशन की ओर चल दिये। इतना हमने जरूर किया कि रायबहादुर हरखचन्द्र जी, ब्रह्मचारी बाबू सुरेन्द्रनाथ जी, प्रो० गोरावाला, पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री और जो भी अन्य जिम्मेदार लोग दिखते गये उन सबसे हमने इसकी शिकायत की और यह अनुरोध किया कि महाराज का कमरा उनके स्मारक के रूप में वैसा ही सुरक्षित रखा जाय जैसा कि वह उनके जीवन काल में था। प्रो० गोरावाला और विद्यार्थी नरेन्द्र ने तो यह भी कह डाला कि यदि यह अनुरोध सार्थक नहीं हुआ तो हम लोग किसी दिन आकर अपने हाथ से यह पुण्य कार्य करेंगे और जिसका भी सामान उस कमरे में होगा उसे बाहर फेंक कर अपने गुरु का स्मारक यथाविधि सुरक्षित रखेंगे।

भगवान् की दया से इतना पुरुषार्थ करने की आवश्यकता नही पड़ी। 'पीठासीन' क्षुल्लक महाराज को बात समझ में आ गयी, (या समझा दी गयी) और उन्होंने उस कमरे से अपना निष्कासन जहर के घूंट की तरह स्वीकार कर लिया। हमारे घर लौटने के एक सप्ताह के भीतर ही आश्रम के अधिष्ठाना महोदय का पत्र मुझे प्राप्त हुआ :

प्रियवर भाई नीरज जी,

सस्नेह जयजिनेन्द्र।

मुझको खेद है कि मैं आपको इससे पूर्व पत्र नही लिख सका। पूज्य वर्णी जी के कमरे में वे सब वस्तुएं जो उनके प्रयोग मे आती थी, रख दी गयी है। उनके हाथ का लिखा हुआ समयसार पण्डित शिखरचन्द जी के पास है सो प्रयत्न यह करूंगा कि वह भी उनसे मिल जावे और उनकी शास्त्र अल्मारी में रख दिया जावे। 'मेरी जीवन गाथा' का तीसरा भाग भी छपना चाहिये जिसमें अन्तिम समय तक का जीवन आ जावे। इन सब में आपके सहयोग की आवश्यकता है।

भवदीय

— रतनचन्द

अंतिम श्रद्धांजलि : जलती चिता को—

बाबा जी की समाधि का समाचार समय पर प्रसारित न किये जाने के कारण जो सैकड़ों लोग अन्त समय में उनकी चरण सेवा करने से अथवा उनका दर्शन पाने से वंचित रहे उनमें महाराज के अनेक निकटतम अनुयायी और कृपापात्र भी थे। उन्हीं में थे श्रीमान् पंडित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री। ट्रेन से जब वे ईसरी पहुँचे तब चिता की अग्नि अपने दाहक धर्म के परिणमन का प्रतिफल दे चुकी थी। पण्डित जी आश्रम में पहुँचकर

उनकी वाणी मुखर थी पर पांव थक गये थे।

कुर्सी पर उन्हें प्रवचन के लिये ले जाते हुए उनका निष्ठावान सेवक महावीर।

रुग्णावस्था में भी वे अत्यन्त शान्त और अडिग थे ।
परिचर्या मे रत है श्री बाबू छोटेलाल सरावगी तथा
कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ।

शरीर अस्थिपंजर-मात्र रह गया था परन्तु महाराज का ज्ञाता
दृष्टा आत्मा अत्यन्त सावधान और वेदनारहित था ।

अन्तिम झांकियां

उनके देह की पूजा अर्चा करके विमान में उसका जुलूस निकाला गया।
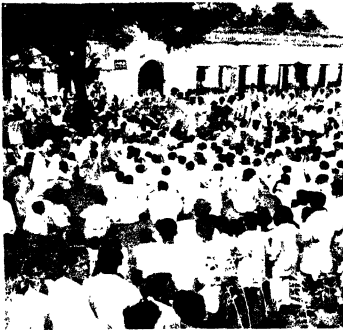
जुलूस आश्रम के आंगन मे समाप्त हुआ जहां अन्तिम सस्कार की तैयारियां हो रही थी।

अन्तिम झांकियां

चन्दन और श्रीफल की चिता मे उनका शरीर अग्नि को समर्पित हुआ ।

हज़ारों शोकाकुल स्त्री—पुरुषों ने चिता की प्रदक्षिणा देते हुए भस्म वन्दन किया ।

सीधे चिता के पास गये। मुझे साथ आते देखकर उन्होंने कहा— "भैया! पिछली बार जब मैं वर्णी जी के पास आया तब दो-तीन बार उन्होंने मुझे याद दिला-दिला कर यह बात कही कि भैया तुम्हारे पिता ने (बाबा गोकुलचन्द जी ने) हमें सातवीं प्रतिमा के व्रत दिये थे।"

आंखों में आंसू भरे हुए पण्डित जी ने आगे कहा कि बिना किसी प्रसंग के जब तीसरी बार बाबा जी ने यह बात हमसे कही तो हमें ऐसा लगा कि किसी विशेष अभिप्राय से वे यह प्रसंग चलाते हैं। शायद हमारे भविष्य के लिये दिशा निर्देश का कोई इशारा उनके इन शब्दों में निहित था। एक बार तो हमारे मन में आया कि हम पूज्य वर्णी जी से कह दें कि—"हमारे पिता जी ने आपको ब्रह्मचर्य व्रत दिया था तो वह व्रत आप हमें देकर हमारा एक उपकार और कर दें।" पर हम इतना साहस जुटा न सके।

इतना कहते-कहते गुरुवर्य पंडित जगन्मोहनलाल जी का कण्ठ रुद्ध सा होने लगा। उनकी वाणी का कम्पन अब छिप नहीं रहा था। चन्दन काष्ठ की अंजुलि बनाये हुए उनके हाथ धीरे-धीरे कम्पित हो रहे थे पर उनका चित्त आकुलित या अशान्त नहीं था। 'बड़ी स्थिरतापूर्वक उन्होंने अपनी बात पूरी की—"**अब, आज हमें ऐसा लगता है कि हम उनके इंगित का अर्थ न समझ पाये तो एक बड़ी भूल होगी। इसलिये उनकी चिता को साक्षी बनाकर हम यहीं आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प करते हैं।**"

वाक्य समाप्त होते-होते पंडित जी के हाथ का चन्दन काष्ठ चिता को समर्पित हुआ। ज्वालाओं ने उसे आत्मसात करके संभवतः अपनी अनुमोदना व्यक्त कर दी। जीवन पर्यन्त आत्म-निग्रह की साधना करने वाले उस परम-तपस्वी की चिताको, आत्म-निग्रह के संकल्प से भरा यह अन्तिम प्रणाम था।

❋

'सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां।
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमज्योतिस्सदैवास्म्यहम् ॥
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥'

अर्थ—यह सिद्धान्त उदारचित्त और उदार चरित्रवाले मोक्षार्थीयोंको सेवन करना चाहिये कि मैं एक ही शुद्ध (कर्मरहित) चैतन्य स्वरूप परम ज्योतिवाला सदैव हूँ। तथा ये जो भिन्न लक्षणवाले नाना प्रकारके भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे संपूर्ण परद्रव्य हैं।

११

पूज्य वर्णी जी के कुछ अप्रकाशित पत्र

डा. कन्हैयालाल अग्रवाल, सतना

श्री गणेशप्रसाद वर्णी अपने लोकहितकारी कार्यों के लिये युग-पुरुष के रूप में विख्यात हो गये हैं। उनकी संस्थाओं के माध्यम से और उनके साहित्य के माध्यम से सैकड़ों लोगों को जीवन-निर्माण का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। मुझे उनका साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य तो प्राप्त नहीं हुआ किन्तु श्री गोपीलाल अमर और श्री नीरज जैन के सम्पर्क में आने पर वर्णी जी महाराज के महान् व्यक्तित्व का प्रसाद प्रायः मुझे मिलता रहा है। उनका जीवन ऐसी अनवरत साधनाओं का पुंज था जिसके स्मरणमात्र से मनुष्य बहुत कुछ ग्रहण कर सकता है। मैंने स्वतः अथक परिश्रम और अनवरत परिश्रम का पाठ उनके जीवन से सीखने का संकल्प किया है। समय का उपयोग करके कैसे अपने महान् संकल्पों की पूर्ति की जा सकती है यह वर्णी जी के जीवन की ओर देखने से सहज ही ज्ञात हो जाता है।

श्री नीरज जैन पूज्य वर्णी जी के अनन्य भक्तों में हैं। उन्हें अनेक बार सप्ताहों और महीनों तक वर्णी जी की चरणसेवा करने का अवसर मिला है। उनकी स्मृति में महाराज के सैकड़ो संस्मरण सुरक्षित हैं। जब कभी ये संस्मरण सुनने का अवसर मिलता है तो वर्णी जी का सरल और अनुकम्पावान अलौकिक व्यक्तित्व, थोड़ी देर के लिये, प्रत्यक्ष-सा हो जाता है। वर्णी जी के लेखन में भी उनके व्यक्तित्व की महानतायें यत्र-तत्र प्रतिभासित होती रहती हैं। श्री नीरज के पास वर्णी जी के बहुत से पत्र सुरक्षित हैं। अधिकांश उन्हें लिखे गये और कुछ दूसरों को लिखे गये। वर्णी जी के व्यक्तित्व और उनके उपदेशों की पूरी छवि उनके पत्रों में निहित है। श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला से "वर्णी-वाणी" और "पत्र-पारिजात" के नाम से जो संकलन प्रकाशित हुए है उनमें उनके हजारो पत्र संकलित हैं। मुझे यह भी ज्ञात है कि पूज्य वर्णी जी के सैकड़ों अप्रकाशित पत्रों का सम्पादित संग्रह डा० नरेन्द्र विद्यार्थी के पास प्रकाशन की प्रतीक्षा में वर्षों से पड़ा हुआ है। मैं वर्णी जी के भक्तों और अनुयायियों के लिये यह आलोचना और अप्रतिष्ठा की बात मानता हूं कि उनके देहावसान के बाद एक पूरा युग बीत जाने पर भी तथा उनके जन्म-शताब्दी समारोह जैसे महत्त्वपूर्ण आयोजन के समय भी उनकी यशस्वी लेखिनी से प्रभूत सामग्री भी प्रकाशित नही की जा सकी है। मेरा तो यह भी अनुमान है कि बहुत बड़ी संख्या में महाराज के पत्र अनेक स्थानों पर अनेक लोगों के पास सुरक्षित होंगे जिन्हें अभी तक प्राप्त नही किया जा सका है। यह आशा करना अनुचित नहीं होगा कि वर्णी ग्रन्थमाला के संचालक इस ओर ध्यान देंगे और संकल्प करके एक निश्चित अवधि के भीतर ऐसी सारी सामग्री प्रकाशित करके लोगों के पठन-पाठन के लिये उपलब्ध कर देंगे।

इस छोटे से लेख में मैं पूज्य संत के व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओं पर उन अप्रकाशित पत्रों के माध्यम से प्रकाश डालने का प्रयत्न करूंगा, जो श्री नीरज जैन के संकलन में मुझे देखने को मिले।

इतिहास के संरक्षक

पूज्य वर्णी जी इतिहास को किसी भी समुदाय के उत्कर्ष का सहायक निमित्त मानते थे। वे इस बात के लिये, अपने लेखन में बहुत प्रयत्नशील दिखायी देते हैं कि दिगम्बर जैन समाज का तथा दिगम्बर जैन साहित्य का एक विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास तैयार किया जाय। इस कार्य के लिये उनके मन में बड़ी लगन थी और एक

निश्चित योजना उनके मन में बनकर तैयार थी। उनके जीवनकाल में यह कार्य नही हो सका इसकी व्यथा भी उनके लेखन में स्पष्ट झलक उठी है। देहावसान से पांच वर्ष पूर्व इस सम्बन्ध में उन्होंने श्रीमान् पण्डित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री को जो मार्मिक पत्र लिखा था, वह उनकी इस लगन का यथार्थ परिचय देता है।

श्रावण सुदी ७, सं० २०१३
ईसरी बाजार

श्रीयुत पण्डित जगन्मोहनलाल जी,
इच्छाकार।

बहुतकाल से मन में कल्पना आती थी जो आपको मनोव्यथा लिखूं। दिगम्बर जैनों का इतिहास द्रुतगति से लिखा जावे। एक हजार रुपया मासिक व्यय किया जावे। यह रुपया सागर, कटनी, जबलपुर की पंचायत देवे। कार्य बनारस से हो। जो पंडित काम करें उन्हें एक सौ रुपया प्रति घण्टा प्रतिमास दिया जावे। काम का तकाजा न किया जावे। अध्यक्ष आप रहें।

अभी चार पंडित बनारस में हैं। उनसे नम्रतास-हित कहा जावे—"आपको यह काम करना पड़ेगा।" कल्पना करो प्रत्येक पंडित दो घण्टा भी काम करेंगे, आठ सौ रुपया मासिक हुआ। दो सौ रुपये फुटकर खर्च होगा। दो वर्ष में काम हो जावेगा। यदि दो में न हुआ तो तीन वर्ष में हो जावेगा। छत्तीस हजार रुपया ही तो लगेंगे। यह काम होने से जैनधर्म का वास्तविक परिचय अनेकों विद्वानों की दृष्टि में आ जावेगा। अस्तु—हमारा जो भाव था आपको लिख दिया। रुपया कहाँ से आवेगा? जहाँ से आता है। सागर का तो मैं दिलाऊंगा। विशेष क्या लिखूं। श्री धन्यकुमार जी कल्याण-भाजन हों। यह तो स्वनाम धन्य ही हैं, क्या लिखूं अब वृद्ध शरीर है पत्र लिखने में हाथ दूखता है। एक बार महानुभावों के श्रवण में मेरा सन्देश कह देना। मानना न मानना हृदय की वृत्ति पर है।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

यह ध्यान देने योग्य है कि समाज के इतिहास के प्रति इतनी गहरी लगन और कितनी विस्तृत और स्पष्ट योजना उनके हृदय में थी।

समाज का कोई भी उत्सव या समारोह हो, पूज्य वर्णी जी के पास उसकी उपयोगिता की कसौटी यही थी कि अशिक्षा के निवारण में और शिक्षा के प्रसार में उस उत्सव का कितना योगदान है। सन् १९५५ में द्रोणगिरि (छतरपुर) मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक महोत्सव बड़े विशाल आयोजन के साथ सम्पन्न हुआ था। इस उत्सव का आँखों देखा हाल श्री नीरज जैन ने एक विस्तृत पत्र द्वारा पूज्य वर्णी जी के पास भेजा। महाराज ने उस महोत्सव की समीक्षा इसी आधार पर की और स्पष्ट ही अपना असन्तोष इसके लिये प्रकट किया कि इतने बड़े उत्सव में भी बुन्देलखण्ड के विद्यार्थियों के ज्ञानार्जन के लिये कोई स्थायी व्यवस्था नहीं हो पायी। इस सन्दर्भ में उनके दो पत्र अवलोकनीय हैं—

चैत्र वदी २ संवत् २०११

श्रीयुत महाशय कवि नीरज जी,
योग्य कल्याण-भाजन हो।

पत्र आया। समाचार जानें। आप लोगों को धन्यवाद है जो कार्य सफल हुआ। किन्तु पाठशाला की स्थिरता नहीं हुई। यदि एक लाख रुपया भी ऐसे समारोह में हो जाता तब कुछ कठिन न था परन्तु इस ओर किसी का लक्ष्य नहीं। स्वयं मलैया बीस हजार रुपया देते तब शेष रुपया अनायास हो जाता। अस्तु। जो

११
पूज्य वर्णी जी के कुछ अप्रकाशित पत्र

डा. कन्हैयालाल अग्रवाल, सतना

श्री गणेशप्रसाद वर्णी अपने लोकहितकारी कार्यों के लिये युग-पुरुष के रूप में विख्यात हो गये हैं। उनकी संस्थाओं के माध्यम से और उनके साहित्य के माध्यम से सैकड़ों लोगों को जीवन-निर्माण का मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है। मुझे उनका साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य तो प्राप्त नहीं हुआ किन्तु श्री गोपीलाल अमर और श्री नीरज जैन के सम्पर्क में आने पर वर्णी जी महाराज के महान् व्यक्तित्व का प्रसाद प्राय: मुझे मिलता रहा है। उनका जीवन ऐसी अनवरत साधनाओं का पुंज था जिसके स्मरणमात्र से मनुष्य बहुत कुछ ग्रहण कर सकता है। मैंने स्वत: अथक परिश्रम और अनवरत परिश्रम का पाठ उनके जीवन से सीखने का संकल्प किया है। समय का उपयोग करके कैसे अपने महान् संकल्पों की पूर्ति की जा सकती है यह वर्णी जी के जीवन की ओर देखने से सहज ही ज्ञात हो जाता है।

श्री नीरज जैन पूज्य वर्णी जी के अनन्य भक्तों में हैं। उन्हें अनेक बार सप्ताहों और महीनों तक वर्णी जी की चरणसेवा करने का अवसर मिला है। उनकी स्मृति में महाराज के सैकड़ों संस्मरण सुरक्षित हैं। जब कभी ये संस्मरण सुनने का अवसर मिलता है तो वर्णी जी का सरल और अनुकम्पावान अलौकिक व्यक्तित्व, थोड़ी देर के लिये, प्रत्यक्ष-सा हो जाता है। वर्णी जी के लेखन में भी उनके व्यक्तित्व की महानतायें यत्र-तत्र प्रतिभासित होती रहती हैं। श्री नीरज के पास वर्णी जी के बहुत से पत्र सुरक्षित हैं। अधिकांश उन्हें लिखे गये और कुछ दूसरों को लिखे गये। वर्णी जी के व्यक्तित्व और उनके उपदेशों की पूरी छवि उनके पत्रों में निहित है। श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला से "वर्णी-वाणी" और "पत्र-पारिजात" के नाम से जो संकलन प्रकाशित हुए है उनमें उनके हजारो पत्र संकलित हैं। मुझे यह भी ज्ञात है कि पूज्य वर्णी जी के सैकड़ों अप्रकाशित पत्रों का सम्पादित संग्रह डा० नरेन्द्र विद्यार्थी के पास प्रकाशन की प्रतीक्षा में वर्षों से पड़ा हुआ है। मैं वर्णी जी के भक्तों और अनुयायियों के लिये यह आलोचना और अप्रतिष्ठा की बात मानता हूं कि उनके देहावसान के बाद एक पूरा युग बीत जाने पर भी तथा उनके जन्म-शताब्दी समारोह जैसे महत्त्वपूर्ण आयोजन के समय भी उनकी यशस्वी लेखिनी से प्रभूत सामग्री भी प्रकाशित नहीं की जा सकी है। मेरा तो यह भी अनुमान है कि बहुत बड़ी संख्या में महाराज के पत्र अनेक स्थानों पर अनेक लोगों के पास सुरक्षित होंगे जिन्हें अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका है। यह आशा करना अनुचित नहीं होगा कि वर्णी ग्रन्थमाला के संचालक इस ओर ध्यान देंगे और संकल्प करके एक निश्चित अवधि के भीतर ऐसी सारी सामग्री प्रकाशित करके लोगों के पठन-पाठन के लिये उपलब्ध कर देंगे।

इस छोटे से लेख में मैं पूज्य संत के व्यक्तित्व की कुछ विशेषताओं पर उन अप्रकाशित पत्रों के माध्यम से प्रकाश डालने का प्रयत्न करूंगा, जो श्री नीरज जैन के संकलन में मुझे देखने को मिले।

इतिहास के संरक्षक

पूज्य वर्णी जी इतिहास को किसी भी समुदाय के उत्कर्ष का सहायक निमित्त मानते थे। वे इस बात के लिये, अपने लेखन में बहुत प्रयत्नशील दिखायी देते हैं कि दिगम्बर जैन समाज का तथा दिगम्बर जैन साहित्य का एक विस्तृत और प्रामाणिक इतिहास तैयार किया जाय। इस कार्य के लिये उनके मन में बड़ी लगन थी और एक

निश्चित योजना उनके मन में बनकर तैयार थी। उनके जीवनकाल में यह कार्य नहीं हो सका इसकी व्यथा भी उनके लेखन में स्पष्ट झलक उठी है। देहावसान से पाँच वर्ष पूर्व इस सम्बन्ध में उन्होंने श्रीमान् पण्डित जगन्मोहन लाल जी शास्त्री को जो मार्मिक पत्र लिखा था, वह उनकी इस लगन का यथार्थ परिचय देता है।

श्रावण सुदी ७, सं० २०१३
ईसरी बाजार

श्रीयुत पण्डित जगन्मोहनलाल जी,
इच्छाकार।

बहुतकाल से मन में कल्पना आती थी जो आपको मनोव्यथा लिखूं। दिगम्बर जैनों का इतिहास द्रुतगति से लिखा जावे। एक हजार रुपया मासिक व्यय किया जावे। यह रुपया सागर, कटनी, जबलपुर की पंचायत देवे। कार्य बनारस से हो। जो पंडित काम करें उन्हें एक सौ रुपया प्रति घण्टा प्रतिमास दिया जावे। काम का तकाजा न किया जावे। अध्यक्ष आप रहें।

अभी चार पंडित बनारस में हैं। उनसे नम्रतास-हित कहा जावे—"आपको यह काम करना पड़ेगा।" कल्पना करो प्रत्येक पंडित दो घण्टा भी काम करेंगे, आठ सौ रुपया मासिक हुआ। दो सौ रुपये फुटकर खर्च होगा। दो वर्ष में काम हो जावेगा। यदि दो में न हुआ तो तीन वर्ष में हो जावेगा। छत्तीस हजार रुपया ही तो लगेंगे। यह काम होने से जैनधर्म का वास्तविक परिचय अनेकों विद्वानों की दृष्टि में आ जावेगा। अस्तु—हमारा जो भाव था आपको लिख दिया। रुपया कहाँ से आवेगा? जहाँ से आता है। सागर का तो मैं दिलाऊंगा। विशेष क्या लिखूं। श्री धन्यकुमार जी कल्याण-भाजन हों। यह तो स्वनाम धन्य ही हैं, क्या लिखूं अब वृद्ध शरीर है पत्र लिखने में हाथ दूखता है। एक बार महानुभावों के श्रवण में मेरा सन्देश कह देना। मानना न मानना हृदय की वृत्ति पर है।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

यह ध्यान देने योग्य है कि समाज के इतिहास के प्रति इतनी गहरी लगन और कितनी विस्तृत और स्पष्ट योजना उनके हृदय में थी।

समाज का कोई भी उत्सव या समारोह हो, पूज्य वर्णी जी के पास उसकी उपयोगिता की कसौटी यही थी कि अशिक्षा के निवारण में और शिक्षा के प्रसार में उस उत्सव का कितना योगदान है। सन् १९५५ में द्रोणगिरि (छतरपुर) मध्यप्रदेश में पंचकल्याणक महोत्सव बड़े विशाल आयोजन के साथ सम्पन्न हुआ था। इस उत्सव का आँखों देखा हाल श्री नीरज जैन ने एक विस्तृत पत्र द्वारा पूज्य वर्णी जी के पास भेजा। महाराज ने उस महोत्सव की समीक्षा इसी आधार पर की और स्पष्ट ही अपना असन्तोष इसके लिये प्रकट किया कि इतने बड़े उत्सव में भी बुन्देलखण्ड के विद्यार्थियों के ज्ञानार्जन के लिये कोई स्थायी व्यवस्था नहीं हो पायी। इस सन्दर्भ में उनके दो पत्र अवलोकनीय हैं—

चैत्र वदी २ संवत् २०११

श्रीयुत महाशय कवि नीरज जी,
योग्य कल्याण-भाजन हो।

पत्र आया। समाचार जानें। आप लोगों को धन्यवाद है जो कार्य सफल हुआ। किन्तु पाठशाला की स्थिरता नहीं हुई। यदि एक लाख रुपया भी ऐसे समारोह में हो जाता तब कुछ कठिन न था परन्तु इस ओर किसी का लक्ष्य नहीं। स्वयं मलैया बीस हजार रुपया देते तब शेष रुपया अनायास हो जाता। अस्तु। जो

हुआ वही बहुत है । सौ छात्रों का प्रबन्ध भी नहीं हुआ तब क्या कहें । विशेष लिखने को जी नहीं चाहता । ऐसा सुअवसर बार बार न मिलेगा ।

ऊषरे सरसि शाल्मलि-वने,
दाव-पावक-चितेऽपि चन्दने ।
तुल्यमर्षयसि वारि, वारिद,
कीर्तिरस्तु, गुण-विज्ञता गता ।।

(ऊसर में और सरसि में, शालमलि बन में और दावानल मे दहकते हुए वन में, चिता पर और चन्दन वृक्ष पर, एक समान बरसने वाले हे मेध । इससे तेरी कीर्ति ज्ञात हो तो हो, गुण-विज्ञता समाप्त हो जाती है ।)

यही दशा हमारी है ।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

महाराज के इस पत्र के उत्तर में श्री नीरज जी ने समय और परिस्थितियो का बखान करते हुए अपने पत्र मे निवेदन किया कि जितना हो गया वही बहुत था । परन्तु वर्णी जी के शिक्षा-संकल्पी मन को उससे बोध नहीं लगा । उन्होंने दसवें दिन ही दूसरा पत्र लिखा—

ईसरी बाजार
चैत्र वदी १३ संवत २०११

श्री नीरज महाशय,
कल्याण-भाजन हो ।

पत्र आया । समाचार जाने । हमको सन्तोष करा दो यह ठीक है परन्तु आप स्वयं सन्तुष्ट नहीं हुए होंगे । यदि लोकों के चित्त में विद्या का महत्त्व आया होता तब एक लाख रुपया होना कठिन न था मलैया जी ने गुरुतर परिश्रम किया इसमें कोई शंका नहीं, परन्तु दान देने मे कुछ संकोच कर गये । बीस हजार रुपया उन्हें देना था । सिंघई जी को और श्री भगवानदास जी को भी इतना ही देना था । तब चालीस हजार शेष जनता का हो जाता । अस्तु, जो हुआ सो अच्छा है । सन्तोष ही करना अच्छा है, अभी 'देश' का कल्याण दूर है । यदि मनुष्य वास्तव तत्त्व समझते तब एक सौ छात्रों की रक्षा दुर्लभ न होती । यह होगा जो पर साल ऐसा मेला नैनागिर में हो, जो इससे अच्छा प्रबन्ध हो, यह बात अवश्य हुई । विशेष क्या लिखें, धनिक वर्ग सुनता नहीं, न सुनें, पंचम काल है अन्त में यही कह के चुप होना पड़ता है ।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

पूज्य वर्णी जी धर्म की प्रभावना और परपीड़ा के निवारण की प्रेरणा को भी अपने पत्रों में पर्याप्त स्थान देते थे । दमोह के श्री भागचन्द जी इटौरया वर्णी जी के निष्ठावान् भक्त हैं । उन्होंने समाज-सुधार के लिये कुछ योजना बनायी और कुछ दान करने का संकल्प वर्णी जी को सूचित किया जिसके उत्तर में महाराज ने उन्हें वास्तविक प्रभावना करने का और निरन्तर स्वाध्याय करने का उपदेश दिया :

ईसरी बाजार
जेठ वदी ४, संवत् २०१३

श्रीयुत महाशय इटौरया जी,
योग्य कल्याण-भाजन हो ।

जैन जनता में अभी यह भाव नहीं हुआ जो जैनधर्म का व्यापक प्रचार किया जावे । इनका लक्ष्य तभी बाह्य-प्रभावना में सो भी नहीं । प्रभावना वह वस्तु है जिसे देखकर अनेकों का धर्म में अनुराग हो सकता है । आपके विचार प्रशस्त हैं । जहाँ तक बने यही प्रयास करो, एक दिन सफल

होओगे। अपने विचार दृढ़ रखो। आत्मा की निर्मलता सर्व शान्ति का उपाय है, यह कौन बड़ी वस्तु है।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

इटौरया जी की उदारता की सराहना करते हुए एक अन्य पत्र में बाबा जी ने लिखा :

"आपकी यह परिणति ही संसार उच्छेद का कारण होगी। वही मनुष्य इस संसार के झंझट से रक्षित रहता है जो न्यायमार्ग को उल्लंघन नहीं करता। जहाँ तक बने स्वाध्याय में भी कुछ काल लगाना। अपनी समालोचना करना, पर की समालोचना में काल का उपयोग न करना। रुपयों का हम क्या करेंगे? हमको प्रसन्नता इसमें है जो आप विवेक से काम लेते हो।"

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

स्याद्वाद विद्यालय बनारस की जयन्ती के समय पूज्य वर्णी जी ने इटौरया जी को पुनः लिखा :

"पत्र आया, समाचार जाने। आपकी उदारता प्रशंसनीय है, किन्तु मेरा कहना है कुछ स्वाध्याय भी करना चाहिये, तथा यह कहना है—स्याद्वाद विद्यालय जैनियों में मुख्य संस्था है। इसकी स्वर्ण-जयन्ती का उत्सव होने वाला है। उसमें अवश्य सहायता करना चाहिये। आप उसमें अवश्य पधारें। बहुत बातों का निर्णय हो जावेगा तथा यह भी पता लग जावेगा जो समाज किस ओर जा रहा है।"

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

ऐसी प्रेरणा और ऐसे प्रेम पगे उपदेशों से भरे हुए होते थे उनके पत्र। पढ़ने पर ऐसा लगता है जैसे सम्मुख ही किसी से चर्चा हो रही हो। श्री नीरज जैन के संग्रह में पूज्य वर्णी जी के शताधिक पत्र मुझे देखने को मिले। हर पत्र का अलग-अलग संदर्भ उनकी स्मृति में है और हर पत्र किसी न किसी उपदेश से सुरभित है। लेख का कलेवर अधिक नहीं बढ़ाते हुए मैं दो पत्रों का उल्लेख करके इसे समाप्त करूंगा।

संवत् २००७ में पूज्य वर्णी जी के—"हरिजनों की धार्मिक पात्रता" सम्बन्धी क्रान्तिकारी विचारों को लेकर समाज के स्थिति-पालक वर्ग में तूफान आ गया था। पत्रों के सम्पादक वर्णी जी को विजातीय होने का फतवा और अपदस्थ कर दिये जाने की धमकियां दे रहे थे और विद्वानों (?) के भाषण गालियों से उनका सम्बोधन करते थे। उस समय विद्यार्थी नरेन्द्र और श्री नीरज जैन ने 'हरिजन मन्दिर प्रवेश' नाम से एक छोटी पुस्तक प्रकाशित करने की योजना बनायी। विद्यार्थी नरेन्द्र की सतर्क और तीखी भाषा में पूज्य वर्णी जी के मंतव्य का जैसा सटीक समर्थन तथा विरोध करने वालों की जैसी निर्मम आलोचना उस पुस्तक में होने वाली थी उसकी चर्चा दोनों खेमों में हुई। स्थिति-पालक वर्ग ने इस सम्बन्ध में पूज्य वर्णी जी को भी इस सम्बन्ध में लिखा और इस प्रकाशन से समाज की शान्ति-भंग होने का अन्देशा प्रकट किया।

इस प्रकरण में महाराज ने विद्यार्थी नरेन्द्र को एक पत्र में लिखा :

श्रीयुत महाशय नरेन्द्रकुमार जी,
योग्य दर्शनविशुद्धिः।

पत्र आया, समाचार जाने। हमारा तो यही अभिप्राय है जो समाज में अशान्ति न हो। तलवार का वार ढाल से बचाना चाहिये। विशेष कुछ नहीं, जिसमें तुमको उत्तर काल में शान्ति मिले वह करो। जैनधर्म का दृढ़ पालने वाला बड़े बड़े परीषह सहता है। अभी तो श्री···

............जी ने हमको कुछ नहीं लिखा। इससे भी अधिक लिखें, हम कुछ न लिखेंगे। हमको जो लिखना था, लिख दिया। हमारा विश्वास है जनता कुतूहल-प्रिय होती है।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

इसी सन्दर्भ में नीरज जी को बाबा जी ने लिखा :

श्रीयुत महाशय नीरज जी,

योग्यदर्शनविशुद्धिः।

पत्र आया, समाचार जाने। आप जानते हैं, मैं किसी का हित करने में असमर्थ हूँ। आप लोकों की जो इच्छा हो सो करें किन्तु भाषा सरल और तर्क आगम के अनुकूल हों, ऐसा ही उत्तर मुद्रित करावें। विशेष क्या लिखें। मुझे तो यह विश्वास हो जो ऐसा महापुरुष इस समय नही है जो निर्व्याज पर का कल्याणकर्त्ता हो। आप लोकों के हम स्वामी नहीं अतः आपकी इच्छा में जो आवे सो करो।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

एक पत्र में नीरज जी ने अपनी कुछ निपट वैयक्तिक परेशानियों की सूचना पूज्य वर्णी जी को दी। इसी पत्र में उन्होंने महाराज से भी प्रार्थना की कि समय निकाल कर अपनी आत्मकथा 'मेरी जीवन गाथा' का दूसरा भाग शीघ्र पूरा करने की दया करें। उत्तर में महाराज ने लिखा :

श्रीयुत महाशय नीरज,

नीरज हो यही हमारी कामना है। जो काम करो, सन्तोष से करना। काल पाकर ही कार्य होता है। अणुमात्र भी व्यग्र न होना। उदयानुकूल सर्व होगा। प्राणियों के चरित्र तो सर्वदा ऐसे ही रहेंगे। किसी विशेष के विशेष हो जावें, यही प्रशस्त मार्ग है।

'जीवन गाथा' का प्रयत्न करेंगे। आप अपने से अपना काम कीजिये। अन्य तो अन्य ही हैं। सिद्धान्त नहीं बदलता, संसार ही बदलता है, इसको सही मानों। जगत् की चिन्ता दुःख की जननी है। मानों चाहे न मानों।

आपका शुभचिन्तक
गणेश वर्णी

जिस प्रकार महापुरुषों के प्रत्येक आचरण में महानता का दर्शन होता है उसी प्रकार पूज्य वर्णी जी के पत्रों में प्रत्येक पंक्ति से महानता, सदाशयता और अनुकम्पा टपकती है। उनके पत्रों को प्रकाशित करके यदि उनका विधिवत् वर्गीकरण किया जाय, तो मनुष्य में मानवता का विकास कराने वाली एक अच्छी उपदेश-माला तैयार की जा सकती है। आशा है यह बात वर्णी भक्तों की दृष्टि मे होगी। उनकी जन्म-शताब्दी पर मेरे शतशः प्रणाम।

❀

१२

"पूज्य वर्णी जी के सुभाषित"

लेखक : श्रीचन्द्र जैन, M.A,LL.B.

(१)

देवभाषा मधुर है, काव्य मधुरतर है, सुभाषित मधुरतम।

—अज्ञात

(२)

हर सुभाषित मधु मक्षिकाओं की तरह होना चाहिए। जिसमें डंक हो, शहद हो और जिसका छोटा-सा शरीर हो।

—मार्ट

(३)

जीवन को देखने की शक्ति दुर्लभ है, उससे सबक लेना दुर्लभतर है, और उस सबक को नुकीले वाक्य में घनीभूत कर देना दुर्लभतम है।

—जॉन मौर्ले

(४)

प्राचीन ज्ञानियों ने अपना अधिकांश आध्यात्मिक ज्ञान सुभाषितों की हल की नौकाओं द्वारा काल-धारा में प्रवाहित कर दिया है।

—व्हिपिल

(ज्ञानगंगा पृष्ठ ७३०)

आदर्शवाद के धरातल पर पल्लवित ये सुभाषित गहन अनुभव से परिपुष्ट होकर जन-जन के हितकारी बनते हैं। विपत्तियों के उपस्थित हो जाने पर जब मानव किंकर्त्तव्यविमूढ़ होता है। तब ये ही सुभाषित उसे नव-चेतना प्रदान करते हैं एवं उसके सामने एक ऐसा मनोरम मार्ग स्थापित कर देते हैं जिस पर चलकर वह अपने लक्ष्य को भलीभाँति पहचान लेता है। वस्तुतः सुभाषित, अनुभवी सज्जनों की उपदेशात्मक चिन्तन की साकार प्रतिमूर्ति हैं।

परमपूज्य वर्णी जी की वाणी स्वयं सुभाषितों की एक गरिमामयी सृजनपरता है, जिनमें जीवन के अनुभवों का वैविध्य है, विश्व-कल्याण की सुनिश्चित भावना निहित है, मानवता के प्रति अगाध स्नेह है, विरक्ति के लिए सतत साधना का प्रयास है एवं कल्पित अन्धविश्वासों के प्रति अनास्थामूलक विद्रोह है। जीवन का कोई भी ऐसा तथ्य पूज्य वर्णी जी के ज्ञान-नेत्रों से ओझल नहीं हो सका है, जिसे सन्तों ने न जाना हो। व्यापकता, गहनता, आत्म-शोधन, निज-परीक्षण, अनेकान्तवाद, आत्म-शक्ति, दृढ़ निश्चय, सिद्धान्त-निष्ठा, एकाग्रता, धर्म का महत्त्व, पाप-पुण्य की व्याख्या, ज्ञान-महिमा, भक्ति रहस्य, स्वाध्याय-महत्त्व, मानस निर्मलता, स्वोपकार-परोपकार, शान्ति, आत्म-विसर्जन आदि सैकड़ों ऐसे तत्त्व हैं जो पूज्य वर्णी जी के सुभाषितों में गुम्फित है। इन सीमित पृष्ठों में कतिपय सिद्धान्त-मूलक सुभाषितों को ही यहाँ उद्धृत किया जाता है।

(१)

संसार में हम लोग जो आज तक भ्रमण कर रहे हैं, उसका मूल कारण यह है कि हमने अपनी रक्षा नहीं की और निरन्तर परपदार्थों के ममत्व में अपनी आत्मशक्ति भूल गये।

(२)

आत्मा का गुरु आत्मा ही है और आत्मा ही उसका शत्रु है।

(३)

आत्मा में अचिन्त्य शक्ति है, परन्तु कर्मावृत्त होने से ढकी है। इसके लिए भेद-ज्ञान की आवश्यकता है और भेदज्ञान के लिए महती आवश्यकता आगमाभ्यास की है। जितना समय संसारी कामों में लगाते हो उसका दशांश भी यदि आगमाभ्यास मे लगावो तो अनायास ही भेदज्ञान हो सकता है।

(४)

अन्तरंग की निर्मलता का कारण आत्मा स्वयं है। अन्य निमित्त कारण हैं। किसी के परिणाम किसी के द्वारा निर्मल हो जावें, यह नियम नहीं। हाँ, वह जीव पुरुषार्थ करे और काललब्धि आदि कारण सामग्री का सद्भाव हो तो निर्मल परिणाम होने मे बाधा नही। परंतु उसी का ऊहापोह करे और उद्यम न करे तो कार्य सिद्ध होना दुर्लभ है। कल्याण का कारण अन्तरंग की निर्मलता है न कि घर छोड़ना और मौन ले लेना।

(६)

संसार मोहरूप है, इसमें ममता न करो। कुटुम्ब की रक्षा करो परन्तु उसमें आसक्त न होओ। जल में कमल की तरह भिन्न रहो, यही गृहस्थ को श्रेयस्कर है।

(७)

जब तक आकुलता-विहीन अनुभव न हो तब तक शान्ति नही। अतः इन बाह्य आलंबनों को छोड़कर स्वावलंबन द्वारा रागादिकों की क्षीणता करने का उपाय करना ही अपना ध्येय बनाओ और एकान्त में बैठकर उसी का मनन करो।

(८)

संसार का मूलकारण राग द्वेष है। इस पर जिसने विजय प्राप्त कर ली उसके लिए शेष क्या रह गया है?

(९)

परिग्रह अनर्थों का प्रधान उत्पादक है, यह किसी से छिपा नहीं स्वयं अनुभूत है। उदाहरण की आवश्यकता नही, आवश्यकता उससे विरक्त होने की है।

(१०)

मेरा तो शास्त्रों के द्वारा यह विश्वास हो गया है कि संसार में अनर्थों और अत्याचारों की जड़ परिग्रह ही है। जहाँ यह इकट्ठा हुआ वहीं झगड़ा होता है। जिन मठों में द्रव्य है वहाँ पर सर्वप्रकार का कलह है।

(११)

संयोग और वियोग में सुख-दुःख का कारण ममत्व-भाव है। ममत्व-भाव से ही परसंयोग में सुख और वियोग में दुःख होता है और कहीं पर जिस पदार्थ से हमारा अनिष्ट होता है उसमें हमारी ममत्व-बुद्धि न होकर द्वेष-बुद्धि होती है। अतः अनिष्ट पदार्थ के संयोग में दुःख और वियोग में सुख होता है। वास्तव में ये दोनों कल्पनाएँ अनात्मधर्म होने से अनुपादेय ही हैं।

(१२)

हम लोग केवल शास्त्रीय परिभाषाओं से त्याग करने के व्यसनी है। जब तक आत्मगत विकारों से त्याग नहीं होता तब तक त्याग, त्याग नही कहला सकता।

(१३)

जीवों की रक्षा करना ही धर्म है। जहाँ जीवघात में धर्म माना जावे वहाँ जितनी भी बाह्य क्रिया है, सब विफल हैं। धर्म तो वह पदार्थ है जिसके द्वारा यह प्राणी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। जहाँ प्राणी का घात धर्म बताया जावे उनके दया का अभाव है, जहाँ दया का अभाव है वहाँ धर्म का अंश नही, जहाँ धर्म नही वहाँ संसार से मुक्ति नही।

(१४)

जिसका आचरण आगम-विरुद्ध है वह बाह्य में कितना ही कठिन तपश्चरण क्यों न करे मोक्ष-मार्ग का साधक नहीं हो सकता।

(१५)

जिसकी प्रवृत्ति हर्ष और विषाद से परे है वही मुक्ति का पात्र है।

(१६)

ज्ञानी वही है जो उपद्रवों से चलायमान न हो। स्यालिनी ने सुकुमाल स्वामी का उदर विदारण करके अपने क्रोध की पराकाष्ठा का परिचय दिया किन्तु सुकुमाल स्वामी उस भयंकर उपसर्ग से विचलित न होकर उपशम-श्रेणी द्वारा सर्वार्थसिद्धि विमान के पात्र हुए। अतः मैं उसी को सम्यग्ज्ञानी मानता हूँ जिसके मान अपमान से कोई हर्ष-विषाद नहीं होता।

(१७)

पर्याय की सफलता संयम से है। मनुष्य भव में देव पर्याय से भी उत्तमता इसी संयम की मुख्यता से है।

(१८)

उपयोग की स्थिरता में स्वाध्याय मुख्य हेतु है। इसी से इसका अन्तरङ्ग तप में समावेश किया गया है। तथा संवर निर्जरा में कारण है। अतएव श्रेणी में अल्प से अल्प आठ प्रवचन मातृका ज्ञान परमावश्यक हैं। अवधि और मनः पर्ययसे भी श्रुतज्ञान महोपकारी है। यथार्थ पदार्थ की अवगति इसके ही बल से होती है। अतः सब उपायों से इसकी वृद्धि करना यही मोक्ष का प्रथम सोपान है।

(१९)

जिस तरह व्यापार का प्रयोजन आर्थिकलाभ है उसी तरह स्वाध्याय का प्रयोजन शान्तिलाभ है।

(२०)

वंदना (तीर्थयात्रा) का अर्थ अंतरङ्ग निर्मलता है। जहाँ परिणामों में संक्लेशता हो जावे वहाँ यात्रा का तात्त्विक लाभ नहीं।

(२१)

जो वस्तु भाग्य में नहीं होती वह थाली में आने पर भी चली जाती है और जो भाग्य में होती है वह द्वीपान्तर से भी आ जाती है। अतः मनुष्य को उचित है कि सुख-दुख में समताभाव धारण करे।

[ये सुभाषित वर्णी-वाणी (संकलयिता. वि. नरेन्द्र जैन) से लिये गए हैं, अतः लेखक विद्यार्थी जैन के प्रति कृतज्ञ है।]

इन सुभाषितों में भाषा के सौन्दर्य के साथ शैली में प्रांजलता है, तथा प्रचलित और लोक-प्रिय उदाहरणों से कथ्य को सुगम, सर्वग्राह्य और प्रभावोत्पादक बनाया गया है। "मेरी जीवन गाथा" में भी पूज्य वर्णी जी ने यथावसर अनेक तात्त्विक सिद्धान्तों को निरूपित किया है और मार्मिक प्रसंगों को अधिक प्रभावक बनाने के लिए जो उदाहरण दिये गए हैं उनकी रोचकता सर्वत्र दृष्टव्य है।

❀

भगवन्! तुम अचिन्त्यशक्ति के स्वत्व में क्यों दर दर के भिक्षुक बन रहे हो? भगवान् से तात्पर्य स्वात्मा से है। यदि तुम अपने को सँभालो तो फिर जगत् को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं।

—गणेश वर्णी

१३

वर्णीजी और जैनधर्म

सन्त विनोबाजी भावे

एक ऐसे महापुरुषकी जयन्ती मनानेके लिए हम एकत्रित हुए हैं। जिन्होंने समाज सेवाका कार्य किया है। भूदानयज्ञके सिलसिलेमें मैं ललितपुरमें वर्णीजीसे मिला था। भूदानयज्ञकी सफलताके लिए सहानुभूति प्रगट करते हुए उन्होंने कहा था कि ऐसे महासन्तको छोटेसे कार्यके लिए घूमना पड़े यह दुःखकी बात है। वर्णीजीने जो कार्य किया है वह बहुत अच्छा है। वे ज्ञान-प्रचार चाहते थे। जनतामें ज्ञानप्रचार हो जाने पर अन्य अच्छी बातें स्वयं ही आजाती हैं। मूलसिञ्चन करने से पानी शाखाओं तक स्वयं ही पहुँच जाता है। वर्णी जी स्वयं जैन नहीं थे पर जैन होकर जैन समाजका ही हित नहीं किया जैनेतरों का भी हित किया है।

जैनधर्म प्राचीन धर्म है। इसका वैदिकधर्म के साथ अच्छा सम्बन्ध रहा है, किन्तु बीचमें कसमकस व मन्थन भी चलता रहा। दोनोंने रुख बदला एवं दूधमें शक्करके समान घुलकर काम किया। नतीजा यह हुआ कि जैन-धर्म आज भी है। इसके विपरीत बौद्धधर्म हिन्दुस्थान ही नहीं दुनियां में फैला, किन्तु प्रत्यक्षरूपसे यह यहां नहीं है। जैन चुपचाप कार्य कर रहे हैं। उनकी कार्यशैलीमे विरोध नही है। लोग महावीर जीमे कई सवाल पूँछते थे। ब्राह्मणोंके प्रश्नोंका जवाब वे उपनिषदों जैसा देते थे। उनका ध्येय पन्थविशेषका प्रचार नहीं था। आत्माका उद्धार मुख्य उद्देश था। अतः आग्रह बिना उन्नतिका कार्य जैनोंने किया। बौद्धधर्मकी खुशबू आज भी चीन और जापानसे कहीं अधिक हिन्दुस्थानके अन्तस्थलमें है। उनकी भूतदया और अहिंसा आदि हिन्दुओंने भी मानी। यह वैदिकधर्ममें भी है। राजसत्ता द्वारा धर्म फैलनेकी बजाय वह मिटता है। ईसाइयोंने राजसत्ता द्वारा धर्म फैलाने का प्रयास किया तो झगड़े हुए। हिन्दुओं को राजसत्तासे धर्म फैलानेमें लाभ न हुआ। जैन भी राजा थे। शासनने धर्मके लिए मदद पहुँचायी, इसलिए संघर्ष पैदा हुआ। इस्लाम इसका उदाहरण है। बड़ी जमात होना धर्म-प्रचारका लक्षण नहीं। सत्यका प्रचार सत्ता से नहीं होता। धर्म और सत्ताका मिश्रण ठीक नहीं। दोनोंमेंसे या धर्म-नष्ट होगा या सत्ता नष्ट होगी।

जैन बुद्धिवादी हैं। जैनोंने इतना साहित्य लिखा है कि शायद ही इतनी छोटी जमात इतना साहित्य लिख सके। प्रत्येक शाखामें हजारों ग्रन्थोंकी रचना की। बहुत सी सारी भाषाओंमें जैनाचार्योंने ग्रन्थरचना की है। अपभ्रंश, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओंमें इनका साहित्य भरा पड़ा है। मूलभाषाओंके श्रोतमें विशेषतया जैनोंका हाथ रहा है, जैनोंने तालीम देना अपना कर्तव्य माना। जब बालक मूलाक्षर क ख ग सीखने जाता है तब 'श्री गणेशाय नमः' विद्यार्थीकी तरफसे बोला जाता है। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' जैन गुरुओंका मूल मन्त्र है। जैन गुरुओंसे हिन्दू भी पाठ पढ़ने जाते थे, किन्तु वे अपने धर्मका भार किसीके ऊपर नहीं लादते थे। उनका कहना था कि विद्या-प्रचारसे सब कुछ हो जाता है। वे ज्ञान देकर ही सन्तुष्ट रहते थे। वर्णीजीने भी यही किया।

एक जमाना था जब जैन, बौद्ध, हिन्दू तीनों मिलकर एक ही घरमें रहते थे।..........

जैन माध्यस्थ्य दृष्टिसे काम करते हैं। अहिंसाके सिवाय माध्यस्थ्य दृष्टि रखते हुए मेलजोलसे रहना विचार-भेद होते हुए भी एक दूसरेकी कद्र करना जैनोंकी चीज है। इस माध्यस्थ्यदृष्टिने संसारको बड़ी भारी सीख दी है। तर्क और न्यायशास्त्र रचकर उसे पक्की बना दी। तत्त्वज्ञान न देते तो न टिकती, क्योंकि भारतीय तत्त्वज्ञानी आत्म-क्षेतमें बुनयादी शोध करते थे। साम्यवादी भी समदृष्टि को बल देते हैं। "शास्त्रं ज्ञापकं, न कारकम्" के अनुसार शास्त्र मार्गसूचक यन्त्रकी तरह स्थिति बता देते हैं। अमलमें लाने पर ही उनका ज्ञान होता है। वर्णीजीने इसी श्रद्धासे काम फैलाया। जैनी और अन्यों को भी प्रेरणा दी। उनकी जयन्तीका लाभ उठाते हुए आत्माका लाभ करें। नाम और जाति तो बन्धन हैं। महापुरुष चाहते नहीं। जयन्ती मनाने का प्रयोजन अच्छे कामों का अनुकरण करना है।*

✻

संसार से उद्धार करने के अर्थ तो रागादि-निवृत्ति होनी चाहिये परन्तु हमारा लक्ष्य उस पवित्र मार्ग की ओर नहीं जाता। केवल जिससे रागादि पुष्ट हों उसी ओर अग्रसर होता है। अनादिकाल से परपदार्थों को अपना मान रखा है उसी ओर दृष्टि जाती है—कल्याण-मार्ग से विमुख रहते हैं।

—गणेश वर्णी

* ७९ वीं वर्णीजयन्ती सप्ताहके उद्घाटनके समय ता० ३ सितम्बर सन् १९५२, अनन्तचतुर्दशी को श्री स्याद्वाद जैन विद्यालय वाराणसी में किया गया प्रवचन।

१४

सागर विद्यालय के संस्थापक और सहकारी

पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

इस विद्यालयकी स्थापना अक्षयतृतीयाके मङ्गलमय मुहूर्तमें हुई थी इसलिए इसकी प्रगति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। पूज्य क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी इसके संस्थापक और अधिष्ठाता थे। इनका स्थायी निवास सागर ही रहा और जब तक सागर रहे तब तक छात्रोंके संपर्कमें अवश्य रहे। आपकी आत्मा आकाशकी तरह निर्लेप और समुज्ज्वल थी अतः आपके संपर्कमें रहने वाले छात्र भी लौकिक वातावरण से हटकर निरन्तर अध्ययनमें ही रत रहे हैं। आसपास जैनियोंकी घनी बस्ती होनेके कारण इस विद्यालय-में कभी छात्रोंकी कमी नही रही। यह दूसरी बात है कि विद्यालय पुष्कल साधनोंके अभावमें बहुसंख्यक छात्रोंको प्रवेश देनेमें असमर्थ रहा।

छोटा सा अंकुर—

सागर न शहर है न देहात। यहाँका वातावरण श्रद्धा एवं शान्तिसे ओत-प्रोत रहा है। उसपर पवित्रहृदय पूज्य वर्णीजीका सन्निधान प्राप्त था, इसलिए लोगोंकी श्रद्धा और शान्तिमें निरन्तर वृद्धि ही होती रही। सन् १६०५ की प्रोसीडिंग बुक् हमारे सामने है, उसमें लिखा है कि सागर में एक ज्ञान-प्रकाशिनी सभाकी स्थापना कुछ उत्साही बन्धुओंने की थी। उत्साही बन्धु थे श्री नन्हूरामजी सराफ, बालचन्द्रजी अरजीनवीस, पूर्णचन्द्रजी बजाज, पं० दमरूलालजी और पन्नालालजी बड़कुर आदि। उस सभाके सभापति थे श्री नन्हूरामजी और मन्त्री थे श्री पन्नालालजी बड़कुर। यह सभा सात दिनमें एक बार बैठती थी और इसमें सभासद लोग निबन्ध-पाठ किया करते थे। इसी सभाको यह आवश्यकता अनुभवमें आई कि हमारे नगरमें एक पाठशाला खुलना चाहिये जिसमें हम लोग पूजापाठ तथा जैन शास्त्रोंका अध्ययन कर स्वाध्यायके योग्य बन सकें। फलस्वरूप इसी सभा द्वारा कुँवार शुक्ला १० सं. १६६२ दिनांक १-१०-१६०५ को एक स्थानीय पाठशालाकी स्थापना की गई। पाठशाला-का समय था प्रातः ६ बजे से ६ बजे तक और रातको ६ बजेसे ६ बजे तक। इस पाठशालामें अष्टमी और चतुर्दशीको प्रातःकालकी छुट्टी रहती थी। प्रथम अध्यापक श्री वसंतीलालजी थे जो कि १५) मासिक पर नियुक्त हुए थे। २) मासिक चपरासीको दिया जाता था। इस स्थापनाके पूर्व २४-६-१६०५ की सभामें ११७) का चन्दा हुआ था। ४२ स्थानीय छात्र इस पाठशालामें पंचमंगल, अभिषेक, विनयपाठ तथा पूजा आदि की शिक्षा ग्रहण करने लगे। शहर के पञ्च लोग बीच-बीचमें छात्रोंकी परीक्षा लेकर तथा पुरस्कार-वितरण कर उनका उत्साह बढ़ाते रहे। पाठशाला चलती रही। पं० वसंतीलालजीके बाद पं० दीपचन्द्रजी और उनके बाद पं० मूलचन्द्रजी बिलौआ इस पाठशाला में अध्यापन कराते रहे।

सन् १६०६ आया। ललितपुरमें विमानोत्सव था पूज्य वर्णीजी (जो कि उस समय अव्रती थे) उस विमानोत्सवमें पहुँचे। सागरकी ज्ञान-प्रकाशिनी सभाके सभासद भी उस विमानोत्सवमें पहुँचे थे। पूज्य वर्णीजी निरन्तर इस बातका अनुभव करते रहते थे कि यदि जिन-शासन-की सच्ची प्रभावना करना है तो लोगोंका अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये। केवल रथ, प्रतिष्ठा, जलयात्रा या विमानोत्सवसे स्थायी प्रभावना नहीं हो सकती। अब तक

वर्णीजी बनारसमें स्याद्वाद विद्यालयको स्थापना कर चुके थे और स्वयं उच्चकोटिका अध्ययन करनेके लिए अपने साथ सहदेवझा जीको रक्खे हुए थे। वे भी उस विमानोत्सवमें वर्णीजीके साथ थे।

वर्णीजीने सागर के उत्साही युवकोंसे सागरका समाचार और पढ़ने-लिखनेकी बात पूछी—युवकोंने अपनी ज्ञान-प्रकाशिनी-सभा और उसके अवधानमें चलने वाली पाठशालाका परिचय दिया। उतनेसे उन्हें संतोष नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि भाई आप लोगोंके पास साधन हैं इसलिए आपने अपने बच्चोंकी पढ़ाईकी व्यवस्था कर ली पर देहातोंमें हजारों गृहस्थ इस अवस्थामें रहते हैं कि वे अपनी संतानकी शिक्षाकी व्यवस्था स्वयं नही कर सकते। अच्छा हो कि आप लोग ऐसी पाठशाला खोलें जिसमें बाहरके छात्र भी रह सकें। उनके भोजन आदि की व्यवस्था आप लोगोंको करनी होगी। लोग साधारण स्थितिके थे अतः निश्चयात्मक उत्तर तत्काल नहीं दे सके। बोले कि सागर जाकर आपको लिखेंगे। युवक विमानोत्सवसे सागर आये और यहाँके अन्य लोगोंसे विचारविमर्श कर वर्णीजीको उत्तर दिया गया कि आप आइये। यहाँ आपकी इच्छानुसार पाठशाला खुल जायगी।

वर्णीजी सागर आकर रहने लगे। उनके साथ पं० सहदेव झा भी थे, जिनसे वे न्यायका अध्ययन करते थे। वर्णीजीका संनिकर्ष पाकर ज्ञानप्रकाशिनी सभाके सभासदों का उत्साह दिन-दूना बढ़ने लगा। सभाके अधिवेशनोंमें वर्णीजी सम्मिलित होने लगे। इनके वैदुष्यसे प्रभावित होकर लोगोंने इन्हें १०-४-१९०९ की सभा में अपनी सभाका अध्यक्ष बना लिया। उस सभाकी कार्यवाही रजिस्टरमें पूज्यवर्णीजीके हस्ताक्षर हैं। (हस्ताक्षराणि गणेशप्रसादस्य)।

निश्चयानुसार वैशाख सुदी ३ वीरनिर्वाण सं० २४३५ दिनांक १-५-१९०९ को छात्रावासके साथ पाठशालाकी स्थापना हुई। पं० सहदेवझा ने पाठशालाका नाम रक्खा श्री सत्तर्कसुधातरङ्गिणी दि० जैन पाठशाला। पाठशालाके खर्चके लिए स्थानीय समाजसे चन्दा किया गया। पाठशालाके प्रथम अध्यापक श्री पं० क्षमाधरजी शास्त्री नियुक्त हुए और प्रथम सुपरिन्टेन्डेन्ट श्री पं० मूलचन्द्रजी बिलौआ। मंत्री बने श्रीपूर्णचन्द्रजी बजाज और अध्यक्ष हुए श्री पं० गणेशप्रसादजी वर्णी। चन्दामें दृढ़ता लानेके लिए दिनांक १८-५-१९०९ को श्री बुधू व्याके मन्दिरमें श्री सिं. कारेलालजी (जैनजातिभूषण दानवीर सिं. कुन्दनलालजीके पिता) की अध्यक्षतामें एक सभा हुई जिसमें वर्णीजीने मंगलाचरण किया। मोतीलालजी (वर्णी) जतारा और श्री पं० पन्नालालजी बाकलीवाल (जो कि विशेष कारणसे सागर पधारे थे) का व्याख्यान हुआ। अनन्तर वर्णीजीका भी मार्मिक भाषण हुआ। चन्दाकी बात चलनेपर श्री सिं. कारेलालजीने ६०), मोदी धर्मचन्द्रजीने १२०), सिं. मोहनलालजी बजाजने ३६), मलैया प्यारेलाल मूलचन्द्रने ६०) सिं. मौजीलालजीने २०), सिं. बालचन्द्रजी अरजीनवीस (जो कि महामंत्री थे) ने ३०), और छोटेलालजी कठरयाने ६) वार्षिक चन्दा देना शुरू किया था।

यह वर्णीजी की ही कार्य-कुशलताका फल था कि इतनी थोड़ी-सी रकमसे ही उन्होंने कार्य शुरू किया और आज उसे इस रूपमें लाकर रख दिया। सिंघई शिवप्रसादजीके मकानमें पाठशालाका मुहूर्त हुआ था। सर्व प्रथम श्री पं० मुन्नालालजी राँधेलीय, जो कि पाटनके रहनेवाले थे और परिस्थितिवश सागर आकर रहने लगे थे पाठशालामें प्रविष्ट हुए। श्री शिवप्रसादजीके मकानमें पाठशाला तीन माह ही रही। फिर संकीर्णताके कारण वहाँसे चलकर तारण-तरण चैत्यालयके मकानमें, जोकि पीलीकोठीके नामसे मशहूर था, रही। वहाँसे चलकर स्व० सिं, ढाँकनलालजीके मकानमें रही और वहाँसे चलकर मोराजी भवन में रही।

प्रमुख सहायक—

हम यह पहले लिख आये हैं कि सागर न शहर है न देहात। इसलिए अन्य शहरोंकी अपेक्षा यहाँ रहन-सहनका खर्च कम आता था। थोड़े ही खर्चमें ३० विद्यार्थी २ अध्यापक और एक सुपरिन्टेन्डेन्ट रह जाते थे। चन्दासे येन केन प्रकारेण काम चलता था। यहाँकी जनता अत्यन्त श्रद्धालु तथा धर्मप्रेमी है इसलिए उसका पूर्ण सहयोग

पाठशालाको अयाचित मिलता रहा। मैं यहाँ कुछ ऐसे लोगोंका परिचय देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि जिनके सक्रिय सहयोगसे यह संस्था फली-फूली है।

पूज्य वर्णीजी—प्रथम तो पूज्य वर्णीजीका ही सक्रिय और बहुमूल्य तथा दीर्घकालीन सहयोग इस संस्थाको निरन्तर मिला है। वे तो वरदानरूप होकर सागर आये। उनके आश्रयसे सागरने प्रसिद्धि पाई और यहाँकी संस्थाएँ तथा अनेक गृहस्थोंके घर फले फूले। उनके विषयमें कुछ न लिखना महती अकृतज्ञता होगी। विक्रम संवत् १९३१ (१८७४ ई०) में झाँसी मण्डलान्तर्गत मड़ावरा परगनेके हँसेरा ग्राम-निवासी श्री हीरालालजी असाटी की धर्मपत्नी उजियारीकी कूखसे आपका जन्म हुआ था। पिताकी आर्थिक स्थिति साधारण ही थी अतः वे आपको ६ वर्षका लेकर ही मड़ावरा आकर बस गये थे। वहाँ शिक्षाके न अधिक साधन थे और न अनुकूल सुविधा थी। इसलिए येन केन प्रकारेण हिन्दी की मिडिल पास कर आप हिन्दी स्कूलमें अध्यापकी करने लगे।

वर्णी जी की विवेक-शक्ति जन्मसे ही आपका साथ दे रही थी। मड़ावरामें आपके घरके सामने जो जैनमन्दिर था उसमें होने वाली पद्मपुराणकी वचनिका और गान-तानके साथ होने वाली जिनेन्द्रार्चनेि आपका मन फेर दिया। जैनधर्मको ओर आपकी अभिरुचि बढ़ती गई। इतनी बढ़ी कि उसने कुछ समय बाद ही आपको दृढ़श्रद्धानी जैनी बना दिया। अपनी अज्ञान-दशाको दूर करनेके लिए आप निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। यही कारण था कि आप सिमरानिवासी पूज्य चिरोंजाबाईजी सिंघैन की मातृममता पाकर घर से निकल पड़े और अनेकों स्थानोंमें घूमकर विद्यार्जन करने लगे। जयपुर, खुर्जा, बम्बई, मोरेना, नदिया, बनारस आदि अनेकों स्थानोंमें घूमकर आपने संस्कृत विद्याका अध्ययन किया। संस्कृत - विद्याके केन्द्रस्थान बनारस में जैन विद्याका आयतन न होना आपको बहुत अधिक खटका, जिसके कारण आपने अपने प्रयत्नसे स्याद्वाद विद्यालयकी स्थापना कराई। उसके बाद सागर, द्रोणगिरि, पपौरा, शाहपुर आदि अनेकों स्थानों पर अपने विद्याके आयतन स्थापित किये।

वर्णीजी का कहना था कि जबतक लोगोंके हृदय का अज्ञान दूर नहीं किया जायगा तबतक जैनधर्म की सच्ची प्रभावना नहीं हो सकती। आपका हृदय बहुत ही दयालु था, दुखी मनुष्यको देखकर तो आपका हृदय मोमकी तरह गलकर पानी हो जाता था। दुखीका दुःख दूर करनेके लिए आप अपने पासकी कीमती-से-कीमती वस्तुका भी मोह नहीं करते थे। इस समय जैन समाजमें जो शिक्षाविषयिक जागरण दिखाई देता है उसके मूल कारण आप ही थे। आपकी ही शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा सर्वत्र फैली हुई है। वर्तमान जैन समाजमें जो विद्वान् हैं उनमें अधिकांश आपके शिष्य अथवा शिष्योंके शिष्य हैं। जन्म - शताब्दी की मङ्गल वेलामें आपका स्मरण सुख और शान्तिका प्रदायक है। संस्कृत शिक्षाका नाम सुनते ही आपका रोम-रोम हर्षित हो उठता था। छोटेको बड़ा कैसे बनाना, गिरेको ऊपर कैसे उठाना यह आप खूब जानते थे। सन् १९२७ की बात है बनारस की प्रथम परीक्षा मैं पास कर चुका था। संस्कृत-कविता लिखनेका शौक उत्पन्न हुआ और गलती-सलती रचना करने लगा। एक बार एक दरख्वास्त लिखना थी। मैंने कुछ श्लोक संस्कृतमें लिखकर पूज्य वर्णीजीको दिये। उनमें कितनी गलतियाँ थीं, यह शब्दोंमें नहीं कहा जा सकता। २-४ साल बाद उन श्लोकोंकी एक कापी मेरे देखनेमें आई तो मुझे अपनी मूर्खता पर बड़ी हँसी आई, पर वर्णीजी उन श्लोकोंसे प्रसन्नही हुए किन्तु मुझे ५) पांच रुपये नकद इनाम दे गये। मैंने उन रुपयोंसे तत्त्वबोधनी (सिद्धान्तकौमुदी टीका) खरीद ली। मेरा उत्साह बढ़ गया और कुछ लिखना सीख गया। आज कोई छात्र जब मेरे सामने कविता बनाकर लाता है तो मैं उसमें दशों गलतियाँ निकालकर उसका उत्साह भंग कर देता हूँ, पर जब पूज्य वर्णीजीके विवेक की ओर दृष्टि जाती है तब हृदय कह उठता है कि इस युगमें ऐसा जन-निर्माता पुरुष दूसरा तो नहीं देखा।

श्री हंसराज कण्डया—संस्था का दूसरा आश्रयदाता

है हंसराज कण्डया सागरका वंश। श्री हंसराजजी कण्डया, नन्हूरामजी कण्डया, करोड़ीमल्लजी कण्डया और बाबूलालजी कण्डया, ये इस वंशके प्रमुख व्यक्ति हैं। यद्यपि इन सबका जन्म उस तारणसमाजमें हुआ है जिसमें केवल शास्त्रको पूजते हैं, मूर्तिपूजाकी ओर जिसका आकर्षण नहीं। परन्तु इस वंशके सब लोग पूर्वभवका संस्कार समझिये कि जिनेन्द्रदेव की पूजा किये बिना भोजन नहीं करते। सर्राफीका काम इनके यहाँ होता है। अच्छी सम्पत्ति इनके पास रही। श्रीहंसराजजी कण्डयाके केवल एक पुत्री थी और सम्पत्ति अच्छी थी। जब आपका देहान्त हुआ तब आप संस्थाके लिए दस हजार रुपये एकमुश्त प्रदान कर गये। इस तरह ध्रौव्यफण्डके नामपर इन्हींकी रकमसे प्रारम्भ हुआ। नन्हूरामजी कण्डया भी बड़े धर्मप्रेमी और विद्यानुरागी रहे। पूज्यवर्णीजीका गृहखर्च, आप अकेले ही वर्षों तक उठाते रहे। आपका अब देहान्त हो चुका है। श्री करोड़ीमल्लजी कण्डया वर्षों तक इस संस्थाके मन्त्री रहे। मोराजीके विशाल प्राङ्गणमें जब पाठशाला आई तब आपने बड़े परिश्रमसे यहाँ ६० विद्यार्थियोंके रहने योग्य मकान बनवाया था। आप बहुत ही गंभीर तथा सरल हैं।

सिंघई रतनलालजी—तृतीय आश्रयदाता हैं, श्रीमान सिंघई रतनलालजी। इनके छोटे भाईका नाम है सिंघई डालचन्द्रजी। जिनपूजाके प्रेमी और स्वाध्यायकी रुचिसे *ओत-प्रोत...यही दोनों भाइयोंकी विशेषता है।* इन्होंने श्री चौधरनबाईके मन्दिरके साथ अपना मन्दिर बनवाया था। जब सिंघई रतनलालजीका देहान्त होनेवाला था तब एक दिन पूर्व उन्होंने स्व० सिंघैन चिरोंजाबाईजी (पूज्य वर्णीजीकी धर्ममाता) को बुलाकर अपने उद्‌गार प्रकट किये और एकमुश्त ग्यारह हजार रुपये पाठशालाके ध्रौव्य कोषमें बिना माँगे प्रदान किये। सिं. डालचन्द्रजीकी रुचि भी पाठशालाकी ओर निरन्तर रहती है। आप वर्षों तक पाठशालाके कोषाध्यक्ष रहे हैं।

कमरया रज्जीलालजी—चतुर्थ आश्रयदाता हैं श्री कमरया रज्जीलालजी। इनके सर्वस्व दानका जब भी स्मरण आता है, हृदय आनन्दसे फूल उठता है। सिंघई डोंकनलालजीके जीर्ण-शीर्ण मकानमें विद्यार्थी रहते थे। मकानके कुछ कमरोंमें निरन्तर अंधेरा रहता था। बिज्जुओंका निवास था और आबहवा अत्यन्त कुन्द थी। छोटे-छोटे लड़के रातमें निरन्तर भयभीत रहते थे। पाठशालाके योग्य मकानकी चिन्ता वर्णीजीको निरन्तर सताती रहती थी। यद्यपि श्री बिहारी मोदीजीकी कृपासे मोराजीका विशाल मैदान पाठशालाको प्राप्त हो गया था पर उसमें मकान बनवानेके लिए पैसा कहाँ था? पाँच हजारकी लागतसे एक खपरैल मकान प्रारम्भमें बनाया गया था पर उससे न छात्रोंका निर्वाह था और न मैदान की शोभा ही थी। कमरया रज्जीलालजी स्वाध्यायशील और विवेकी पुरुष थे। उनके पास स्वयंके प्रयत्नसे अर्जित विशाल सम्पत्ति थी। सन्तानमें सिर्फ एक लड़की गुलाब बाई थी। उनकी इच्छा हुई कि गजरथ चलाऊं, पर जब कलक्टरने मेला भरानेकी जगहके २०००) माँगे तब उनका विवेक जागृत हुआ। उन्होंने वर्णीजीसे कहा कि मैं मोराजी में पाठशालाके लिए मकान बनवाना चाहता हूँ। कमेटीकी मंजूरी लेकर उन्होंने भोजनशाला और रहनेका विशाल भवन बनवा दिया। छात्रगण सुखसे रहने लगे। कुछ समय बाद आपने दूसरा भवन और चन्द्रप्रभ चैत्यालय बनवा दिया। भीतर सामनेकी ओर एक विशाल धर्मशाला भी अपने भतीजे सुक्केलाल पन्नालालजी कमरयाके नामसे बनवा दी। मैं उस समय पाठशालामें अध्ययन करता था इसलिए मैंने अपनी आँखसे देखा है कि स्व० कमरया रज्जीलालजीने जेठ मासकी कड़ी दुपहरियों में केवल एक छत्ताके आश्रय खड़े रहकर कितने परिश्रमसे इन विशाल भवनोंको बनवाया है। भवन भी इतने मजबूत बनवाये कि आज इतना लम्बा समय निकल जानेके बाद भी इनमें पुताईके सिवाय कभी मरम्मतकी आवश्यकता नहीं हुई। पूज्य वर्णीजीने अपनी जीवनगाथामें इन भवनोंके विषयमें निम्न पंक्तियाँ लिखी हैं।

'एक छोटी-सी पहाड़ीकी उपत्यकामें, सड़कके किनारे, चूनासे पुते हुए धवल उत्तुङ्ग भवन, जब चाँदनी रातमें चन्द्रमाकी उज्ज्वल किरणोंका संपर्क पाकर और भी अधिक सफेदी छोड़ने लगते हैं, तब ऐसा लगता है मानो यह

कमरया रज्जीलालजीकी अमर निर्मल कीर्तिका पिण्ड ही हो।'

आपने पठाका मन्दिर तथा गोपालगंज का मन्दिर जिनके साथ आपका कोई भी सम्बन्ध नहीं था सिर्फ धर्मानुराग-वश ठीक कराये और उनकी मरम्मतमें काफी द्रव्य खर्च किया। ढाँकनलाल सिंघईके मन्दिरमें भी आपकी एक उत्तम वेदी है जिसपर आप प्रतिदिन पूजा करते थे। जब आपका स्वर्गवास होने लगा तब १००००) दस हजार रु० पाठशालाको तथा ६०००)छह हजार अपने दोनों मन्दिरोंकी व्यवस्थाके लिए दे गये। छात्रोंके ऊपर हमेशा आप अनुग्रहपूर्ण दृष्टि रखते थे। कभी छात्रोंको कोट बनवाते थे तो कभी चद्दर प्रदान करते थे। इनके द्वारा बनवाये हुए मकानोंकी लागत आजके मँहगाई प्रधान युगमें दो लाखसे कम नही होगी। इन्हें समाजने एक बड़े भारी उत्सवमें 'दानवीर' पदसे अलंकृत किया था।

सिं. कुन्दनलालजी—इनके बाद पाठशालाके आश्रय-दाता श्रीमान् सिं. कुन्दनलालजी थे, इनके विषयमें क्या लिखूं ? बहुत ही दयालु प्रकृतिके व्यक्ति थे। जब इनके पिता कारेलालजीका देहान्त होने लगा तब आपने उनकी स्मृतिमें ४०००) चार हजार रुपये पाठशालाको एकमुश्त प्रदान किये। मोराजीके प्राङ्गणमें एक और विशाल सरस्वती भवन नेमिनाथ चैत्यालय तथा मानस्तम्भ भी बनवाया। बुधू व्याके मन्दिरमें भी आपने एक वेदी तथा विशाल सरस्वती-भवन बनवाया। आपके दो पुत्रियाँ हैं। आपने दि. जैन महिलाश्रम सागरके लिये २२०००) बाईस हजारका मकान खरीदकर समर्पित किया। जैन गुरुकुल, मलहरा और सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरिके लिए आपने बीस हजारका दान दिया। गरीब छात्र तथा अन्य अपाहिज व्यक्ति सदा आपसे सहायता पाते रहते थे। इन्हें समाजने 'जैनजातिभूषण' और 'दानवीर' के पदसे विभूषित किया था। आपने अंत में अपनी समस्त चल-सम्पत्तिका ट्रस्ट बनाकर उससे होने वाली आयका आठवाँ भाग हमेशाके लिए पाठशालाको प्रदान कर दिया है। ऐसे सहृदय व्यक्तिसे सागर-समाजकी शोभा थी। आप विद्यालयके सभापति पदपर आसीन थे। आपके मँझले भाई सिं. रज्जीलालजी और छोटे भाई भी नाथूरामजी पाठशाला पर कृपापूर्ण दृष्टि रखते थे। अब ये तीनों भाई नहीं हैं। अभी इनके वंशजों में सिं. जीवेन्द्रकुमार जागरूक और उदारमना सामाजिक कार्यकर्त्ता हैं।

चौधरी कन्हैयालालजी—इनके बाद पाठशालाके आधार श्री स्व० चौ० कन्हैयालालजी मनिकचौक वाले हैं। इन्होंने हमेशा आगे आकर यथाशक्य द्रव्य दिया है और सबसे बड़ा उत्साह प्रदान किया है। चलते कार्यमें मीन-मेष निकालकर कार्यकर्त्ताओंको उत्साहहीन करने वाले लोग ही आजकल अधिक देखे जाते हैं पर मैंने देखा और पुराने लोगोंसे सुना कि आपका उत्साह पाकर अकर्मण्य व्यक्तिके भी हाथ चलने लगते थे और पैर उसके आगे बढ़ने लगते थे। आप प्रारम्भसे पाठशालाके सभापति रहे। आपके सुपुत्र चौ० हुकुमचन्द्रजी भी पाठशाला पर सदा अनुग्रह रखते हैं।

मलैया-वंश—इस प्रकरणमें मलैया-वंशका नामोल्लेख न करना कृतघ्नता होगी। श्री प्यारेलालजी मलैया इस वंशमें बड़े कर्मठ व्यक्ति हो गये। आप जिस कार्यमें जुटते थे उसे पूरा करके ही छोड़ते थे। श्री शिवप्रसादजी, शोभा-रामजी और बालचन्द्रजी मलैया भी इसी वंशके अलंकार हैं। इनके विषयमें क्या लिखूं ? ये तीनों ही भाई इतने अध्यवसायी, शिक्षा-प्रेमी और विवेकी मानव हैं कि इनके निमित्तसे बुन्देलखण्डका मस्तक ऊँचा उठ गया। जब वर्णीजी ईसरीसे लौटकर सागर आये थे तब इन्होंने पाठशालाके लिए ग्यारह हजार देकर वर्णीजीकी माला नीलाममें ली थी और जैन हाईस्कूलकी बिल्डिंग बनवानेके लिए ४००००) चालीस हजार रु० दिये थे। बालचन्द्रजी मलैया जैनगुरुकुल मलहरा और श्री सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरि जीके मन्त्री हैं। वहाँ भी इन्होंने लगभग तीस चालीस हजार रुपया लगाकर वहाँकी काया-पलट कर दी है। आप अनेक निर्धन छात्रोंको छात्रवृत्ति वितरण करते हैं। समाजने इन्हें दानवीरके पद से विभूषित किया।

पूर्णचन्द्र बजाज—श्री पूर्णचन्द्रजी बजाजकी सेवाएँ पाठशालाको समुन्नत बनानेमें सदा गणनीय रहेंगी। आप बहुत ही गम्भीर और विचारक व्यक्ति थे। आप लगातार ३० वर्षतक पाठशालाके मन्त्री रहे हैं। मैंने नहीं देखा कि

आपको कभी रोष आया हो। रोषके कारणोंको आप बड़ी सुन्दरताके साथ समाप्त कर देते थे। मैं पाठशालामें पढ़ता था और आप मंत्री थे। प्रातःकाल जब मैं घूमने जाता था तब आप लौटते हुए मिला करते थे। मैं आपसे **जयजिनेन्द्र** किया करता था। बीना बारहामें परवार सभाका अधिवेशन हुआ उसमें विधवा-विवाहकी चर्चा हुई। समर्थकोंमें पं० दरबारीलालजी (इस समय स्वामी सत्यभक्त) भी थे जो रिश्तेदार होनेके कारण आपके यहाँ ठहरे थे। उनके साथ आप उठते बैठते थे इस कारण मुझे भ्रम हो गया कि पूर्णचन्द्रजी तो विधवा-विवाहके समर्थक हैं इसलिए इनसे **जयजिनेन्द्र** नहीं करना चाहिये। प्रातःकाल जब वे मिले तो मैं सड़कके दूसरे किनारेसे चुपचाप आगे बढ़ जाऊँ। कुछ छात्र हमारे साथ रहते थे। तीन दिनतक यह क्रिया चलती रही। चौथे दिन आपने दूरसे देखा और जिस ओरसे मैं जा रहा था वहींसे आप एकदम पास आकर हाथ जोड़कर बोले जयजिनेन्द्र देवकी, और आगे बढ़ गये। मैं स्तब्ध रह गया और अपनी गलती समझ गया। विचारभेदके कारण 'शिष्टाचारमें परिवर्तन होना यह बुद्धिमानी नहीं है—यह बात मेरी दृष्टिमें तत्काल आ गई। दूसरे दिनसे फिर वह गलती नहीं हुई। मेरी निरन्तर आपमें श्रद्धा रही है। आपके पुत्र कस्तूरचन्द्रजी सराफ भी विवेकी मानव हैं। आपने अपने पिताजीकी स्मृतिमें पच्चीस हजारका दान निकालकर छात्रवृत्ति फण्ड चालू किया है उसके व्याजमेंसे आप प्रतिवर्ष अनेक असहाय छात्रोंको छात्रवृत्तियाँ देते हैं।

सिं० मौजीलाल—श्रीमान् स्व० सिं० मौजीलालजी बड़े ही विवेकी और तत्त्वज्ञानी व्यक्ति थे। आपने पूज्य वर्णीजीके संपर्कसे जो तत्त्वज्ञान प्राप्त किया था उसके अनुरूप आपने चारित्र भी धारण किया था। आप हमेशा वर्णीजीके साथ रहकर संस्थाके कार्योंमें सहायता करते रहे। संस्थाकी भोजनशालामें जितना नमक खर्च होता है वह सब आपकी ओरसे मिलता रहा और यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि आपके पुत्रोंके द्वारा भी पूरा नमक अभी तक मिलता जा रहा है। संस्थासे पढ़कर निकलनेवाले प्रत्येक छात्रने आपका नमक खाया है।

सेठ भगवानदास—वर्तमानमें समाज-भूषण श्रीमान् सेठ भगवानदास शोभालालजी बीड़ीवाले भी पाठशालाकी सदा चिन्ता रखते हैं। आप बहुत ही सहृदय व्यक्ति हैं। कोई भी गरीब मनुष्य आपके द्वारसे खाली हाथ नहीं जाता। हजारों रुपये का कपड़ा आप संक्रान्तिके समय गरीबोंको बाँट देते हैं। आपने निसईजीमें बहुत बड़ी धर्मशाला बनवाई है। इस संस्थाको भी अच्छी सहायता दी है और सदा देते रहते हैं।

स्वर्गीय मल्थूराम रसोइया—इस प्रकरणमें स्व० श्री मल्थूरामजी रसोइयाका नाम भी उल्लेखनीय है। मैं वर्णीजीके मुखसे सदा उसकी प्रशंसा सुना करता था। दानके प्रकरणमें अन्तरात्माके पारखीको गरीबका छोटा-मोटा दान भी बड़ा महत्त्वपूर्ण दान जान पड़ता है। मल्थूराम स्याद्वाद विद्यालय बनारसमें रसोइया था। उसने अपने परिश्रमसे ६००) छह सौ रुपये एकत्रित किये थे। जब उसका अन्तिम समय आया तब वह पूज्य वर्णीजीके पास आकर कहता है कि 'महाराज! मैं यद्यपि बनारसके विद्यालयमें काम करता हूँ पर मेरी श्रद्धा सागरकी पाठशालामें विशेष है, इसलिये आप मेरे ये रुपये वहाँके लिये ले लीजिये।' स्व० मल्थूरामजी के सर्वस्व समर्पणसे सबको आश्चर्य हुआ। विद्यालयके कार्यालयके समक्ष जिस पटिया पर बड़े-बड़े दानियोंके नाम लिखे हैं वहीं स्व० मल्थूरामजीका भी नाम लिखा है। यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो मुझे याद है कि मैं सागरकी पाठशालामें उसी वर्ष प्रविष्ट हुआ था और उसकी तेरहवींमें मैंने भी लप्सी और पूड़ियाँ खाई थी।

सिंघई बालचन्द्रजी सवालनवीस—इन सबसे पूर्व मुझे सिंघई बालचन्द्रजीका स्मरण करना चाहिये था। वह बहुत ही प्रभावक और विवेकके धारक थे। पूज्य वर्णीजीको ललितपुरसे सागर लानेवालों में यही प्रमुख थे। जब तक ये जीवित रहे संस्थाके महामन्त्री रहे। आपके साथ ही सिं० रज्जीलालजी, छोटेलालजी बड़कुर, गजाधरप्रसादजी जानिया, बिहारी मोदी एवं बट्टेदाऊ आदि भी स्मरणीय हैं।

पं० मूलचन्द्र जी बिलौआ—यह एक ही व्यक्ति था जो असंभव को भी संभव कर दिखाता था। बहुत ही चतुर व्यक्ति थे। इन्होंने सुपरिन्टेन्डेट पद पर रहकर विद्यालय की बहुत सेवा की। इनका ही पुत्र परमेष्ठी दास एक व्यक्तित्वशाली व्यक्ति था। परन्तु असमय में ही काल-कलवित हो गया।

वर्त्तमानमें श्रीमान् लक्ष्मीचन्द्रजी मोदी एक उत्साही युवक हैं जो संस्था के प्रत्येक कार्यमें सोत्साह प्रवृत्त रहते हैं। आप ४–५ वर्ष तक संस्थाके मन्त्री रह चुके हैं। मोदी घराना सागरका प्रसिद्ध घराना है। विद्यालयकी स्थापना तथा ढांकनलाल सिंघईका मकान एवं मोराजीका विशाल प्राङ्गण मिलना आदि कार्योंमें इस वंशके पूर्वजोंका प्रमुख हाथ रहा है। श्री सिं० भैयालालजी मुंशी भी एक निःस्पृह कार्यकर्त्ता हैं। आपने ३ वर्ष तक मंत्री रहकर संस्थाकी सेवा की है। श्री नाथूरामजी गोदरे वर्तमान मन्त्री हैं। जैन हाईस्कूलके आप लगभग २० वर्षसे मंत्री हैं। बहुत ही सहनशील एवं गम्भीर प्रकृति व्यक्ति हैं। श्री बाबूलालजी आकुल अपनी लगनके एक ही व्यक्ति हैं। जिस कार्यमें झुक जावें उसे पूरा करके ही छोड़ें। संस्थाओंकी सेवाके लिये तन-मन-धन तीनों ही अर्पित करते रहते हैं। श्री पं० दामोदरदासजी बिलौआ संस्कृत-शिक्षा-समितिके मंत्री हैं। आपके हृदयमें विद्यालयके प्रति अटूट अनुराग है जिसके फलस्वरूप अपनी अमूल्य सेवाओंसे विद्यालयको उपकृत करते रहते हैं। इनके सिवाय सैकड़ों ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने पाठशालाको पूरी-पूरी सहायता दी है। उन सबका उल्लेख इस छोटेसे लेख में कैसे किया जा सकता है ? मैं उन समस्त उपकारियोंसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ जिनका कि मैं अपनी अज्ञानता या विस्तारभयके कारण यहाँ उल्लेख नहीं कर सका हूँ।

✲

सुख का कारण क्या है ? कुछ समझ में नहीं आता। यदि बाह्य पदार्थों को माना जावे तब तो अनादिकाल से इन्हीं पदार्थों को अर्जन करते करते अनन्त भव व्यतीत हो गये परन्तु सुख नहीं पाया। इस पर्याय में यथायोग्य बहुत कुछ प्रयत्न किया परन्तु कुछ भी शान्ति न मिली।

—गणेश वर्णी

१५

सागर विद्यालय—एक दृष्टि

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

सागर मध्यप्रदेशका एक प्रमुख नगर है। इसके चारों ओर प्राकृतिक सुषमासे युक्त बिखरी हुई छोटी-छोटी अनेक पहाड़ियाँ हैं उनकी तलहटीमें बसा हुआ होनेके कारण इसकी भूमि कहीं सम और कहीं विषम है। इस नगरकी दूसरी विशेषता कमल-वनसे युक्त एक तालाब है। सम्भवतः इसके सागर नामकरणका यही कारण है। साधारणतया बुन्देलखण्ड उद्योग-धन्धोंकी दृष्टिसे पिछड़ा हुआ प्रदेश है। यहाँका मुख्य व्यापार बाहरसे पक्का माल मँगाकर उसका क्रय-विक्रय करना और इस प्रदेशमें खेतीसे उत्पन्न हुए धान्योंको बाहर भेजना भर है। किन्तु इस दृष्टिसे सागर नगर थोड़ा भाग्यवान् है। इस नगरमें जैनियोंकी संख्या भी पर्याप्त मात्रामें पाई जाती है और अपनी व्यापारिक कुशलताके कारण उनका यहाँपर प्रमुख स्थान है।

यहाँ एक विश्वविद्यालय है जिसमें अनेक विषयोंकी उच्चतम शिक्षा दी जाती है। कई हाईस्कूल हैं। माध्यमिक और प्राथमिक शालाएँ तो प्रचुर मात्रामें हैं ही। हाईस्कूलोंमें जैनसमाजके द्वारा संचालित हाईस्कूल मध्यप्रदेश भरमें प्रसिद्ध है। कई वर्षोंसे इसका परीक्षाफल बहुत अच्छा रहता है। अनुशासन और व्यायाम आदिपर भी यहाँपर बहुत ध्यान दिया जाता है। जैन-समाज द्वारा संचालित एक महिलाश्रम भी है। इसमें असहाय और विधवा बहिनोंकी शिक्षा और भोजनादिकी समुचित व्यवस्था है। बालिकाओंकी शिक्षाकी ओर भी इस नगर का ध्यान है। इन सबके बाद इस नगरकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है **श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय**। इसकी नींव आजसे लगभग ५८ वर्ष पूर्व एक स्थानीय पाठशालाके रूपमें रखी गई थी। उसके बाद प्रसिद्ध सन्त पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णीका सम्पर्क मिलने के बाद यह स्थानीय पाठशाला संस्कृत पाठशाला के रूपमें परिवर्तित की गई और उसके बाद तो यह जैन समाजमें संस्कृत और प्राकृत भाषामें धर्म, न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि विविध विषयोंकी शिक्षा देने वाला प्रमुख विद्यालय हो गया है। यहाँ लगभग २०० छात्र विविध विषयोंकी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। किसी संस्कृत विद्यालयमें छात्रोंकी इतनी बड़ी संख्याका होना; यह सौभाग्य इसी विद्यालयको प्राप्त हुआ है। इनमें अधिकतर छात्र बाहरके रहने वाले हैं। विद्यालयसे सम्बद्ध एक छात्रावास है उसमें इनके रहने व भोजन आदिकी समुचित व्यवस्था है। जो समर्थ छात्र हैं वे भोजनका खर्च स्वयं वहन करते हैं, किन्तु ऐसे छात्र बहुत ही थोड़े हैं। अधिकतर छात्रोंके भोजन व शिक्षा आदिकी पूरी व्यवस्था निःशुल्क की जाती है।

यह तो हम पहले ही संकेत कर आये हैं कि प्रसिद्ध सन्त पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीके सत्प्रयत्नसे ही इस विद्यालयको वर्तमान रूप मिला है। शिक्षाके क्षेत्रमें उन्होंने जो तपस्या की है उसे चन्द शब्दों द्वारा व्यक्त करना कठिन है। उनके द्वारा स्थापित की गई शिक्षा-संस्थाएँ संख्यामें काफी अधिक हैं। इस विद्यालयके संस्थापक तो वे हैं ही। बनारसका स्याद्वाद विद्यालय भी मुख्य रूपसे उन्होंने ही स्थापित किया है। अक्सर आम जनता बनारस विद्यालयको बड़ा भाई और सागर विद्यालयको छोटा भाई कहती है। इसका कारण यही है कि ये दोनों विद्यालय एक ही जनककी दो सन्तानें हैं।

बनारस विद्यालय कुछ काल-पूर्व स्थापित किया गया था और यह विद्यालय उससे बाद स्थापित हुआ है। अपने जन्म-कालसे लेकर इनकी शिक्षा-दीक्षाका क्रम भी एक है। सागर विद्यालयने भी अपने जीवन-कालमें बड़ी सफलता प्राप्त की है। अनेक मान्य विद्वान् यहांके स्नातक हैं और वे अपनी सेवा द्वारा इसके गौरव को बढ़ा रहे हैं। कुछ कालपूर्व तक समाजमें और भी उच्चकोटिकी शिक्षा देने वाली संस्थाएँ थीं, किन्तु एक-एक करके उनका ह्रास होता जा रहा है। ये दो संस्थाएँ ही ऐसी हैं जिनपर समाजको गर्व होना चाहिए और है।

प्रायः आजकल यह प्रश्न किया जाता है कि जब सरकारकी ओरसे शिक्षाका पर्याप्त प्रबन्ध हो रहा है, ऐसी अवस्थामें स्थान-स्थान पर इस प्रकारकी शिक्षा-संस्थाओंकी स्थापना करना और उनके सञ्चालनके लिए समाजसे चन्दा माँगते फिरना कोई अर्थ नहीं रखता। कुछ समझदार व्यक्ति भी जो इनसे लाभान्वित होकर इस स्थितिको प्राप्त कर सके हैं कि वे खड़े हो सकें और समाजका मार्गदर्शन कर सकें, ऐसी बातें करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु हम उनके इस दृष्टिकोणसे बिलकुल सहमत नहीं हैं। पूज्य श्री वर्णीजी महाराज प्रायः कहा करते थे कि जिस दिन हम प्राचीन भाषाओंमें निबद्ध साहित्यको भूल जावेंगे उसी दिनसे हमारा पतन होने लगेगा। संस्कृति क्या है, धर्म क्या है और उनका दैनंदिन के जीवनमें कैसे उपयोग हो सकता है इत्यादि बातोंका बोध हमें इसी साहित्यसे होता है। इससे हमें मानसिक तृप्ति तो मिलती ही है साथ ही शाश्वतिक सुख और उसकी प्राप्तिके साधनों का बोध भी हमें इसी साहित्यसे होता है।

यदि विचार कर देखा जाय तो धर्म एक है और उसे जीवनमें उतारनेका मार्ग भी एक ही है, पर विश्वमें जो अनेक धर्म दिखाई देते हैं और उनमें परस्पर जो अन्तर है उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का ज्ञान हम इस साहित्यका गहन मन्थन किये बिना नहीं कर सकते। बालकका सांस्कृतिक जीवन कैसे बने इसका ज्ञान लौकिक और सरकार द्वारा पोषित शिक्षा-संस्थाओं द्वारा नहीं कराया जा सकता। इस बातका अनुभव उन शिक्षा-संस्थाओंमें होने लगा है जिन्हें सरकार द्वारा थोड़ी बहुत सहायता दी जाने लगी है। सरकारके अपने नियम हैं और वह उन नियमोंके आधार पर सब शिक्षा-संस्थाओंमें परिवर्तन करना चाहती है। इस समय समाजके सामने बहुत ही बड़ी समस्या है। वह अपनी संस्कृति की समुचित रक्षा कैसे करे ? क्या वह अपने बालकोंको केवल सरकारी संस्थाओंमें भेजकर अपने आचार-विचारकी रक्षा कर सकती है ? हमें तो यह असम्भव ही दिखलाई देता है। हमें अपने कौटुम्बिक जीवनकी एक घटना याद है। इसे लगभग तीस वर्ष हो गये हैं। गर्मीके दिनोंमें हम अपने बाल-बच्चोंके साथ बैलगाड़ीसे यात्रा कर रहे थे। उस समय हमारी बड़ी बच्ची चि० *शान्ति लगभग ७ वर्षकी थी। मार्गके लिए कुछ फल रख लिये थे। कुछ दूर जानेपर एक खरबूज बनाया गया। खरबूजेके बीजोंको देखकर बच्चीके मनमें जिज्ञासा उत्पन्न हुई। वह हमसे पूछने लगी—दादा ! खरबूजेके भीतर बीज कहाँसे आये ? कहीं कोई छिद्र नहीं फिर ये भीतर कैसे घुस गये ? हमने उसकी इस जिज्ञासा का समाधान करनेका प्रयत्न किया। हमने बतलाया—बेटा ! ये बीज इसीके दलमेंसे उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार खरबूजे का छिलका, दल और गूदा बना है उसी प्रकार ये बीज भी बन गये हैं। पर बच्चीको हमारे इस उत्तरसे समाधान नहीं हुआ। वह बार-बार पूछने लगी—कैसे बन गये हैं। इस कैसेका हम क्या समाधान करते ? पदार्थ विज्ञानकी इस छोटी-सी बातको उस समय उस अबोध बच्ची के मस्तिष्कमें एक तो यों ही बिठलाना कठिन था और दूसरे जब किउसका मस्तिष्क दूषित कर दिया गया हो ऐसी अवस्थामें तो और भी कठिन था। हमारी पण्डिताई समाप्त हो गई। हार मानकर हमने उसीसे पूछा—बेटा तुम्हीं बतलाओ ये कैसे बन गये ? हमारा पूछना था कि उसने चटसे उत्तर दिया—ईश्वर ने बनाये हैं। हमें आश्चर्य हुआ, उसका यह उत्तर सुनकर। दिल धक् धक् करने लगा। मनमें अनेक भाव उठे। चित्त पीड़ासे भर गया। इसलिये नहीं कि हमारे

वैयक्तिक या कौटुम्बिक जीवनपर कोई आपत्ति आई थी बल्कि इसलिए कि उसका यह उत्तर जैन संस्कृति और धार्मिक आचार-विचारपर पानी फेरनेके लिए पर्याप्त था। फिर भी हमने तथ्य जाननेके लिए अपने मनकी प्रतिक्रियाको रोककर उससे पुनः पूछा—बेटा! तुमने यह कहांसे जाना? उसने तड़ाक से उत्तर दिया—हमारे गुरुजीने बतलाया है और फिर उसने उस समय स्कूलों में बोली जानेवाली ईश्वर वन्दना पढ़कर सुना दी—

प्रभू हमें दो ऐसा वरदान।
हम पढ़ें लिखें बनें बलवान॥

बात आई गई, किन्तु हमें एक प्रकाश मिला। इससे पहले इन संस्कृत पाठशालाओं और दूसरी सामाजिक शिक्षा-संस्थाओंको अनुपयोगी समझने वाला व्यक्ति उनकी उपयोगितासे प्रति परम आस्तिक बन गया। तब हमारी समझमें आया कि यदि समाज अपनी सांस्कृतिक चेतनाको जागृत रखना चाहती है तो इन शिक्षा-संस्थाओंको न केवल जीवित रखना होगा बल्कि उनकी उन्नति और स्थायित्वके लिये भगीरथ प्रयत्न करना होगा। समाजको सागरके श्रीगणेश दिगम्बर जैन विद्यालयको इसी दृष्टि-कोणसे देखना चाहिये। इसे अपने धर्म और समाजकी सेवा करते हुए अड़सठ वर्ष पूरे हो गये हैं। किसी भी संस्था के जीवनके लिए यह बहुत बड़ी बात है। इस स्तुत्य कार्यके लिए जिन्होंने इसका पोषण और संवर्धन किया है वे सभी अभिनन्दनीय हैं। हमें विश्वास है कि समाज इस विद्यालयकी आगामी उन्नति और स्थायित्वकी ओर न केवल पर्याप्त ध्यान देगी अपितु कोई ऐसा प्रबन्ध कर देगी जिससे वह हमेशाके लिए आर्थिक और दूसरी चिन्ताओंसे मुक्त होकर भविष्यमें इसी प्रकार धर्म और समाज की सेवा करता रहे।

✻

लोगों में धर्म के प्रति महान् श्रद्धा है किन्तु धर्मात्माओं का अभाव है। लोग प्रतिष्ठा चाहते हैं परन्तु धर्म को आदर नहीं देते। मोह के प्रति आदर है, धर्म के प्रति आदर नहीं। धर्म आत्मीय वस्तु है, उसका आदर विरला ही करता है। जो आदर करता है वही संसार से पार होता है।

—गणेश वर्णी

१६
सागर नगर के जीवन्त स्मारक

लेखक : श्रीचन्द्र जैन, सागर

पूज्य वर्णी जी की निवास-भूमि होने से सागर, भारतवर्ष में प्रसिद्ध हुआ है। यह बुन्देलखण्ड और मध्य प्रदेश का प्रमुख नगर है एक विशाल सुन्दर सरोवर के किनारे छोटी मोटी अनेक टेकड़ियों पर बसा डेढ़ लाख की गणना वाला सागर नगर अपने स्वास्थ्यप्रद जलवायु के लिये प्रसिद्ध है। चारों ओर बसे अनेक कसबों और ग्रामों के साथ साक्षात् संपर्क रहने के कारण यहां का व्यवसाय भी संतोष-जनक है। सागर नगर में इक्कीस जिन-मन्दिर और एक तारणतरण चैत्यालय है। जैनियों के बारह सौ घर तथा अठारह हजार जैनश्रावकों की संख्या है। यहां का समाज अधिकतर श्रद्धालु और धार्मिक भावों से ओत-प्रोत है। पास में ही श्री सिद्धक्षेत्र रेशन्दीगिरि, द्रोणगिरि तथा कुण्डलपुर होने के कारण तीर्थयात्रियों का यातायात प्रायः प्रत्येक वर्ष अच्छी संख्या में होता रहता है।

जैनशिक्षा की दृष्टि से यहां श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय, दि० जैन महिलाश्रम, दि० जैन उदासीनाश्रम तथा मन्दिरों में लगने वाली अनेक रात्रिशालाएँ हैं। इनके सिवाय अनेक सार्वजनिक हाईस्कूल, एक जैन हाई स्कूल और दो कालेज हैं। इन सब से ऊपर स्वनामधन्य डा० सर हरिसिंह गौर द्वारा स्थापित सागर विश्वविद्यालय भी है, जिसमें प्रत्येक विषय के विशेषज्ञ विद्वान् नियुक्त हैं। इन सब कारणों से सागर अपने प्रान्त का केन्द्रस्थान बन गया है, इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? यहां की जैन संस्थाओं पर एक विहंगमदृष्टि डाल लेना समयोचित है।

श्री गणेश दि० जैन संस्कृत विद्यालय

यह विद्यालय एक हरी भरी पहाड़ी की उपत्यिका में निर्मित है। इसी के अन्दर मोराजी (सागर के राजा के मंत्री) की दो ढाई सौ वर्ष पुरानी इमारत खड़ी हुई है जो बहुत मजबूत तथा उपयोगी है। इस विद्यालय की स्थापना श्री शिवप्रसाद जी के मकान में सन् १९०९ में अक्षयतृतीया के शुभ मुहूर्त में हुई थी। इसके पूर्व यह एक स्थानीय पाठशाला के रूप में सन् १९०५ स्थापित हुआ था। सन् १९०९ में इस विद्यालय का नाम श्री सत्तर्क-सुधा-तरंगिणी था पीछे चलकर गणेश दि० जैन संस्कृत महाविद्यालय के नाम से परिवर्तित हो गया। श्री शिवप्रसाद जी के मकान में जब संकीर्णता का अनुभव होने लगा तब चमेलीचौक में स्थित तारणतरण चैत्यालय के मकान में पहुँचा परन्तु वहां भी पूर्ण सुविधा नहीं थी इसलिये स्व० सिं० ढांकनलाल के मन्दिर के जीर्णशीर्ण मकान में आया। इस तरह १४ वर्ष के भीतर तीन मकानों में इसे कालयापन करना पड़ा। सन् १९२३ में स्व० रज्जीलाल जी कमरया ने संस्था के लिये विशाल भवन बनवाकर समर्पित किया। जैनजातिभूषण सिं० कुन्दन लालजी ने भी एक विशाल मन्दिर, सरस्वती-भवन तथा मानस्तम्भ का निर्माण कराया। श्री दानवीर बालचन्द्र जी मलैया और स्व० सिं० पन्नालाल जी अमरावती वालों ने भी २ कमरे बनवाये। अभी हाल में स्थानीय तथा बाहर की जनता के सहयोग से ७५+७५ फुट के व्यास में वर्णिस्मारक तथा बाहुबलि मन्दिर का निर्माण हुआ है। २ मन्दिर और मानस्तम्भ पहले से ही थे। इन सब आकर्षणों से यह विद्यालय सागर का एक दर्शनीय स्थान बन गया है। सागर आया हुआ व्यक्ति जब तक इसके दर्शन नहीं कर लेता तब तक वह संतोष का अनुभव नहीं करता। सैकड़ों तीर्थयात्री यहां एक साथ स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

विद्यालय में प्रारम्भ से लेकर शास्त्री और आचार्य कक्षा तक की पढ़ाई होती है। समाज के माने हुए विद्वानों द्वारा विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते हैं अतः छात्र अच्छी संख्या में रहते हैं। उनके भोजन तथा आवास की व्यवस्था निःशुल्क अथवा अल्पतम शुल्क में की जाती है। एक लाख रुपये का वार्षिक व्यय संस्था उठाती है और प्रसन्नता की बात है कि समाज के सहयोग से उसकी पूर्ति होती रहती है। स्व० पं० दयाचन्द्र जी शास्त्री ने अनवरत ५२ वर्ष तक प्राचार्य-पद से इस विद्यालय की सेवा की है। अभी वर्तमान में श्रीमान् डा० पन्नालाल की साहित्याचार्य इसके प्राचार्य हैं। वैसे यह भी ४३ वर्ष से विद्यालय में अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। श्रीमान् पं० माणिकचन्द्र जी न्याय काव्यतीर्थ 'जैनदर्शनाचार्य' भी इस विद्यालय में ४८ वर्ष से अध्यापक हैं। सैकड़ों विद्यार्थी इस विद्यालय में अध्ययन कर देश में जहां तहां काम कर रहे हैं कोई स्वतन्त्र व्यवसायी बने हुए है। इस समय विद्यालय में ६ अध्यापक और ८७ छात्र है। गृह-प्रबन्धक, भोजनशाला-व्यवस्थापक, तथा आय-व्यय-लिपिक अलग है। समाज से निर्वाचित ५५ सदस्यों की प्रबन्ध-कारिणी-कमेटी इसकी सारी व्यवस्था करती है। श्रीमान् दानवीर, समाजभूषण, श्रीमन्त सेठ भगवानदास जी बीड़ीवाले इसके सभापति और श्रीधर्मचन्द्र जी सोधिया इसके मंत्री हैं।

दिगम्बर जैन महिलाश्रम

इसके मूल संस्थापक स्व० सिं० रेवाराम जी हैं इन्होंने अपनी संपत्ति का ट्रष्ट बनाकर उसे समाज के लिये समर्पित किया था उसी से वीरनिर्वाण संवत् २४६७ में इस संस्था का जन्म हुआ था। आज यह संस्थाभी अपने निज के विशाल भवन में संचालित है। इसमें प्रारम्भ से लेकर आठवीं मिडिल तक पढ़ाई होती है। साथ में धार्मिक विषयों का अध्यापन प्रातःकाल डा० पन्नालाल जी साहित्याचार्य के द्वारा होता है। इसी संस्था में अध्ययन कर श्री सुमित्राबाई जी, स्व० आचार्य शिवसागर जी के संघ में १०५ आर्यिका विशुद्धमती जी के रूप में विद्यमान हैं। माता जी श्री विनयमती जी तथा कनकमती जी भी इसी संस्था की छात्राएँ रही हैं। यहां के वातावरण और धर्मशास्त्र की उच्चतम पढ़ाई के कारण इस आश्रम की समाज में अच्छी ख्याति है। अभी इसके छात्रावास में ५२ छात्राएँ अध्ययन कर रहीं हैं। श्री रामाबाई जी जो इसी संस्था की छात्रा हैं, गृहप्रबन्धिका पद पर आसीन हैं। इसकी अन्तर्व्यवस्था एक प्रबन्धकारिणी समिति के द्वारा होती है। इसके मंत्री श्री कपूरचन्द्र जी भायजी समैया तथा अध्यक्ष, श्रीमंत सेठ, दानवीर, समाजभूषण भगवान दास जी ही हैं। पूज्य वर्णी जी का आदेश पाकर स्व० सिं० कुन्दनलाल जी की धर्मपत्नी सिंघैन दुर्गाबाई ने अपनी ओर से एक विशाल भवन लेकर संस्था को दिया था। इसी प्रकार स्व० सिंघैन फूलाबाई जी ने अपने रहने का मकान तथा सारी संपत्ति इस संस्था को प्रदान की थी।

दिगम्बर जैन उदासीनाश्रम

यह संस्था शहर के वातावरण से दूर वेदान्तीरोड पर स्थित है। प्रारम्भ में पूज्य वर्णी जी के उपदेश से प्रभावित श्री गुलाबचन्द्र जी जोंहरी के उद्यान में खुली थी पर अब वह उद्यान संस्था ने स्वयं खरीद लिया है। एक विस्तृत स्थान में यह संस्था है संस्था के अन्दर एक चैत्यालय है; दो कूप हैं; एक सुन्दर बंगला है, जिसमें धर्म्य-ध्यान करते हुए त्यागी ब्रह्मचारी रहते हैं। जब पूज्य वर्णी जी स्वयं इस संस्था में रहते थे तब यहां भक्तजनों का मेला सा लगा रहता था। इसका प्रबन्ध एक निश्चित प्रबन्धकारिणी कमेटी के द्वारा होता है। इसके अध्यक्ष श्रीमान् सेठ भगवान् दास जी हैं तथा मंत्री श्रीमान् पं० ताराचन्द्र जी सराफ हैं।

उपर्युक्त तीनों संस्थाएँ पूज्य वर्णी जी की देन हैं। इन संस्थाओं ने मध्यप्रान्त के अन्दर आशातीत उन्नति की है। इनकी रक्षा करना समाज के प्रत्येक बन्धु का कर्त्तव्य है। ये संस्थाएं पूज्य वर्णी जी के जीवन्त स्मारक हैं।

१७

समस्त वर्णी वाङ्गमय—एक संक्षिप्त परिचय

कुमारी बन्दना जैन, बी० ए० द्वितीय वर्ष
महाराजा कालेज, छतरपुर

पूज्य श्री वर्णी जी भारत के उन महामना आध्यात्मिक सन्तों में से एक है जिन्होंने भारतीय संस्कृति को अपनी आध्यात्मिक विचारधारा से उत्तरोत्तर गौरवान्वित किया है। सन्त अमर नहीं रहते परन्तु उनके वचन या उद्‌गार जिनका संग्रह एक अच्छे विशाल वाङ्गमय या शास्त्र का रूप ले लेते हैं वे सदा अमर रहते हैं और युग-युग तक लोगों को सन्मार्ग-प्रदर्शन करते हुए उनके आत्म-कल्याण में परम सहायक होते हैं। इसी विचार धारा से प्रभावित होकर वर्णी भक्तों ने वर्णी वाङ्गमय का संकलन और सम्पादन के अनन्तर प्रकाशन कार्य भी प्रारंभ किया है। मेरे पिता जी (डॉ० नरेन्द्र जी विद्यार्थी) इस सम्बन्ध में जितने प्रयत्नशील हैं, समस्त जैन समाज उससे परिचित हैं। प्रकाशित और अप्रकाशित वर्णी साहित्य का एक अच्छा खासा अध्ययन कक्ष हमारे घर ही में है। वर्तमान में "वर्णी जी—व्यक्तित्व और विचार" नामक एक अच्छे ग्रन्थ का लेखन कार्य चल रहा है। हो सकता है यह कभी प्रकाशित भी हो। इस सब साहित्य को देखने, संभाल कर रखने और यदा कदा पढ़ने का अवसर मुझे भी मिल जाया करता है।

वर्णी-साहित्य का सर्व प्रथम प्रकाशन आध्यात्मिक पत्रावलियों के रूप में होना प्रारंभ हुआ। सर्व प्रथम श्री कस्तूरचन्द्र जी नायक जबलपुर ने यह शुभारम्भ किया। तदनन्तर जिज्ञासु मंडल कलकत्ता, जैनजातिभूषण सिंघई कुन्दनलाल जी सागर, सर सेठ हुकमचन्द्र जी इन्दौर आदि ने इस कार्य की परम्परा को आगे बढ़ाया। विवरण निम्नप्रकार है।

१. समाधिमरण पत्रपुंज—

प्रकाशक सि० कस्तूरचन्द्र जी नायक, जबलपुर वीर निर्वाण सं० २४६४ प्रथम-वृत्ति १५०० मूल्य भेदविज्ञान द्वारा समाधिप्राप्ति।

२. आध्यात्मिक पत्रावली और समाधिमरण पत्र पुंज (प्रथमभाग)—

प्रकाशक-जिज्ञासु मंडल कलकत्ता, वी० नि० सं० २४६६, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य भेदविज्ञान द्वारा समाधिप्राप्ति। इसी को श्री नीरज जी ने वि० सं० २०२५ में 'वर्णी स्नातक परिषद्' से पुनः प्रकाशित कराया। श्री नीरज जी ने इसकी प्रस्तावना में लिखा है कि सोनगढ़ के लोगों को समयसार प[illegible]ुन्दन समझने की प्रेरणा इसी वर्णी पत्राव[illegible] सरस्वती-भवन वहां पहले इसका स्वाध्याय [illegible]था। श्री दानवीर किया जाता था। [illegible]० पन्नालाल जी [illegible] हाल में [illegible]

३. आध्यात्मिक पत्रावली (द्वितीय भाग)

संग्रहकर्ता ब्र० छोटेलाल जी, प्रकाशक सर से[illegible] हुकमचंद्र जी सा० इन्दौर, वी० नि० सं० २४६७, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य आत्मविचार।

माननीय सर सेठ सा० इन्हीं पत्रों के माध्यम से प्रभावित और परिचित हुए और एक दिन पूज्य श्री के दर्शनार्थ सागर भी पधारे। वे वर्णी जी को एक परम तपस्वी और समयसार का सबसे बड़ा ज्ञाता विद्वान्

चिर अज्ञान-निशा में लाये तुम शुभ-ज्ञान सबेरा,
वह तुम हो जिसने वन्ध्या को 'माता' कहकर टेरा।

देखो प्रकाश की ओर मोह का यह अंधियारा मत देखो।

—नीरज जैन

मोराजी भवन, सागर के प्रांगण में विशाल मानस्तम्भ
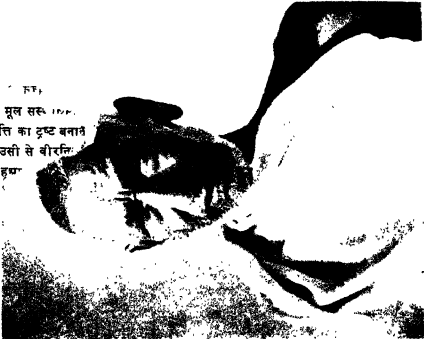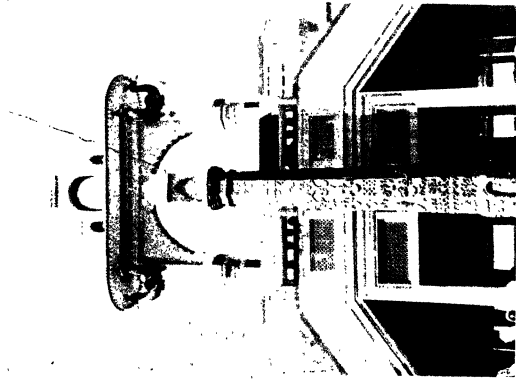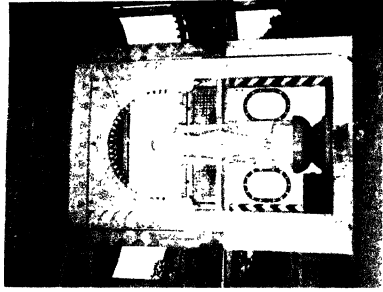
बाहुबली स्वामी का नवीन मंदिर

मानते थे। उनका कहना था कि ये पत्र नहीं, अपितु समयसार का सार ही है। बात वस्तुतः सत्य ही है।

४. आध्यात्मिक पत्रावलि (तृतीय भाग)—

प्रकाशक जिज्ञासु मंडल कलकत्ता, वी० नि० सं० २४६७, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य भेदविज्ञान द्वारा समाधिप्राप्ति।

५. आध्यात्मिक पत्रावलि—

प्रकाशक श्री सिंघई कुन्दनलाल जी सागर, वी० नि० सं० २४६८, प्रथमावृत्ति १०००, मूल्य सदुपयोग,

६. वर्णी प्रवचन (छोटी साइज)

प्रकाशक जिनेश्वरप्रसाद जैन, पृष्ठ संख्या ११८, महावीर जयन्ती वि० सं० २००६,

७. सुबोध पत्रावलि (प्रथम भाग)

संग्रहकर्ता मूलचन्द्र जैन, प्रकाशक सहजानन्द ग्रन्थ-माला मेरठ, वी० नि० सं० २४८०, प्रथम संस्करण २२००, मूल्य दस आने।

पत्रावलियों की परम्परा ने लोगों को वर्णी साहित्य को पढ़ने के लिये उत्साहित किया परन्तु एक नये रूप में उसको प्रकाशित करना आवश्यक समझा गया और सामग्री भी इतनी संगृहीत होने लगी कि उसका प्रकाशन एक नये रूप के बिना संभव नहीं था। अतः मेरे पिता जी ने "वर्णी वाणी" (प्रथम भाग) का साथ ही वर्णी जी की जीवनी "वर्णी जी" नामक एक १०० पृष्ठ की पुस्तक का लेखन कार्य किया। इनके प्रकाशित होने के पश्चात् पूज्य श्री वर्णी जी द्वारा लिखित एक बड़ी पुस्तक मेरी जीवन गाथा का प्रकाशन हुआ। विवरण इस प्रकार—

८. वर्णी जी

लेखक-नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक बालचन्द्र बाबूलाल मोदी, बड़ा मलहरा (छतरपुर) पृष्ठ १००, मूल्य तेरह आने।

यह पुस्तक पूज्य श्री वर्णी जी द्वारा लिखित "मेरी जीवन गाथा" के आधार पर लिखी गई थी।

९. वर्णी-वाणी

संकलयिता और सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, पृष्ठ १३३, मूल्य एक रुपया दस आने। प्रकाशक साहित्य साधना समिति, जैन विद्यालय, काशी, वि. सं. २००४।

१०. मेरी जीवन गाथा (प्रथम भाग)

लेखक पूज्य श्री वर्णी जी, पृष्ठ ८९० के लगभग, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थ माला बाराणसी, मूल्य ६ रुपये आठ आने, इसका द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हुआ।

११. मेरी जीवन गाथा (द्वितीय भाग)

लेखक पूज्य श्री वर्णी जी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थ माला बाराणसी प्रथम संस्करण १०००, पृष्ठ ४८६, मूल्य चार रुपये चार आने, वी. नि. सं. २४८६।

१२. वर्णी वाणी (प्रथम भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, पूर्व प्रकाशित 'वर्णी-वाणी' का यह परिवर्धित संस्करण है। इसके कुल ५ संस्करण हो चुके हैं। प्रत्येक पृष्ठ ५००, प्रति १००० प्रत्येक बार।

१३. वर्णी वाणी (द्वितीय भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण २००० प्रति, द्वितीय संस्करण १००० प्रति, प्रत्येक संस्करण में मूल्य एक प्रति चार रुपये। पृष्ठ संख्या ४४८।

१४. वर्णी वाणी (तृतीय भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, प्रत्येक संस्करण १००० प्रति, तीन संस्करणों में मूल्य साढ़े तीन रुपये, चौथे संस्करण में पाँच रुपये, पृष्ठ संख्या ४२८।

वर्णी जी के पत्र पहले आधुनिक सम्पादन कला के अनुसार वर्गीकृत न होकर एक असम्बद्ध क्रम से प्रकाशित होते रहे हैं परन्तु अब उनका खण्डशः व्यक्ति के पद एवं प्रतिष्ठा तथा दिनांक क्रम को ध्यान में रखते हुए नवीन ढंग

से वर्गीकृत करके चार खण्डों में सम्पादन किया गया है। विवरण निम्नप्रकार है।

१५. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात चतुर्थ भाग)

सम्पादक नरेन्द्र विद्यार्थी, प्रकाशक वर्णी ग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण १००० प्रति, वी. नि. सं. २४८४, पृष्ठ ४७५, मूल्य तीन रुपये आठ आने, इसमें साधुसाध्वियों को लिखे गये पत्र संकलित हैं।

१६. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात) पंचम भाग

सम्पादक डा. नरेन्द्र विद्यार्थी, अप्रकाशित, इसमें विद्वानों के नाम लिखे गये पत्र संग्रहीत हैं। पृष्ठ संख्या अनुमानतः ५००।

१७. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात) छठवां भाग

सम्पादक डा. नरेन्द्र विद्यार्थी, अप्रकाशित, पृष्ठ अनुमानतः ५००, इसमें श्रीमानों के नाम लिखे गये पत्र संग्रहीत है।

१८. वर्णी वाणी (पत्र पारिजात) सातवां भाग

सम्पादक डा. नरेन्द्र विद्यार्थी, अप्रकाशित, पृष्ठ अनुमानतः ५००, इसमें श्रीमानों के नाम लिखे गये पत्र संग्रहीत हैं। श्री बाबू रामस्वरूप जी बरुआसागर के नाम लिखे ५०० पत्रों का संग्रह प्रमुख है। इसी में स्व. लाला जैनेन्द्रकिशोर जी जोहरी दिल्ली तथा स्व. लाला राजकृष्ण जी दिल्ली को लिखे पत्र भी हैं।

१९. समयसार (प्रवचन सहित)

आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति समय प्राभृत ऊपर नाम 'समय सार' ग्रन्थ की सरल सुबोध हिन्दी टीका लिखकर पूज्य श्री वर्णी जी ने आध्यात्मिक जगत का महान उपकार किया है। पूज्य वर्णी जी से मेरे पिता जी ने बहुत आग्रह किया परन्तु अपने जीवनकाल में उन्होंने यह टीका प्रकाशनार्थ नहीं दी। वे कह देते थे भैया! आत्मख्याति और तात्पर्यावृत्ति के सामने इसकी क्या आवश्यकता? धन्य है उन आचार्यों को जो ये प्रकाश प्रदान कर गये। इस तरह बात टाल दिया करते थे। परन्तु जब वे स्वर्गीय हो गये तब केवल ७ दिन के लिये प्रति बड़ी कठिन कार्यवाही के बाद मिल सकी। उदारमना लाला फिरोजी लाल जी जैन दिल्ली ने उसकी फोटो कापी ७ दिन में ही करा दी जिस पर से ६ प्रतियां टाइप होकर सम्पादन कार्य प्रारंभ हुआ। ग्रन्थ के सम्पादन जैन समाज के प्रकाण्ड विद्वान पं. पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर ने किया। पृष्ठ संख्या ११०० प्रति, वि० सं० २०२६ में प्रकाशिका की गई। ग्रंथ की प्रकाशिका वर्णी ग्रंथ माला ने उसका मूल्य १२) रखा है। द्वितीय संस्करण छप रहा है। पृष्ठ संख्या ४०६ है।

२०. जीवन यात्रा

पूज्य वर्णी जी द्वारा लिखित 'मेरी जीवन गाथा' का उन्हीं के शब्दों में नये ढंग से क्रमबद्ध संक्षिप्त रूपान्तर है। संक्षेपकार डा० नरेन्द्र विद्यार्थी और श्रीमती रमा जैन एम. ए., साहित्यरत्न (मेरी माता जी), पृष्ठ मूल्य १) पृष्ठ संख्या ५०००, प्रकाशक सुषमा प्रेस, सतना।

२१. वर्णी जी और उनका दिव्यदान

'जीवन यात्रा' में ही वर्णी जी के कुछ प्रवचन और वर्णी-वाणी से कुछ महत्त्वपूर्ण अंश लेकर इस ग्रंथ की रचना की गई है। लगभग ३०० पृष्ठों के इस ग्रंथ को ५००० प्रतियां दिल्ली निवासी, वर्णी भक्त, लाला फिरोजी लाल जी ने आत्मलाभार्थ स्वाध्याय प्रेमियों को वितरित की थी।

२२. वर्णी दर्शन

वर्णी शताब्दी समारोह के शुभावसर पर ४२० पृष्ठ के इस सुन्दर ग्रंथ का प्रकाशन दि० जैन शान्ति निकेतन, ईसरी बाजार की ओर से हुआ है। विद्वान् सम्पादक श्री जिनेन्द्र जी वर्णी ने इसमें सभी सामग्री 'मेरी जीवन गाथा' तथा 'वर्णी-वाणी' के भागों से संकलित की है।

ग्रंथ का विमोचन आश्विन कृष्ण ४ वि० सं० २०३१ (वर्णी जन्म शताब्दी के प्रथम दिन) ईसरी बाजार में सम्पन्न हुआ।

२३ से ३७ सुख की एक झलक (१५ भाग)—

मुरार, दिल्ली, इटावा, ललितपुर, सागर, गया तथा ईसरी में सम्पन्न हुए पूज्य श्री वर्णी जी से प्रवचनों का १५ वर्ष के चातुर्मासों में श्री कपूरचन्द्र जी बरैया एम० ए०, साहित्यरत्न लश्कर ने बड़े परिश्रम पूर्वक संकलन और सम्पादन कर प्रकाशन कार्य सम्पन्न कराया है। ये प्रवचन "सुख की एक झलक" के नाम से समाज में बड़े चाव के साथ पढ़े जाते हैं। कुल १५ वर्षों के प्रवचनों के हैं।

३८. सुख की एक झलक (प्रथमभाग)—

सरल जैनग्रन्थ भण्डार जबलपुर के सम्पादक वा प्रकाशक मोहनलाल शास्त्री काव्यतीर्थ के यहाँ से भी प्रकाशित हुआ है। जिसमें लगभग २०० पृष्ट वा मूल्य २।।) है। यह जबलपुर से ही प्राप्त होता है।

इनका भी पुनः विषय वार वर्गीकरण तथा नवीन ढंग से सम्पादन कार्य मेरे पिता जी करने को अनुज्ञप्त हो चुके हैं। "वर्णी जी—व्यक्तित्व और विचार" नामक डी० लिट्० के लिये लिखे जाने वाले ग्रन्थ के स्तर का जो ग्रन्थ लिखा जा रहा है उसके बाद वे इस कार्य को सम्पन्न करेंगे।

इस प्रकार कुल ३८ छोटे बड़े ग्रन्थ वर्णी-साहित्य में उपलब्ध हैं।

वर्णी जी के उक्त उपलब्ध साहित्य से जन जन का कल्याण हुआ है और आगे भी होता रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

अनादिकाल से इस जीवके परपदार्थों का सम्बन्ध हो रहा है, आकाशवत् एकाकी नहीं रहा। यद्यपि परसम्बन्ध से इसका कोई भी अंश अन्यरूप नहीं हुआ। जीवद्रव्य न तो पुद्गल हुआ और न पुद्गल जीव हुआ। केवल सुवर्ण-रजत का गलने से एक पिण्ड हो गया। उस पिण्ड में सुवर्ण रजत अपनी अपनी मात्रा में उतने ही रहे परन्तु अपनी शुद्ध परिणति को दोनों ने त्याग दिया एवं जीव और पुद्गल भी बन्धावस्था में दोनों ही अपने अपने स्वरूप से च्युत हो गये।

—गणेश वर्णी

१८

वर्णी जी की विकास-भूमि मड़ावरा

विमलकुमार जैन सोंरया एम. ए., शास्त्री

अतीत के अंचल में— बुन्देलखण्ड में मड़ावरा एक ऐसा नगर है जिसका अपना प्रामाणिक इतिहास आज भी अपने अतीत गौरव को अपने आप में सँजोए है। मड़ावरा से एक किलोमीटर पूर्व में ग्राम कसई है। यद्यपि वह स्थान वर्तमान में कृषिक्षेत्र के रूप में प्रवर्त रहा है परन्तु फिर भी आजकल वहाँ भवनों के पुरातन चिन्ह देखने में आते हैं। उस ग्राम मे भी जैनों का पर्याप्त सद्भाव था और जैनसंस्कृति पर्याप्तमात्रा में फलीफूली थी। सम्वत् १६५० के लगभग सागर से मराठा ब्राह्मण पण्डित कौशीय ग्राम में आए। आजभी सागर में इनके बंशज मौजूद हैं। जो मोरा जी नाम से जाने जाते हैं। वैद्यजी के मंदिर में पीतल की चौबीसी, जिसमें पद्मासन मूर्तियाँ हैं उस पर अंकित प्रशस्ति निम्नप्रकार है। "सम्वत् १८६४ मार्गशीर्ष शुक्ला ५ शुक्रवार परगनौ सागर नग्र "मराठावरौ" पं० मोरोजी राज्योदयात् परवार मूर सर्वछोला वैद्य नंदजू, भार्या गोदा, तयोः पुत्रः १ हरीसिहः प्रणमति"

ये मराठे पेशवा के नाम से उस क्षत्र में विख्यात हुए। इनकी मुख्य बैठक सोरई ग्राम मे थी। जो मड़ावरा से लगभग छह मील दूर दक्षिण में है। जहाँ पर आज भी पुरातन विशाल किला, देवालय, पुरातनस्थल खण्डहर अवस्था में अवस्थित हैं।

मराठा पण्डितों ने 'कौशीय' (कसई) ग्राम के पश्चिम भाग मे एक भव्य विशाल दुर्ग का निर्माण किया और किले से एक गुप्त भूमिगत मार्ग सोंरई ग्राम के किले तक बनाया। इसकी लम्बाई ७ मील थी। किले के निर्माण कार्य में लगभग ४० वर्ष लग गए। किले के पश्चिम में वर्तमान मड़ावरा नगर को नये रूप से बसाया और उसका नाम 'मराठागांव' रखा। 'मराठागांव' का सम्बोधन सम्वत् १८७० तक प्रचलित रहा। इसके पश्चात् मराठा गाँव का सम्बोधन मड़ावरा के रूप में प्रचलित हो गया। वैद्य जी के मंदिर में स्थित सं० १८६४ की प्रशस्ति के अनुसार यह निर्विवाद सत्य है कि मड़ावरा नगर को पूर्व में "मराठा" गाँव से नाम से कहा जाता रहा। स्व० श्री नेमिचंद्र जी ज्योतिषाचार्य, ने मड़ावरा के विषय में कहा है मठम्बर शब्द से मडावरा बन सकता है। मठ - जहाँ विशिष्ट व्यक्ति रहें। विद्वान साहित्यकार का यह अन्वेषणात्मक कथन अवश्य इतिहास और उसकी पुरातन परम्परा की पुष्टि करता है। मडावरा नगर की स्थापना में तत्कालीन समीपवर्ती स्थित कौशीय (कसई) ग्राम के अलावा लार, छपारा तथा नाले के समीप स्थित ग्रामों का विलीनीकरण हुआ है।

मड़ावरा की भौगोलिक एवं सामाजिक रचना— भौगोलिक दृष्टि से मड़ावरा भारत के मध्य विन्ध्याचल के अंचल में २५-२६ एवं २५-४० अक्षांश और ७८-२६ एवं ७६-२६ देशान्तर रेखाओं के बीच उत्तरप्रदेश एवं मध्यप्रदेश के सीमावर्ती क्षेत्र में ललितपुर से ३६ मील पूर्व-दक्षिण के कोने में स्थित है। वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता तथा उपजाऊ एवं खनिज तत्त्वों से भरपूर भूमि सम्पन्नता में सदैव अग्रणी रही है। मराठा पण्डितों ने अत्यंत सुन्दर और वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप इस नगर की व्यवस्था की थी। ग्राम के मध्य से चारों दिशाओं मे चार मार्ग बनाए। चारों मार्गों पर वर्तुलाकार में वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप समाज-व्यवस्था की। ग्राम के बीच में जैन-सम्प्रदाय और जैनों के विशाल गगनचुम्बी जिनालय बनायें इसे मंदिरों की नगरी की उपमा दिलाते हैं। जैनों से लगे

हुए ब्राह्मण समाज और उनके ६ वैष्णव-मंदिर हैं। जो यहाँ की प्राचीन धार्मिक परम्परा के प्रतीक हैं। ग्राम के आधे भाग में लुहारों, नाइयों, तेलियों, ढीमरों के प्रथक् प्रथक् मुहल्ले हैं। दूसरी ओर स्वर्णकारों औदियों, लोधियों, काश्तकार, मजदूरों, कृषकों के प्रथक् प्रथक् मुहल्ले बसे हुए हैं। ग्राम की अर्द्ध परिक्रमा देता हुआ उत्तर की ओर एक विशाल प्राकृतिक नाला है। जो अर्द्ध गोलाकार के रूपमें अवस्थित है। पूर्व की ओर नगर का तालाब व किला दक्षिण में मराठों की बड़ी बाखर तथा पश्चिम भाग में राजपथ है।

उत्तरीभाग में नाले के उस पार सेवाकारी वर्ग के व्यक्तियों में चर्मकारों, बसोरों, मेहतरों तथा वेश्याओं को बसाया गया है। इन सभी के प्रथक् प्रथक् मुहल्ले बसे हुए हैं।

मराठा पण्डितों के राज्य का पतन और अंग्रेजी शासन का प्रभाव सम्वत् १८८० के आसपास मराठा पण्डितों में श्रेष्ठी पं० मोरोजी मड़ावरा नगर के राज्याधिपति थे। इसी समय शाहगढ़ राज्य के अधिपति महाराज बखतबली सिंह ने एक पत्र मराठा पण्डित राजा मोरोजी के समीप भिजवाया। जिसमें निर्देश था कि मड़ावरा की शासन-सत्ता हमारे आधीन कर दें अथवा युद्ध के लिए तैयार रहें। मराठा नरेश पं० मोरो जी ने ३ माह की मोहलत मांगते हुए शासन-सत्ता राजा बखतबलीसिंह को सौंप देने की अधीनता स्वीकार कर ली। इसी समय इन्हीं मराठा पण्डितों ने बड़ी बाखर का निर्माण किया था। यह तीन फर्लाङ्ग लम्बी थी जिसमें समस्त मराठा परिवार किले को छोड़कर रहने लगा था। इस बड़ी बाखर (मकान) में ६ कुए और ३ वैष्णव मंदिर थे। जो अधिकांशतः वर्तमान में भी हैं।

एक बार राजा बखतबली सिंह ने अंग्रेज अधिपति के आदेश की अवज्ञा कर दी। परिणामतः अंग्रेजी फौज ने शाहगढ़ नरेश पर आक्रमण कर दिया और अचानक मड़ावरा दुर्ग को घेर कर तोप के गोला बरसाने लगे। परिणामतः मड़ावरा नरेश बखतबली सिंह को परास्त होकर गुप्त मार्ग से भागना पड़ा और मड़ावरा सम्वत् १८९० (सन् १८३४) के आसपास अंग्रेजों की अधीनता में आ गया। सम्वत् १९१४ में सुव्यवस्थित शासक के अभाव में इस क्षेत्र में भयंकर गदर पड़ी। परिणामतः अनेक सम्पन्न परिवारों को समीपवर्ती रियासतों में शरण लेनी पड़ी। गदर की जानकारी अंग्रेजों तक पहुँची और उन्होंने अपनी सुव्यवस्था बनाई। व्यवस्था में जमींदारी स्थापित की। मड़ावरा के ४ प्रमुख पंच राजा के दरबारी थे। उन्हें चार चार आना जमींदारी दी। चार पंचों में प्रथम ग्राम तिसगना के राजपूत ठाकुर, ग्राम डोंगरा के लोधी ठाकुर, ग्राम सिमरिया के जैन सिंघई एवं ग्राम हँसेरा के राजपूत ठाकुर थे। और इस प्रकार ११३ वर्ष तक मड़ावरा—अंग्रेजों की अधीनता (शासन-संरक्षण) में रहा।

श्रमणसंस्कृति की परम्परा में मड़ावरा—मड़ावरा नगर की स्थापना के पूर्व से ही इस प्रक्षेत्र में श्रमण-संस्कृति का व्यापक प्रभाव एवं जैनों का प्रभुत्व रहा है। मड़ावरा नगर के समीपस्थ ग्राम सीरोन, गिरार, सोरई, मदनपुर आदि ऐसे ऐतिहासिक स्थल हैं जहाँ पर श्रमण-संस्कृति के प्रतिमान एवं वास्तुकला के अनूँठे गढ़ देवालय और शिलापट्ट देखने को मिलते हैं। हजारों की संख्या में विशाल मनोहर दिगम्बर जैन मूर्तियाँ और उन पर अंकित शिलालेख एवं प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों पर अंकित प्रशस्तियाँ इस बात की साक्षी हैं कि यहाँ पर बहुसंख्या में जैनों का सद्भाव रहा है। यही कारण है कि मड़ावरा नगर की स्थापना में जैनों को पर्याप्तमात्रा में सुसम्मान, सुविधाएँ एवं उनके आवास (निवास) की व्यवस्था में प्रमुखता दी गयी।

जैनधर्म की व्यापकता के प्रतिमान जैनमन्दिर और उनका निर्माण—

१. **बड़ा मन्दिर**—मड़ावरा नगर में सर्वप्रथम फाल्गुन वदी एकम वि० सम्वत् १७१० में आचार्य सकलकीर्ति के उपदेश से परवार कुलोत्पन्न श्री मोहनदास, ग्वालीराम, एवं मायाराम जी के द्वारा साधारण घर में मंदिर की स्थापना की गई। लगभग एक शताब्दी बाद सर्वप्रथम इसे शिखर बन्द मंदिर बनाने का कार्य आरंभ हुआ। कहा

जाता है कि मंदिर की दीवालों की चौडाई दश फुट २ इंच है। इससे अनुमान होता है कि मंदिर का उत्तुंग शिखर काफी ऊंचा बनना चाहिए था, परन्तु तत्कालीन शासक पं० मोरो जी ने आज्ञा दी कि मंदिर का शिखर किले की गुर्ज से ऊंचा नहीं होना चाहिए क्योंकि दुश्मनों द्वारा किए जाने वाले आक्रमण में किले से जो तोप का गोला फेंका जाएगा उससे मन्दिर के विनाश की सम्भावना हो सकती है। अतएव एकाएक मंदिर के शिखर को चौड़ा करके छोटा किया गया। मन्दिर की रचना आज इस तथ्य की पुष्टि करती है। इसके पश्चात् मार्गशीर्ष शु० ५ शुक्रवार वि०सं० १८६४ में वैद्य नंद जू के पुत्र हरीसिंह जू ने इस मन्दिर की मरम्मत एवं विशाल प्रतिष्ठा कराई। तभी से इस मंदिर को वैद्य जी का मन्दिर नाम से पुकारने लगे। इसके पश्चात् वि०सं० १८८३ वैशाख कृ० ५ बुधवार के दिन श्री सि० मनराखन रामस्वरूप ने पुनः पंच-कल्याणक कराकर जिनबिम्ब की स्थापना कराई।

यह मड़ावरा नगर का अत्यंत प्राचीन जिनालय है उसका मुख्य द्वार पूर्व की ओर है।

२. **सड़क का मन्दिर**—गोरावाला मंदिर, नया मंदिर-वैद्य जी के मंदिर के निर्माण के पश्चात् वि० सम्वत् १८२४ के माघ सुदी ५ बुधवार को परवार कुलोत्पन्न मोदी कम्मोद जी के पुत्र श्री स्वरूपचंद जी ने सड़क के मंदिर का निर्माण कर प्रतिष्ठा कराई। कहा जाता है कि स्वरूपचंद और नंदलाल दो भाई थे। छोटे भाई नंदलाल जीने मंदिर के शिखर पर कलश अपनी ओर से भी रखने की इच्छा अपने भाई से व्यक्त की। भाई ने ईर्ष्याभिमान वश कहा "कलश रखने की इतनी ललक है तो अपने आंगन में बांस गाड़ कर उस पर कलश रख लें।" भाई को भाई के यह शब्द सहन नहीं हुए और एक वर्ष में ही अपने भाई से एक हाथ ऊँचा दूसरा मंदिर तैयार कराकर नन्दलाल ने दूसरे वर्ष वैशाख सुदी षष्ठी सं० १८२८ में विशाल पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा कराई।

सम्वत् १९०१ में श्री मधु चौधरी ने नये मंदिर के निर्माण का कार्य आरम्भ किया। असमय में ही उनका देहावसान हो जाने के कारण मंदिर का कार्य अधूरा ही रह गया। लगभग ४५ वर्ष बाद सौंरया वंशीय दामोदर दास जी दौलतराम जी आदि के सत्प्रयत्न से यह मंदिर निर्माण में आया तथा श्री पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई। वि० सम्वत् १९६३ फागुन सुदी ३ को सौंरया वंशीय प्रमुख श्री दौलतराम जी ने विरधा में हुई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में कुछ प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराकर मंदिर जी में स्थापित कराईं और मंदिर का अधूरा कार्य पूरा कराकर सम्वत् १९८० में सौंरया मौजीलाल हरीसिंह आदि ने कलश स्थापित किया। परवार कुलोत्पन्न श्री मैयालाल जी लक्ष्मणप्रसाद जी आदि प्रमुख व्यक्तियों ने सं० २०१४ में गजरथ कराकर बिम्ब-स्थापना कराई तथा मार्गशीर्ष कृष्णा ६ वि० सं० २४९४ को ब्र० आदिसागर जीने नवीन वेदी की रचना कर महावीर स्वामी की विशाल वा भव्य मूर्ति स्थापित कराई।

इन तीनों मंदिरों में वि०सं० १८२६ में सिं० नंदलाल जी द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियाँ हैं। वि०सं० १८९२ माघ शु० ७ सोमवार के दिन परवार कुलोत्पन्न गोरावालों ने विशाल पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा कराकर सिं० नंदलाल जी के मंदिर में बिम्ब-स्थापना की। तब से गोरावालों का मंदिर यह सम्बोधन इस मंदिर का हुआ। इसी मंदिर के सामने वर्णी जी का मकान है। जहाँ अपने दरवाजे पर बैठकर इस मंदिर पर होने वाले प्रवचन से उनके अन्तःकरण में सम्यक्त्व का उदय हुआ।

३. **बेवी जड़ा मंदिर** मार्गशीर्ष शु० २ रविवार सं० १८४८ को सिं० भवानीदास जी ने इस मंदिर की मरम्मत कराकर प्रतिष्ठा कराई। इस मंदिर में १५ एवं १६ वी शताब्दी की अनेक प्रतिमाएँ हैं। माघ शु. ७ सोमवार सं० १८९२ को जमुनिया ग्राम में प्रतिष्ठित अधिकांश मूर्तियां इस मंदिर में स्थित हैं। अबतो जमुनियां ग्राम के मंदिर का पूरा समवसरण इस मंदिर में आ गया है। माघ शु० ५ वि०सं० १९२४को परवार कुलोत्पन्न चौ०भानसा जी ने प्रतिष्ठा कराई एवं चैत्र शु० ५ सोमवार वि०सं० १९७५ को कुड़ीला (टीकमगढ़) में हुए पञ्चकल्याणक में सिं० दामोदरदास कुन्दनलाल जी ने प्रतिष्ठा कराकर सर्वप्रथम इस मंदिर की वेदी का नवीनीकरण कराया था। इसीलिए

यह मंदिर वेदी जड़ा नाम से प्रचलित हुआ। इस मंदिर से लगा हुआ मंदिर का एक भवन है जिसमें प्रारंभ में श्री हितवर्द्धनी दि० जैन पाठशाला संचालित रही। वर्तमान में शासकीय अस्पताल संचालित है।

४. पटवारी का मंदिर—मूलनायक भगवान ऋषभ देव की अत्यंत मनोज्ञ २ फुट ६ इंच की देशी पाषाण की मूर्ति है। रचना की दृष्टि से ११वीं शताब्दी के आसपास की प्रतीत होती है। कोई लेख इस पर नहीं है। इस मंदिर की प्रतिष्ठा मार्गशीर्ष वदी १३ शुक्रवार सं. १८६४ को श्री मोहनदास सिंघई द्वारा कराई गई। यह गोलापूर्व समाज के सुसम्पन्न व्यक्ति थे। पुनः वैशाख कृष्ण ५ बुधवार सं० १८८३ का पटवारी सिं० सिरहार, सिं० नारे सिं० मोतीराम ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराई। इसी कुटुम्ब परम्परा में भाद्रपद शुक्ल १४ चन्द्रवार वि०सं० १६०६ में पटवारी नंदलाल, गनेश, रामचंद ने पंचकल्याणक प्रतिष्ठा कराके बिम्ब-स्थापना की और एक पृथक् नवीन वेदी सम्वत् १६६५ में परवार कुलोत्पन्न मोदी नाथूराम ने बनवाकर प्रतिष्ठा कराई। यहाँ गोलापूर्व समाज का यही एक जिनालय है।

५. सिंघई का मंदिर—परवार जाति के डेवढ़िया गोत्रज श्री गनेश पातरे उस समय के वैभवशाली प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। एक बार अकाल के समय इन्होंने राजा मोरो जी से कहा था महाराज आप इस अकाल से भयभीत न हों यदि आपकी आज्ञा प्राप्त हो तो मैं अनाज के बदले अशर्फियाँ खेतों मे फसल के रूप में बुआ सकता हूं। राजा ने प्रसन्नता के साथ बंजारो के द्वारा अशर्फियाँ भेजकर बाहर से अपने राज्य में गल्ला मँगाया था। इसी सिंघई परिवार ने फागुन सुदी ३ बुधवार वि०सम्वत् १८६७ को इस मंदिर की प्रतिष्ठा कराई। इसी सिंघई परिवार में रसोलामूर गोयलगोत्रोत्पन्न सिं० उदेत जी, सिं० सुख सिंह जी आदि ने कार्तिक शु० ५ बुधवार वि०सं० १६२२ को इसी मंदिर के अहाते में दूसरा शिखरबंद गगनचुम्बी मंदिर बनवाकर विशालकाय भगवान पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। सं० १६२४ में पुनः गजरथ महोत्सव इन्हीं के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस मंदिर की वेदी देशी पत्थर की बनी है। जिसमें कलात्मक पच्चीकारी मेहराव आदि बनी हैं। इसी मंदिर में स्थित प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ सुदृष्टि तरंगिणी की प्रशस्ति से यह जाना गया कि सम्वत् १८५६ में तत्कालीन नरेश पं. मोरो जी ने ससम्मान परवार कुलोत्पन्न ऐंडरीमूर वांभुल्य गोत्र, श्री उमराव जी उर्फ लल्लाजूसाव को सोंरई ग्राम से ससम्मान मड़ावरा बुलवाया था। तथा राजदरबार में स्वर्णाभूषणों से सम्मान कर सोरई प्रवासी होने से "सौंरया जी" शब्द का संबोधन किया। उसी परम्परा में श्री माड़नलाल देवीदास आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने जन्म लेकर सौंरया वंश की यशो वृद्धि की। अतः सिंघई और सौंरया यह दोनों वंश मडावरा की स्थापना के समय से इस नगर के निवासी हैं।

६. बाजार का मंदिर—फाल्गुन शु० १५ बुधवार वि०सं० १८६३ को गोलालारे कुलोत्पन्न आशाराम बिहारीलाल जी ने इस मंदिर की एवं इसमें स्थापित भ० नेमिनाथ की विशाल भव्य खड्गासन मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई। यह मूर्ति वीतरागता, मनोज्ञता, सौम्यता में अद्वितीय है। सम्वत् १६१२ ज्येष्ठ शु० ५ रविवार को पुनः इसी परिवार में सर्राफ नंदजू, बसंत, थोवन ने विशाल पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ स्थापित कराकर प्रतिष्ठा कराई।

७. नीचे पुरा का मन्दिर—इसका प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता। ज्येष्ठ शु० ५ गुरुवार सं० १८६७ को इस मंदिर के मूलनायक की प्रतिष्ठा होना लिखा है। सम्भवतः यह मंदिर इसी समय बना हो। यह गोलालारे समाज के सिंघईजीके द्वारा बनवाया गया ऐसी जानकारी परम्परागत सुनने में आई। यह सदैव से गोलालारे समाज के संरक्षण में रहा।

इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर १६ से २० शदी तक मड़ावरा नगर में अनेक पंचकल्याणक प्रतिष्ठाऐं व गजरथ हुए। मंदिरों का यह इतिहास, मूर्ति शिलालेखों, ग्रंथप्रशस्तियो एवं परम्परागत प्रचलित कथानकों के आधार पर लिखा गया है।

मड़ावरा नगर में महापुरुषों का सद्भाव और वर्णी जी का जन्म—ऐतिहासिक प्रमाणों एवं प्राचीन हस्त-लिखित पुराण ग्रंथों पर अंकित प्रशस्तियों से यह जाना जा सकता है कि मडावरा में सदैव धर्म की महती

प्रभावना होती आई है। तथा समय समय पर विशिष्ट श्रीमानों, विद्वानों, व्रतियों एवं महापुरुषों ने यहां जन्म लेकर अपनी यशः कीर्ति चिरस्मरणीय की है।

इसी परम्परा में कुँवार वदी चौथ वि०सम्वत् १९३१ के दिन मड़ावरा मूलनिवासी एवं हँसेरा-प्रवासी श्रीमान् हीरालाल जी के घर माँ उजियारी की कूख से एक बालक ने जन्म लिया। नाम 'गणेश' रखा गया। कौन जानता था कि असाटी जाति मे जन्म लेने वाला गणेश जैनधर्म का अधिकारी विद्वान, महान आध्यात्मिक संत, और विश्ववंद्य युगपुरुष बनेगा। पूज्य वर्णी जी ने मेरी जीवन-गाथा के प्रथम पृष्ठ पर अपना परिचय देते हुए लिखा है।

"मेरा नाम गणेश वर्णी" है। मेरा जन्म सम्वत् १९३१ के कुँवार वदी ४ को हँसेरे गाँव में हुआ था। यह ग्राम जिला ललितपुर (झाँसी) तहसील महरौनी के अन्तंगत मदनपुर थाने मे स्थित है। पिता का नाम श्री हीरालाल जी और माता का नाम उजियारी था। मेरी जाति असाटी थी। यह प्रायः बुन्देलखण्ड में पाई जाती है। इस जाति वाले– वैष्णव धर्मानुयायी होते हैं। पिताजी की स्थिति सामान्य थी।"

मड़ावरा के संबंध में "मेरी जीवन गाथा" में वर्णी जी ने लिखा है—"मेरी आयु जब ६ वर्ष की हुई तब मेरे पिता मड़ावरा आ गए थे। तब वहाँ पर मिडिल स्कूल था डाकखाना था और पुलिस थाना भी था। नगर अति रमणीय था। यहाँ पर १० जिनालय और दिगम्बर जैनियों के १५० घर थे। प्रायः सब सम्पन्न थे। दो घराने तो बहुत ही धनाढ्य और जनसमूह से पूरित थे।"

अपने विषय में वर्णी जी ने स्वयं लिखा है "मैंने ७ वर्ष की अवस्था में विद्यारम्भ किया और १४ वर्ष की अवस्था में मिडिल पास हो गया चूँकि यहाँ पर यहीं तक शिक्षा थी अतः आगे नहीं बढ़ सका। मेरे घर के सामने एक जिनालय था, इसलिए वहाँ भी आया करता था। उस मुहल्ले में जितने घर थे सब जैनियों के थे। उन लोगों के सहवास से प्रायः हमारे पिता का आचरण जैनियों के सदृश हो गया था। रात्रिभोजन मेरे पिता नहीं करते थे। जब मैं १० वर्ष का था तब की बात है सामने मंदिर जी के चबूतरे पर प्रतिदिन पुराण प्रवचन होता था एक दिन त्याग का प्रकरण आया—बहुत से भाइयों ने प्रतिज्ञा ली मैंने भी उसी दिन आजन्म रात्रिभोजन त्याग दिया। इसी त्याग ने मुझे जैनी बना दिया।"

वर्णी जी २० वर्ष की अवस्था तक मड़ावरा रहे। एक ओर जहाँ पिता के धार्मिक संस्कारों एवं जैनधर्म के प्रति गहन आस्थामय विचारों का प्रभाव बालक वर्णी के जीवन में सहकारी हुआ तो दूसरी ओर अपने आत्मीय बालमित्रों में अभिन्न स्व० सिं० हरीसिंह जी सौरया (जो कि लेखक के बाबा थे) के मैत्री व्यवहारों एवं पवित्र धर्माचरण के संस्कारों से वर्णी जी के अन्तःकरण में जिनश्रद्धान का अंकुरण परिपक्व होता गया। वर्णी जी ने मेरी-जीवन-गाथा में अनेकों जगह अभिन्न लंगुटया मित्र के रूपमे स्व० हरिसिंह सौरया को आदर के साथ स्मरण किया है।

अपनी निवासभूमि मड़ावरा के उज्ज्वल इतिहास में–वि० सम्वत् १९७५ में मड़ावरा में विशाल विमानोत्सव हुआ। वर्णी जी ने अक्षयतृतीया के दिन सागर में "सत्तर्क सुधानरंगिणी" पाठशाला की स्थापना की थी। उस समय वर्णी जी की उम्र ३३ वर्ष की थी। मड़ावरा समाज ने ऐसे पुनीत अवसर पर वर्णी जी को सागर से बुलवाया। वर्णी जी अपने ज्ञान, आचरण और समाज एवं धर्म सेवा की अभूतपूर्व प्रवृत्तियों के कारण आदर श्रद्धा के साथ लोकप्रियता पाते जा रहे थे। मड़ावरा समाज अपने ऐसे गौरवशाली बेटे के कारण अपने आपको अहोभाग्य मानकर गौरवान्वित था। समाज को विश्वास था कि हमारा लाल हमें ज्ञान और आचरण की दिशा में जो भी प्रकाश देगा वह पीढ़ियों तक रहेगा। हुआ भी ऐसा ही। वर्णी जी ने हितवर्धिनी दि० जैन पाठशाला की स्थापना कर अपनी निवासभूमि के गौरव को समुन्नत किया। वर्णी जी ने स्वयं लिखा है। "मड़ावरा से, जहाँ पर कि मेरा बाल्यकाल्य बीता था, एक पत्र इस आशयका आया कि'

आप पत्र के देखते ही चले आइए। यहाँ पर श्री जिनेन्द्र भगवान के विमान निकालने का महोत्सव है। हम सानंद मड़ावरा पहुँच गए उस समय वहाँ समाजमें परस्पर अत्यंत प्रेम था। तीन दिन का उत्सव था। अन्त में मैंने कहा—"भाई एक प्रस्ताव परवार सभा में पास हो चुका है कि जो ५०००) विद्यादान में देवे उसे सिंघई पद दिया जावे। इस ग्राम में सौ से ऊपर घर हैं, परन्तु बालकों को जैनधर्म का ज्ञान कराने के लिए कुछ भी साधन नहीं है" जहाँ पर १० मंदिर हों, बड़े बड़े बिम्ब सुन्दर सुन्दर वेदिकाएँ और अच्छे अच्छे गानविद्या के जानने वाले हों, वहाँ धर्म के जानने का कुछभी साधन न हो, यह यहाँ इस समाज को भारी कलंक की बात है। अतः मुझे आशा है कि सौरया वंश के महानुभाव इस त्रुटि की पूर्ति करेंगे। मेरे बाल्यकाल के मित्र श्री सौरया हरीसिंह जी हँस गए। उनके हास्य से मैंने आगत जन समुदाय के बीच घोषणा करदी कि बड़ी खुशी की बात है कि हमारे बाल्यकाली मित्र ने सिंघई पद के लिए ५०००) का दान दिया। मैंने श्री दामोदर सिंघई से कहा कि भैया आपतो जानते हैं कि इतने में तो एक अध्यापक ही न मिल सकेगा आशा है आपभी ५०००) का दान देकर ग्राम की कीर्ति को अजर अमर कर देवेंगे। उन्होंने कहा—इससे उत्तम क्या होगा कि हमारे द्वारा बालकों को ज्ञानदान मिले। 'पंचोंने सौरया वंश के प्रमुख-व्यक्तियों को पगड़ी बांधी और केशर का तिलक लगा कर 'सिंघई जी जुहार' का दस्तूर अदा किया। पश्चात् सिं० दामोदरदास जी को भी केशर का तिलक लगा कर पगड़ी बांधी और 'सवाई सिंघई' पद से विभूषित किया। इस तरह जैन पाठशाला के लिए दश हजार का मूलधन अनायास हो गया।" इस प्रकार पूज्य वर्णी जी ने मड़ावरा में ज्ञानप्रकाशिनी संस्था की स्थापना कर महान उपकार किया इसी पाठशाला से सैकड़ों विद्वानों ने जन्म लिया।

अपनी जन्मभूमि के अंतिम दर्शन—अपनी बुन्देलखण्ड की अंतिम ऐतिहासिक यात्रा में वर्णीजी अनेकों जगह पाठशालाओं, विद्यालयों की स्थापना के साथ सामाजिक मनोमालिन्यों एवम् मतभेदों को दूर करते हुए अगहन शुक्ला ३ वि०संवत् २००४ तदनुसार दिनांक १५-१२-१९४७ सोमवार को प्रातः मड़ावरा पधारे। ३ दिन मड़ावरा रहे। पूज्य वर्णीजी का सह आगमन उनकी पुनीत ऐतिहासिक स्मृति ही बन गया। उनकी वाणी में स्नेह और आत्मीयता का जादू था। मड़ावरा जैनसमाज के बीच जो मतभेद और मनोमालिन्य था उनके आगमन से स्नेह और एकता में परिणत हो गया। पाठशाला जो बंद हो चुकी थी पुनः चालू हो गई और पूज्य वर्णी जीकी पुनीत स्मृति में एक सार्वजनिक उपयोगी—"वर्णीभवन" का निर्माण किया गया। इस संदर्भ में वर्णी जीने स्वयं लिखा है। "रात्रिको हँसरा ग्राम में बस रहे। वहाँ पर हमारी जन्मभूमि के रहने वाले हमारे लंगोटिया मित्र सिंघई हरिसिंह जी आगए। बाल्यकाल की बहुत सी चर्चा हुई। प्रातः काल मड़ावरा पहुँच गए। हम यहाँ ३ दिन रहे। यहीं पर एक दिन ३ बजे श्रीमान् पं० बंशीधर जी इन्दौर आगए, आपका रात्रि को प्रवचन हुआ, जिसे श्रवण कर श्रोता लोग मुग्ध हो गए। मड़ावरा में पंडित जी तथा समगौरया जी के अथक परिश्रम से पाठशाला का जो चन्दा बन्द था वह उगाया और यहाँ के जैनियों में परस्पर जो मालिन्य था वह भी दूर हो गया।"

वर्णीजी उस प्रकाशमान ज्योतिर्मय दिवाकर की भांति थे, जिसका प्रकाशपुञ्ज सर्वत्र समानरूप व्यापक रहा। ऐसे महापुरुष की पुनीत शताब्दी के पावन प्रसंग पर हम उनके पावन चरणों में कोटिशः नमन करते हैं।

❋

१९

श्रुत-पञ्चमी

त्यागियों और विद्वानों से—

श्रुतपंचमी का यह पर्व हमको यह शिक्षा देता है कि **यदि कल्याण करने की इच्छा है तब ज्ञानार्जन करो। ज्ञानार्जन के बिना मनुष्यजन्म की सार्थकता नहीं।** देव और नारकियों में तीन ज्ञान होते हैं। जो ज्ञान होते हैं उनमें वे विशेष वृद्धि नहीं कर सकते हैं। जैसे देवों के देशावधि है वे उसे परमावधि, सर्वावधि नही कर सकते। हां, यह अवश्य है जैसे उनके मिथ्यादर्शन का उदय हो तब उनका ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलावेगा। सम्यग्दर्शन के हो जाने पर सम्यग्ज्ञान हो जावेगा। परन्तु देवपर्याय में संयम का उदय नहीं। अतः आपर्याय वही अविरत अवस्था रहेगी।

मनुष्य पर्याय ही की विलक्षण महिमा है। जो सकल-संयम धारण कर संसार-बंधन-विनाश कर सकता है। यदि संसार का नाश होता है तब इसी पर्याय में होता है। अतः इस पर्याय की महत्ता संयम से ही है। हम निरन्तर संसार को यह उपदेश देते हैं कि मनुष्य जन्म पाकर इसकी सार्थकता इसी में है कि ऐसा उपाय करो जिससे फिर संसार-बंधन में न बँधना पड़े। **इस उपदेश का तात्पर्य केवल सम्यग्दर्शन से नहीं; क्योंकि सम्यग्दर्शन तो चारों गतियों में होता है।** केवल इसको प्राप्त किया तब क्या विशेषता हुई। **अतः इससे उत्तर संयम धारण करना ही इस पर्याय की सफलता है।**

आजकल बड़े बड़े विद्वान यह उपदेश देते हैं कि स्वाध्याय करो। यही आत्मकल्याण का मार्ग है। उनसे यह प्रश्न करना चाहिए, महानुभाव ! भगवन् !! विद्वच्छिरोमणि !!! आपने आजन्म विद्याभ्यास किया। सहस्रों को उपदेश दिया। स्वाध्याय तो आपका जीवन ही है। हम जो चलेंगे सो आपके उपदेश पर चलेंगे। परन्तु देखते हैं आप स्वयं स्वाध्याय करने का कुछ लाभ नहीं लेते। अतः हमको तो यही श्रद्धा है कि **स्वाध्याय के करने से यही लाभ होगा कि अन्य को उपदेश देने में पटु हो जावेंगे।** सो प्रायः जितनी बातों का उपदेश आप करते हैं हम भी कर देते हैं। प्रत्युत एक बात हम लोगों में विशेष है कि हम आपके उपदेश से दान करते हैं। अपने बालकों को यथाशक्ति जैनधर्म का ज्ञान कराने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु आप में वह बात नही देखी जाती। आपके पास चाहे पचासों हजार रुपया हो जावे परन्तु आप उसमें से दान न करेंगे। अन्य की कथा छोड़िए। आप जिन विद्यालयों द्वारा विद्वान हुए, उनके अर्थ कभी १००) न भेजे होंगे। निज की बात छोड़ो। अन्य से यह न कहा होगा कि भाई ! हम तो अमुक विद्यालय से विद्वान हुए उसकी सहायता करनी चाहिए। जगत को उपदेश धर्म जानने का देवेंगे, परन्तु अपने बालकों को एम० ए० ही बनाया होगा। धर्मशिक्षा का मिडिल भी न कराया होगा। अन्य को मद्य, मांस, मधु के त्याग का उपदेश देते हैं। आपसे कोई पूँछे कि आपके अष्टमूल गुण हैं तो हँस देवेंगे। व्याख्यान देते देते पानी का गिलास कई बार आ जावे तो कोई बड़ी बात नही। हमारे श्रोतागण भी इसी में प्रसन्न हैं कि पं० जी ने

सभी को प्रसन्न कर लिया।

यदि यह पंडितवर्ग चाहे तब समाज का बहुत कुछ हित कर सकता है। जो पंडित हैं वे नियम कर लेवें कि जिस विद्यालय से हमने प्रारम्भ में विद्यार्जन किया है और जिसमें अन्त में स्नातक हुए अपने को कृतज्ञ बनने के लिए दो प्रतिशत देवेंगे। एक प्रतिशत प्रारम्भ विद्यालय के लिए तथा एक प्रतिशत अंतिम विद्यालय को प्रतिमास भिजवावेंगे। यदि २००) मास उपार्जन होता होगा तब २।।) प्रतिमास भिजवावेंगे। तथा एक वर्ष में २० दिन दोनों विद्यालयों के अर्थ देवेंगे। अथवा यह न दे सकें तब कम से कम जहाँ जावें उन विद्यालयों का परिचय तो करा देवें। जिनको १००) से कम आय हो वह प्रतिवर्ष ५) ५) अपनी संस्था मातेश्वरी को पहुँचा देवें। तथा यह भी न बने तब एक वर्ष में कम से कम जिस ग्राम के हों वहां रहकर लोगों में धर्म प्रचार तो कर देवे।

त्यागियों की बात कौन कहे ? वह तो त्यागी है। किसके त्यागी हैं ? सो दृष्टि डालिए तो पता चलेगा। त्यागीवर्ग को यह उचित है जहाँ जावे वहाँ पर यदि विद्यालय हो तब ज्ञानार्जन करें। **केवल हल्दी, धनियां, जीरे के त्याग में ही अपना समय न बितावें।** गृहस्थों के बालक जहाँ अध्ययन करते हैं वहाँ अध्ययन करें तथा शास्त्रसभा में यदि अच्छा विद्वान हो तो उसके द्वारा शास्त्रप्रवचन प्रणाली की शिक्षा लेवें। केवल शिक्षाप्रणाली ही तक न रहें, किन्तु संसार के उपकार में अपने को लगा देवें। यह तो व्यवहार है। अपने उपकार में इतने लीन हो जावें कि अन्य बात ही उपयोग में न आवे।

श्रुत-पञ्चमी
वि० सं० २००८

कल्याण का मार्ग पर पदार्थों से भिन्न जो निजद्रव्य है उसी में रत हो जाना है। इसका अर्थ यह है जो पर में रागद्वेष विकल्प होते हैं उसका मूल कारण मोह है। यदि मोह न हो तब यह वस्तु मेरी है यह भाव भी न हो। तब उसमें राग हो, यह सर्वथा नहीं हो सकता। प्रेम तभी होता है जब उसमें अपने अस्तित्व की कल्पना की जावे। देखो ! प्रायः मनुष्य कहते हैं हमारा विश्वास अमुक धर्म में है। हमारी तो प्रीति इसी धर्म में है। विचार कर देखो, प्रथम उस धर्म को निज का मानना भी तो उसमें प्रेम हुआ। और यदि धर्म को निज का न माने तब उसमें अनुराग होना असम्भव है। यही कारण है कि एक धर्म वाला अन्य धर्म से प्रेम नहीं करता। अतः **जिनको आत्मकल्याण करना है वे आत्मा से राग करें। जो आत्मा नहीं, उनसे न राग करें और न द्वेष करें।** आत्मा एक द्रव्य है, ज्ञान दर्शन वाला है, बल्कि यह भी व्यवहार है। ज्ञान दर्शन के विकल्प क्षयोपशम ज्ञान में होते हैं।

—गणेश वर्णी

—वर्णी-वाणी ३/२६०

तृतीय खण्ड

प्रवचन और चिन्तन
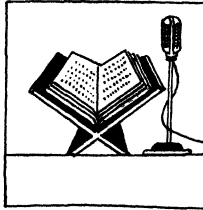
तृतीय खण्ड

प्रवचन और चिन्तन
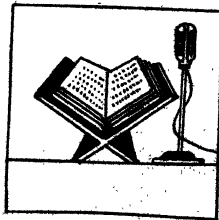
उनके अक्षर—उनकी बात

उपादान और निमित्त अपनी अपनी सीमा के भीतर परिणमन करते हुए भी किस प्रकार कार्य की कारणता प्राप्त करते हैं; यही रहस्य स्याद्वाद की कुंजी है। पूज्य वर्णीजी कितने सुगम शब्दों में इस रहस्य का उद्घाटन कर देते थे—

धर्म्म तो आत्मा में है, हम निमित्तों में
खोजते हैं। चश्मा निमित्त देखने में
(आत्मा का) नेत्र बिना आत्मा
नहीं देख सकता अतः नेत्र की
रक्षा भी आवश्यक है—चश्मा
भी सहकारी है।

गणेश वर्णी

भगवान् महावीर

समय—

बिहार प्रान्तके कुण्डनपुरनृपति सिद्धार्थकी आँखों का तारा, त्रिशलाका दुलारा बालक महावीर, कौन जानता था मूकोंका संरक्षक, विश्वका कल्याणपथदर्शक बनेगा ?

ईसवी सन्के ५९८ वर्ष पूर्व भगवान् श्री पार्श्वनाथके निर्वाण पश्चात् कोई धर्मप्रवर्तक न रहा। स्वार्थी जन अपने स्वार्थ साधनके लिये अपनी ओर, अपने धर्मकी ओर दूसरों को आकर्षित करनेके लिए यज्ञबलिवेदियोंमें जीवोंको जला देना भी धर्म बताने लगे। अश्वमेध, नरमेध जैसे हिंसात्मक कार्योंको भी स्वर्ग और मोक्षका सीधा मार्ग कहकर जीवोंको भुलावेमें डालने लगे। संसार श्मशान प्रतीत होने लगा। एक रक्षककी ओर जनता आशा भरी दृष्टि लिये देखने लगी। यही वह समय था, जब भगवान् महावीरने भारत वसुन्धराको अपने जन्मसे सुशोभित किया था।

बाल जीवन—

सर्वत्र आनन्द छागया, राजपरिवार एक कुलदीपक को और विश्व एक अलौकिक दिव्यज्योति को प्राप्तकर अपने आपको धन्य समझने लगा। बालक महावीर दोयज के चन्द्रके समान बढ़ते हुए दुःखातुर संसारको त्राण देनेके लिए विद्याभ्यासी और अनेक कलाओंके पारगामी एवं कुशल संरक्षकके रूपमें दुनियाके सामने आये। अवस्थाके साथ उनके दया दाक्षिण्यादि गुण भी युवावस्थाको प्राप्त हो रहे थे। अपनी सुन्दरता, युवावस्था, विद्या और कलाओंका उन्हें कभी अभिमान नहीं हुआ।

श्री वीर प्रभुने बाल्यावस्थासे लेकर तीस वर्ष की आयु तक घर ही में समय बिताया। उन वर्षोंको अविरत अवस्था ही में व्यय किया। श्री वीर-प्रभु बाल-ब्रह्मचारी थे। अतः सबसे कठिन व्रत जो ब्रह्मचर्य है उन्होंने अविरतावस्थामें ही पालन किया, क्योंकि संसारका मूल कारण स्त्रीविषयिक राग ही है। इस रागपर विजय पाना उत्कृष्ट आत्माका ही काम है। वास्तवमें वीर प्रभुने इस व्रतका पालन कर संसारको दिखा दिया—"यदि कल्याण करना इष्ट है तब इस व्रतको पालो। इस व्रतको पालनेसे शेष इन्द्रियोंके विषयोंमें स्वयमेव अनुराग कम हो जाता है।"

आदर्श ब्रह्मचारी—

वीर प्रभुने अपने बाल-जीवनसे हमको यह शिक्षा दी कि—"यदि अपना कल्याण चाहते हो तो अपनी आत्माको पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे और ज्ञानपरिणतिको परपदार्थोंमें उपयोगसे रक्षित रखो।" बाल्यावस्थासे ही वीर प्रभु संसार के विषयोंसे विरक्त थे। क्योंकि सबसे प्रबल संसारमें स्त्रीविषयिक राग है अतः उस रागके बस होकर यह आत्मा अन्धा हो जाता है। जब पुंवेदका उदय होता है तब यह जीव स्त्रीसेवन की इच्छा करता है। प्रभुने अपने पितासे कह दिया—"मैं इस संसार के कारण विषयसेवनमें नही पड़ना चाहता।" पिताने कहा—"अभी तुम्हारी युवावस्था है अतः दैगम्बरी दीक्षा अभी तुम्हारे योग्य नहीं। अभी तो सांसारिक कार्य करो, पश्चात् श्री आदिनाथ स्वामीकी तरह विरक्त हो जाना।" श्री वीर प्रभुने उत्तर दिया—"पहलेतो कीचड़ लगाया जावे, पश्चात् जलसे उसे धोया जावे, यह मैं उचित नहीं समझता। विषयोंसे कभी आत्म-तृप्ति नहीं होती। यह विषय तो खाज खुजानेके सदृश हैं। प्रथम तो यह सिद्धान्त है कि परपदार्थ का परिणमन पर में हो रहा है, हमारा परिणमन हममें हो रहा है। उसे हम अपनी इच्छाके अनुकूल परिणमन नहीं करा सकते। इसलिये उससे सम्बन्ध करना योग्य

नहीं है। जो पदार्थ हमसे पृथक् हैं उन्हें अपनाना महान अन्याय है। अतः जो परकी कन्या हमसे पृथक् है उसे मैं अपना बनाउं, यह उचित नहीं।

प्रथम तो हमारा आपका भी कोई सम्बन्ध नहीं। आपकी जो आत्मा है वह भिन्न है, मेरी आत्मा भिन्न है। इसमें यही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आप कहते हैं विवाह करो, मैं कहता हूँ वह सर्वथा अनुचित है। यह विरुद्ध परिणमन ही हमारे और आपके बीच महान् अन्तर दिखा रहा है। अतः विवाहकी इस कथाको त्यागो। आत्म-कल्याणके इच्छुक मनुष्यको चाहिये कि वह अपना जीवन ब्रह्मचर्य-पूर्वक व्यतीत करे। और उस जीवनका सदुपयोग ज्ञानाभ्यासमें करे। क्योंकि उस ब्रह्मचर्य व्रतके पालने से हमारी आत्मा रागपरिणति—जो अनन्त संसार में रुलाती है, उससे बच जाती है। यह तो अपनी दया हुई और उस राग-परिणतिसे जो अन्य स्त्रीके साथ सहवास होता है वह भी जब हमारी राग-परिणतिमें फँस जाती है तब उस स्त्रीका जीव भी अपनेको इस राग द्वारा अनन्त संसारमें फँसा लेता है। इसलिये दूसरेके फँसानेमें भी हम ही कारण होते हैं। इस प्रकार दो जीव इस राग व्यालके लक्ष्य हो जाते हैं। दोनोंका घात हो जाता है, अतः जिसने इस ब्रह्मचर्य व्रत को पाला उसने दो जीवों-को संसार बन्धनसे बचा लिया और यदि आदर्श उपस्थित किया तो अनेकोंको बचा लिया।"

वैराग्य की ओर—

कुमार महावीरकी अवस्था तीस वर्षकी थी। जब माता पिताने पुनः पुनः विवाहका आग्रह किया, राज्यभार ग्रहण करानेका अभिप्राय व्यक्त किया तब उन्होंने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"यह संसार बन्धनका मुख्य कारण है, इसको मैं अत्यन्त हेय समझता हूँ। जब मैंने इसे हेय माना तब यह राज्य सम्पदा भी मेरे लिए किस कामकी? अब मैं दिगम्बर-दीक्षा ग्रहण करूँगा। जब मैं रागको ही हेय समझता हूँ तब ये जो रागके कारण हैं वे पदार्थ तो सदा हेय ही हैं। वास्तवमें अन्य पदार्थ न तो हेय हैं, और न उपादेय हैं, क्योंकि वे तो पर-वस्तु हैं। न वह हमारे हितकर्ता हैं, न वह हमारे अहितकर्ता ही हैं। हमारी राग-द्वेषपरिणति जो है उसमें हितकर्ता तथा अहितकर्ता प्रतीत होते हैं। वास्तवमें हमारे साथ जो अनादि कालसे रागद्वेषका सम्बन्ध हो रहा है वही दुःखदाई है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञाता-दृष्टा है, देखना-जानना है, उससे जो रागद्वेषमोहकी कलुषता है वही संसारकी जननी है। आज हमारे यह निश्चय सफल हुआ कि इन पर-पदार्थोके निमित्तसे रागद्वेष होता है। उस रागद्वेषके निमित्तको ही त्यागना चाहिए। निश्चय सफल हुआ, इसका अर्थ यह है कि सम्यग्दर्शनके सहकार से ज्ञान तो सम्यक् था ही और बाह्य पदार्थोंसे उदासीनता भी थी, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे उन पदार्थोंको त्यागनेमें असमर्थ थे, परन्तु आज उन अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान कषायके अभावमें वे पदार्थ स्वयं छूट गये। छूटे हुये तो पहले ही थे, क्योंकि भिन्न सत्ता वाले थे, केवल चारित्रमोहके उदय में सम्यग्ज्ञानी होकर भी उनको छोड़नेमें असमर्थ थे। यद्यपि सम्यग्ज्ञानी होनेसे भिन्न समझता था। आज पितासे कह दिया-"महाराज ! इस संसारका एक अणुमात्र भी परद्रव्य मेरा नही"—क्योंकि—

> **"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूबी।**
> **ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि।"**

अर्थात् मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ। ज्ञानदर्शनमय हूँ। सदा अरूपी हूँ। इस संसारमे परमाणुमात्र भी मेरा नही है। मेरे ज्ञानमें परपदार्थ दर्पणकी तरह बिम्बरूपसे प्रतिभासित हो रहे हैं, यह ज्ञानकी स्वच्छता है। अर्थात् ज्ञानकी स्वच्छता का उदय है। इससे ज्ञेयका अंश मुझमें नही आता—यह दृढ़ निश्चय है। जैसे दर्पण जो रूपी पदार्थ है, उसकी स्वच्छता स्वपराव-भासिनी है। जिस दर्पणके समीपभागमें अग्नि रक्खी है उस दर्पणमें अग्निके निमित्तको पाकर उसकी स्वच्छता में अग्नि प्रतिबिम्बित हो जाती है। परन्तु क्या दर्पणमें अग्नि है ? नहीं, जब दर्पणमें अग्नि नहीं तब अग्निकी ज्वाला और उष्णता भी दर्पणमें नहीं। तब यह मानना पड़ेगा कि अग्निकी ज्वाला और उष्णता तो अग्निमें ही हैं, दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब दिख रहा है वह दर्पणकी

स्वच्छताका विकार है। इसी तरह ज्ञानमें जो ये बाह्य पदार्थ भासमान हो रहे हैं वे बाह्य पदार्थ नहीं। बाह्य पदार्थकी सत्ता तो बाह्य पदार्थोंमें है। ज्ञानमें जो भासमान हो रहा है वह ज्ञानका ही परिणमन हो रहा है।"

साधना के पथ पर--

पश्चात् श्री वीर प्रभुने संसारसे विरक्त हो दैगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। सभी प्रकारके बाह्याभ्यन्तर परिग्रहका त्याग कर दिया। बालोंको घासफूसकी तरह निर्ममताके साथ उखाड़ फेंका। ग्रीष्मकी लोल लपटें, मूसलाधार वर्षा और शिशिरका झंझावत सहन कर प्रकृतिपर विजय प्राप्त की और अनेक उपसर्गोंको जीतकर अपने आप पर विजय प्राप्त की। उन्होंने बताया- "वास्तवमें यह परिग्रह नहीं। मूर्च्छाके निमित्त होनेसे इन्हें उपचारसे परिग्रह कहते हैं। धन-धान्य आदि पदार्थ पर वस्तु हैं। कभी आत्माके साथ इनका तादात्म्य हो सकता है ? इन्हें अपना मानता है, यह मानना परिग्रह है। उसमें ये निमित्त पड़ते है इससे इन्हें निमित्तकारणकी अपेक्षा परिग्रह कहा है। परमार्थसे तो क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसकवेद और मिथ्यात्व ये आत्माके चतुर्दश अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। इनमे मिथ्यात्व भाव तो आत्माके सम्यग्दर्शन गुणका विकार है जो दर्शनमोहनीय कर्मके विपाकसे होता है। शेष जो क्रोधादि तेरह प्रकारके भाव हैं वे भाव चारित्र-मोहनीय कर्मके विपाकसे होते हैं। इन भावोंके होनेसे आत्मामें अनात्मीय पदार्थमें आत्मीय बुद्धि होती है।

जब आत्मामें मिथ्यात्व भावका उदय होता है उस कालमे इसका ज्ञान विपर्यय हो जाता है। यद्यपि ज्ञानका काम जानना है, वह तो विकृत नही होता अर्थात् जैसे कामला रोग वाला नेत्रसे देखता तो है ही परन्तु शुक्ल वस्तुको पीला देखेगा। जैसे शंख शुक्लवर्ण है वह शंख ही देखेगा परन्तु उसे पीतवर्ण देखेगा। एवं मिथ्यादर्शनके सहवाससे ज्ञानका जानना नही मिटेगा। परन्तु विपरीतता आ जावेगी। मिथ्यादृष्टि जीव शरीरको आत्मा रूपसे देखेगा अर्थात् शरीरमें शरीरत्व धर्म है पर यह अज्ञानी (मिथ्याज्ञानी) जीव उसमे आत्मत्व धर्मका मान करेगा। परमार्थसे शरीर आत्मा नहीं होगा और न तीन काल में आत्मा हो सकता है, क्योंकि वह जड पदार्थ है उसमें चेतना नही, परन्तु मिथ्यात्वके उदयसे 'शरीरमें आत्मा है" यह बोध हो ही जाता है। तब इसका ज्ञान मिथ्या कहलाता है। इसका कारण बाह्य प्रमेय है। वैसा नही जैसा इसके ज्ञानमें आ रहा है। तब यह सिद्ध हुआ कि बाह्य प्रमेय की अपेक्षासे यह मिथ्याज्ञान है। अन्तरङ्ग प्रमेयकी अपेक्षा तो विपयबाधित न होनेसे उस कालमें उसे मिथ्या नहीं कह सकते। अतएव न्यायमें विकल्पसिद्ध जहाँ पर होता है वहाँ पर सत्ता या असत्ता ही साध्य होता है।

अनादिकालसे यह जीव इसी चक्करमें फँसा हुआ अपने निज-स्वरूपसे बहिष्कृत हो रहा है। इसका कारण यही मिथ्याभाव है। क्योंकि मिथ्यादृष्टिके ज्ञानमें "शरीर ही आत्मा है" ऐसा प्रतिभास हो रहा है। उस ज्ञानके अनुकूल वह अपनी प्रवृत्ति कर रहा है। जब शरीरको आत्मा मान लिया तब जो शरीरके उत्पादक हैं उन्हें अपने माता-पिता और जो शरीरसे उत्पन्न हैं उनमें अपने पुत्र पुत्री तथा जो शरीरसे रमण करनेवाली है उसे स्त्री मानने लगता है। तथा जो शरीरके पोषक धनादिक हैं उन्हें अपनी सम्पत्ति मानने लगता है। उसीमें राग-परणति कर उसीके संचय करनेका उपाय करता है। इसमें जो बाधक कारण होते हैं उनमें प्रतिकूल राग द्वेष द्वारा उनके पृथक् करनेकी चेष्टा करता है। मूल जड़ यही मिथ्यात्व है जो शेष तेरह प्रकारके परिग्रहकी रक्षा करता है। इन्ही चतुर्दश प्रकारके परिग्रह से ही तुमको संसारकी विचित्र लीला दिख रही है यदि यह न हो तो यह सभी लीला एक समयमें विलीन हो जावे।"

दिव्योपदेश--

दैगम्बरी दीक्षाका अवलम्बन कर भगवान महावीर बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण कर केवलज्ञानके पात्र हुए। केवलज्ञानके बाद भगवान्ने दुःखातुर संसारको दिव्योपदेश दिया--

"संसारमें दो जातिके पदार्थ हैं--चेतन, और

अचेतन। अचेतनके पाँच भेद हैं -- पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। चार पदार्थोंको छोड़कर जीव और पुद्गल यह दो पदार्थ प्रायः सबके ज्ञानमें आ रहे हैं। जीव नामक जो पदार्थ है वह प्रायः सभीके प्रत्यक्ष है, स्वानुभव गम्य है। सुख दुःखका जो प्रत्यक्ष होता है वह जिसे होता है वही आत्मा है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, यह प्रतीति जिसे होती है वही आत्मा है। जो रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन्द्रियके द्वारा जाना जाता है वह रूपादि गुण वाला है—उसे पुद्गलद्रव्य कहते हैं। इन दोनों द्रव्योंकी परस्परमें जो व्यवस्था होती है उसीका नाम संसार है। इसी संसारमें यह जीव चतुर्गति सम्बन्धी दुखों-को भोगता हुआ काल व्यतीत करता है।

परमार्थसे जीव द्रव्य स्वतन्त्र है और पुद्गल स्वतन्त्र है—दोनोंकी परिणति भी स्वतन्त्र है। परन्तु यह जीव अज्ञानवश अनादिकालसे पुद्गलको अपना मान अनन्त संसारका पात्र हो रहा है। आत्मामें देखने-जाननेकी शक्ति है परन्तु यह जीव उस शक्ति का यथार्थ उपयोग नही करता अर्थात् पुद्गलको अपना मानता है, अनात्मीय शरीरको आत्मा मानकर उसकी रक्षाके लिये जो जो यत्न किया करता है वे यत्न प्रायः संसारी जीवोंके अनुभवगम्य होते हैं। इसलिए परमार्थसे देखा जाय तो कोई किसीका नही। इससे ममता त्यागो। ममताका त्याग तभी होगा जब इसे पहले अनात्मीय जानोगे। जब इसे पर समझोगे तब स्वयमेव इससे ममता छूट जायगी। इससे ममता छोड़ना ही संसार दुःखके नाशका मूल कारण है। परन्तु इसे अनात्मीय समझना ही कठिन है। कहने में तो इतना सरल है कि "आत्मा भिन्न है शरीर भिन्न है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा है, शरीर रूप रस गन्ध स्पर्शवाला है। जब आत्मा का शरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है तब शरीरमें कोई चेष्टा नही होती"। परन्तु भीतर बोध हो जाना कठिन है। अतः सर्वप्रथम अनात्मीय पदार्थो से अपनेको भिन्न जाननेके लिए तत्त्वज्ञानका अभ्यास करना चाहिए। आत्मज्ञान हुए बिना मोक्षका पथिक होना कठिन है, कठिन क्या असम्भव भी है। अतः अपने स्वरूपको पहि-चानो। तथा अपने स्वरूप को जानकर उसमें स्थिर होओ। यही संसारसे पार होने का मार्ग है।

"सबसे उत्तम कार्य दया है। जो मानव अपनी दया नही करता वह परकी भी दया नही कर सकता। परमार्थ दृष्टि से जो मनुष्य अपनी दया करता है वही परकी दया कर सकता है।

"इसी तरह तुम्हारी जो यह कल्पना है कि हमने उसको सुखी कर दिया, दुखी कर दिया। इनको बँधाता हूँ, इनको छुड़ाता हूँ, वह सब मिथ्या है। क्योंकि यह भावका व्यापार परमें नही होता। जैसे—आकाशके फूल नहीं होते वैसे ही तुम्हारी कल्पना मिथ्या है। सिद्धान्त तो यह है कि अध्यवसानके निमित्तसे बँधते हैं और जो मोक्षमार्गमें स्थित हैं वे छूटते हैं। तुमने क्या किया? यथा तुमने क्या यह अध्यवसान किया कि इसको बन्धनमें डालूँ और इसको बन्धनसे छुड़ा दूँ? नही अपितु यहाँ पर—"एनं बन्धयामि" इस क्रियाका विषय तो "इस जीवको बन्धनमें डालूँ" और एनं मोचयामि" इसका विषय—"इस जीवको बन्धनसे मुक्त करा दूँ" यह है। और उन जीवोंने यह भाव नही किये तब वह जीव न तो बँधे और न छूटे। तुमने वह अध्यवसान नहीं किया, अपितु उन जीवोंमें एकने सराग परिणाम किये और एकने वीतराग परिणाम किये तो एक तो बन्ध अवस्थाको प्राप्त हुआ, और एक छूट गया। अतः यह सिद्ध हुआ कि परमें अकिंचित्कर होने से यह अध्यवसान भाव स्वार्थ-क्रियाकारी नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि हम अन्य पदार्थ का न तो बुरा कर सकते हैं और न भला कर सकते हैं! हमारी अनादि कालसे जो यह बुद्धि है कि "वह हमारा भला करता है, वह बुरा करता है, हम पराया भला करते हैं; हम पराया बुरा करते हैं, स्त्री पुत्रादि नरक ले जानेवाले है, भगवान स्वर्ग मोक्ष देने वाले हैं।" यह सब विकल्प छोड़ो। अपना शुभ जो परिणाम होगा, वही स्वर्ग ले जाने वाला है। और जो अपना अशुभ परिणाम होगा वही नरकादि गतियोंमें ले जाने वाला है। परिणाममें वह पदार्थ विषय पड़ जावे, यह अन्य बात है। जैसे ज्ञानमें ज्ञेय आया इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञेयने ज्ञान उत्पन्न कर दिया। ज्ञान ज्ञेयका जो सम्बन्ध है उसे कौन रोक सकता है? तात्पर्य यह कि परपदार्थके प्रति रागद्वेष करनेका जो मिथ्या अभिप्राय हो रहा है उसे

त्यागो। अनायास निजमार्गका लाभ हो जावेगा। त्यागना क्या अपने हाथकी बात है? नहीं, अपने ही परिणामोंसे सभी कार्य होते हैं।

'जब यह जीव स्वकीय भावके प्रतिपक्षीभूत रागादि अध्यवसायके द्वारा मोहित होता हुआ सम्पूर्ण परद्रव्यों को आत्मामें नियोग करता है तब उदयागत नरकगति आदि कर्मके वश, नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, पाप, पुण्य जो कर्मजनित भाव हैं उन रूप अपनी आत्माको करता है। अर्थात् निर्विकार जो परमात्मतत्त्व है उसके ज्ञानसे भ्रष्ट होता हुआ "मैं नारकी हूँ, मैं देव हूँ" इत्यादि रूप कर उदयमें आये हुए कर्मजनित विभाव परिणामों की आत्मामें योजना करता है। इसी तरह धर्माधर्मास्तिकाय, जीव, अजीव, लोक, अलोक ज्ञेय पदार्थोंको अध्यवसानके द्वारा उनकी परिच्छित्ति विकल्प रूप आत्माको व्यपदेश करता है।

"जैसे घटाकर ज्ञानको घट ऐसा व्यपदेश करते हैं वैसे ही धर्मास्तिकाय विषयिक ज्ञानको भी धर्मास्तिकाय कहना असंगत नहीं। यहाँ पर ज्ञानको घट कहना यह उपचार है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब यह आत्मा पर पदार्थों को अपना लेता है तब यदि आत्म-स्वरूपको निज मान ले तब इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? स्फटिकमणि स्वच्छ होता है और स्वयं लालिमा आदि रूप परिणमन नही करता किन्तु जब उसे रक्तस्वरूप परिणत जपापुष्पका सम्बन्ध हो जाता है तब वह उसके निमित्तसे लालिमादि रंगरूप परिणत हो जाता है। फिर भी उसका लालिमादि रूप स्वभाव नहीं हो जाता। निमित्तके अभावमें वह स्वयं सहजरूप हो जाता है। इसी तरह आत्मा स्वभावसे रागादिरूप नहीं हैं परन्तु रागादिकर्मकी प्रकृति जब उदयमें आती है उस कालमें उसके निमित्तको पाकर यह रागादिरूप परिणमन प्राप्त हो जाता है। इसका स्वभाव भी रागादि नहीं है क्योंकि वे नैमित्तिक भाव हैं। परन्तु फिर भी इसमें होता है। जब निमित्त नहीं होता तब परिणमन नहीं करता। यहाँ पर आत्मा, चेतन पदार्थ है यह निमित्तको दूर करनेकी चेष्टा नहीं करता, किन्तु आत्मामें जो रागादिक हैं उन्हींको दूर करनेका उद्योग करता है और यह कर भी सकता है क्योंकि यह सिद्धान्त है—"अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कुछ नहीं कर सकता। अपनेमें जो रागादिक हैं वे अपने ही अस्तित्व में हैं, आप ही उसका उपादान कारण है। जिस दिन चाहेगा उसी दिनसे उनका ह्रास होने लगेगा!" उन रागादिकका मूल कारण मिथ्यात्व है जो सभी कर्मोंको स्थिति अनुभाग देता है। उसके अभावमें शेष कर्म रहते हैं। परन्तु उनको बल देने वाला मिथ्यात्व जानेसे वे सेनापति विहीनकी तरह हो जाते हैं। यद्यपि सेनामें स्वयं शक्ति है, परन्तु वह शक्ति उत्साहहीन होने से शूरकी शूरताकी तरह अप्रयो-जक होती रहती है। इसी तरह मोहादिक कर्मके बिना शेष सात कर्म अपने कार्योंमें प्रवृत्त नही होते। क्योंकि सेनापति जो मोह था उसका अभाव हो गया। उस कर्म-का नाश करने वाला यही जीव है जो पहले स्वयं चतुर्गति भवावर्तमें गोता लगाता था आज स्वयं अपनी शक्तिका विकास कर अनन्त सुखामृतका पात्र हो जाता है। जब ऐसी वस्तु-मर्यादा है तब आप भी जीव हैं यदि चाहें तो इस संसार का नाश कर अनन्तसुख के पात्र हो सकते हैं।"

यही संदेश भगवान महावीर ने अपने जीवन से व अपनी वाणी से हमें दिया है।

—वर्णी-वाणी : १ / ३१६-३२७

सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शनका अर्थ आत्मलब्धि है। आत्माके स्वरूप-का ठीक-ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धि के सामने सब सुख धूल हैं। सम्यग्दर्शन आत्माका महान् गुण है। इसीसे आचार्योंने सबसे पहले उपदेश दिया—"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है।" आचार्यकी करुणाबुद्धि तो देखो, मोक्ष तब हो जब कि पहले बन्ध हो। यहाँ पहले बन्धका मार्ग बतलाना था फिर मोक्षका, परन्तु उन्होंने मोक्ष-मार्गका पहले वर्णन इसीलिये किया है कि ये प्राणी अनादिकालसे बन्धजनित दुःखका अनुभव करते-करते घबरा गये हैं, अतः पहले उन्हें मोक्षका मार्ग बतलाना चाहिये। जैसे कोई कारागारमें पड़कर दुखी होता है, वह यह नहीं जानना चाहता कि मैं कारागारमें क्यों पड़ा? वह तो यह जानना चाहता है कि मैं इस कारागारसे कैसे छूटूं? यही सोचकर आचार्यने पहले मोक्षका मार्ग बतलाया है।

सम्यग्दर्शनके रहनेसे विवेक-शक्ति सदा जागृत रहती है, वह विपत्तिमें पड़ने पर भी कभी न्यायको नहीं छोड़ता। रामचन्द्रजी सीताको छुड़ाने के लिये लङ्का गये थे। लङ्काके चारों ओर उनका कटक पड़ा था। हनुमान आदिने रामचन्द्र जीको खबर दी कि रावण बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है, यदि उसे विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये जिससे कि हम लोग उसकी विद्याकी सिद्धिमें विघ्न डालें।

रामचन्द्रजीने कहा—'हम क्षत्रिय हैं, कोई धर्म करे और हम उसमें विघ्न डालें, यह हमारा कर्त्तव्य नहीं है।"

हनुमानने कहा—"सीता फिर दुर्लभ हो जायगी।"

रामचन्द्रजीने जोरदार शब्दोंमें उत्तर दिया—"एक सीता नहीं सभी कुछ दुर्लभ हो जाय, पर मैं अन्याय करने की आज्ञा नहीं दे सकता।"

रामचन्द्रजीमें इतना विवेक था, उसका कारण उनका विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन था।

सीताको तीर्थ-यात्राके बहाने कृतान्तवक्र सेनापति जङ्गलमें छोड़ने गया, उसका हृदय वैसा करना चाहता था क्या? नहीं; वह स्वामीकी आज्ञाकी परतन्त्रतासे गया था। उस समय कृतान्तवक्रको अपनी पराधीनता काफी खली थी। जब वह निर्दोष सीताको जङ्गलमें छोड़ अपने अपराधकी क्षमा माँग वापिस आने लगता है तब सीताजी उससे कहती हैं—"सेनापति! मेरा एक सन्देश उनसे कह देना। वह यह कि जिस प्रकार लोकापवादके भयसे आपने मुझे त्यागा, इस प्रकार लोकापवादके भयसे धर्मको न छोड़ देना।"

उस निराश्रित अपमानित दशामें भी उन्हें इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था? उनका सम्यग्दर्शन। आज कलकी स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानताके अधिकार बतलाती। इतना ही नहीं, सीताजी जब नारदजीके आयोजन द्वारा कुशलके साथ अयोध्या वापिस आती हैं, एक वीरता-पूर्ण युद्धके बाद पिता-पुत्रका मिलाप होता है, सीताजी लज्जासे भरी हुई राजदरबारमें पहुँचती हैं, उन्हें देखकर रामचन्द्रजी कह उठते हैं—"तुम बिना शपथ दिये, बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ?"

सीताने विवेक और धैर्यके साथ उत्तर दिया—"मैं समझी थी कि आपका हृदय कोमल है पर क्या कहूँ?

आप मेरी जिस प्रकार चाहें शपथ लें।"

रामचन्द्रजीने कहा—"अग्निमें कूदकर अपनी सचाई-की परीक्षा दो।"

बड़े भारी जलते हुए अग्निकुण्डमें सीताजी कूदनेको तैयार हुईं। रामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे कहते हैं कि सीता जल न जाय।"

लक्ष्मणजीने कुछ रोषपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया—'यह आज्ञा देते समय नहीं सोचा ? वह सती हैं, निर्दोष हैं, आज आप उनके अखण्ड शील की महिमा देखिये।"

उसी समय दो देव केवली की वन्दनासे लौट रहे थे, उनका ध्यान सीताजीका उपसर्ग दूर करनेकी ओर गया। सीताजी अग्निकुण्डमें कूद पड़ी, कूदते ही सारा अग्निकुण्ड, जलकुण्ड बन गया! लहलहाता कोमल कमल सीताजीके लिए सिंहासन बन गया। पुष्पवृष्टिके साथ "जय सीते! जय सीते!" के नादसे आकाश गूँज उठा! उपस्थित प्रजाजनके साथ राजा रामके भी हाथ स्वयं जुड़ गये, आँखोंसे आनन्दके अश्रु बरस उठे। गद्गद् कण्ठसे एकाएक कह उठे—"धर्मकी सदा विजय होती है। शीलव्रतकी महिमा अपार है।"

रामचन्द्रजीके अविचारित वचन सुनकर सीताजीको संसारसे वैराग्य हो चुका था, पर "निःशल्यो व्रती" व्रती को निःशल्य होना चाहिये। इसलिए उन्होंने दीक्षा लेनेसे पहले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षामें वह पास हो गई।

रामचन्द्रजी ने उनसे कहा—"देवि! घर चलो, अब तक हमारा स्नेह हृदयमें था, पर लोक-लाज के कारण आँखोंमें आ गया है।"

सीताजी ने नीरस स्वरमें कहा—"नाथ! यह संसार दुःखरूपी वृक्षकी जड़ है, अब मैं इसमें न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्यागमें ही है।"

रामचन्द्रजीने बहुत कुछ कहा—"यदि मैं अपराधी हूँ तो लक्ष्मणकी ओर देखो, यदि यह भी अपराधी है तो अपने बच्चों लव-कुशकी ओर देखो और एक बार पुनः घरमें प्रवेश करो।" पर सीताजी अपनी दृढ़तासे च्युत नहीं हुईं। उन्होंने उसी समय केश उखाड़ कर रामचन्द्रजीके सामने फेंक दिये और जङ्गलमें जाकर आर्या हो गईं। यह सब काम सम्यग्दर्शनका है, यदि उन्हें अपने आत्म-बलपर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती थीं? कदापि नहीं!

अब रामचन्द्रजीका विवेक देखिये जो रामचन्द्र सीता-के पीछे पागल हो रहे थे, वृक्षोंसे पूछते थे कि क्या तुमने मेरी सीता देखी है? वही जब तपश्चर्यामें लीन थे सीता-के जीव प्रतीन्द्रने कितने उपसर्ग किए पर वह अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुये। शुक्लध्यान धारण कर केवली अवस्थाको प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शनसे आत्मामें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होते हैं, जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। यदि आपमें यह गुण प्रकट हुये हैं तो समझ लो कि हम सम्यग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायगा कि तुम सम्य-ग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि। अप्रत्याख्यानावरण कषायका संस्कार छह माहसे ज्यादा नही चलता। यदि आपके किसीसे लड़ाई होने पर छह माहके बाद तक बदला लेनेकी भावना रहती है तो समझ लो अभी हम मिथ्या-दृष्टि हैं। कषायके असंख्यात लोक प्रमाण स्थान हैं उनमें उनका स्वरूप यों ही शिथिल हो जाना प्रशम गुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्थाके समय इस जीवकी विषयकषायमें जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नही होती। यह दूसरी बात है कि चारित्रमोहके उदयसे वह उसे छोड़ नही सकता हो पर प्रवृत्तिमें शैथिल्य अवश्य आ जाता है।

प्रशमका एक अर्थ यह भी है जो पूर्वकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है—"सद्यः कृतापराधी जीवों पर भी रोष उत्पन्न नहीं होना" प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजीने रावण पर जो रोष नहीं किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है।

प्रशम गुण तब तक नहीं हो सकता जब तक अनन्ता-नुबन्धी सम्बन्धी क्रोध विद्यमान है। उसके छूटते ही प्रशम गुण प्रकट हो जाता है। क्रोध ही क्या अनन्तानु-

बन्धी सम्बन्धी मान माया लोभ—सभी कषाय प्रशम गुणके घातक हैं।

संसार और संसारके कारणों से भीत होना ही संवेग है। जिसके सवेग गुण प्रकट हो जाता है वह सदा आत्मामें विकारके कारणभूत पदार्थोंसे जुदा होनेके लिये छटपटाता रहता है।

सब जीवोंमें मैत्री भावका होना ही अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि जीव सब जीवोंको समान शक्तिका धारी अनुभव करता है। वह जानता है कि संसारमें जीवकी जो विविध अवस्थाएँ हो रही हैं उनका कारण कर्म है, इसलिए, वह किसीको नीचा-ऊँचा नहीं मानता वह सबमें समभाव धारण करता है।

संसार, संसारके कारण, आत्मा और परमात्मा आदिमें आस्तिक्य भावका होना ही आस्तिक्य गुण है। यह गुण भी सम्यग्दृष्टिके ही प्रकट होता है, इसके बिना पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्तिके लिये उद्योग कर सकना असम्भव है।

ये ऐसे गुण है जो सम्यग्दर्शनके सहचारी है और मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायके अभाव में होते हैं।

—वर्णी-वाणी १ / ३२८-३३३

यह संसार कोई वस्तु नहीं। केवल कर्मादिकके संबन्धसे रागद्वेष के वशीभूत होकर नानाशरीरोमें आत्माका संयोग और वियोगरूप जन्म और मरण ही का नाम संसार है। और इस संसारका मूलकारण निमित्तकारणकी अपेक्षा मोहकर्म और उपादान कारणकी अपेक्षा मोह, राग, द्वेषमय आत्मा है—अतः सबसे पहले हमारा यह दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि इस संसारकी उत्पत्तिमें हमारा ही हाथ है। अल्पकालको मान लो कि मोहरूप पुद्गल भी तो कारण है। ठीक है। परन्तु उसपर आपका क्या अधिकार है ? क्या आपमें ऐसा सामर्थ्य है जो उन पुद्गलोंको अन्यथा परिणमन करा दे। ? नहीं है। हाँ, यह अवश्य है जो आपका रागादि परिणाम है उसे विभाव जान उसके होने पर यदि उसमें आसक्त नहीं हुए तब आगामी उस रूपका तीव्रबंध न होगा, जैसा कि आसक्त होने पर होता है। ऐसा अभ्यास करने पर कभी ऐसा अवसर आवेगा—जो रागादिक होने पर भी आगामी उन रागादिकों का बन्ध न होगा।

अध्यात्म पत्रावली—७६

सम्यग्दृष्टि

जिसको हेयोपादेयका ज्ञान हो गया वही सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टिको ग्रात्मा ग्रौर ग्रनात्माका भेद-विज्ञान प्रकट हो जाता है। वह सकल बाह्य पदार्थोंको हेय जानने लगता है। पर पदार्थोंसे उसकी मूर्छा बिलकुल हट जाती है। यद्यपि वह विषयादिमें प्रवर्तन करता है परन्तु वेदना-का इलाज समझ कर। क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनको तो भोगना ही पड़ता है। हाँ, नवीन कर्मका बन्ध उस चालका उसके नहीं बँधता। हमको चाहिये कि हमने ग्रज्ञानावस्थामें जो कर्म उपार्जन किये हैं उनको हटानेका प्रयत्न न करें, बल्कि ग्रागामी नूतन कर्मका बन्ध न होने दें। ग्ररे जन्मान्तरमें जो कर्मोपार्जन किये गये हैं वे तो भोगने ही पड़ेंगे। चाहे रो करके भोगो, चाहे हँस कर। फल तो भोगना ही पड़ेगा। यदि 'हाय हाय' करके भइया रोगकी शान्ति हो जाय तो उसे भी कर लो, परन्तु ऐसा नहीं होता। हाय हाय की जगह भगवान् भगवान् कहे ग्रौर उस वेदनाको शान्तिसे सहन करले ग्रौर ऐसा प्रयत्न करे जिससे ग्रागे वैसा बन्ध न हो। हाय हाय करके होगा क्या? हम ग्रापसे पूछते हैं इससे उल्टा कर्मबन्ध होगा। सो ऐसा हुग्रा जैसे किसी मनुष्यको ५००) रु० मय व्याजके देना था सो तो दे दिया ६००) रु० ग्रौर कर्जा सिर पर ले लिया। जैसा दिया वैसा न दिया।

हमको पिछले कर्मोंकी चिन्ता न करनी चाहिये, बल्कि ग्रागामी कर्मका संवर करे। ग्ररे, जिसको शत्रुग्रों-पर विजय प्राप्त करना है वह नवीन शत्रुग्रोंका ग्राक्रमण रोक देवे ग्रौर जो शत्रु गढ़में हैं वे तो चाहे जब जीते जा सकते हैं। इनकी चिन्ता न करे। चिन्ता करे तो ग्रागामी नवीन बँधकी, जिससे फिर बन्धनमें न पड़े, ग्रौर जो पिछले कर्म हैं वे तो रस देकर खिरेंगे ही, उनको शान्ति पूर्वक सहन करले। ग्रागामी कर्म-बन्ध हुग्रा नहीं, पिछले कर्म रस देकर खिर गये। ग्रागामी कर्जा लिया नहीं पिछला कर्जा ग्रदा किया, चलो छुट्टी पाई। ग्रागे ग्राने-वाले कर्मोंके संवर करनेका यही तात्पर्य है।

सम्यग्दृष्टिका ग्रात्मपरिणाम—

वेदक भाव—वेदनेवाला भाव ग्रौर वेद्यभाव—जिसको वेदे, इन दोनोंमें काल भेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता, ग्रौर जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। क्योंकि जब वेदकभाव ग्राता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है। तब वेदकभाव किसको वेदे? ग्रौर जब वेद्यभाव ग्राता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब वेदकभावके बिना वेद्यको कौन वेदे? इसलिये ज्ञानी जन दोनोंको विनाशीक जान ग्राप जानने वाला ज्ञाता ही रहता है। ग्रतः सम्यक्त्वीके कोई चाल का बंध ही नहीं होता।

भोगों से ग्ररुचि—

भोगोंमें मग्न होने के ग्रलावा ग्रौर कुछ दिखता ही नहीं है। भोग भोगना ही मानों हमने ग्रपना लक्ष्य बना लिया है। हम समझते हैं कि हम मोक्षमार्गमें लग रहे हैं पर यह मालूम ही नहीं कि नरक जानेकी नसैनी बना रहे हैं।

स्वास्थ्य वही जो कभी क्षीण न हो। क्षीणताको प्राप्त हो वह स्वास्थ्य किस कामका? ग्रौर स्वार्थी पुरुषोंके भोग भी विषम एवं क्षणभंगुर हैं। जब तक भोग भोगते हैं तब तक उसे सुख नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह सुख भी ग्राताप का उपजाने वाला है; उसमें तृष्णारूपी रोग लगा हुग्रा है। ग्रतः भोगोंसे कभी तृप्ति नहीं मिल सकती। भोगोंसे तृप्ति चाहना ऐसा ही है

जैसे अग्निको घी से बुझाना। मनुष्य भोगोंमें मस्त हो जाता है और उसके लिए क्या-क्या अनर्थ नहीं करता।

सम्यग्दृष्टिमें विवेक है, वह भोगोंसे उदास रहता है—उनमें सुख नहीं मानता। वह स्वर्गादिककी विभूति प्राप्त करता है और नानाप्रकार की विषय-सामग्री भी। पर अन्तमें देवोंकी सभामें यही कहता है कि कब मैं मनुष्ययोनि पाऊँ? कब भोगों से उदास होऊँ? और नानाप्रकारके तपश्चरणोंका आचरण कर मोक्ष रमणी वरूँ? उसके ऐसी ही भावना निरन्तर बनी रहती है। और बताओ जिसकी ऐसी भावना निरन्तर बनी रहती है, क्या उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती? अवश्यमेव होती है, इसमें सन्देहको कोई स्थान ही नहीं।

हर्ष-विषाद से निवृत्ति--

आप कहते हैं कि जब सम्यग्दृष्टिको पर-पदार्थोंसे अरुचि हो जाती है तब घरमें क्यों रहता है? और कार्य क्यों करता है? इसका उत्तर यह है कि वह करना कुछ नहीं चाहता पर क्या करे, जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनके उदयसे करना पड़ता है। वह चाहता अवश्य है कि मैं किसी कार्यका कर्त्ता न बनूँ। उसकी पर पदार्थोंसे स्वामित्व-बुद्धि हट जाती है पर जो अज्ञानवस्थामें पूर्वोपार्जित कर्म हैं उनके उदयसे लाचारीवश होकर घर-गृहस्थीमें रहकर उपेक्षाबुद्धिसे करना पड़ता है। वह अपनी आत्मा-का अनाद्यनन्त अचल स्वरूप देखकर तो प्रसन्न होता है, उसके अपार खुशी होती है, पर अज्ञानावस्थामें जो जन्मार्जित कर्म है उसका फल तो भोगना ही पड़ता है। वह बहुत चाहता है कि मुझे कुछ नहीं करना पड़े। मैं कब इस उपद्रवसे मुक्त हो जाऊँ? पर करना पड़ता है, चाहता नही है। उस समय उसकी दशा मरे हुए व्यक्तिके समान हो जाती है। उसको चाहे जितना साज शृंगार करो पर उसे कोई प्रयोजन नहीं। इसी भाँति सम्यक्त्वीको चाहे जितनी सुख-दुखकी सामग्री प्राप्त हो जाय पर उसे कोई हर्ष-विषाद नहीं।

भोगेच्छासे मुक्ति—

भोग तीन तरहका होता है—अतीत, अनागत और वर्तमान। सम्यग्दृष्टिके इन तीनोंमें से किसीकी भी इच्छा नहीं होती। अतीतमें जो भोग-भोग लिया उसकी तो वह इच्छा ही नहीं करता। वह तो भोग ही चुका। अनागतमें वह वांछा नहीं करता कि अब आगे भोग भोगूँगा और प्रत्युत्पन्न कहिए वर्तमानमें उन भोगोंको भोगनेमें कोई रागबुद्धि नहीं है। अतः इन तीनों कालोंमें पदार्थोंके भोगनेकी उसके सब प्रकारसे लालसा मिट जाती है। अतीतमें भोग चुका, अनागतमें वांछा नहीं और वर्तमानमें राग नहीं तो बतलाओ उसके बन्ध हो तो कहाँसे हो। क्या सम्यग्दृष्टि भोग नहीं भोगता? क्या उसके राग नहीं होता? राग करना पड़ता है। पर राग करना नहीं चाहता। उसकी रागमें उपादेय बुद्धि मिट जाती है। वह रागको सर्वथा हेय ही जानता है। पर क्या करे, प्रतिपक्षी कषाय जो चारित्रमोह बैठा है उसका क्या करे, उसको उदासीनतासे सहन कर लेता है। उदयमें आओ और फल देकर खिर जाओ। फल देना बन्धका कारण नही है। अब क्या करे, जो पूर्व-बद्ध कर्म है उसका तो फल उदयमें आयगा ही। परन्तु उसमें राग द्वेष नही। यदि फल ही बन्धका कारण होता तो कभी भी मुक्ति प्राप्त नही होती। इससे मालूम हुआ कि राग द्वेष और मोह बन्धके कारण हैं।

कषाय और रागादिकमें अरुचि—

योग और कषाय ये दो ही चीजें हैं। उनमे योग बन्धका कारण नही कहा, बन्धका कारण बतलाया है कषाय। कषायसे अनुरंजित प्राणी ही बन्धको प्राप्त होता है। देखिए १३ वें गुणस्थानमें केवलीके योग होते हैं, हुआ करो परन्तु वहाँ कषाय नही है, इसलिये अबन्ध है। अब देखो, ईंट पर ईंट धरकर मकान तो बना लो जब तक उसमें चूना न हो। आटे में पानी मत डालो, देखें कैसे रोटी हो जायगी? अग्निपर पानीसे भरी हुई बटलोई रक्खी है और खलबल खलबल भी हो रही है पर इससे क्या होता है—जबतक उसमें चावल न हों। एवं बाह्यमें समवसरण आदि विभूति है पर अन्तरङ्गमें कषाय नहीं है—तो बताओ कैसे बन्ध होगा? इससे मालूम पड़ा कि कषाय ही बन्धको कराने वाली है। सम्यग्दृष्टिको कषायों-से अरुचि हो जाती है इसीलिये उसका रागरस वर्जनशील

स्वभाव वाला हो जाता है। सम्यक्त्वीको रागादिकोंसे अत्यन्त अरुचि हो जाती है। वह किसी पर-पदार्थकी इच्छा ही नहीं करता। इच्छा करे तो होता क्या है ? वह अपनी चीज हो तब न। अपनी चीज हो तो उसकी इच्छा करे। इच्छाको ही वह परिग्रह मानता है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोंको तो जुदा समझता ही है पर अन्तरङ्ग परिग्रह जो रागादिक हैं उनको भी वह हेय ही जानता है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि वास्तवमें एक टंकीत्कीर्ण अपनी शुद्धात्माको ही अपनाता है। वह किन्हीं पर-पदार्थों पर दृष्टिपात नही करता, क्योंकि जिसके पास सूर्यका उजाला है, उसे दीपककी क्या आवश्यकता? उसकी केवल एक शुद्ध-दृष्टि ही रहती है। और संसारमें ही देखो, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म और खान-पानके सिवाय है क्या ? इसके अतिरिक्त और कुछ है तो बताओ। सब कुछ इसीमें गर्भित है।

सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोंको तो जुदा समझता ही है पर अन्तरङ्ग परिग्रह जो रागादिक हैं उनको भी वह हेय जानता है। क्योंकि बाह्य वस्तु को अपना माननेका कारण अन्तरङ्गके परिणाम ही तो हैं। यदि अन्तरङ्गसे छोड़ दो तो वह तो छूटी ही है। सम्यग्दृष्टि बाह्य पदार्थोंकी चिन्ता नही करता, वह उसके मूल कारणको देखता है। इसीलिये उसकी परणति निराली ही रहती है।

सम्यक्त्वीकी श्रद्धा—

सूर्य पूर्वसे पश्चिममें भी उदित होने लगे, परन्तु मनुष्यको अपनी श्रद्धा नहीं त्यागना चाहिये। लोकापवादके कारण जब कृतान्तवक्र श्रीरामकी आज्ञा से सीता महारानीको वनमें ले गया, जहाँ नानाप्रकारके सिंह, चीते और व्याघ्र अपना मुँह बाए फिर रहे थे। सीता ऐसे भयंकर वनको देखकर सहम गई और बोली—"मुझे यहाँ क्यों लाए ?"

कृतान्तवक्र कहते हैं—"महारानी जी ! जब आपका लोकापवाद हुआ तब रामने आपको वनमें त्यागनेका निश्चय कर लिया और मुझे यहाँ भेज दिया।"

उसी समय सीताजी कहती हैं "जाओ; रामसे जाकर कह देना कि जिस लोकापवादसे तुमने मुझे त्याग दिया, कहीं उसी लोकापवादके कारण तुम अपने धर्म श्रद्धानसे विचलित मत हो जाना।"

इसे कहते हैं श्रद्धान। सीताको अपना आत्मविश्वास था। शुद्धोपयोग प्राप्ति के लिये इसका बड़ा महत्त्व है। जब यह जान जाता है कि मोक्षका मार्ग यही है तब उसकी गाड़ी लाइन पर आ जाती है।

जिन लोगोंके पास सम्यक्त्व श्रद्धाका यह मंत्र नहीं, प्रायः वही लोग सोचते हैं—"क्या करें ? मोक्षमार्ग तलवारकी धार है, मुनिव्रत पालन बड़ा कठिन है। परीषह सहना उससे कठिन है।" तिलको ताड़ तो पहिले ही बना देते हैं, मोक्ष-मन्दिरमें प्रवेश हो तो कैसे ? उस तरफ दृष्टिपात तो करें, उसके सन्मुख तो हों, फिर तो वहाँ तक पहुँचने में कोई संशय नही है कभी न कभी पहुँच ही जावेंगे। परन्तु उस तरफ दृष्टि हो तभी।

सम्यग्दृष्टिकी उस तरफ उत्कट अभिलाषा रहती है। उसकी श्रद्धा पूर्णरूपेण मोक्षके सन्मुख हो जाती है। रहा चारित्रमोह सो वह क्रमशः धीरे धीरे गल जाता है। वह उतना घातक नही जितना दर्शनमोह। जब फोड़ेमेंसे कीसी निकल गई तो घाव धीरे धीरे भर ही जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्यको सर्व प्रथम अपनी श्रद्धा को सुधारनेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

सम्यक्त्वी की प्रवृत्ति—

सम्यग्दृष्टि पिछले कर्मोंकी चिन्ता नही करता, बल्कि आगामी जो कर्म बँधने वाले हैं उनका संवर करता है जिससे उसके उस चाल का बन्ध नही होता। रहे पिछले कर्म सो उनको ऐसे भोग लेता है जैसे कोई रोगी अपनी वेदनाको दूर करनेके लिए कड़वी औषधिका सेवन करता है। तब बिचारे रोगीको कड़वी औषधिसे प्रेम है या रोग-निवृत्तिसे। ठीक यही हाल सम्यग्दृष्टिका चारित्र मोहके उदयसे होता है। वह अशुभोपयोगको तो हेय समझता ही है और शुभोपयोग-पूजा दानादिमें प्रवृति करता है उसको भी वह मोक्षमार्गमें बाधक जानता है। वह विषयादिमें भी प्रवर्तन करता है पर अन्तरङ्गसे यही चाहता है कि कब इस उपद्रवसे छुट्टी मिले ? जेलखाने में जेलर हन्टर लिए खड़ा रहता है, कैदी को सड़ाक-

सड़ाक मारता भी है और आज्ञा देता है कि 'चलो चक्की पीसो, बोझा उठाओ आदि। तब वह कैदी लाचार हो उसी माफिक कार्य करता है। परन्तु विचारो अन्तरङ्गसे यही चाहता है कि हे भगवन् ! कब इस जेलखाने से निकल जाऊँ। पर क्या करे, परवश दुःख भोगना पड़ता है।

यही हाल सम्यग्दृष्टिका होता है। वह चारित्रमोह की जोरावरी वश अशक्य हुआ गृहस्थीमें अवश्य रहता है पर जलसे भिन्न कमलकी तरह। यह सब अन्तरङ्गके अभिप्रायकी बात है। अभिप्राय निर्मल होना चाहिये। कोई भी कार्य करते समय अपने अभिप्रायको देखे कि उस समय कैसा अभिप्राय है ? यदि वह अपने अभिप्रायों पर दृष्टिपात नहीं करता तो वह मनुष्य नहीं, पशु है। सबसे पहले अपने अभिप्रायको निर्मल बनाए। अभिप्रायों के निर्मल बनानेमें ही अपना पुरुषार्थ लगा देवे। जिन जीवोंके निरन्तर निर्मल परिणाम रहते हैं वे नियमसे सद्गतिके पात्र होते हैं। हाँ तो सम्यग्दृष्टिके परिणाम निरन्तर निर्मल होते जाते है। वह कभी अन्यायमें प्रवृत्ति नहीं करता। अच्छा बताओ, जिसकी उपर्युक्त जैसी भावना है वह काहेको अन्याय करेगा। अरे, जिसने रागको हेय जान लिया वह क्या रागके लिये अन्याय करेगा ? जो विषयोंके त्यागनेका इच्छुक है वह क्या विषयो के लिए दूसरों की गाठ काटेगा ? कदापि नहीं। वह गृहस्थीमे उदासीनतासे रहता हुआ जब चारित्रमोह गल जाता है तब तुरन्त ही व्रतको धारण कर लेता है ! भरत जी घर ही मे वैरागी थे। उनका अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इसका कारण यही कि इतनी विभूति होते हुए भी वह अलिप्त थे। किसी पदार्थमें उनकी आसक्ति नहीं थी। पर देखो, भगवान् को वह यश प्राप्त नहीं। क्या वह वैरागी नहीं थे ? अस्तु, सम्यग्दृष्टिकी महिमा ही विलक्षण है, उसकी परिणति वही जाने, अज्ञानियों को उसका भेद मालूम ही नहीं होता।

शुद्ध दृष्टि अपनी होनी चाहिये। बाह्य नानाप्रकार के आडम्बर किया करो, कुछ नहीं होता। गधीके सौ बच्चे होते हुए भी भार ढोती रहती है और सिंहनीके एक बच्चा होता हुआ भी निर्भय सोती रहती है।

एक मनुष्य था। वह हीरोंकी खानमें काम करता था। वह आदमी था तो लखपती, पर परिस्थिति वश गरीब हो गया था। एक दिन खदान में काम करते-करते कुछ नहीं मिला, एक छोटी शिला मिल गई। वह उसे लेकर घर आया। उसकी स्त्री उस पर मसाला पीस लिया करती थी। एक दिन एक जोंहरीको उसने निमन्त्रण दिया। वह आया और शिलाको देखकर बोला तुम इसके सौ रुपये ले लो। वह आदमी अपनी स्त्रीसे पूछने गया। स्त्री बोली, अरे, बेचकर क्या करोगे ? मसाला पीसनेके काम आ जाती है। वह सौ रुपये देता था। अब बोला, यह लो मुझसे १०००) रु० के गहने। इसे बेच डालो। वह आदमी जोंहरीके पास आकर बोला स्त्री नहीं बेचने देती। मैं क्या करूँ। तब जोहरीने कहा यह लो २०००) रु० अच्छा ३०००) रु० ले लो। वह समझ गया और उसने नहीं दी। उसने उसी समय सिलावटको बुलाकर उसके दो टुकड़े करवाये। टुकड़े करवाते ही हीरे निकल पड़े। मालामाल हो गया। तो देखा यह आत्मा कर्मोके आवरणसे ढका पड़ा है। वह हीरेकी ज्योतिके समान है। जब वह निवारण हो जाता है तो अपना पूर्ण प्रकाश विकीर्ण करता है। हीरेकी ज्योति भी उसके सामने कुछ नहीं। उस आत्माका केवल ज्ञायक स्वभाव ही है। सम्यग्दृष्टि उसी ज्ञायक स्वभावको अपनाकर कर्मोके ठाट को कटाकसे उड़ाकर परात्मस्थिति तक क्रमशः पहुँच जाता है और सुखार्णव में डूबा हुआ भी अघाता नहीं।

अब कहते है कि एक टंकोत्कीर्ण शुद्ध आत्मा ही पद है। इसके बिना और सब अपद हैं। वह शुद्ध आत्मा कैसा है ? ज्ञानमय एवं परमानन्दस्वरूप है। ज्ञानके द्वारा ही संसारका व्यवहार होता है। ज्ञान न हो तो देख लो कुछ नहीं। यह वस्तु त्यागने योग्य है और यह ग्रहण करने योग्य है—इसकी व्यवस्था कराने वाला कौन है ? एक ज्ञान ही तो है।

वास्तव में अपना स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। केवल देखना एवं जानना मात्र है। यदि देखने मात्र ही से पाप

होता है तो मैं कहूँगा कि परमात्मा सबसे बड़ा पापी है, क्योंकि वह तो चराचर वस्तुओंको युगपत् देखता और जानता है। तो इससे सिद्ध हुआ कि देखना और जानना पाप नहीं, पाप तो अन्तरंगका विकार है। यदि स्त्री के रूप को देख लिया तो कोई हर्ज नहीं, पर उसको देखकर राग करना यही पाप है। जो यह पर्दे की प्रथा चली, इसका मूल कारण यही कि लोगों के हृदय में विकार पैदा हो जाता था। इन लम्बे-लम्बे घूंघटोंमें क्या रखा है? आत्माका स्वरूप ही ज्ञाता दृष्टा है। नेत्र इन्द्रियका काम ही पदार्थोंको दिखाना है। दर्शक बनकर दृष्टा बने रहो तो कुछ विशेष हानि नहीं, किन्तु यदि उनमें मनोनीत कल्पना करना, राग करना तो फँसना है। रागसे ही बन्ध है। परमात्माका नाम जपे जाओ "ॐ नमः वीतरागाय।" इससे क्या होता है। कोरा जापमात्र जपनेसे उद्धार नहीं होता। उद्धार तो होता है परमात्माने जो कार्य किए राग को छोड़ा—संसार को त्यागा, तुम भी वैसा ही करो। सीधी सादी सी बात है। दो पहलवान है। एकको तेलका मर्दन है दूसरे को नहीं। जब वे दोनों अखाड़े में लड़े तो एकको मिट्टी चिपक गई, दूसरेको नहीं। अतः रागकी चिकनाहट ही बन्ध कराने वाली है। देखो, दो परमाणु मिले, एक स्कन्ध हो गया। अकेला परमाणु कभी नहीं बँधता। आत्माका ज्ञानगुण बन्धका कारण नहीं। बन्धका कारण उसमें रागादिककी चिकनाहट है।

संसारके सब पदार्थ जुदे जुदे है। कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थसे बँधता नही है। इस शरीरकी ही देखा! कितने स्कन्धोंका बना हुआ है? जब स्कन्ध जुदे जुदे परमाणुमात्र रह जांय तो सब स्वतन्त्र है। अनादिनिधन हैं। केवल अपने माननेमें ही भूल पड़ी हुई है। उस भूलको मिटा दो, चलो छुट्टी पाई। और क्या धरा है? ज्ञानका काम तो केवल पदार्थोंको जताना मात्र है। यदि उस ज्ञानमें इष्टानिष्ट कल्पना करो, तो बताओ किसका दोष है? शरीरको आत्मा जान लो किसका दोष है? पर शरीर कभी आत्मा होता नहीं। जैसे बहुत दूर सीप पड़ी है और तुम उसे चाँदी मान लो तो क्या सीप चाँदी हो जायगी? वैसे ही शरीर कभी आत्मा होता नही। अपने विकल्प किया करो। क्या होता है? पदार्थ तो जैसेका तैसा ही है। लेकिन माननेमें ही गलती है कि 'इदं मम' यह मेरी है। उस भूलको मिटा दो शरीरको शरीर और आत्माको आत्मा जानो यही तो भेद विज्ञान है। और क्या है? बताओ।

अतः उस ज्ञायकस्वभाव को वेदन करो। सोना जड़ है वह अपने स्वरूपको नहीं जानता। लेकिन आत्मा शुद्ध चैतन्य-धातु-मय पिंड है, वह उसको जानता है। उस ज्ञायक स्वभावमयी आत्मामें जैसे जैसे विशेश ज्ञान हुआ वह उसके लिए साधक है या बाधक? देखिये, जैसे सूर्य मेघ-पटलोंसे आच्छादित था। मेघ-पटल जैसे-जैसे दूर हुए वैसे-वैसे उसकी ज्योति प्रकट होती गई। अब बताओ वह ज्योति जितनी प्रगट हुई वह उसके लिए साधक है या बाधक? दरिद्रीके पास पाँच रुपये आये वह उसके लिए साधक है या बाधक? हम आपसे पूछते हैं। अरे, साधक ही है। वैसे ही इस आत्माके जैसे-जैसे ज्ञानावरण हटे, मति श्रुतादि विशेष ज्ञान प्रकट हुए, वह उसके लिए साधक ही है। अतः ज्ञानार्जनका निरन्तर प्रयास करता रहे।

मनुष्योंको पदार्थोंके हटानेका प्रयत्न न करना चाहिये बल्कि उनमें राग-द्वेषादिके जो विकल्प उठते हैं, उन्हें दूर करने का प्रयत्न करे। मान लिया, स्त्री खराब होती है? नही हटी तो बेचैनी बढ़े। परन्तु उसे हटा सकना कठिन है? अतः स्त्रीको नहीं हटा सकते तो मत हटाओ। उसके प्रति जो तुम्हारी रागबुद्धि लगी है उसे हटानेका प्रयत्न करो। यदि रागबुद्धि हट गई तो फिर स्त्री को हटानेमें कोई बड़ी बात नही है। पदार्थ किसीका बुरा भला नहीं करते। बुरा भलापन केवल हमारे अन्तरंग परिणामोंपर निर्भर है। कोई पदार्थ अपने अनुकूल हुआ उससे राग कर लिया और यदि प्रतिकूल हुआ उससे द्वेष। किसीने अपना कहना मान लिया तो वाह वा, बड़ा अच्छा है और कदाचित् नहीं माना तो बड़ा बुरा है। दृष्टिसे विचारो तो वह मनुष्य न तो बुरा है और न भला। वह तो केवल निमित्तमात्र है। निमित्त कभी अच्छे बुरे होते नही। यह तो उस मनुष्यकी

आत्माकी दुर्बलता है जो अच्छे बुरेकी कल्पना करता है। कोई कहता है—"स्त्री मुझे नहीं छोड़ती, पुत्र मुझे नहीं छोड़ता, क्या करूँ धन नहीं छोड़ने देता।" अरे मूर्ख, यों क्यों नहीं कहता कि मेरे हृदयमें राग है वह नहीं छोड़ने देता ? यदि इस रागको अपने हृदयसे निकाल दे तो देखें कौन तुझे नहीं छोड़ने देता ? कौन तुझे विरक्त होनेसे रोकता है ? अपने दोषको नहीं देखता। मैं रागी हूँ ऐसा अनुभव नही करता। यदि ऐसा हो जाए तो संसारसे पार होनेमें क्या देर लगे ? यह पहले ही कह चुके हैं कि पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें हैं। किसी पदार्थके आधीन नहीं, केवल मोही जीव ही सशंक हुआ उनमें इष्ट-निष्टकी कल्पना कर अपने स्वरूपसे च्युत हो निरन्तर बँधता रहता है। अतः हमारी समझ में तो शान्तिका वैभव रागादिकों के अभावमे ही है।

निर्भयता—

संसारमें सात भय होते हैं। उनमेंसे सम्यग्दृष्टिको किसी प्रकारका भय नहीं।

१. लोकभय—

सम्यग्दृष्टिको इस लोकका भय नही होता। वह अपनी आत्माके चेतनालोकमें रहता है। और लोक क्या कहलाता है ? जो नेत्रोंसे सबको दीख रहा है। उसे इस लोकसे कोई मतलब नहीं रहता। वह तो अपने चेतनालोकमे ही रमण करता है। इस लोकमें भी तभी भय होता है जब हम किसीकी चीज चुराएँ। परमार्थ दृष्टिसे हम सब चोर है जो पर द्रव्योंको अपनाए हुए हैं। अपना मान बैठते हैं। सम्यग्दृष्टि परमाणुमात्र को अपना नहीं समझता। इसलिये उसे भी किसी प्रकार इस लोकका भय नही।

२. परलोकभय

उसे स्वर्ग नरक का भय नहीं। वह तो अपने कर्त्तव्यपथ पर आरूढ है। उसे कोई भी उस मार्गसे च्युत नहीं कर सकता। वह तो नित्यानन्दमयी अपनी ज्ञानात्माका ही अवलोकन करता है। यदि सम्यक्त्वके पहले नरकायुका बन्ध कर लिया हो तो नरककी वेदना भी सहन कर लेता है। वह अपने स्वरूपको समझ गया है। अतः उसे परलोक का भी भय नहीं होता।

३. वेदनाभय

वह अपनी भेद-विज्ञानकी शक्तिसे शरीरको जुदा समझता है और वेदनाको समतासे भोग लेता है। जानता है कि आत्मा में तो कोई वेदना है ही नहीं इसलिये खेद-खिन्न नही होता। इस प्रकार उसे वेदनका भय नहीं होता।

४. अरक्षाभय

वह किसीको भी अपनी रक्षाके योग्य नहीं समझता। अरे इस आत्माकी रक्षा कौन करे ? आत्माकी रक्षा आत्मा ही स्वयं कर सकता है। वह जानता है कि गढ़, कोट, किले आदि कोई भी यहाँ तक कि तीनों लोकोंमें भी इस आत्माका कोई शरण स्थान नही। गुफा, मसान, शैल, कोटरमे वह निशंक रहता है। शेर, चीते, व्याघ्रों आदिका भी वह भय नही करता। आत्माकी परपदार्थों से रक्षा हो ही नही सकती। अतः उसे अरक्षा-भय भी नहीं।

५. अगुप्तिभय

व्यवहार में माल असबाब के लुट जाने का भय रहता है तो सम्यक्त्वी निश्चयसे विचार करता है कि मेरा ज्ञान धन कोई चुरा नही सकता। मैं तो एक अखण्ड ज्ञानका पिण्ड हूँ। जैसे नमक खारेका पिण्ड है। खारेके सिवाय उसमें और चमत्कार ही क्या है ? यह चेतना हर समयमें मौजूद बनी रहती है। ऐसा ज्ञानी अपनी ज्ञानात्माके ज्ञान में ही चिन्तवन करता रहता है।

६. आकस्मिकभय

वह किसी भी आकस्मिक विपत्तिका भय नहीं करता। भय तो तब करे जब भयकी आशंका हो। उसका आत्मा निरन्तर निर्भय रहता है। अतः उसे आकस्मिक भय भी नहीं होता।

७. मरणभय

मरण क्या है ? दस प्राणोंका वियोग हो जाना ही तो मरण है। पाँच इन्द्रिय, तीन बल, एक आयु और एक

श्वासोच्छ्वास इनका वियोग होते ही मरण होता है। परन्तु वह अनाद्यनन्त, नित्योद्योत और ज्ञानस्वरूपी अपने को चिन्तवन करता है। एक चेतना ही उसका प्राण है। तीन कालमें उसका वियोग नहीं होता। अतः चेतनामयी ज्ञानात्माके ध्यानसे उसे मरणका भी भय नहीं होता। इस प्रकार सात भयोंमें से वह किसी प्रकारका भय नहीं करता। अतः सम्यग्दृष्टि पूर्णतया निर्भय है।

अङ्गपरिपूर्णता—

अब सम्यक्त्वके अष्ट अंगोंका वर्णन करते हुए बतलाते हैं कि सम्यक्त्वीके ये अंग भी पूर्णतया होते हैं।

१. निःशंकित अङ्ग

उसे किसी प्रकारकी शंका नहीं होती। वह निधड़क होकर अपने ज्ञानमें ही रमण करता है। सुकौशल स्वामी को व्याघ्र भक्षण करता रहा, पर वह निशंक होकर अन्त-मुहूर्तमें केवलज्ञानी बने। शंकाको तो उसके पास स्थान ही नहीं रहता। उसे आत्माका स्वरूप भासमान हो जाता है। अतः निःशंकित है।

२. निकांक्षित अङ्ग

आकांक्षा करे तो क्या भोगोंकी; जिनको वर्तमानमें ही दुखदायी समझ रहा है। वह क्या लक्ष्मीकी चाहना करेगा? अरे, क्या लक्ष्मी कहीं भी स्थिर होकर रही है? तुम देख लो, जिस जीवके अनुकूल निमित्त हुए उसीके पास दौड़ी चली गई। अतः ज्ञानी पुरुष तो इसको स्वप्न में भी नहीं चाहते। वे तो अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रमयी आत्माका ही सेवन करते हैं।

३. निर्विचिकित्सा अङ्ग

सम्यग्दृष्टिको ग्लानि तो होती ही नहीं। अरे, वह क्या मलसे ग्लानि करे? मल तो प्रत्येक शरीरमें भरा पड़ा है। तनिक शरीरको काटो तो सिवाय मलके कुछ नहीं। वह किस पदार्थसे ग्लानि करे। सब परमाणु स्वतन्त्र हैं। मुनि भी देखो, किसी मुनिको वमन करते देखकर ग्लानि नहीं करते। अतः सम्यग्दृष्टि इस निर्वि-चिकित्सा अंगका भी पूर्णतया पालन करता है।

४. अमूढ़दृष्टि अङ्ग

मूढ़दृष्टि तो तभी है जब पदार्थोंके स्वरूपको न समझे —अनात्मामें आत्मबुद्धि रक्खे—पर सम्यक्त्वीके यह अङ्ग भी पूर्णतया पलता है उसकी अनात्मबुद्धि नहीं होती; क्योंकि उसे भेद-विज्ञान प्रकट हो गया है।

५. उपगूहन अङ्ग

सम्यग्दृष्टि अपने दोषोंको नहीं छिपाता। अमोघवर्ष राजाने लिखा है कि प्रच्छन्न (गुप्त) पाप ही सबसे बड़ा दोष है जिससे वह निरन्तर सशंकित बना रहता है। प्रच्छन्न पाप बड़ा दुखदाई होता है। जो पाप किये हैं उन्हें सामने प्रकट कर देने पर उतना दुःख नहीं होता। सम्य-ग्दृष्टि अपने दोषों को एक एक करके निकाल फेंकता है और एक निर्दोष आत्माको ही ध्याता है।

६. स्थितीकरण अङ्ग

जब अपने ऊपर कोई विपत्ति आ जाय अथवा आधि-व्याधि हो जाय और रत्नत्रयसे अपने परिणाम चलायमान हुए मालूम पड़ें, तब अपने स्वरूपका चिन्तवन करले और पुनः अपनेको उसमें स्थिर करे। व्यवहार में परको गिरते से सँभाले। इस अङ्गको भी सम्यक्त्वी विस्मरण नहीं करता।

७. वात्सल्य अङ्ग

गौ और वत्स का वात्सल्य प्रसिद्ध है। ऐसा ही वात्सल्य अपने भाइयोंसे करे। सच्चा वात्सल्य तो अपनी आत्माका ही है। सम्यक्त्वी समस्त प्राणियोंसे मैत्रीभाव रखता है। उसके सदा जीव-मात्रके रक्षाके भाव होते हैं। एक जगह लिखा है :—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

'यह वस्तु पराई है अथवा निजकी है ऐसी गणना क्षुद्रचित्त वालोंके होती है। जिनका चरित्र उदार है उनके तो पृथ्वी ही कुटुम्ब है।' सम्यग्दृष्टि भगवानकी प्रतिमाके दर्शन करता है पर उसमें भी वह अपने स्वरूपकी ही झलक देखता है। जैसा उनका स्वरूपचतुष्टय है वैसा

मेरा भी है। वह अपने आत्मासे अगाढ वात्सल्य रखता है।

८. प्रभावना अङ्ग

सच्ची प्रभावना तो वह अपनी आत्माकी ही करता है पर व्यवहारमें उत्सव करना, उपवास करना आदि द्वारा प्रभावना करता है। हम दूसरोंको धर्मात्मा बनाने का उपदेश करते हैं पर स्वयं धर्मात्मा बननेकी कोशिश नहीं करते। यह हमारी कितनी भूल है? अरे, पहले अपनेको धर्मात्मा बनाओ। दूसरेकी चिन्ता मत करो। वह तो स्वयं अपने आप हो जायगा। ऐसी प्रभावना करो जिससे दूसरे कहने लगें कि ये सच्चे धर्मात्मा है। भगवान-को ही देखो! उन्होंने पहले अपनेको बनाया। दूसरेको बनानेकी परवाह उन्होंने कभी नहीं की।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि उक्त अष्ट अङ्गों का पूर्णतया पालन करता हुआ अपनी आत्मा की निरन्तर विशुद्धि करता रहता है। अतः सम्यग्दृष्टि बनो। समताको लानेका प्रयत्न करो। समता और तामस ये दो ही तो शब्द है। चाहे समताको अपना लो या चाहे तामसको। समतामें सुख है तो तामसमें दुःख है। समता यदि आ जायगी तो तुम्हारी आत्मामें भी शान्ति प्राप्त होगी। सन्देह मत करो।

मिथ्यादृष्टि—

जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह मिथ्यात्वी है। वास्तवमें देखो तो यह मिथ्यात्व ही जीव का भयंकर शत्रु है। यही चतुर्गति में रुलानेका कारण है। दो मनुष्य है। पहिलेको पूर्वकी ओर जाना है और दूसरेको पश्चिमकी ओर। जब वे दोनों एक स्थानपर आए तो पहले को दिग्भ्रम हो गया और दूसरे को लकवा लग गया। पहले वालेको जहाँ पूर्वकी ओर जाना चाहिये था। वहां दिग्भ्रम होनेसे वह पश्चिमको जाने लगा। वह तो समझता है कि मैं पूर्वकी ओर जा रहा हूँ पर वास्तवमें वह उस दिशासे उतना ही दूर होता जा रहा है। और दूसरे लकवे वालेको हालां की पश्चिमकी ओर जानेमें उतनी दिक्कत नहीं है; क्यों कि उसे दिशा परिज्ञान है। वह धीरे-धीरे अभीष्ट स्थान पर पहुँच ही जायगा। परन्तु पहले वाले को तो हो गया है दिग्भ्रम। अतः ज्यों ज्यों वह जाता है त्यों त्यों उसके लिए वह स्थान दूर होता जाता है। उसी तरह यह मोह मिथ्यात्व मोक्षमार्गमें दूर ला पटकता है। शेष तीन घातिया कर्म तो जीवके उतने घातक नही। वे तो इस मोहके नाश हो जानेमें शनैः शनैः क्षयको प्राप्त हो जाते हैं पर बलवान है तो यह मोह मिथ्यात्व। जिसके द्वारा पदार्थोंका स्वरूप विपरीत भासना है। जैसे किसी-को कामला रोग हो जाय तो उसे अपने चारों ओर पीला ही पीला दिखाई देता है। उसी प्रकार मिथ्या-दृष्टिके मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायका उदय होने से पदार्थ दूसरे रूपमें दिखलाई देता है।

मिथ्यादृष्टि शरीरके मरणमें अपना मरण, शरीरके जन्ममें अपना जन्म और शरीरकी स्थितिमें अपनी स्थिति मान लेता है। कदाचित् गुरुका उपदेश भी मिल जाय तो उसे विपरीत भासता है। इन्द्रियोंके सुखमें ही अपना सच्चा सुख समझता है। पुण्य भी करता है तो आगामी भोगोंकी वाञ्छामें। संसारमें वह पूर्ण आसक्त रहता है और इसीलिये बहिरात्मा कहलाता है।

अतः मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई अहितकर नहीं। इसके सामने कोई बड़ा पाप नहीं। यही तो कर्मरूपी नावमें जलके आने का सबसे बड़ा छिद्र है जो आत्मरूपी नावको संसाररूपी नदीमें डुबोता है। इसीके ही प्रसादसे कर्तृत्वबुद्धि होती है इसीलिए यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो इस महान अनर्थकारी विपरीत बुद्धिको त्यागो। पदार्थोंका यथावत् श्रद्धान् करो। देहमें आपा मानना ही देहधारण करने का बीज है।

सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी में अन्तर—

(क) लक्ष्यकी अपेक्षा

सम्यक्त्वी का लक्ष्य केवल शुद्धोपयोगमें ही रहता है वह बाह्यमें वैसा ही प्रवर्तन करता है जैसा मिथ्यादृष्टि, परन्तु दोनोंके अन्तरङ्ग अभिप्राय प्रकाश और तमके समान सर्वथा भिन्न हैं।

मिथ्यादृष्टि भी वही भोग भोगता है और सम्यक्त्वी भी। बाह्यमें देखो तो दोनो की क्रियाएँ समान हैं परन्तु

मिथ्यात्वी रागमें मस्त हो झूम जाता है और सम्यक्त्वी उसी रागको हेय जानता है। यही कारण है कि मिथ्या-दृष्टिके भोग बन्धन के कारण हैं और सम्यक्त्वी के निर्जराके लिये हैं।

(ख) निर्मल अभिप्राय की अपेक्षा

सम्यक्त्वी बाह्यमें मिथ्यादृष्टि जैसा प्रवर्तन करता हुआ भी श्रद्धामें रागद्वेषादिके महत्त्वका अभाव होनेसे अबन्ध है और मिथ्यादृष्टि रागद्वेषादिके स्वामित्वके सद्भावसे निरन्तर बँधता ही रहता है, क्योंकि आन्तरिक अभिप्रायकी निर्मलतामें दोनोके जमीन आकाशसा अन्तर है।

(ग) दृष्टिकी अपेक्षा

सम्यक्त्वी की अन्तरंग दृष्टि होती है तो मिथ्यात्वीकी बहिर्दृष्टि। सम्यक्त्वी संसारमें रहता है पर मिथ्यात्वीके हृदयमें संसार रहता है। जलके ऊपर जबतक नाव है तब तो कोई विशेष हानि नही; पर जब नावके अन्दर जल बढ जाता है तो वह डूब जाती है। एक रईस है तो दूसरा सईस। रईसके लिए बग्गी होती है तो बग्गीके लिए सईस। मिथ्यात्वी शरीरके लिए होता है तो सम्यक्त्वीके लिए शरीर। दोनो बहिरे होते हैं, वह उसकी बात नही सुनता और वह उसकी नही सुनता। वैसे ही मिथ्यात्वी सम्यक्त्वीकी बात नहीं समझता और सम्यक्त्वी मिथ्यात्वी की। वह अपने स्वरूपमें मग्न है और वह अपने रंगमें मस्त है।

(घ) भेद-विज्ञानकी अपेक्षा

देखिए, जो आत्मा और अनात्माके भेदको नहीं जानता वह आगममें पापी ही बतलाया है। द्रव्यलिंगी मुनिको ही देखो, वह बाह्यमें सब प्रकारकी क्रिया कर रहा है। अट्ठाईस मूलगुणों को भी पाल रहा है। बड़े बड़े राजे-महाराजे नमस्कार कर रहे हैं। कषाय इतनी मंद है कि घानीमें भी पेल दो तो त्राहि न करे। पर क्या है? इतना होते हुए भी यदि आत्मा और अनात्माका भेद नहीं मालूम हुआ तो वह पापी ही है। अवश्य मुनि है पर अन्तरङ्गकी अपेक्षासे मिथ्यात्वी ही है। उसको गति नव ग्रैवेयिकके आगे नहीं। ग्रैवेयिकसे च्युत हुआ और फिर वहीं पहुँचा फिर आया फिर गया। इस तरह उसकी गति होती रहती है।

द्रव्यलिंगी चढ़ता उतरता रहता है पर भावलिंगी अल्पभवमें ही मोक्ष चला जाता है। तो कहनेका प्रयोजन यह है कि सम्यक्त्वी उस अनादिकालीन ग्रन्थीको, जो आत्मा और अनात्माके बीच पड़ी हुई थी, अपनी प्रज्ञारूपी छैनीसे छेद डालता है। वह सबको अपनेसे जुदा समझता हुआ अन्तरङ्गमें विचार करता है "मैं एकमात्र सहजशुद्ध ज्ञान और आनन्द स्वभाव हूँ। एक परमाणुमात्र भी मेरा नही है।" उसकी गति ऐसी ही हो जाती है जैसे जहाजका पक्षी—उड़कर जाय तो बताओ कहाँ जाय। इस ही को एकत्व एवं अद्वैत कहते हैं। 'संसारमें यावत् (जितने) पदार्थ हैं वह अपने स्वभावसे भिन्न हैं।' ऐसा चिन्तवन करना यही तो अन्यत्वभावना है। अतः सम्यक्त्वी अपनी दृष्टि को पूर्णरूपेण स्वात्मा पर ही केन्द्रित कर देता है।

(च.) सहनशीलताकी अपेक्षा

देखिये, मुनि जब दिगम्बर हो जाते हैं तो हमको ऐसा लगता है कि कैसे परीषह सहन करते होंगे? पर हम रागी और वे वैरागी। उनसे हमारी क्या समता? उनके सुखको हम रागी जीव नहीं पा सकते। सुकुमाल-स्वामीको ही देखिये, स्यालिनीने उनका उदर विदारण करके अपने क्रोधकी पराकाष्ठाका परिचय दिया; किन्तु वे स्वामी उस भयंकर उपसर्गसे विचलित न होकर उपशमश्रेणीद्वारा सर्वार्थसिद्धिके पात्र हुए। तो देखो यह सब अन्तरङ्गकी बात है। लोग कहते हैं कि भरतजी घर ही में वैरागी थे। अरे, वह घरमें वैरागी थे तो तुम्हें क्या मिल गया? उनको शान्ति मिली तो क्या तुम्हें मिल गई? उसने लड्डू खाये तो क्या तुम्हारा पेट भर गया? अरे, यों नहीं 'हम भी घरमें वैरागी' ऐसी रटना लगाओ। यदि तुम घरमें वैरागी बनकर रहोगे तो तुम्हें शान्ति मिलेगी। उनकी रटना लगाए रहे तो बताओ तुमने क्या तत्त्व निकाला? तत्त्व तो तभी है जब तुम वैसे बनोगे। ज्ञानार्णवमें लिखा है कि सम्यग्-दृष्टि दो तीन ही हैं। तो दूसरा कहता है कि अरे, दो

तीन बहुत कह दिए, यदि एक ही होता तो हमारा कहना हैं कि हम ही सम्यग्दृष्टि हैं। अतः अपनेको सम्यग्दृष्टि बनाओ। ऊपरसे छल कपट किया तो क्या फायदा? अपनेको माने सम्यग्ज्ञानी और बने स्वेच्छाचारी, यह तो अन्याय हुआ। सम्यग्दृष्टि निरन्तर अपने अभिप्रायोंपर दृष्टिपात करता है। भयङ्कर से भयङ्कर उपसर्गमें भी वह अपने श्रद्धानसे विचलित नहीं होता, सम्यक्त्वीको कितनी भी बाधा आये तो भी वह अपनेको मोक्षमार्गका पथिक ही मानता है।

—वर्णी-वाणी : १ / ३४५-३६६

✿

"यदि कोई कहे, रागादिकोंके सद्भावमें तो दुःख हुए बिना नहीं रहता। यह भी हमारी मिथ्याज्ञानकी भूल है। यदि किसीका हमने ऋण लिया है और वह वादे पर माँग कर हमको अनृण बना दे तब क्या हमको साहूकारके इस व्यवहारसे दुखी होना चाहिये? कदापि नहीं, यदि हम दुखी होते हैं तब मिथ्याज्ञानी हैं। इसी तरह औदयिकभाव जिस समय हों उस समय उसे कर्मकृत जान समता भाव से भोग लेना ही हमारी वीरताका परिचायक है। निमित्तकी अपेक्षा औदयिक रागादिक अनात्मीय ही है। इसकी तो कथा ही क्या? सम्यग्ज्ञानी क्षयोपशम भावोंका भी सद्भाव नहीं चाहता। क्योंकि वह भी कर्मके क्षयोपशमसे होता है। अब विचारने की बात है। जहाँ ज्ञानी आत्मगत भावों की अपेक्षा करके बल रूप होनेकी चेष्टामें तन्मय रहता है। भला वह ज्ञानी इन अनात्मीय दुःखकर संसारजनक रागादिकोंकी अपेक्षा करेगा—बुद्धिमें नहीं आता।

अध्यात्म पत्रावली ३०

मोह महाविष

१. मोह मदारी—

मनुष्यका मोह बड़ा प्रबल होता है। यह सारा संसार मोहका ठाट है। यदि मोह न होय तो आया करो आस्रव, वह कभी भी बन्धनको प्राप्त नहीं होता। जिनेन्द्र भगवान् जब १३ वें गुणस्थान (सयोगकेवली) में चारों घातिया कर्मोंका नाशकर चुकते हैं, तब वहां योग रह जाता है। योगसे कर्मोंका आस्रव होता है, परन्तु मोहनीय कर्मका अभाव होनेसे वे कभी भी बँधते नहीं। क्योंकि आस्रवको आश्रय देनेवाला जो मोह कर्म था, उसका वे भगवान् सर्वथा नाश कर चुके हैं। अरे, यदि गारा नहीं, तो ईटोंको चुनते चले जाओ, कभी भी स्थिरताको प्राप्त नहीं होंगी। इसको दृष्टान्तपूर्वक यों समझना चाहिए कि जैसे कीचड़ मिश्रित पानी है, उसमें कतकफल डाल दिया तो गँदला पानी नीचे बैठ गया और ऊपर स्वच्छ जल हो गया। उसे नितराकर भाजनान्तर अर्थात् स्फटिकमणिके बर्तनमें रखनेसे गँदलापन तो नही होगा, किन्तु उसमें जो कम्पन होगा अर्थात् लहरें उठेंगी वह शुद्ध ही तो होगी, सो योग हुआ करो। योगशक्ति उतनी घातक नहीं, वह केवल परिस्पन्द करती है। यदि मोहकी कलुषता चली जाय, तब वह स्वच्छतामें उपद्रव नहीं कर सकती, और उस बन्धको जिसमें स्थिति और अनुभाग होता है नहीं कर सकती, इसलिए अबन्ध है। वस्तुस्थिति भी ऐसी ही है कि जिस समय आत्माके अन्तरङ्ग से मोह-रूप पिशाच निकल जाता है, तो और शेष अघातिया कर्म जली जेवरीवत् रह जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि इन सब कर्मोंमें जबरदस्त कर्म मोहनीय ही है। यही कर्म मनुष्योंको नाना नाच नचाता है।

२. मोह-मदिरा—

एक कोरी था। वह मदिरामें मस्त हुआ कहीं चला जा रहा था। उधरसे हाथीपर बैठा हुआ राजा आ रहा था। कोरीने कहा 'अबे, हाथी बेचता है।' राजा बड़ा क्रोधित हुआ और मन्त्रीसे झल्लाकर कहा 'यह क्या बकता है?' मन्त्री तुरन्त समझ गया और विनयपूर्वक बोला महाराज! यह नहीं बोलता। इस समय मदिरा बोलती है और जैसे तैसे समझा बुझाकर राजाको महलोंमें ले गया। दूसरे दिन सभामें कोरीको बुलाकर राजाने पूछा—"क्यों? हाथी लेता है।" उसने कहा—"अन्नदाता मैंने कब कहा था? आप राजा हो और मैं एक गरीब आदमी हूँ। आजीविकाका निर्वाह ही तो कठिनता से कर पाता हूँ। मैं क्या आपका हाथी खरीद सकता हूँ? आप न्यायप्रिय हो, मेरा न्याय करो!" राजाने मन्त्रीकी ओर देखा। मन्त्री बोला—'महाराज? मैंने तो पहिले ही कहा था कि यह नहीं बोलता, इस समय मदिरा बोलती है।" राजा बड़ा आश्चर्य-चकित हुआ वैसे ही हम भी मोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए झूम रहे हैं।

३. मोहकी दीवालपर मनोरथका महल—

हम नाना प्रकारके मनोरथ करते हैं। अरे, उनमेंसे एक मनोरथ मुक्तिका भी सही। वास्तवमें हमारे सब मनोरथ बालूके मकान (बच्चोंके घरघूले) जैसे ढह जाते हैं, यह सब मोहोदय की विचित्रता है।

दीवाल गिरी कि महल भी गया, मोह गला कि मनोरथ भी समाप्त हो गया। हम रात्रि-दिन पापाचार करते हैं और भगवानसे प्रार्थना करते हैं कि भगवान हमारे पाप क्षमा करो। पाप करो तुम, भगवान् क्षमा करें। यह भी कहींका न्याय है? कोई पाप करे और कोई क्षमा करे। उसका फल उसको ही भुगतना पड़ेगा। भगवान तुम्हें कोई मुक्ति नहीं पहुँचा देंगे। मुक्ति जाओगे तुम

अपने पुरुषार्थ द्वारा। यदि विचार किया जाए तो मनुष्य स्वयं ही कल्याण कर सकता है।

एक पुरुष था। उसकी स्त्री का अकस्मात् देहान्त हो गया। वह बड़ा दुखी हुआ। एक आदमीने उससे कहा अरे, 'बहुतोंकी स्त्रियाँ मरती हैं तू इतना बेचैन क्यों होता है? वह बोला तुम समझते नहीं हो। उसमें मेरी शुभ बुद्धि लगी है इसलिए मैं दुखी हूँ। दुनियाँकी स्त्रियाँ मरती हैं तो उनसे मेरी मुहब्बत नहीं,— इसमें ही मेरा ममत्व था। उसी समय दूसरा बोला, 'अरे तुझमे जब अहंबुद्धि है। तभी तो ममबुद्धि करता है। यदि तेरेमें अहंबुद्धि न हो तो ममबुद्धि किससे करे? अहंबुद्धि और ममबुद्धिको मिटाओ, पर अहंबुद्धि और ममबुद्धि जिसमें होती है उसे तो जानो। देखो, लोकमें वह मनुष्य मूर्ख माना जाता है जो अपना नाम, अपने गाँवका नाम, अपने व्यवसायका नाम न जानता हो उसी तरह परमार्थसे वह मनुष्य मूर्ख है जो अपने आपको न जानता हो। इसलिये अपनेको जानो। तुम हो जभी तो सारा संसार है। आँख मीच लो तो कुछ नहीं। एक आदमी मर जाता है तो केवल शरीर ही तो पड़ा रह जाता है और फिर पंचेन्द्रियां अपने अपने विषयों में क्यों नहीं प्रवर्तती? इससे मालूम पड़ता है कि उस आत्मामे एक चेतनाका ही चमत्कार है। उस चेतनाको जाने बिना तुम्हारे सारे कार्य व्यर्थ हैं।

मोहमें ही इन सबको हम अपना मानते हैं। एक आदमीने अपनी स्त्रीसे कहा कि अच्छा बढ़िया भोजन बनाओ, हम अभी खानेको आते हैं, जरा बाजार हो आएँ। मार्गमें चले तो वहाँ मुनिराजका समागम हो गया। उपदेश पाते ही वह भी मुनि हो गया। और वही मुनि बनकर आहारके वास्ते वहाँ आगए तो देखो उस समय कैसा अभिप्राय था, अब कैसे भाव हो गए। चक्रवर्तीको ही देखो। वह छह खण्डको मोहमें ही तो पकड़े है। जब वैराग्यका उदय होता है तब सारी विभूतिको छोड़ वनवासी बन जाता है। देखो, उस इच्छाको ही तो वह मिटा देता है कि 'इदं मम' यह मेरी है। इच्छा मिट गई, अब छह खंडको बताओ कौन सँभाले? जब ममत्व ही न रहा तब उसका क्या करे? इच्छाको घटाना ही सर्वस्व है। दान भी यदि इच्छा करके दिया तो बेवकूफी है। समझो यह हमारी चीज ही नहीं है। तुम कदाचित् यह जानते हो कि यदि हम दान न देवें तो उसे कौन दे? अरे उसके अनुकूलता होगी तो दूसरा दान दे देगा। फिर ममत्वबुद्धि रखके क्यों दान देता है? वास्तवमें कोई किसीकी वस्तु नहीं है। व्यर्थ ही अभिमान करता है। अभिमानको मिटा करके अपनी चीज मानना महाबुद्धिमत्ता है। कौन बुद्धिमान दूसरेकी चीजको अपनी मानकर कब तक सुखी रह सकता है? जो चीज तुम्हारी है उसीमें सुख मानो।

उस केवलज्ञानकी इतनी बड़ी महिमा है कि जिसमे तीनों लोकोंकी चराचर वस्तुएँ भासमान होने लगती हैं। हाथीके पैरमें बताओ किसका पैर नहीं समाता—ऊँटका, घोड़ेका सभी का पैर समा जाता है। अतः उस ज्ञानकी बड़ी शक्ति है और वह ज्ञान तभी पैदा होता है जब हम अपनेको जानें। पर पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अपनेमें संयोजित करें। देखो, समुद्रसे मानसून उठते हैं और बादल बनकर पानीके रूपमें बरस पड़ते हैं। पानीका यह स्वभाव होता है कि वह नीचेकी ओर ढलना है। पानी जब बरसता है तब देखो रावी, चिनाव, झेलम, सतलजमें से होता हुआ फिर उसी समुद्रमे जा गिरता है। उसी प्रकार आत्मा मोहमें जो यत्र तत्र चतुर्दिक भ्रमण कर रहा था, ज्यों ही मोह मिटा त्यों ही वह आत्मा अपनेमें सिकुड़कर अपने में ही समा जाता है। यों ही केवलज्ञान होता है। ज्ञानको सब पर पदार्थोंसे हटाकर अपनेमें ही संयोजित कर दिया--बस केवलज्ञान हो गया। और क्या है?

४. महापराक्रमी मोह—

मोहमें मनुष्य पागल हो जाता है। इसके नशेमें यह जीव क्या क्या उपहासास्पद कार्य नहीं करता? देखिए; जब आदिनाथ भगवानने ८३ लाख पूर्व गृहस्थीमें रहकर बिता दिए, तब इन्द्रने विचार किया कि किसी प्रकार प्रभुको भोगोसे विरक्त करना चाहिए, जिससे अनेक भव्य प्राणियोंका कल्याण हो। इस कारण उसने एक नीलाञ्जना

अप्सरा—जिसकी आयु बहुत ही अल्प थी, सभामें नृत्य करनेके वास्ते खड़ी करदी। वह अप्सरा नृत्य करते करते विलय गई। इन्द्रने तुरन्त उसी वेष-भूषाकी दूसरी अप्सरा खड़ी करदी। भगवान् तीन ज्ञान संयुक्त तुरन्त उस दृश्य-को ताड़ गए और मनमें उसी अवसर पर वैराग्यका चिन्तवन करने लगे। "धिक्कार है इस दुखमय संसार को, जिसमें रहकर मनुष्य भोगोंमें बेसुध होकर किस प्रकार अपनी स्वल्प आयु व्यर्थ व्यतीत कर देता है।" इतना चिन्तवन करना था कि उसी समय लौकान्तिक देव (वैराग्यमें सने हुए जीव) आ गये और प्रभुके वैराग्यकी दृढ़ताके हेतु स्तुति करते हुए बोले—हे प्रभो! धन्य है आपको, आपने यह अच्छा विचार किया। आप जयवंत होओ। हे त्रिलोकीनाथ! आप चारित्रमोहके उपशमसे वैराग्यरूप भए हो। आप धन्य हो।" इस प्रकार स्तवन कर वे लौकान्तिक देव तो अपने स्थानको चले जाते हैं, परन्तु मोही इन्द्र फिर प्रभुको आभूषण पहनाने लगता है और पालकी सजाने लगता है। अरे, जब विरक्त कर-वानेका ही उसका विचार था तो फिर आभूषणोंके पहिनानेकी क्या आवश्यकता थी। विरक्त भी करवाता जारहा है और आभूषण भी पहिनाता जा रहा है, यह भी क्या न्याय है? पर मोही जीव बताओ और क्या करे। मोहमें तो मोहकी सी बातें सूझती हैं। उसमें ऐसा ही होता है।

५. संसार चक्रचालक मोह—

वास्तवमें यदि देखा जाय तो विदित हो जायगा कि जगतका चक्र केवल एक मोहके द्वारा घूम रहा है। यदि मोह क्षीण हो जाय तो आज ही जगतका अन्त आ जाय। इसका दृष्टान्त ऐसा है जैसे रेहटकी चक्की। एक आठ पहियोंकी चक्की होती है। उसको खीचनेवाले दो बैल होते हैं और उनको चलानेवाला मनुष्य होता है। उसी तरह मनुष्य है मोह और दोनो बैल हैं राग-द्वेष। उनसे यह अष्ट कर्मोंका संसार बना है जिससे चतुर्गतिरूप संसारमें यह प्राणी भटकता है।

मनुष्य शेख-चिल्लीसी नाना प्रकारकी कल्पनाएं किया करता है। यह सब मोहके उदयकी बलवत्ता है। जहाँ मोह नहीं है वहाँ एक भी मनोरथ नहीं रह जाता। अतः मोहकी कथा अकथनीय और शक्ति अजेय है।

मोहका प्रपञ्च ही अखिल संसार है। आप देखिए, आदिनाथ स्वामीके दो ही तो स्त्रियाँ थीं नन्दा और सुनन्दा। उन दोनोंको त्यागकर वनमें भागना पड़ा। क्या घरमें नहीं रह सकते थे। अरे, क्या घरमें कल्याण नहीं कर सकते थे? नहीं। स्त्रियोंका जो निमित्त था। कल्याण कैसे कर लेते, मोहकी सत्ता जो विद्य-मान है। वह तो चुलबुली मचाए दे रहा है। कहता है– "जाओ वनमें, छह महीनोंका मौन धारण करो, एक शब्द नहीं बोल सकते।" और छह महीनेका अन्तराय हुआ यह सब क्या मोहकी महिमा नहीं! अच्छा, वहाँ घरमें तो दो ही स्त्रियाँ छोड़ी और समवशरणमें हजारों लाखों स्त्रियाँ बैठी हैं, तब वहाँसे नहीं भागे? क्यों? इसका कारण यही कि यहाँ मोह नहीं था। और वहाँ मोह था, तो जाओ वनमें, धरो छह महीनेका योग। अतः मोहकी विलक्षण महिमा है।

मोहसे ही संसारका चक्र चल रहा है। यह कर्म ही मनुष्यों-पर सर्वत्र अपना रौब गालिब किए हुए है। इसके नशेमें मनुष्य क्या-क्या बेढब कार्य नहीं करता। यहाँ तक कि प्राणान्त तक कर लेता है। जब स्वर्गमें इन्द्र अपनी सभामें देवोंसे यह कह रहा था कि इस समय भरतक्षेत्रमें राम और लक्ष्मणके समान स्नेह और किसीका नहीं। उसी समय एक देव उनकी परीक्षाके हेतु अयोध्यामें आया। वहाँ उसने ऐसी विक्रिया व्याप्त की कि नगरका सारा जनसमूह शोकाकुल दिखाई पड़ने लगा। नर-नारियोंका करुणा-क्रन्दन नगरके शान्त वातावरणको अशान्त करता हुआ आकाशमें प्रतिध्वनित होने लगा! प्रतीत होता था श्री रामचन्द्रजी का देहावसान हो गया! जब यह भनक लक्ष्मणजीके कर्णपुटमें पड़ी तो अचानक लक्ष्मणके मुखसे "हा राम!" भी पूर्ण नहीं निकला कि उनका प्राणान्त हो गया! यह सब मोहकी विलक्षण महिमा ही है। यह ऐसा है, वैसा नहीं है, यह ऐसा पीछे है, वैसा पीछे नहीं था। ऐसा आगे है, वैसा आगे नहीं होगा। मोहमें ही करता है। यही मनुष्यका भयंकर शत्रु है। मोक्षमार्गसे

विपरीत परिणमन करता है। अतः यदि मोक्षकी ओर रुचि है तो भूरिशः विकल्पजालोंको त्यागो। मोहको जैसे बने कम करनेका उद्यम करो। यदि पञ्चेन्द्रियके विषयोंके सेवनमे मोह कम होता है तो वह भी उपादेय है और यदि पूजा दानादि करनेमें मोह बढ़ता है तो वह भी उस दृष्टि-से हेय है। दुनियाँ मोह करे, करने दो। तुम कभी इसमें मत फँसो। कोई भी तुम्हें मोहमें न फँसा सके। सीताजी-के जीवने सोलहवें स्वर्गसे आकर श्रीरामचन्द्रजीको कितना लुभाया पर वह मोहको नाशकर मोक्ष को गए।

६. मोह विषकी औषधि—

अतः इससे भिन्न अपनी ज्ञानरूपी आत्माको जानो। 'तुष-माष भिन्न' इतनेसे मुनिको आत्मा और अनात्मका भेद मालूम पड़ गया देखलो केवली हो गये। द्वादशांगका तो यही सार है कि अपने स्वरूपको पहिचानो और उसमें अपनेको ऐसे रमालो जैसे नमककी डली पानीमें घुल-मिल जाती है। उपयोगमें दत्तचित्त हो जाओ—यहाँ तक कि अपने तन मनकी भी सुध-बुध न रहे। क्योंकि उपयोगका ही सारा खेल है। अपने उपयोगको कहीं न कहीं स्थिर रखना चाहिये। जिस मनुष्यका उपयोग डांवाडोल रहता है वह कदापि मोक्षमार्गमें प्रवर्तन नहीं कर सकता। एक मनुष्यने दूसरेसे कहा कि मेरा धर्ममें मन नहीं लगता तब दूसरेने पूछा कि तेरा मन कहाँ और किसमें लगता है? वह बोला मेरा मन खानेमें अधिक लगता है। तो दूसरा कहता है—अरे, कहीं पर लगता तो है। मैं कहता हूँ कि मनुष्यका आर्त-रौद्र परिणामोंमें ही मन लगा रहे। कहीं लगा तो रहता है। अरे, जिसका आर्त परिणामोंमें मन लगता है वही किसी दिन धर्ममें भी मन लगा सकता है। उपयोगका पलटना मात्र ही तो है। जैसा उपयोग अन्य कार्योंमें लगता है वैसा यदि आत्मामें लग जाय तो कल्याण होनेमें विलम्ब न लगे।

७. मोहजयी महाविजयी—

यह अच्छा है, यह जघन्य है। अमुक स्थान इसके उपयोगी है, अमुक अनुपयोगी है; कुटुम्ब बाधक है, साधुवर्ग साधक हैं। यह सब मोहोदय की कल्लोलमाला है। मोहोदयमें जो कल्पनाएँ न हों, वे थोड़ी हैं। देखो, जब स्त्री पुरुषका विवाह होता है तब वह पुरुष स्त्रीसे कहता है कि मैं तुम्हारा जन्म पर्यन्त निर्वाह करूँगा। वह स्त्री भी पुरुषसे कहती हैकि मैं भी तुम्हारी जन्मपर्यन्त परिचर्या करूँगी। इस तरह जब विवाह हो जाता है तो घर छोड़कर विरक्त हो जाते हैं। स्त्री विरक्त हुई तो आर्यिका हो जाती है और पुरुष को विरक्ति हुई तो मुनि हो जाता है। तो अब बतलाइए कि वे विवाहके समय जो एक दूसरेसे वचनबद्ध हुए थे उसका निर्वाह कहाँ रहा? इससे सिद्ध हुआ कि यह सब मोहनीय कर्मका प्रबल उदय था। जब तक वह कर्मोदय है तभी तक सारा परिवार और संसार है। जहाँ इस कर्मका शमन हुआ तो वही परिवार फिर बुरा लगने लगता है।

जब सीताजी का लोकापवाद हुआ और रामने सीता से अग्नि-परीक्षा देनेको कहा और सीता अपने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर जब अग्निकुण्डसे निष्कलंक हो, देवों द्वारा अर्चित होती है तब सीताको संसार, शरीर और भोगोंसे अत्यन्त विरक्ति आजाती है। उस समय राम आकर कहते हैं कि हे सीते! तुम निरपराध हो, धन्य हो, देवों द्वारा पूजनीय हो। आज मेरे हृदयके आँसू नेत्रोंमें छलक आए हैं। प्रासादोंको चलकर पवित्र करो। अथवा अपने लक्ष्मणकी ओर दृष्टिपात करो। अथवा हनुमान पर करुणा करो जिसने संकटके समय सहायता पहुँचाई। अथवा अपने पुत्र लवांकुश की ओर तो देखो। तब सीताजी कहती हैं "नाथ! आप यह कैसी बात कर रहे हैं! आप तो स्वयं ज्ञानी हैं। संसारसे आप विरक्त होते नही और मेरे विरक्त होनेमें बाधा करते हैं! क्या विवेक चला गया?"

मोहकी विडम्बनाको तो जरा अवलोकन कीजिये। एक दिन था जब सीता रावणके यहाँ रामके दर्शनार्थ खाना-पीना विसर्जन कर देती थी। आँसुओंसे सदा मुँह धोये रहती थी। रामके विवेकमें विश्वास रखती थी। वही सीता रामसे कहती है। "क्या विवेक चला गया?" कैसी विचित्र मोहमाया है? राम जैसे महापुरुष भी इसके फन्देसे न बच सके! जब सीताजी हरी गईं तो पुरुषोत्तम रामजी उसके विरहमें इतने व्याकुल रहे कि

वृक्षोंसे पूछते हैं 'अरे तुमने कहीं हमारी सीता देखी है ? यही नहीं बल्कि वही पुरुषोत्तम रामजी श्रीलक्ष्मणके मृत शरीरको छह मास लेकर सामान्य मनुष्योंकी तरह भ्रमण करते रहे। क्या यह मोहका जादू नहीं है ? बाहरे मोह राजा ! तूने सचमुच जगतको अपने वशवर्ती कर लिया। तेरा प्रभाव अचिन्त्य है। तेरी लीला भी अपरम्पार है। कोई भी तीन लोकमें ऐसा स्थान नहीं, जहाँ तूने अपनी विजयपताका न फहराई हो। जब महारानी सीता और राजा राम जैसे महापुरुषोंकी यह गति हुई तब अन्य रंक पुरुषोंकी क्या कथा ? धन्य है तू और तेरी विचित्र लीला।

जिसने मोहपर विजय पाई वही सच्चा विजयी है, उसीकी डगमगाती जर्जर जीवन-नैया संसार-सागर से पार होनेके सन्मुख है।

—वर्णी-वाणी १ / ३३४-३४४

अब तो एसी परिणति बनाओ जो हमारा और तुम्हारा विकल्प मिटे। यह भला, वह बुरा, यह वासना मिट जावे, यही वासना बंधकी जान है। आजतक इन्हीं पदार्थोंमें ऐसी कल्पना करते-करते संसार ही के पात्र रहे। बहुत प्रयास किया तो इन बाह्यवस्तुओंको छोड़ दिया। किन्तु इनसे कोई तत्त्व न निकला। निकले कहाँसे ? वस्तु तो वस्तुमें है। परमें कहाँसे आवे ? परके त्यागसे क्या ? क्योंकि यह तो स्वयं पृथक् है। उसका चतुष्टय स्वयं पृथक्। किन्तु विभावदशामें जिसके साथ अपना चतुष्टय तद्रूप हो रहा है उस पर्यायका त्याग ही शुद्ध स्वचतुष्टयका उत्पादक है। अतः उसकी ओर दृष्टि-पात करो, लौकिक चर्चाको तिलांजलि दो। आजन्म से वही आलाप तो रहा, अब एक बार निज आत्नापकी तान लगाकर तानसेन हो जावो। अनायास सर्व दुःखकी सत्ताका अभाव हो जावेगा। विशेष क्या कहा जाय ?

अध्यात्म-पत्रावली—७१

संसार-चक्र

संसार—

संसारमें बहुत विचित्रता है, यह अकारणिका नही। इसपर बड़े बड़े महानुभावोंने गम्भीर विचार किये, किन्तु यह सभीने स्वीकार किया कि संसार दो पदार्थोंके मेलसे निष्पन्न एक तृतीय अवस्थाको धारण करने वाला है। जहाँ दो पदार्थोंका विलक्षण संयोग होता है वही अवस्था बन्धभावको धारण करती है। जैसे चार आने भर सुवर्ण और चार आने भर चाँदी दोनोको गलाकर एक पिण्ड बना दीजिये उस पिण्डमें दोनों पदार्थ उतने ही हैं जितने पहिले थे परन्तु जब वह एक पिण्ड हो गये तब न तो वह शुद्ध सोना है और न शुद्ध चाँदी है। एक तृतीय अवस्था हो गई और उसे खोटे सोनेके नामसे लोग व्यवहार करते है। इसी प्रकार आत्मा और पुद्गलका अनादिकालसे सम्बन्ध चला आ रहा है। उसे लोग मनुष्य, तिर्यञ्च, देव, नारकी शब्दसे व्यवहार करते हैं। सुवर्ण चाँदी दोनों सजातीय द्रव्य हैं। यहाँ विजातीय दो द्रव्योंका सम्बन्ध है। एक चेतन द्रव्य है दूसरा अचेतन। इनके विलक्षण सम्बन्ध ही का नाम संसार है। यहाँपर जो पर्यायमें अपनेको मनुष्य और इतर पर्यायमें अपनेको देवादि मानने लगता है। जिस पर्यायमें जाता है उसी पर्यायके अनुकूल अपनी परिणति बना लेता है।

संसार एक विचित्र जाल है, इस जाल में प्रायः सभी फँसे हैं। जो इससे निकल जावे प्रशंसा उसी की है।

यह संसार वास्तवमें आत्माकी विभाव परिणतिका है। यह जो दृश्यमान जगत है वह तो विभावपरिणति का कार्य है। इसको जो जगत कहते हैं वह उपचारसे जगत कहलाता है। आत्मामें जब तक विभावपरिणति है तब तक सर्व जगत है। जब आत्मासे विभावपरिणति चली जाती है तब नूतन कर्मबन्ध नही होता। नूतन कर्मबन्धके अभावमें कर्मका अभाव हो जाता है।

संसार एक विशाल कारागृह है। इसका संरक्षक कौन है? यह दृष्टिगोचर तो नही फिर भी अन्तरङ्गसे सहज ही इसका पता चल जाता है। संसार पर्याय-दृष्टिसे तो अनित्य है और इसका संरक्षक मोह है। इसके दो मन्त्री हैं जो इसकी रक्षा करते है। उनका नाम राग और द्वेष है। इनके द्वारा आत्मामें क्रोध, मान, माया तथा लोभ का प्रकोप होता है। क्रोधादिकोंके आवेगमें यह नाना प्रकारके अनर्थ करता है।

क्रोध—

जब क्रोधका आवेग आता है तब नानाप्रकारके कष्ट देना, अनिष्ट करना, तथा परसे कराना सूझता है। उसका स्वयमेव अनिष्ट होता हो तब आनन्दमें मग्न हो जाता है। यद्यपि उसके अनिष्ट होनेसे कुछ भी लाभ नही परन्तु क्या करे? लाचार है। यदि उसका पुण्योदय हो और इसके अभिप्रायके अनुकूल उसका कुछ भी बाँका न हो तो दाहमें दुखी होता रहता है। यहाँ तक देखा गया है कि अभिप्रायके अनुरूप कार्य न होनेपर मरण तक कर लेता है।

मान—

मानके उदयमें यह इच्छा होती है कि दूसरा मेरी प्रतिष्ठा करे, उच्च माने। जैसे उच्चता लोकमें हो, उसके अर्थ परकी निन्दा, अपनी प्रशंसा करे। परमें जो गुण विद्यमान हों उनका लोप करे। अपनेमें जो गुण नहीं उन्हें अपनेमें बतलानेकी चेष्टा करे। मानके लिये बहुत कष्टसे उपार्जन किये धनको व्यय करनेमें संकोच न करे। यदि मानकी रक्षा न हो तब बहुत दुःखी होता है।

अपघात तक करनेमें संकोच नहीं करता। यदि किसीने जैसी अपनी इच्छा थी वैसा मान लिया तब फूलकर कुप्पा हो जाता है कि हमारा मान रह गया। मूर्ख यह विचार नहीं करता कि हमारा मान नष्ट हो गया। यदि नष्ट न होता तो वह भाव बना रहता। उसके जाने से ही तो आनन्द आया।

माया—

माया कषाय भी जीवको इतने प्रपञ्चोंमें फँसा देती है कि मनमें तो और है, वचनसे कुछ कहता है, कार्य अन्य ही करता है। मायाचारी आदमीके द्वारा महान् अनर्थ होते है। ऊपरसे तो सरल दीखता है परन्तु उसके भीतर अत्यन्त वक्र परिणति होती है। जैसे बगुला ऊपरसे शनैः शनै पैरों द्वारा गमन करता है और भीतरसे जहां मछलीकी आहट सुनी कि उसे चोंचसे पकड़ लेता है। मायाचारके वशीभूत होकर जीव जो न करे सो अल्प है।

लोभ—

लोभके वशीभूत होकर जो जो अनर्थ संसारमें होते है वह किसीसे अविदित नहीं। आज जो सहस्रावधि मनुष्योंका संहार हो रहा है, लोभ ही की बदौलत तो है। आज एक राज्य दूसरेको हड़पना चाहता है। वर्षोंसे शान्तिपरिषद् हो रही है, लाखों रुपये बरबाद हो गये, परन्तु मामला टस से मस न हुआ। शतशः नीतिके विद्वानोंने गंभीर विचार किये। अन्तमें परिग्रही मनुष्योंने एक भी विषय निर्णीत न होने दिया। लोभ कषायकी प्रबलता कुछ नहीं होने देती। सभी मिल जावें परन्तु जबतक अन्तरङ्गमे लोभ है एक भी बात तय न होगी। राजाओंसे प्रजाका पिण्ड छुड़ाया परन्तु अधिकारी वर्ग ऐसा मिला कि उनसे बदतर दशा मनुष्योंकी हो गई। यह सब लोभकी महिमा है। अतः जहाँ तक बने लोभको कृश करो।

चार संज्ञाएँ और मिथ्यात्व—

जिस शिक्षासे पारमार्थिक हित होता है उस ओर ध्यान नहीं और न हो भी सकता है। प्रत्यक्ष सुखके साधनकी प्राप्ति जिससे हो उसे छोड़ लोग अपनेको अन्य साधनोंमें नहीं लगाना चाहते। इसका कारण अनादिकालसे आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञाके जालमें इतने उलझे हैं कि वहांसे निकलना शहदमें उलझी मक्खीके सदृश कठिन है। जिसका महाभाग्य हो वही इस जालसे अपनी रक्षा कर सकता है। यह जाल अन्य द्वारा नहीं बनाया गया है। हमने स्वयं इसका सृजन किया है। आहारादि संज्ञा मुनिके भी होती हैं। प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त मुनि भी तो आहार ग्रहण करते हैं। प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त असाताकी उदीरणा है। तथा जिसे कवलाहार कहते हैं उसे प्रमत्तगुणस्थान तक ही लेते हैं। इसके बाद अप्रमत्त गुणस्थानमें कर्म नोकर्म वर्गणाहीका ग्रहण होता है। कवलाहार छूट जाता है। भय, वेद, परिग्रह, नवम गुणस्थान पर्यन्त होता है। लोभ परिग्रह दशम गुणस्थान पर्यन्त होता है, किन्तु जब इस जीवके मिथ्याभाव छूट जाता है फिर होते हुए भी परिग्रहादि दोष आत्माको अनन्त संसारका बन्धन नहीं करा सकते। अतः संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्यको सबसे पहिले अनन्त संसारका पितामह मिथ्यात्व त्यागना चाहिये।

बहुतसे मनुष्य हिंसादि पञ्च पापोंको ही पाप समझते हैं। सबसे प्रबलतम पाप जो मिथ्यादर्शन है उसको पाप नहीं समझते। सब पापोंका जनक अनादिसे आता हुआ स्वपरभेदका बाधक यह मिथ्यात्व है। हिंसादिक तो चारित्रमोहसे होते हैं। जब मिथ्या पाप गया परमार्थसे तो उसी समय इसके कर्तृत्व निकल गया। केवल उदयसे औदयिक भाव होता है। यह उसका कर्ता नहीं बनता। कर्ता न बननेसे आगामी कर्मबन्ध बहुत ही अल्प होता है। कुछ कालमे ऐसी परिणति इसकी हो जाती है कि सब कर्मोंकी जड़ जो मोह है उसका बन्ध नहीं होता। जैसे जब मिथ्यादर्शन चला जाता है, मिथ्यात्वादि सोलह प्रकृतिका बन्ध नहीं होता। इस तरह क्रमसे गुणस्थान आरोहण करता है। जिस समय दशम गुणस्थान होता है उस कालमें मोहनीय कर्म तथा आयुको छोड़कर छह कर्मोंका ही बन्ध होता है। उसके अभावमें ज्ञानावरणादि अस्वामिक रहकर बारहवें गुणस्थानमें अन्तर्मुहूर्तमे स्वयमेव नष्ट हो जाते है।

अनादिसे यह जीव शरीरको निज मान रहा है तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह यह चार संज्ञाएँ इसके साथ हैं। निरन्तर इसी परिपाटीसे निकलना कठिन है। प्रथम तो आहारके अर्थ अनेक उपाय करता है। भय होनेपर

मागनेकी इच्छा करता है। वेदके उदयमें गुण-दोष देखने की इच्छा होती है। विषयकी लिप्सासे जो जो अनर्थ होते हैं वह किसीसे गुप्त नहीं। यह लिप्सा इतनी भयंकर है कि यदि इसकी पूर्ति न हो तब मृत्यु तकका पात्र हो जाता है। इनका लोभी जिनको लोकमें निन्द्यकर्म कहते हैं उन कर्मोंको भी करनेमें संकोच नहीं करता। यहाँ तक देखा गया है कि पिताका सम्बन्ध साक्षात् पुत्रीसे हो गया। उत्तमसे उत्तम राजपत्नी नीचोंके साथ संसर्ग करनेमें संकोच नहीं करती। जिसने इस कामपर विजय प्राप्त करली वही महापुरुष है, यों तो सभी उत्पन्न होते और मरते हैं।

स्वार्थी कुटुम्ब—

पुत्रको मनुष्य बहुत ही प्रेमदृष्टिसे देखता है किन्तु बात उसके विपरीत ही है। मनुष्यका सबसे अधिक प्रेम स्वस्त्रीसे रहता है, इसीसे उसका नाम 'प्राणप्रिया' रक्खा। 'मेरी प्राणवल्लभा' आदि नामसे उसे सम्बोधित करता है। वह इसकी आज्ञाकारिणी रहती है। पहिले पतिको भोजन कराती है तब आप भोजन करती है। उसको शयन कराके शयन करती है। उसका वैयावृत्य करनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं करती। पुत्रके होते ही वह बात नहीं रहती। यदि भोजनमें विलम्ब हो गया तब पति कहता है 'विलम्ब क्यों हुआ ?' तब यही उत्तर तो मिलता है कि 'पुत्रका काम करूँ या आपका ?' इत्यादि। तथा जब पुत्र वृद्धिको प्राप्त होता है और पिता ह्रासको प्राप्त होता है तब समर्थ होनेपर पुत्र अर्थका स्वामी बन जाता है। वह स्वामित्व स्वयं सौंपता है, 'लो सँभालो अब तक हमने रक्षा की।' यहाँ तक देखा गया कि यदि दान देनेका प्रकरण आजावे तब लोगोंसे कहता है कि भाई! हम तो दूसरेकी धरोहर की रक्षा कर रहे हैं। हमें इसके व्यय करनेका अधिकार नहीं। अब आप लोग स्वयं निर्णय कर लो पुत्र मित्र है या शत्रु ? कहाँ तक कहूँ, मोही जीवको मोहके नशेमें अपने आपका बोध नहीं होता।

मोहजन्य अज्ञानता—

"आचक्ष्व शृणु वा तात ! नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥"

चाहे तो आजन्म शास्त्रश्रवण करो, चाहे आजन्म शास्त्रोंका व्याख्यान करो तथापि जबतक सबको न भूल जाओगे तबतक तुम्हारा कल्याण नहीं, क्योंकि आत्मा सब पदार्थोंसे भिन्न है। इसका एक भी अंश न तो अन्यत्र जाता है और न अन्यका अंश इसमें आता है। हम अपनी ही अज्ञानतासे परको अपना मानते हैं। पर पदार्थोंमें किसीको तो दुःखका कारण मान लेते हैं। जैसे विष, कंटक, शत्रु पदार्थोंको दुखका कारण मान उनमें अप्रीति करते हैं, और किन्हीं स्त्री पुत्रादिकोंको सुखका कारण मान उनसे प्रेम करने लगते हैं। किन्हीं पदार्थोंको परलोकमें सुखका कारण जान उनमें रुचिपूर्वक भक्ति करने लगते हैं, किन्तु प्रयोजन केवल लौकिक सुखका ही रहता है। इस तरहसे अनादि संतानसे इस संसारमें चतुर्गति नारक, तिर्यक् मनुष्य तथा देवगतिमें भ्रमणकर संसार-बन्धनसे मुक्त नहीं होते। बन्धनसे मुक्त होनेका कारण तो तब मिले जब कि इस संसारके कारणोंसे विरक्त हों। संसार के कारणोंसे कब विरक्त हों ? जब कि इसे हेय समझें, सो तो समझते नहीं।

"नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धः आसीद्या जीविते स्पृहा ॥"

न तो मैं देह हूँ और न मेरे देह है। और न मैं जीव हूँ, मैं तो चित् स्वरूप हूँ, यदि मेरे जीवनमें स्पृहा है तो यही बन्ध है।

"एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतराम् ॥"

यद्यपि आत्मा एक है, स्वतन्त्र है, तथा प्रायः मुक्त ही है, किन्तु भ्रमसे परको अपना मान रहा है। यही तेरे बन्धका कारण है कि आत्मासे अतिरिक्त पदार्थोंको दृष्टा मान लेता है। आत्मासे भिन्न यह जो पदार्थ है वह तेरे नहीं, और न तूँ उनका है। उन्हें अपने मानकर स्वयं अपनी भूलसे बँधा हुआ है, कोई अन्य बँधाने वाला नहीं। जैसे कुत्ता दर्पणमें अपना मुख देख अपनेसे भिन्न प्रतिबिम्ब को दूसरा कुत्ता मानकर भौंकता है और उस दर्पणमें मुखकी ठोकर दे आप स्वयं चोटसे दुखी होता है। कोई अन्य चोट देने वाला नहीं। अपना ही आत्मीय बोध न होनेसे स्वयमेव दुःखका पात्र होता है। इसी तरह यह

आत्मा अपने स्वरूपको भूल स्वयं पर पदार्थोंमें निजत्व कल्पना कर दुःखका पात्र होता है—

"अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायो।
ज्यों शुक नभचाल बिसर, नलिनी लटकायो।।"

सत्य यह है कि—

"उदेति भावतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमात्मन्येव लयं व्रज।।"

यह जो विश्व उदयको प्राप्त होता है सो आत्मासे ही होता है। अर्थात् जो जगत दृश्यमान है यह आत्माके रागादि परिणामसे ही तो होता है। जैसे वारिधिसे बुद्-बुद् होते, वह यद्यपि वारिधिका स्वभाव नहीं है फिर भी उस समुद्रमें परिणमनकी शक्ति है। वायुके निमित्तको पाकर लहरें उत्पन्न होती हैं तथा बुद्बुद् आदि अनेक प्रकारके विकारभाव उसमें उत्पन्न होते हैं। अन्तमें उसी समुद्रमें लय हो जाते हैं। ऐसा जानकर जो दृश्यमान जगत है वह तेरा ही परिणमन विशेष है। अन्तमें तुझ हीमें लीन हो जाता है।

यहाँ यह शंका होती है कि आत्मा तो अमूर्तिक द्रव्य है, उसका यह जगत् विकार है, यह समझमें नहीं आता? आपका कहना ठीक है, वास्तवमें परमार्थ दृष्टिसे तो आत्मा अमूर्तिक है परन्तु अनादिकालसे इसका सम्पर्क पुद्गलके साथ हो रहा है। इन असमान जातीय द्रव्यों का ऐसा विलक्षण सम्बन्ध है कि पुद्गल कर्मके विपाकसे आत्मामें रागादिक परिणाम होते हैं, और वे परिणाम मोह रागद्वेष रूप हैं। इन्हींके विशेष मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन कषाय, प्रत्येक कषायमें क्रोध, मान, माया लोभ चार चार ४×४ भेद होकर सोलह प्रकार कषायके भेद हो जाते हैं। तथा नौ प्रकारके ईषत्कषाय होते हैं। जिनके हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुंसक वेद नाम हैं। इस तरहसे पच्चीस भेद मोहके होते हैं इसीका परिवार सकल संसार है। संसारमें इन भावोंको छोड़ और कुछ नहीं। जिन महापुरुषोंने इन पर विजय प्राप्त कर ली वे इस संसारसे उत्तीर्ण हो गये। सबसे प्रबल शत्रु मोह है। जिसके सद्भावमें यह जीव आप और परको नहीं जानता। जहाँपर आत्मा और पर का विवेक नहीं वहाँ अन्यकी क्या कथा? जबतक हमें अपना ही विवेक नहीं वहाँ हिंसादिक पापोंसे मुक्तिका उपाय कौन करे?

भेदज्ञानकी आवश्यकता—

"न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च हीनता।
नाश्चर्यं नैव क्षोभश्च क्षीणसंसरणे नरे।।"

लेकिन जिस महापुरुषका संसार क्षीण हो गया है उससे न तो किसीकी हिंसा होती है, न करुणा होती है। न उद्धत्ता होती है, न हीनता होती है। न क्षोभ होता है, और न आश्चर्य ही होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब मनुष्यके भेदज्ञान हो जाता है उस समय यह परको पर और अपनेको भिन्न जानता है। जब परको पर जाना तब उसमें निजत्वकी कल्पना विलीन हो जाती है। जब निजकी कल्पना मिट गई तब उसमें राग व द्वेष दोनों विलय हो जाते हैं। उनके जाने पर सुतरां, दया और हिंसाके भाव विलय जाते हैं। आत्माका स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है। जानने वाला और देखने वाला है। शेष जो भाव होते हैं वह उपाधिजन्य एवं विकारज हैं। इसके स्वभाव नहीं। अतः स्वयमेव विलीन हो जाते हैं। जो धर्म आगन्तुक होता है वह मर्यादाके बाद नहीं रहता, पर्यायें स्वाभाविक एवं वैभाविक दो प्रकारकी होती हैं। **वैकारिक पर्याय कारणके अभावमें नहीं रहतीं।**

"सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते।।"

सब अवस्थाओंमें जिसका आशय निर्मल हो गया है, स्वस्थ रहता है, समस्त वासनाओंसे जो मुक्त है, वही मुक्त है। वही आत्मा सर्वत्र शोभायमान होता है। जब रज्जु-का ज्ञान हो जाता है उस समय सर्पका ज्ञान नहीं होता। इस जगत्में अनादिकालसे जीवका कर्मोंके साथ सम्बन्ध चला आया है जिससे आत्मा मलिन हो रहा है। परन्तु जब भेदज्ञान हो जायगा, कर्मबन्धनके कारणोंका अभाव होनेसे सुतरां उस निर्मलताको प्राप्त होगा, जिससे संसार परिभ्रमणका यह चक्र सदाको नष्ट हो जायगा।

—वर्णी-वाणी। ३ / २४४-२५४

*

शांति कहाँ ?

शान्ति के बाधक कारण,

१. हमारी अज्ञानता—

शान्तिका मूल कारण चित्तकी निश्चलता है परन्तु निश्चलता होती नहीं। इसका मूल कारण यह कि हमारी बुद्धि परको अपना मानती है और जब परको अपना माना तब उसके रक्षणका भाव निरन्तर रहता है। उसका रक्षण हमारे अधीन नहीं, क्योंकि उस पर-पदार्थकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उनमें किसी अवस्थाको हम इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते हैं। हमारे अनुकूल जो परिणमन हो गया, उसको हम चाहते हैं। उसके रखनेका सतत प्रयत्न करते हैं। किन्तु वह परिणमन समय पाकर अन्यरूप हो जाता है, तब हम अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं। यही हमारी महती अज्ञानता है। हमने यह प्रयत्न नहीं किया कि पर-पदार्थ न कभी अपना हुआ, न था और न भविष्यमें होगा ही, यह निश्चित है। फिरभी मोहके आवेशमें निरन्तर विपरीत परिणमन करनेकी प्रकृति बना रखी है। अन्यकी कथा छोड़ो, जो लावण्यता बाल्यकालमें मनुष्यमें विद्यमान होती है कुछ काल उपरान्त वह चली जाती है। तब इसे युवक कहने लगते है। अनन्तर वृद्ध हो जाता है, दन्त भग्न हो जाते हैं, नेत्र मन्दज्योति हो जाते हैं, पग चलनेसे इन्कार कर देते हैं, हाथ कोई कार्य करनेमें अग्रसर नहीं होते। जो बालक प्रेमसे गोदमें खेलते है, वे स्पर्श करनेकी कथा छोड़ो, देखना भी नहीं चाहते। यह सब प्रपञ्च देखकर भी हम आत्महितसे वञ्चित रहते है, इसका मूलकारण मोह है।

२. मोह-मदिरा—

मोह-मदिरा केनशामें विह्वल मनुष्यकी दशा मद्यपान करनेवालेके सदृश रहतीहै। एकबार मैं गिरिराज (सम्मेद-शिखर) जी क्षेत्रके पार्श्वभाग ईसरीमें निवास करता था। एक दिन सायंकाल भ्रमणार्थ गया। एक आधा फर्लाङ्ग पर ही एक मद्यकी दुकान थी, उसके सामनेसे गया। वहाँ जाकर देखा कि बहुतसे मनुष्य मद्यके नशामें उन्मत्त होकर नाना अवाच्य शब्द बोलते तथा नाना प्रकारकी कुचेष्टा कर रहे हैं। यहाँ तक कि मुँहमें मक्खियाँ जा रही हैं, कूकर शरीर पर मूत्र कर रहे हैं, परन्तु वे इसकी कुछ भी परवा नहीं करते और न इनके निवारणका कुछ प्रयास ही करते हैं। इतनेमें नवीन शराब पीनेवाले आये और मद्यविक्रेता से कहने लगे कि 'बढ़िया शराब देना'। विक्रेताने उत्तर दिया कि 'देखते नहीं, तुम्हारे दादा सामने ही लोट रहे हैं ?

मदिरा के नशामें आदमीकी दशा उन्मत्त हो जाती है। यही अवस्था मोही जीवोंकी जाननी चाहिये।

३. स्वार्थी संसार—

जीव एकाकी माँ के गर्भमें आता है और नवमास पर्यन्त अधोमुख होकर बिताता है। वहाँसे जब निर्गत होता है उन दुःखोंका अनुभव वही जानता है। अन्य कोई तो जान ही क्या सकेगा ? जो माता उसे अपने उदरमें धारण करती है, उसे भी उस बालकके दुःखोंका पता नहीं।

जब निर्गत हुआ तब बाल्यावस्थामें शक्ति व्यक्त न होनेसे, इच्छाके अनुकूल कार्य न होनेसे जो कष्ट उसे होते हैं उनके वर्णन करनेमें अन्य किसीका सामर्थ्य नहीं। उसे तो भूख लगी है। दुग्धपान करना चाहता है, परन्तु माँ अफीम पान कराकर सुलानेकी चेष्टा करती है। वह सोना चाहता है माँ कहती है बेटा ! दुग्ध पान करलो ! कहनेका तात्पर्य यह कि सब तरहसे प्रतिकूल कार्योंमें ही बाल्यावस्थाके कालको पूर्ण करना चाहता है। जहाँ पाँच

वर्ष का हुआ माता पिता बालकको पढ़ानेका प्रयत्न करते हैं। ऐसी विद्या अर्जन कराते हैं जिससे लौकिक उन्नति हो, यद्यपि लौकिक उन्नतिमें शांति नहीं मिलती तथापि माता-पिताको जैसी परम्परासे पद्धति चली आ रही है तदनुकूल ही उनका बालकके प्रति भाव रहेगा। जिस शिक्षासे आत्माको शान्ति मिले उस ओर लक्ष्य ही नहीं। गुरुसे कहेंगे जिसमें बालक खान-पानके योग्य द्रव्यार्जन कर सके ऐसी ही शिक्षा देना।

जहाँ १५, १६ वर्षका हो गया, माता पिताने दृष्टि बदली और यह संकल्प करने लगे कि 'कब बालकका विवाह हो जावे ?' इसी चिन्तामें मग्न रहने लगे। कहाँ तक कहा जावे, विवाह के लिये लड़कीकी खोज करने लगे। अन्ततोगत्वा अपने तुल्य ही बालकको बनाकर संसारवृद्धि का ही उपदेश देते हैं। इस तरह यह संसार चक्रचल रहा है, इसमें कोई विरला ही महानुभाव होगा जो अपने बालकको ब्रह्मचारी बनाकर स्वपरके उपकारमें आयु पूर्ण करे। आजसे २००० वर्ष पहले श्रमणसंस्कृति थी तब बालकगण मुनियोंके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे। कोई तो मुनिवेषमें अध्ययन करते थे; कोई ब्रह्मचारी वेषमें ही अध्ययन करते थे, कोई साधारण वेषमें अध्ययन करते थे। स्नातक होनेके अनन्तर कोई तो गृहस्थावस्थाको त्यागकर मुनि हो जाते थे, कोई आजन्म ब्रह्मचारी रहते थे, कोई गृहस्थ बनकर ही अपना जीवननिर्वाह करते थे। परन्तु अब तो गृहस्थावस्था छोड़कर कोई भी त्याग करना नहीं चाहता। सतत गृहस्थधर्म में जन्म गमाते हैं।

४. निरीहवृत्तिका अभाव—

कल्याणका मार्ग तो निरीहवृत्तिमें हैं। निरीहता तभी आवे जब पर-पदर्थोंसे ममता छूटे। यहाँ तो परको अपना मानना ही ध्येय बना रक्खा है। सारा संसार देखा, जिसने संतोष न पाया उसे संतोष मिलनेका मार्ग भी कठिन है, क्योंकि समता हृदयमें नहीं। समतासे तात्पर्य यह है कि इन पर-पदार्थोंमें रागद्वेष कल्पना त्यागो। जहाँ जाओ, जिससे बात करो, केवल फँसाने का ही व्यापार है। व्यर्थके जल्पवादमें और मानसिक विफल विकल्पोंमें कार्य के अनर्थक व्यापारों द्वारा यह जीवन चला जाता है। कल्याणके लिये न तो विशिष्ट तपकी आवश्यता है और न विशिष्ट ज्ञानकी ही आवश्यकता है। आवश्यकता है तो केवल निरीहवृत्ति की। निरीहवृत्ति उसीकी हो सकती है जो इन परपदार्थों को अपनाना त्याग देवे।

५. परमें निजकी मान्यता—

परको निज मानना ही अनर्थकी जड़ है। जैसे कोई रज्जुमें सर्प मान लेवे तब सिवाय भयके और क्या लाभ ? परकी परिणति कभी आपरूप नहीं होती। संसारमें जितने पदार्थ हैं वह चाहे चेतन हों, चाहे अचेतन हों। चेतन पदार्थ चेतनद्रव्य और चेतन गुणोंमें व्याप्त होकर रहेंगे। अचेतन पदार्थ अचेतनद्रव्य और तन गुणोंमें व्याप्त होकर स्वभावसे रहेंगे। जैसे कुम्भकारके द्वारा घट बनाया जाता है किन्तु न तो घटमें कुम्भकारका द्रव्य जाता है और न गुण जाता है क्योंकि वस्तुकी मर्यादा अनादिनिधन है, इसका परिवर्तन नहीं हो सकता। द्रव्यान्तरके संक्रमण बिना एक पदार्थ अन्यका परिणमन करने वाला नहीं हो सकता। इसी तरह पुद्गलमय जो ज्ञानवरणादि कर्म हैं उनमें न तो जीवका द्रव्य है और न गुण है, क्योंकि द्रव्यान्तर-संक्रमण वस्तुकी मर्यादा से ही निषिद्ध है। अतः परमार्थसे आत्मा ज्ञानावरणादिका कर्ता नहीं, फिर भी ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध अनादि से चला आ रहा है कि जिस समय आत्मा रागादिरूप परिणमता है उस कालमें जो वर्गणा कार्मणरूप आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें सम्बन्धित है वह ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती हैं। जो रागादि परिणाम इस परिणमनमें कारण हैं, उनके निमित्त से बँधे कर्म कालान्तरमें उदयमें आकर आत्माको रागादिरूप परिणमनमें निमित्तकारण हो जाते हैं। कर्मका उदय जिस प्रकारके फलदान में समर्थ होता है वही अनुभागबन्ध है। उस समय आत्मामें उदयानुकूल परिणमन होता है। उसी समय जो कार्मण-वर्गणाएँ हैं वे यथायोग्य ज्ञानावरणादिरूप परिणमनको प्राप्त हो जाती हैं। इस रीतिसे अनादि संसारकी यह परिपाटी चल रही है। अनुभवमें यह आता है कि ये रागादि

परिणाम होते हैं, इनका कोई न कोई कारण होना चाहिये। वह क्या है? सो दीखता नहीं। किन्तु ऐसा नियम है जो कार्य होता है वह उपादान और निमित्तसे होता है। उपादान तो हम ही हैं, निमित्त कारण जो है वे रागादि उत्पादक कोई होना चाहिये, स्त्री आदि तो नियामक नही।

६. आत्मज्ञानका अभाव—

जबतक मोह रहता है तबतक तो आत्मदृष्टिका उदय ही नहीं, अपने अस्तित्वहीका परिचय नहीं, काहेकी शान्ति? यह जीव अनादिकालसे अपनेको नहीं जानता, क्योंकि जो अपनी सत्ता है वह यद्यपि प्रतिसमय ज्ञानमें आती है परन्तु उस ओर लक्ष्य नहीं। जब भूख लगती है, प्यास सताती है, शीघ्र ही हमें बोध होता है कि हम भूखे हैं, प्यासे हैं। यही बोध तो हमारा परिचायक है। इससे अधिक ज्ञान आत्माका और कौन करा देगा? परन्तु हम उस ओर दृष्टि नही देते; क्योंकि यह प्रक्रिया प्रतिदिन की है। यही परिचय अवज्ञा का कारण हो जाता है। आत्माका परिचय प्राणिमात्रको है परन्तु उस ओर लक्ष्य नही। आत्मज्ञान न हो तो कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये जो चार संज्ञाएँ जिसके होती हैं वही तो आत्मा है। यद्यपि आत्मा अमूर्त पदार्थ है। मूर्त पदार्थका परसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु अनादिकालसे इस जीवके मोहका सम्बन्ध है, इससे परको निज मानता है। जब परको निज माना तब परकी रक्षाके अर्थ नाना प्रकारके प्रयास करने पड़ते हैं। शरीर जिन पुद्गल द्रव्योंसे बना है, उनकी जब त्रुटि होने लगती है तब यह जीव उनकी पूर्तिका प्रयास करता है। उसी तरह जब क्रोधादि कषायोंका उदय होता है तब किसीके अनिष्ट करनेका भाव होता है। किसीसे अपनी प्रशंसा चाहता है। किसी पदार्थको इष्ट मान ग्रहण करना चाहता है। मायाचारीके वशीभूत होकर अन्यथा परिणमन करता है। इसी तरह जब हास्यादि कषायका उदय होता है, तब हास्यादि रूप परिणमन करता है। इसी तरह इस जीव की नाना दशा होती है। यह सब जंजाल परको निज मानने में है। जिस कालमें यह परको पर, आपको आप, मानकर केवल ज्ञाता दृष्टा बना रहे अनायास यह सब परिणमन शान्त हो जावेगा।

७. परसम्पर्क—

दो पदार्थोंका सम्पर्क जबतक है तबतक यह दुरवस्था है। जहाँ सम्बन्ध छूटा कि सब गया। जितना अधिक जनसम्पर्क होगा उतना ही संसारबन्धन वृद्धिको प्राप्त होगा। जितने मनुष्य मिलते हैं अपनी रामकथाको अलापकर चक्रमें डालनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु आवश्यक यह है कि निज उपयोगको स्वच्छ रखो। उपयोगका स्वभाव है कि जो पदार्थ उसमें आवेगा जता देवेगा। प्रथम तो इन्द्रियजन्य ही तुम्हारे ज्ञान है। इसके द्वारा रूप-रस-गन्ध-स्पर्श ही तो तुम्हारे ज्ञानके विषय है। इससे अधिक इन्द्रियज्ञानकी शक्ति नहीं। तुम निज कषायके अनुसार किसीको इष्ट और किसीको अनिष्ट होनेकी कल्पना करते हो। इष्टके संग्रह और अनिष्टके त्यागमें प्रयत्नशील रहते हो। इसमें भी कोई नियम नही कि इष्ट पदार्थ सर्वदा इष्ट रहे। जो वस्तु पहिले इष्ट है वही वस्तु कालान्तरमें अनिष्ट लगती देखी जाती है। शीतस्पर्श शिशिर ऋतुमें इष्ट नहीं और वही शीतल स्पर्श ग्रीष्म कालमें इष्ट देखा जाता है। जो ऊनी वस्त्र शीतकालमें सुखद देखा जाता है वही वस्त्र गर्मीके दिनोंमें असुखद देखा जाता है। जो रस शीतकालमें इष्ट होता है वही गर्मीके दिनोंमें अनिष्ट देखा जाता है। जो गाली अपने ग्राममें अनिष्ट होती है वही गाली ससुरालमें इष्ट मालूम होती है। अतः उचित है कि परका सम्पर्क त्यागें।

—वर्णी-वाणी : ३ / २५४-२६०

❋

वर्णी जयन्ती

"कम्मे णोकम्मम्मि य अहमिदि अहकं च कम्मणोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।"

जबतक कर्म—नोकर्ममें हम हैं और हमारेमें कर्म नोकर्म हैं तबतक यह अज्ञान है, तब तक संसार है। यथा एक घट होता है, पुद्‌गलका परिणाम है। यथा घटादिषु पुद्‌गलपर्यायेषु सो.........................अहम्। ये शरीरमें रागादिक हुए, ये और हमारा यह भ्रम कि हममें ये नोकर्म आदि हैं इनमें हम हैं तभी तक हम अज्ञानी हैं।

दैवयोगसे किन्हीं ज्ञानी गुरुओंका समागम मिल जाय, अज्ञान मिट जाय, तो यथा दर्पणे......ज्वालाग्नि:" दुनिया जानती है, दर्पणमें अग्नि प्रतिभासित होती है, अग्निकी ज्वाला दर्पणमें भासमान होती है तो उसकी उष्णता और ज्वाला दर्पणमें नहीं। यहाँ सिगड़ी रखी है, उसका प्रतिबिम्ब दर्पणमें पड़ता है पर यदि किसी स्त्रीसे दाल बनानेको कहा जाय तो बटलोई दर्पण पर रखेगी कि सिगड़ीकी आगपर, तो उसे भी इसका ज्ञान होता है, इसलिए पुद्‌गलकर्मसे भिन्न अरूपी जो आत्मा है उसमें जानपना है, ज्ञातृपना है उसमें कर्म और नोकर्म नहीं हैं। आप हमारे ज्ञानमें आ गए एतावता इसका अर्थ नहीं कि आप हममें आ गए। आपका एक अंश भी हमारे ज्ञानमें नहीं आया। जब अंश भी हमारे ज्ञानमें नहीं आया तो आपसे स्नेह क्या करें कैसे, करें।

पुद्‌गलके रूप, रस, गन्ध, वर्णका अंशमात्र भी हमारे ज्ञानमें नहीं है। अगर हमारी कोई भी बात उनमें होती तो स्नेह करते।

तो जब तक हम इन पर पदार्थोंको अपना रहे हैं तब

स्तुति का अर्थ थोड़ी चीजको बहुत बढ़ाकर वर्णन कर देना, जिसका कोई पारावार नहीं। थोड़ी-सी बातको बहुत कहना, तो इसमें रंज करनेकी बात ही क्या है, पर मोह तो ऐसी चीज है कि वो रंज करा ही देता है। मुख्तार सा० ने कहा कि प्रशंसा सुनकर हम नीचे-नीचे हो जाते हैं तो विचार करके यह भी मनमें आता है कि अरे ये लोग भी कैसे हैं कि हम तो कुछ हैंई नहीं और ये लोग बना-बनाके कहते हैं। पर अच्छी बात है। देखा जाय तो हमारा देश तो भारतवर्ष है भैया। इतना बड़ा देश है भैया कि पत्थरमें कल्पना करके ये मोक्षमार्ग निकाल लेते हैं। देख लो, भगवान् पार्श्वनाथको, मोक्षको जाने वाले मगध, उनकी स्थापना करके और मोक्षमार्गमें चल रहे नहीं अपन लोग? विष्णु भगवानकी पत्थरकी प्रतिमामें आरोपण करके अपना कल्याण कर लेते हैं। अगर हममें जो गुणोंका आरोपण कर लेंवे तो इनकी मनकी बात है, हम मना करने वाले कौन?

हमारी बात मानो तो जितने हैं सभी बड़े हैं सबकी आत्माके अन्दर वह ज्ञानकी ताकत सब बातें सबके अन्दर विद्यमान हैं। हम उनका अनुभव न करें, यह बात दूसरी है। अगर उसकी तरफ दृष्टिपात कर देवें, तो हम कल्याणके पात्र हो जावें।

विश्व क्या है—

मोहकी महिमा है कि यह संसार चल रहा है। अगर मोह चला गया तो 'मम इदम्, अहमस्यम्' अज्ञान करके मोहित नहीं होंगे। अज्ञानमें हम इसके, ये हमारा, हम इसके पहले थे, अब ये हमारा होगा, इस प्रकार अज्ञान-बुद्धिसे संसारमें भ्रमण कब तक होगा कि

तक हमारे अनन्त संसारमें कोई शक नहीं। हम व्याख्यान क्या करें, पर हमारी समझमें इन लोगोंने (पंडित लोगोंने) जो व्याख्यान किया कि परके लिए अपना समय छोड़ दो। अरे समय छोड़ दें तो व्याख्यान क्या दें। इससे मालूम होता है कि मोह ही तो व्याख्यान दिला रहा है। पूज्य-पादस्वामीने सर्वार्थसिद्धि, जैनेन्द्रव्याकरण और समाधि-शतक बनाया तो वो पूज्यपाद स्वामी कहते हैं–उन्मत्त-चेष्टितम्... ये जो हमारी उन्मत्त चेष्टा है सो उन्मत्तो की कहें चाहे पागलोंकी कहें, पागल कहें तो उल्लू कहावें सो उन्मत्त ही हम कहते है। गुरु का नाम भी भगवानने प्रमत्त रखा है। गुरु-शिष्यका व्यवहार ही जब प्रमत्तों की चेष्टा है तो महाराज आप क्यों लिख रहे? तो इससे मालूम होता है कि सब मोहकी चेष्टा है। मोह महा बुरी चीज है। मगर एक मोह ऐसा होता है कि संसारमे डुबो देता है और एक मोह ऐसा होता है कि संसारसे उद्धार कर देता है। प्रातः के सूर्योदयमें गगनमे लालिमा होती है सायंकालीन सूर्योदयमें भी लालिमा होती है पर एक लालिमासे सूर्यका प्रकाश फैलने वाला है और उस शामकी लालिमासे प्रकाशका नाश होने वाला है। तो इसी प्रकार वह जो मोह है संसारी उपादानोंका, वह सायंकालकी लालिमाकी तरह उत्तरकालमें अंधकारका कारण है और वह जो राग है धर्मशास्त्रो आदिका, वह उत्तरकालमें प्राचीकी लालिमा की तरह प्रकाशका कारण है। जो वह शुभ राग जो है वह उत्तरकालमें उन प्राणियोंके संसारसे छूटनेका कारण और उनके लिए भी उत्तरकालमें कर्मनाशका कारण हुआ। हम तो ये समझते हैं कि सम्यग्ज्ञानियोंकी जो चेष्टा है सो सारी चेष्टा मोह रागको निकालनेकी चेष्टा होती है।

हम आचार्योंकी बात क्या कहें, हम तो आप लोगोंकी बात कहते हैं कि आप लोगोंके कौन मोह है। यदि आपके सम्यग्दर्शन है तो स्त्रियोंका भी मोह, बच्चों का मोह और संसारका मोह यह आपके संसारका नाशका कारण है।

किसी मनुष्यको जब ज्वर[1] आता है तो उसे चिरायता पीना पड़ता है तो क्या वह इस शौकसे पीता है कि फिर ऐसा ज्वर आवे और चिरायता पीना पड़े। सम्यग्दृष्टि भोग को चिरायता समझता है। विषयसेवन से दुख होता है, पर क्या करे उसे फिर पीनेकी आशा क्यों करेगा।

हमें तो विश्वास है कि सम्यग्दृष्टि विषयको भोगकर उसे चिरायता जैसा उपचार मानता है इसलिए मुनिपद यदि मोक्षमार्ग है तो हम भी मोक्षमार्गी है। उनके संज्वलन है तो हमारे अप्रत्याख्यानावरण का योग है। उनके हजारों शिष्य हो जाते हैं तो हमारे ४–ही ६ लड़के होते हैं। पचास कुटुम्बी हैं। ४–४ हजार शिष्योंके रहते जब वो मोही नही होते तो हम ४ के रहते कैसे मोही होवें, जैसा चंदाबाईने कहा था कि 'बद्धा ये किल केचिन'।

भेदविज्ञान जिन्हें मिल गया वे तिर गए और जो डूबे वो भेदविज्ञानके अभावमें डूबे।

संसारके प्रकरणमें आचार्य कहते है कि हम क्यों डूबे। संसारके अन्दर विचार करो तो दो प्रकारका योग होता है, एक शुभ, एक अशुभ। उसका मूल कारण राग-द्वेष है। हमारी आत्मा जो राग-द्वेषके कारण उत्पन्न हुए रागमें विद्यमान है हमी तो उसको ले जाने वाले है। हमी भिन्न कर सकते है। अपनी आत्माको अपने आत्माके द्वारा रोककर अपनी आत्मामें लगाकर पर द्रव्यमेंसे इच्छाको हटा लें तो परद्रव्य का समागम छूट जाय। खातावही नकली तो वह बनावे जिसके व्यापार होता हो, किन्तु धंधा ही जो न करे तो वह खातावही क्या बनावे।

तब जब संगरहित हो गया तो आत्माकी चीजका आत्माके द्वारा ध्यान करता हुआ शुद्ध ज्ञान दर्शन मय आत्माको प्राप्त करता है। मोक्षमार्गको प्राप्त होता है। आप लोग जो इधर आए हो सो इतनी बात मानना कि और कुछ छोड़ो, चाहे न छोड़ो मोह छोड़ जाओ। बस यही कल्याण का मार्ग है।

—वर्णी वाणी ३/ २३१-२३५

✻

१
प्रज्ञा

आत्मा मोहोदय के कारण पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि कर दुखी हो रहा है। एक प्रज्ञा ही ऐसी प्रबल छैनी है कि जिसके पड़ते ही बन्ध और आत्मा जुदे-जुदे हो जाते हैं। आत्मा और अनात्मा का ज्ञान कराना प्रज्ञा के अधीन है। जब आत्मा और अनात्मा का ज्ञान होगा तब ही तो मोक्ष हो सकेगा, परन्तु इस प्रज्ञा-रूपी छैनी का प्रयोग बड़ी सावधानी से करना चाहिये। बुद्धि में निज का अंश छूटकर पर में न मिल जाय और पर का अंश निज में न रह जाय यही सावधानी का मतलब है।

धन-धान्यादि जुदे हैं, स्त्री पुत्रादि जुदे हैं, शरीर जुदा है, रागादि भावकर्म जुदे हैं, द्रव्यकर्म जुदे हैं, मतिज्ञानादिक क्षायोपशमिक ज्ञान जुदे हैं। यहाँ तक कि ज्ञान में प्रतिबिम्बित होने वाले ज्ञेय के आकार भी जुदे हैं। इस प्रकार स्वलक्षण के बल से भेद करते करते अन्त में जो शुद्ध चैतन्य भाव बाकी रह जाता है वही निज का अंश है; वही उपादेय है। उसी में स्थिर हो जाना मोक्ष है। प्रज्ञा के द्वारा जिसका ग्रहण होता है वही चैतन्य रूप 'मैं' हूं। इसके सिवाय अन्य जितने भाव हैं निश्चय से वे पर-द्रव्य हैं-पर-पदार्थ हैं। प्रज्ञा के द्वारा जाना जाता है कि आत्मा ज्ञाता है, द्रष्टा है। वास्तव में ज्ञाता द्रष्टा होना ही आत्मा का स्वभाव है पर इसके साथ जो मोह की पुट लग जाती है वही समस्त दुःखों का मूल है। अन्य कर्म के उदय से तो आत्मा का गुण रुक जाता है पर मोह का उदय इसे विपरीत परिणमा देता है। अभी केवलज्ञानावरण का उदय है। उसके फलस्वरूप केवल-ज्ञान प्रकट नहीं हो रहा है, परन्तु मिथ्यात्व के उदय से आत्मा का आस्तिक्य गुण अन्यथा-रूप परिणम रहा है। आत्मा का गुण रुक जाय इसमें हानि नहीं, पर मिथ्यारूप हो जाने में महती हानि है। एक आदमी को पश्चिम की ओर जाना था, कुछ दूर चलने पर उसे दिशा-भ्रान्ति हो गई। वह पूर्व को पश्चिम समझकर चलता जा रहा है, उसके चलने में बाधा नहीं आई, पर ज्यों ज्यों चलता जाता है त्यों त्यों अपने लक्ष्य से दूर होता जाता है। दूसरे आदमी को दिशा-भ्रान्ति तो नही हुई पर पैर में लकवा मार गया इससे चलते नहीं बनता। वह अचल होकर एक स्थान पर बैठा रहता है, पर अपने लक्ष्य का बोध होने से वह उससे दूर तो नहीं हुआ, कालान्तर में ठीक होने से शीघ्र ही ठिकाने पर पहुँच जावेगा।

एक को आँख में कामला रोग हो गया जिससे उसका देखना बन्द तो नहीं हुआ, देखता है; पर सभी वस्तुएँ पीली पीली दिखती हैं। उससे वर्ण का वास्तविक बोध नहीं हो पाता। एक आदमी परदेश गया, वहाँ उसे कामला रोग हो गया। घर पर स्त्री थी, उसका रङ्ग काला था। जब वह परदेश से लौटा और घर आया तो उसे स्त्री पीली दिखी। उसने उसे भगा दिया। कहा कि मेरी स्त्री तो काली थी, तू यहाँ कहाँ से आई? वह कामला रोग होने से अपनी ही स्त्री को पराई समझने लगा। इसी प्रकार मोह के उदय में यह जीव कभी कभी अपनी चीज को पराई समझने लगता है और कभी कभी पराई को अपनी। यही विभ्रम संसार का कारण है, इसलिये ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे पाप का बाप यह मोह, आत्मा से निकल जाय। हिंसादि पाँच पाप हैं अवश्य, पर वे मोह के समान अहितकर नहीं हैं। पाप का बाप यही मोह-कर्म है। यही दुनियाँ को नाच नचाता है। मोह दूर हो जाय और आत्मा

के परिणाम निर्मल हो जाँय तो संसार से आज छुट्टी मिल जाय। पर हो तब न। संस्कार तो अनादिकाल से इस जाति के बना रक्खे हैं कि जिससे उसका छूटना कठिन दिखने लगता है।

ज्ञान के भीतर जो अनेक विकल्प उठते हैं उसका कारण मोह ही है। किसी व्यक्ति को आपने देखा, यदि आपके हृदय में उसके प्रति मोह नहीं है तो कुछ भी विकल्प उठने का नहीं। आपको उसका ज्ञान भर हो जायगा, पर जिसके हृदय में उसके प्रति मोह है उसके हृदय में अनेक विकल्प उठते हैं। यह विद्वान् है,यह अमुक कार्य करता है, इसने अभी भोजन किया है या नहीं ? आदि। बिना मोह के कौन पूछने चला कि इसने अभी खाया है या नहीं ? मोह के निमित्त से ही आत्मा में एक पदार्थ को जानकर दूसरा पदार्थ जानने की इच्छा होती है। जिसके मोह निकल जाता है उसे एक आत्मा ही आत्मा का बोध होने लगता है। उसकी दृष्टि बाह्य ज्ञेय की ओर जाती नहीं है। ऐसी दशा में आत्मा, आत्मा के द्वारा; आत्मा के लिये; आत्मा से · आत्मा में ही जानने लगता है। एक आत्मा ही षट्कारक रूप हो जाता है। सीधी बात यह है कि उसके सामने से कर्ता, कर्म, करण आदि का विकल्प हट जाता है।

चेतना यद्यपि एक-रूप है फिर भी वह सामान्य विशेष के भेद से दर्शन और ज्ञान रूप हो जाती है। जबकि सामान्य और विशेष, पदार्थ मात्र का स्वरूप है, तब चेतना उसका त्याग कैसे कर सकती है ? यदि वह उसे भी छोड़ दे तब तो अपना अस्तित्व भी खो बैठे और इस रूप में वह जड़रूप होकर आत्मा का भी अन्त कर दे सकती है, इसलिये चेतना का द्विविध परिणाम होता ही है। हाँ, चेतना के अतिरिक्त अन्य भाव आत्मा के नहीं हैं। इसका यह अर्थ नहीं समझने लगना कि आत्मा में सुख, वीर्य आदि गुण नहीं हैं। उसमें तो अनन्त गुण विद्यमान हैं और हमेशा रहेंगे, परन्तु अपना और उन सबका परिचायक होने से मुख्यता चेतना को ही दी जाती। जिस प्रकार पुद्गल में रूप रसादि गुण अपनी अपनी सत्ता लिये हुये विद्यमान रहते हैं उसी प्रकार आत्मा में भी ज्ञान, दर्शन आदि अनेक गुण अपनी अपनी सत्ता लिए हुये विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार चेतनातिरिक्त पदार्थों को पर-रूप जानता हुआ ऐसा कौन बुद्धिमान है जो कहे कि ये मेरे हैं। शुद्ध आत्मा को जानने वाले के ये भाव तो कदापि नहीं हो सकते।

जो चोरी आदि अपराध करता है वह शंकित होकर घूमता है। उसे हमेशा शङ्का रहती है कि कोई मुझे चोर जानकर बाँध न ले, पर जो अपराध नहीं करता है वह सर्वत्र निःशङ्क होकर घूमता है। 'मैं बाँधा न जाऊँ' इस प्रकार की चिन्ता ही उसे उत्पन्न नहीं होती। इसी प्रकार जो आत्मा परभावों को ग्रहण कर चोर बनता है वह हमेशा शङ्कित ही रहेगा और संसार के बंधन में बँधेगा। सिद्धि का न होना अपराध है। अपराधी मनुष्य सदा शङ्कित रहता है, अतः यदि निरपराधी बनना है तो आत्मा की सिद्धि करो। आत्मा से परभावों को जुदा करो। अमृतचंद्र स्वामी कहते हैं कि मोक्षार्थी पुरुषों को सदा इस सिद्धान्त की सेवा करना चाहिये कि मैं शुद्ध चैतन्य ज्योति-रूप हूँ और जो ये अनेक भाव प्रतिक्षण उल्लसित होते हैं वे सब मेरे नहीं हैं, स्पष्ट ही पर द्रव्य हैं।

—समयसार मोक्षाधिकार के प्रवचन का अंश।

इस काल में ज्ञानार्जन ही आत्मगुण का पोषक है। यदि ज्ञान के सद्भाव में मोह का उपशमन नहीं हुआ तब उस ज्ञान की कोई प्रतिष्ठा नहीं, जीवन बिना शरीर के तुल्य है, हम तो उसी को उत्तम समझते हैं जो संसारदुःख से भीरु है। यदि बहुत कायक्लेश कर शरीर को कृश किया और मोहादि को कृश न किया, तब व्यर्थ ही प्रयास किया। अतएव अपना समय ज्ञानार्जन में लगाकर मोह कृश करने का ध्येय रखना ही मानव का कर्तव्य है।

—वर्णी अध्यात्म-पत्रावली।

२

रक्षा–बन्धन

यह पर्व सम्यग्दर्शन के वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व दिखलाने वाला है। सम्यग्दृष्टि का स्नेह धर्म से होता है और धर्म बिना धर्मी के रह नहीं सकता, इसलिये धर्मी के साथ उसका स्नेह होता है। जिस प्रकार गौ का बछड़े के साथ जो स्नेह होता है उसमें गौ को बछड़े की ओर से होने वाले प्रत्युपकार की गन्ध भी नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा से स्नेह करता है तो उसके बदले वह उससे किसी प्रत्युपकार की आकांक्षा नहीं करता। कोई माता अपने शिशु से स्नेह इसलिये करती है कि यह वृद्धावस्था में हमारी रक्षा करेगा, पर गौ को ऐसी कोई इच्छा नहीं रहती क्योंकि बड़ा होने पर बछड़ा कहीं जाता है और गौ कहीं। फिर भी गौ बछड़े की रक्षा के लिये अपने प्राणों की बाजी भी लगा देती है। सम्यग्दृष्टि यदि किसी का उपकार करे और उसके बदले उससे कुछ इच्छा रक्खे तो यह एक प्रकार का विनिमय हो गया। इसमें धर्म का अंश कहां रहा? धर्म का अंश तो निस्पृह होकर सेवा करने का भाव है। विष्णुकुमार मुनि ने सात सौ मुनियों की रक्षा करने के लिये अपने आपको एकदम समर्पित कर दिया—अपनी वर्षों की तपश्चर्या पर ध्यान नहीं दिया और धर्मानुराग से प्रेरित हो, छल से वामन का रूप धर बालि का अभिमान चूर किया। यद्यपि पीछे चलकर इन्होंने भी अपने गुरु के पास जाकर छेदोपस्थापना की, अर्थात् फिर से नवीन दीक्षा धारण की; क्योंकि उन्होंने जो कार्य किया था वह मुनिपद के योग्य नहीं था तथापि सहधर्मी मुनियों की उन्होंने उपेक्षा नहीं की। किसी सहधर्मी भाई को भोजन वस्त्रादि की कमी हो तो उसकी पूर्ति हो जाय ऐसा प्रयत्न करना चाहिये। यह लौकिक स्नेह है। सम्यग्दृष्टि का पारमार्थिक स्नेह इससे भिन्न रहता है।

सम्यग्दृष्टि मनुष्य हमेशा इस बात का विचार रखता है कि यह हमारा सहधर्मी भाई सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र रूप जो आत्मा का धर्म है उससे कभी च्युत न हो जाय, तथा अनन्त संसार के भ्रमण का पात्र न बन जाय। दूसरे के विषय में ही यह चिन्ता करता हो सो बात नहीं, अपने आपके प्रति भी यही भाव रखता है। सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित आदि आठ अंग जिस प्रकार पर के विषय में होते हैं उसी प्रकार स्व के विषय में भी होते हैं। रक्षाबंधन रक्षा का पर्व है, पर की रक्षा वही कर सकता है जो स्वयं रक्षित हो। जो स्वयं आत्मा की रक्षा करने में असमर्थ है वह क्या पर का कल्याण कर सकता है? रक्षा से तात्पर्य आत्मा को पाप से पृथक् करो, पाप ही संसार की जड़ है। जिसने इसे दूर कर दिया उसके समान भाग्यशाली और कौन है?

आज जैन समाज से वात्सल्य अङ्ग का महत्त्व कम होता जा रहा है। अपने स्वार्थ के समक्ष आज का मनुष्य किसी के हानि लाभ को नहीं देखता। हम और हमारे बच्चे आनन्द से रहें, परन्तु पड़ोस की झोपड़ी में क्या हो रहा है इसका पता लोगों को नहीं। महल में रहने वालों को पास में बनी झोपड़ियों की भी रक्षा करनी होती है अन्यथा उनमें लगी आग उनके महल को भी भस्मसात् कर देती है। एक समय तो वह था कि जब मनुष्य बड़े

की शरण में रहना चाहते थे। उनका ख्याल रहता था कि बड़ों के आश्रय में रहने से हमारी रक्षा रहेगी, पर आज का मनुष्य बड़ों के आश्रय से दूर रहने की चेष्टा करता है, क्योंकि उसका ख्याल बन गया है कि जिस प्रकार एक बड़ा वृक्ष अपनी छांह में दूसरे छोटे पौधे को नहीं पनपने देता है, उसी प्रकार बड़ा आदमी समीपवर्ती—शरणागत अन्य मनुष्यों को नहीं पनपने देता। अस्तु रक्षाबन्धन पर्व हमें सदा यही शिक्षा देता है कि 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' अर्थात् सब सुखी रहें।

—श्रावण शुक्ला पूर्णिमा संवत् २००७, इटावा

समय के सदुपयोग से ही समय की प्राप्ति होती है। आज तक इस जीव ने स्व-समय की प्राप्ति के लिये पर-समय का आलम्बन लेकर ही प्रयत्न किया। प्रयत्न वह सफलीभूत होता है जो यथार्थ हो। आत्मतत्त्व की यथार्थता इसी में है कि जो उसमें नैमित्तिक भाव होते हैं उन्हें सर्वथा निज न मान लें। जैसे मोहज भाव रागादिक हैं वे आत्मा ही के अस्तित्व में होते हैं परन्तु विकारी हैं, अतः त्याज्य हैं, जैसे जल अग्नि का निमित्त प्राप्तकर उष्ण होता है। और वर्तमान में उष्ण ही है। अतः उष्णता त्याज्य ही है। क्योंकि उसके स्वरूप की विघातक है, तथा रागादिक परिणाम आत्मा के चरित्र गुण का ही विकार-परिणमन हैं परन्तु आत्मा का जो दृष्टा-ज्ञाता स्वरूप है, उसके घातक हैं, अतः त्याज्य हैं, जिस समय रागादिक होते हैं उस काल में ज्ञान केवल जानना क्रिया नहीं करता साथ में इष्टानिष्ट की भी कल्पना जानन-क्रिया में अनुभव करने लगता है। यद्यपि जानन-क्रिया में इष्टानिष्ट कल्पना तद्रूपा नहीं हो जाती है, फिर भी अज्ञान से वैसा भासने लगता है। जैसे रस्सी में सर्प का बोध होने से रस्सी सर्प नहीं हो जाती, ज्ञान ही में सर्प भासता है। परन्तु उस काल में भय का होना अनिवार्य हो जाता है। जाग्रत की कथा तो दूर रहो स्वाप्निक दशा में भी कल्पित पदार्थों को हम अपना मानकर रागद्वेष के दंश से नहीं बच सकते हैं। कुछ नहीं। इसी तरह इस मिथ्याभाव के सहकार से जो हमारी दशा होती है वह कैसी भयानक दुःख करने वाली है? इसका अनुभव हमें प्रतिक्षण होता है। फिर भी तो चेतते नहीं।

—वर्णी अध्यात्म-पत्रावली—४४।

३

अशान्ति

संसार के चक्र में जीव उलझ रहा है। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन संज्ञाओं के अधीन होकर आत्मीय स्वरूप से अपरिचित रहता है। आत्मा में ज्ञायक-शक्ति है जिससे वह स्वपर को जानता है परन्तु अनादिकाल से मोह-मद का ऐसा प्रभाव है कि आपापर की ज्ञप्ति से वञ्चित हो रहा है। संसार एक अशान्ति का भण्डार है। इसमें शान्ति का अत्यन्त अनादर है। वास्तव में अशान्ति का अभाव ही शान्ति का उत्पादक है। अशान्ति के प्रभाव से सम्पूर्ण जगत् व्याकुल है। अशान्ति का वाच्यार्थ अनेक प्रकार की इच्छायें हैं। ये ही हमारे शान्त स्वरूप में बाधक हैं। जब हम किसी विषय की अभिलाषा करते हैं तब आकुलित हो जाते हैं। जब तक इच्छित विषय का लाभ न हो तब तक दुखी रहते हैं। अन्तरङ्ग से यदि यह बात उत्पन्न हो जाय कि प्रत्येक द्रव्य स्व में परिपूर्ण है उसे पर पदार्थ की आवश्यकता नहीं—जब तक परपदार्थ की आवश्यकता अनुभव में आती है तब तक इसे स्वद्रव्य की पूर्णता में विश्वास नहीं— तो परकी आकांक्षा मिट जाय और परकी आकांक्षा मिटी कि अशान्ति ने कूच किया। जो मनुष्य शान्ति चाहते हैं वे परजनों के संसर्ग से सुरक्षित रहें। पर के संसर्ग से बुद्धि में विकार आता है और विकार से चित्त में आकुलता होती है। जहाँ आकुलता है वहाँ शान्ति नहीं, शान्ति बिना सुख नहीं और सुख के अर्थ ही सर्व प्रयास मनुष्य करता है। अनादि से हमारी मान्यता इतनी दूषित है कि निज को जानना ही असम्भव है। जैसे खिचड़ी खाने वाला मनुष्य केवल चावल का स्वाद नहीं बता सकता, वैसे ही मोही जीव शुद्ध आत्मद्रव्य का स्वाद नहीं बता सकता। मोह के उदय में जो ज्ञान होता है उसमें परज्ञेय को निज मानने की मुख्यता रहती है। यद्यपि पर निज नहीं परन्तु क्या किया जावे। जो निर्मल दृष्टि है वह मोह के सम्बन्ध से इतनी मलिन हो गई है कि निज की ओर जाती ही नहीं। इसी के सद्भाव में जीव की यह दशा हो रही है। उन्मत्तक (धतूरा) पान करने वाले की तरह अन्यथा प्रवृत्ति करता है, अतः इस चक्र से बचने के अर्थ पर से ममता त्यागो। केवल वचनों के व्यवहार करने से ही संतोष मत कर लो। जो मोह के साधक हैं, उन्हें त्यागो। जैसे पञ्चेन्द्रियों के विषय त्यागने से ही मनुष्य इन्द्रिय-विजयी होगा, कथा करने से कुछ तत्त्व नहीं निकलता। बात असल में यह है कि हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञान है, इस ज्ञान में जो पदार्थ भासमान होगा उसी ओर तो हमारा लक्ष्य जावेगा, उसी की सिद्धि के अर्थ तो हम प्रयास करेंगे, चाहे वह अनर्थ की जड़ क्यों न हो। अनर्थ की जड़ बाह्य वस्तु नहीं, वह तो अध्यवसान में विषय पड़ती है अतएव बाह्य वस्तु बन्ध का जनक नहीं। श्री कुन्दकुन्द देव ने लिखा है—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥

पदार्थ को निमित्त पाकर जो अध्यवसान भाव जीवों को होता है वही बन्ध का कारण है। पदार्थ बन्ध का कारण नहीं है।

यहाँ कोई कह सकता है कि यदि ऐसा सिद्धान्त है तो बाह्य वस्तु का त्याग क्यों कराया जाता है? तो उसका उत्तर यही है कि अध्यवसान न होने के अर्थ ही कराया जाता है। यदि बाह्य पदार्थ के आश्रय बिना अध्यवसान भाव होने लगें तो जैसे यह अध्यवसान भाव होता है कि मैं

रण में वीरसू माता के पुत्र को मारूँगा, वहाँ यह भी अध्यवसान भाव होने लगे कि मैं बन्ध्यापुत्र को प्राणरहित करूँगा, परन्तु नहीं होता क्योंकि मारणक्रिया का आश्रयभूत बन्ध्यासुत नहीं है। अतः जिन्हें बन्ध न करना हो वे बाह्य वस्तु का परित्याग कर देवें। परमार्थ से अन्तरङ्ग मूर्छा का त्याग ही बन्ध की निवृत्ति का कारण है। मिथ्या विकल्पों को त्याग कर यथार्थ वस्तुस्वरूप के निर्णय में अपने को तन्मय करो अन्यथा इसी भवचक्र के पात्र रहोगे। तुम विश्व से भिन्न हो, फिर भी विश्व को अपनाते हो इसमें मूलजड़ मोह है। जिनके वह नहीं, वह मुनि हैं। ये अध्यवसान आदि भाव जिनके नहीं वे ही महामुनि हैं। वे ही शुभ अशुभ कर्म से लिप्त नहीं होते।

जिस जीव को यह निश्चय हो गया कि मैं पर से भिन्न हूँ वह कदापि परके संयोग में प्रसन्न और विषादी नहीं हो सकता। प्रसन्नता और अप्रसन्नता मोहमूलक हैं। मोह ही एक ऐसा महान शत्रु इस जीव का है कि जिसकी उपमा नहीं की जा सकती, उसी के प्रभाव से चौरासी लाख योनियों में जीव का भ्रमण हो रहा है, अतः जिन्हें यह भ्रमण इष्ट नहीं, उन्हें उसका त्याग करना चाहिये।

खेद करो मत आतमा, खेद पाप का मूल।
खेद किये कुछ ना मिलै, खेद करहु निर्मूल ।।

खेद पाप की जड़ है अतः हे आत्मन्! खेद करना श्रेयस्कर नहीं किन्तु खेद के जो कारण हैं उनसे निवृत्ति पाना श्रेयस्कर है। मैं अनादिकाल से संसार में भटक कर दुखी हो रहा हूँ ऐसा विचार कर कोई खेद करने बैठ जाय तो क्या वह दुःख से छूट जायगा? नहीं दुःख से तो तभी छूटेगा जब संसार-भ्रमण के कारण मोह-भाव से जुदा होगा।

इस प्राणी को मोहोदय में शान्ति नहीं आती, और यह उपाय भी मोह के दूर होने के नहीं करता। केवल बाह्य कारणों में निरन्तर शुभोपयोग के संग्रह करने में अपने समय का उपयोग कर अपने को मोक्षमार्गी मान लेता है। जो पदार्थ हैं चाहे शुद्ध हों, चाहे अशुद्ध हों, उनसे हित और अहित की कल्पना करना सुसंगत नहीं। कुम्भकार मृत्तिका द्वारा कलश-पर्याय की उत्पत्ति में निमित्त होता है। एतावता कलशरूप नहीं हो जाता। यहाँ पर कुम्भकार का जो दृष्टान्त है सो उसमें तो मोह और योग द्वारा आत्मा की परिणति होती है। अतः वह निमित्त कर्त्ता भी बन सकता है। परन्तु भगवान् अर्हन्त और सिद्ध तो इस प्रकार के भी निमित्त कर्त्ता नहीं। वह तो आकाशादि की तरह उदासीन हेतु हैं। उचित तो यह है जितना पुरुषार्थ बने रागादिक के पृथक् करने में किया जाये। शुभोपयोग सम्यग्ज्ञानी को इष्ट नहीं। जब शुभोपयोग इष्ट नहीं तब अशुभोपयोग की कथा तो दूर की रही।"

—वर्णी अध्यात्म पत्रावली–४६।

४

कर्मबन्ध का कारण

"रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंजुत्तो" आदि गाथा से यह सिद्ध है—कि मिथ्यात्व, अज्ञान तथा अविरतरूप जो त्रिविध भाव हैं यही शुभाशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं, क्योंकि यह स्वयं अज्ञानादि रूप हैं। यही दिखाते हैं—

जैसे जब यह अध्यवसान भाव होता है कि 'इदं हिनस्मि' मैं इसे मारता हूँ तब यह अध्यवसानभाव अज्ञान भाव है क्योंकि जो आत्मा सत् है, अहेतुक है तथा ज्ञप्तिरूप एक क्रियावाला है उसका और रागद्वेष के विपाक से जायमान हननादि क्रियाओं का विशेष भेदज्ञान न होने से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं होता अतः अज्ञान ही रहता है। भिन्न आत्मदर्शन न होने से मिथ्यादर्शन रहता है और भिन्न आत्मा का चारित्र न होने से मिथ्याचारित्र का ही सद्भाव रहता है। इस तरह मोहकर्म के निमित्त से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सद्भाव आत्मा में है। इन्हीं के कारण कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध होता है।

यदि परमार्थ से विचारा जावे तो आत्मा स्वतन्त्र है और यह जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवाला पुद्गलद्रव्य है वह स्वतन्त्र है। इन दोनों के परिणमन भी अनादिकाल से स्वतन्त्र हैं। परन्तु इन दोनों में जीवद्रव्य चेतनगुण वाला है और उसमें यह शक्ति है कि जो पदार्थ उसके सामने आता है वह उसमें झलकता है—प्रतिभासित होता है। पुद्गल में भी एक परिणमन इस तरह का है कि जिससे उसमें भी रूपी पदार्थ झलकता है पर मेरे में यह प्रतिभासित है ऐसा उसे ज्ञान नहीं। इसके विपरीत आत्मा में जो पदार्थ प्रतिभासमान होता है, उसे यह भाव होता है कि ये पदार्थ मेरे ज्ञान में आये। यही आपत्ति का मूल है, क्योंकि इस ज्ञान के साथ में जब मोह का सम्बन्ध रहता है तब यह जीव उन प्रतिभासित पदार्थों को अपनाने का प्रयास करने लगता है। यही कारण अनन्त संसार का होता है।

प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि पर-पदार्थ का एक अंश भी ज्ञान में नहीं आता फिर न जाने क्यों उसे अपनाता है? यही महती अज्ञानता है। अतः जहां तक संभव हो आत्मद्रव्य को आत्मद्रव्य ही रहने दो। उसे अन्य-रूप में करने का जो प्रयास है वही अनन्त संसार का कारण है। एसा कौन बुद्धिमान होगा? जो परद्रव्य को आत्मीय द्रव्य कहेगा। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका भाव होता है वह उसका स्वधन है। जिसका जो स्व है वह उसका स्वामी है अत. यह निष्कर्ष निकला कि जब अन्य द्रव्य अन्य का स्व नहीं तब अन्य द्रव्य अन्य का स्वामी कैसे हो सकता है? यही कारण है कि ज्ञानी जीव पर को नहीं ग्रहण करता। मैं भी ज्ञानी हूँ अतः मैं भी पर को ग्रहण नहीं करूंगा यदि मैं परद्रव्य को ग्रहण करूं तो यह अजीव मेरा स्व हो जावे और मैं अजीव का स्वामी हो जाऊंगा। अजीव का स्वामी अजीव ही होगा अतः हमें बलात्कार अजीव होना पड़ेगा, परन्तु ऐसा नहीं, मैं तो ज्ञाता द्रष्टा हूँ अतः परद्रव्य को ग्रहण नहीं करूंगा। जब परद्रव्य मेरा नहीं तब वह छिद जावे, भिद जावे कोई ले जावे अथवा जिस तिस अवस्था को प्राप्त हो, पर मैं उसे ग्रहण नहीं करूंगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी, धर्म, अधर्म, अशन, पान आदि को नहीं चाहता। ज्ञानमय ज्ञायकभाव के सद्भाव से वह धर्म का केवल ज्ञाता द्रष्टा रहता है।

जब ज्ञानी जीव के धर्म का ही परिग्रह नहीं तब अधर्म का परिग्रह तो सर्वथा असंभव है। इसी तरह से न अशन का परिग्रह है और न पान का परिग्रह है, क्योंकि इच्छा परिग्रह है, ज्ञानी जीव के इच्छा का परिग्रह नहीं। इनको आदि देकर जितने प्रकार के परद्रव्य के भाव हैं तथा परद्रव्य के निमित्त से आत्मा में जो भाव होते हैं, उन सबको ज्ञानी जीव नहीं चाहता। इस पद्धति से जिसने सर्व अज्ञान भावों का वमन कर दिया तथा सर्व पदार्थों के आलम्बन को त्याग दिया, केवल टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव का अनुभव करता है, उसके बन्ध नहीं होता। योग के निमित्त से यद्यपि बन्ध होता है पर वह स्थिति और अनुभाग से रहित होने के कारण अकिंचित्कर है। जिस प्रकार चूना आदि के श्लेष के बिना केवल ईंटों के समुदाय से महल नहीं बनता उसी प्रकार रागादि परिणाम के बिना केवल मन वचन काय के व्यापार से बन्ध नहीं होता। अतः प्रयत्न कर इन रागादि विकारों के जाल से बचना चाहिये।

मैं शरीरादि से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा लक्षण वाला स्वतन्त्र द्रव्य हूँ। मेरी जीवन में जो स्पृहा है वही बन्ध का कारण है। अनादिकाल से जीव और पुद्गल का सम्बन्ध हो रहा है, इससे दोनों ही अपने अपने स्वरूप से च्युत हो अन्य अवस्था को धारण कर रहे हैं।

हेयोपादेय तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान आगम के अभ्यास से होता है परन्तु हम लोग उस ओर से विमुख हो रहे हैं। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने तो यहां तक लिखा है कि—

आगमचक्खू साहू, इंदियचक्खू य सव्वभूदाणि ।
देवा हि ओहिचक्खू, सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ।।

अर्थात् साधु का चक्षु आगम है, संसार के समस्त प्राणियों का चक्षु इन्द्रिय है, देवों का चक्षु अवधिज्ञान है और सिद्ध परमेष्ठी का चक्षु सर्वदर्शी केवलज्ञान है। इसलिये अवसर पाया है तो अहर्निश आगम का अभ्यास करो।

———

आत्मा और पुद्गल को छोडकर शेष ४ द्रव्य शुद्ध हैं। जीव और पुद्गल ही २ द्रव्य हैं, जिनमें विभावशक्ति है। और इन दोनों में ही अनादि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध द्वारा विकार्य्य और विकारक भाव हुआ करते हैं। जिस काल मे मोहादिकर्म के उदय में रागादि रूप परिणमता है, उस काल में स्वयं विकार्य हो जाता है। और इसके रागादिक परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल मोहादि कर्मरूप परिणमता है, अतः उसका विकारक भी है। इसका यह आशय है, जीव के परिणाम को निमित्त पाकर पुद्गल ज्ञानावरणादि रूप होते हैं और पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर जीव स्वयं रागादिरूप परिणम जाता है। अतः आत्मा आस्रव होने योग्य भी है और आस्रव का करने वाला भी है। इसी तरह जब आत्मा में रागादि नहीं होते उस काल में आत्मा स्वयं सम्वार्य्य और संवर का करने वाला भी है। अर्थात् आत्मा के रागादि निमित्त को पाकर जो पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप होते थे अब रागादि के बिना स्वयं तद्रूप नहीं होते, अतः संवारक भी है।

—वर्णी अध्यात्म-पत्रावली ७३।

५

त्याग की विडम्बना

फिरोजाबाद के व्रती सम्मेलन में पूज्यवर्णी जी ने कहा-"आज का व्रती-वर्ग चाहे मुनि हो, चाहे श्रावक, स्वच्छन्द होकर विचरना चाहता है, यह उचित नहीं है। मुनियों में तो उस मुनि के लिये एकाविहारी होने की आज्ञा है, जो गुरु के सान्निध्य में रहकर अपने आचार विचार में पूर्ण दक्ष हो तथा धर्मप्रचार की भावना से गुरु जिसे एकाकी विहार करने की आज्ञा दे दें। आज यह देखा जाता है कि जिस गुरु से दीक्षा लेते हैं उसी गुरु की आज्ञा पालन में अपने को असमर्थ देख नवदीक्षित मुनि स्वयं एकाकी विहार करने लगते हैं। गुरु के साथ अथवा अन्य साथियों के साथ विहार करने में इस बात की लज्जा या भय का अस्तित्व रहता था कि यदि हमारी प्रवृत्ति आगम के विरुद्ध होगी तो लोग हमें बुरा कहेंगे। गुरु प्रायश्चित्त देंगे। पर एकल विहारी होने पर किसका भय रहा? जनता भोली है इसलिये कुछ कहती नहीं यदि कहती है तो उसे धर्मनिन्दक आदि कहकर चुप कर दिया जाता है। इस तरह धीरे धीरे शिथिलाचार फैलता जा रहा है। किसी मुनि को दक्षिण और उत्तर का विकल्प सता रहा है, तो किसी को बीसपंथ और तेरहपंथ का। किसी को दस्सा बहिष्कार की धुन है, तो कोई शूद्रजलत्याग के पीछे पड़ा है। कोई स्त्री—प्रक्षाल के पक्ष में मस्त है, तो कोई जनेऊ पहिराने और कटि में धागा बँधवाने में व्यस्त है। कोई ग्रन्थमालाओं के संचालक बने हुये हैं तो कोई ग्रन्थ छपवाने की चिन्ता में गृहस्थों के घर घर से चन्दा माँगते फिरते हैं। किन्हीं के साथ मोटरें चलती हैं तो किन्हीं के साथ गृहस्थजन दुर्लभ कीमती चटाइयाँ और आसन के पाटे तथा छोलदारियाँ चलती हैं। त्यागी ब्रह्मचारी लोग अपने लिये आश्रय पा उनकी सेवा में लीन रहते हैं। 'बहती गंगा में हाथ धोने से क्यों चूकें' इस भावना से कितने ही विद्वान् उनके अनुयायी बन आँख मीच चुप बैठ जाते हैं। या हाँ में हाँ मिला गुरुभक्ति का प्रमाणपत्र प्राप्त करने में संलग्न रहते हैं। ये अपने परिणामों की गति को देखते नहीं हैं। चारित्र और कषाय का सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकार के समान है। जहाँ प्रकाश है वहाँ अन्धकार नहीं। और जहाँ अन्धकार है वहाँ प्रकाश नहीं। इसी प्रकार जहाँ चारित्र है वहाँ कषाय नहीं और जहाँ कषाय है वहाँ चारित्र नहीं। पर तुलना करने पर बाजे बाजे व्रतियों की कषाय तो गृहस्थों से कहीं अधिक निकलती है। व्रती के लिये शास्त्र में निःशल्य बताया है। शल्यों में एक माया भी शल्य होती है। उसका तात्पर्य यही है कि भीतर कुछ रूप रखना और बाहर कुछ रूप दिखाना। व्रती में ऐसी बात नहीं होना चाहिये। वह तो भीतर बाहर मनसा, वाचा, कर्मणा एक हो। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस उद्देश्य से चारित्र ग्रहण किया है उस ओर दृष्टिपात करो और अपनी प्रवृत्ति को निर्मल बनाओ। उत्सूत्र प्रवृत्ति से व्रत की शोभा नहीं।"

महाराज की उक्त देशना का हमारे हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा। इसी व्रती सम्मेलन में एक विषय यह आया कि क्या क्षुल्लक वाहन-पर बैठ सकता है? महाराज ने कहा कि जब क्षुल्लक पैसे का त्याग कर चुका है तथा ईर्या समिति से चलने का अभ्यास कर रहा है तब वह वाहन पर कैसे बैठ सकता है? पैसे के लिये उसे किसी से याचना करना पड़ेगी तथा पैसों की प्रतिनिधि जो टिकिट आदि है वह अपने साथ रखना पड़ेगी। आखिर विचार करो

मनुष्य क्षुल्लक हुआ क्यों ? इसीलिये तो कि इच्छाएं कम हों ? यातायात कम हो, सीमित स्थान में विहार हो। फिर क्षुल्लक बनने पर भी इन सब बातों में कमी नहीं आई तो क्षुल्लक पद किसलिये रखा ? अमुक जगह जाकर धर्मोपदेश देंगे, अमुक जगह जाकर अमुक कार्य करेंगे ? यह सब छल क्षुल्लक होकर भी क्यों नहीं छूट रहा है ? तुम्हें यह कषाय क्यों सता रही है कि अमुक जगह उपदेश देंगे ? अरे, जिन्हें तुम्हारा उपदेश सुनना अपेक्षित होगा वे स्वयं तुम्हारे पास चले आवेंगे। तुम दूसरे के हित को व्याज बनाकर स्वयं क्यों दौड़े जा रहे हो ? यथार्थ में जो कौतुकभाव क्षुल्लक होने के पहले था वह अब भी गया नहीं। यदि नहीं गया तो कौन कहने गया था कि तुम क्षुल्लक हो जाओ ? अपनी कषाय की मन्दता या तीव्रता देखकर ही कार्य करना था। यह कहना कि 'पञ्चमकाल है इसलिये यहाँ ऐसे कार्य होते हैं'' यह मार्ग का अवर्णवाद है। अस्सी तोले का सेर होता है पर इस पञ्चमकाल में आप पौने अस्सी तोले के सेर से किसी वस्तु को ग्रहण कर लोगे ? नहीं, यहाँ तो चाहते हो अस्सी तोले से दो रत्ती ज्यादा ही हो। पर धर्माचरण में पञ्चमकाल का छल ग्रहण करते हो। लोग कहते हैं कि दक्षिण के क्षुल्लक तो वाहन पर बैठते हैं ? पर उनके बैठने से क्या वस्तुतत्त्व का निर्णय हो जावेगा? वस्तु का स्वरूप तो जो है वही रहेगा। दक्षिण और उत्तर का प्रश्न बीच में खड़ा कर देना हित की बात नहीं। अस्तु।

फिरोजाबाद का व्रती सम्मेलन

शान्ति का उपाय प्रायः प्रत्येक प्राणी चाहता है, परन्तु मोह के वशीभूत होकर विरुद्ध उपाय करता है। अतः शान्ति की शीतल छाया के विरुद्ध रागादिक ताप की उष्णता ही इसे निरन्तर आकुलित बनाए रखती है। इससे बचने का यही मूल उपाय है जो तात्त्विक शान्ति का कारण अन्यत्र न खोजे। जितने भी परपदार्थ हैं चाहे वह शुद्ध हों चाहे वह अशुद्ध हों, जब तक हमारे उपयोग में उनसे सुख-प्राप्ति की आशा है ; हमको कभी भी सुख नहीं हो सकता। मेरा तो दृढ़ विश्वास है जैसे बाह्य सुख में रूपादिक विषय नियमरूप कारण नहीं वैसे अभ्यन्तर सुख में शुद्ध पदार्थ भी नियमरूप हेतु नहीं। जब ऐसी वस्तु की स्थिति है, तब हमें अपने ही अन्तःस्थल में अपनी शान्ति को देखकर परपदार्थ में निजत्व का त्याग कर श्रेयोमार्ग की प्राप्ति का पात्र होना चाहिये।"

—वर्णी अध्यात्म-पत्रावली ४७.

६

अनेक समस्याओं का हल—स्त्री-शिक्षा

पुरुषवर्ग ने स्त्रीसमाज पर ऐसे प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं कि उन्हें मुखको निरावरण करने में भी संकोच का अनुभव होता है। कहां तक कहा जावे ? मन्दिर में जब वे भी देवाधिदेव के दर्शन करती हैं तब मुख पर वस्त्र का आवरण रहने से वे पूर्णरूप से दर्शन का लाभ नहीं ले सकतीं। यद्वा तद्वा दर्शन करने के अनन्तर यदि शास्त्र-प्रवचन में पहुँच गईं तो वहाँ पर भी वक्ता के वचनों का पूर्णरूप से कर्णों तक पहुँचना कठिन है। प्रथम तो कर्णों पर वस्त्र का आवरण रहता है तथा पुरुषों से दूरवर्ती उनका क्षेत्र रहता है। दैवयोग से किसी की गोद में बालक हुआ और उसने क्षुधातुर हो रोना प्रारम्भ कर दिया तो क्या कहें ? सुनना तो एक ओर रहा वक्ता प्रभृति मनुष्यों के वाग्बाणों का प्रहार होने लगता है—चुप नहीं करती बच्चे को ?··· क्यों लेकर आती है ?··· सबका नुकसान करती हैं,··· बाहर क्यों नहीं चली जातीं · इन वचनों को श्रवण कर शास्त्रश्रवण की जिज्ञासा विलीन हो जाती है। अतः पुरुषवर्ग को उचित है कि वह जिससे जन्मा है वह स्त्री ही तो है, उसके प्रति इतना अन्याय न करे। प्रत्युत सबसे उत्तम स्थान उन्हें प्रवचन में सुरक्षित रखें। उनकी अशिक्षा ही उन्हें सदा अपमानित करती है।

मेरा तो ख्याल है कि यदि स्त्रीवर्ग शिक्षित होकर सदाचारी हो जावे तो आज भारत क्या जितना जगत् मनुष्यों के गम्य है वह सभ्य हो सकता है। आज जिस समस्या का हल उत्तम से उत्तम मस्तिष्क वाले नहीं कर सकते उसका हल अनायास हो जायगा। इस समय सब से कठिन समस्या 'जनसंख्या की वृद्धि किस प्रकार से रोकी जाय' है। शिक्षित स्त्रीवर्ग इस समस्या को अनायास हल कर सकता है। जिस कार्य के करने में राजसत्ता भी हार मान कर परास्त हो गई उसे सदाचारिणी स्त्री सहज ही कर सकती है। वह अपने पतियों को यह उपदेश देकर सुमार्ग पर ला सकती है कि जब बालक गर्भ में आ जावे तबसे आप और हमारा कर्त्तव्य है कि यह बालक उत्पन्न होकर जब तक ५ वर्ष का न हो जावे तब तक विषय-वासना को त्याग देवें। ऐसा ही प्रत्येक स्त्री सभ्य व्यवहार करे इस प्रकार की प्रणाली से सुतरां वृद्धि रुक जावेगी। इसके होने से जो लाखों रुपया डाक्टर तथा वैद्यों के यहाँ जाता है वह बच जावेगा तथा जो टी. बी. के चिकित्सागृह हैं वे स्वयमेव धराशायी हो जावेंगे। अन्न की जो त्रुटि है वह भी न होगी। दुग्ध पुष्कल मिलने लगेगा। गृहवास की पुष्कलता हो जावेगी। अतः स्त्रीसमाज को सभ्य बनाने की आवश्यकता है। यदि स्त्रीवर्ग चाहे तो बड़े-बड़े मिलवालों को चक्र में डाल सकता है। उत्तम से उत्तम जो धोतियाँ मिलों से निकलती हैं यदि स्त्रियां उन्हें पहिनना बन्द कर देवें तो मिलवालों की क्या दशा होगी ? सो उन्हें पता चल जावेगा। करोड़ों का माल यों ही बरबाद हो जायेगा। यह कथा छोड़ो आज स्त्री कांच की चूड़ी पहिनना छोड़ दे और उसके स्थान पर चाँदी सुवर्ण की चूड़ी का व्यवहार करने लगे तो चूड़ी वालों की क्या दशा होगी ? रोने को

मजदूर न मिलेगा। आज स्त्रीसमाज चटक मटक के आभूषणों को पहिनना छोड़ दें तो सहस्रों सुनारों की दशा कौन कह सकता है ? इसी तरह वे पावडर लगाना छोड़ दें तो विदेश की पावडर बनाने वाली कम्पनियों को अपना पावडर समुद्र में फेकना पड़े। कहने का तात्पर्य यह है कि स्त्रीसमाज के शिक्षित और सदाचार से संपन्न होते ही संसार के अनेक उत्पात बन्द हो सकते हैं। पञ्चमकाल में चतुर्थकाल का दृश्य यदि देखना है तो स्त्री-समाज की उपेक्षा न कर उसे सुशिक्षित बनाओ। सुशिक्षित से तात्पर्य उस शिक्षा से है जिससे वे अपने कर्त्तव्य का निर्णय स्वयं कर सकें।

हम लोग केवल निमित्तकारणों की मुख्यता से वास्तविक धर्म से दूर जा रहे हैं। जहाँ पर मन, वचन, कायके व्यापार की गति नहीं वह पदप्राप्ति आत्मबोध के बिना हो जावे, बुद्धि में नहीं आता। यह क्रिया जो उभयद्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुई है, कदापि स्वकीय कल्याण में सहायक नहीं हो सकती। अतएव औदयिक भाव तो बन्ध का कारण हैं ही। किन्तु क्षयोपशम और उपशमभाव भी कथंचित् परद्रव्य के निमित्त से माने गये हैं। अतः जहाँ तक परपदार्थ की संपर्कता आत्मा के साथ रहेगी वहाँ तक साक्षात् मोक्षमार्ग प्राप्ति दुर्लभा ही नहीं किन्तु असम्भवा है। अतः अन्तरङ्ग से अपने ही अन्तरंग में, अपने ही द्वारा, अपने ही अर्थ, अपने को गंभीर दृष्टि से परामर्श करना चाहिये, क्योंकि मोक्षमार्ग एक ही है नाना नहीं।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥

मोक्षमार्ग तो दर्शनज्ञानचारित्रात्मक ही है, उसी में स्थिति करो और निरन्तर उसका ध्यान करो, उसी का निरन्तर चिंतवन करो, उसी में निरन्तर विहार करो, तथा द्रव्यान्तर को स्पर्श न करो, ऐसा जो करता है वही मोक्षमार्ग पाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि स्वच्छन्द होकर आत्मद्रव्य से भ्रष्ट हो जावो। किन्तु अन्तरंग तत्त्व को यथार्थ प्रतीति करना ही हमारा कर्त्तव्य है। व्यवहार-क्रिया में मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।"

— वर्णी अध्यात्म-पत्रावली — ५६.

७

दस-लक्षण धर्म

उत्तम क्षमा धर्म—

आज पर्वका प्रथम दिन है। ३५० दिन बाद यह पर्व आया है। क्षमा सबसे उत्तम धर्म है। जिसके क्षमा धर्म प्रकट हो गया उसके मार्दव, आर्जव और शौच धर्म भी अवश्यमेव प्रकट हो जावेंगे। क्रोधके अभावसे आत्मामें शान्ति गुण प्रकट होता है। वैसे तो आत्मामें शान्ति सदा विद्यमान रहती है क्योंकि वह आत्माका स्वभाव है—गुण है। गुण गुणीसे दूर कैसे हो सकता है? परन्तु निमित्त मिलनेपर वह कुछ समयके लिए तिरोहित हो जाता है। स्फटिक स्वभावतः स्वच्छ होता है, पर उपाधिके संसर्गसे अन्यरूप हो जाता है। हो जाओ, पर क्या वह उसका स्वभाव कहलाने लगेगा? नहीं। अग्निका संसर्ग पाकर जल उष्ण हो जाता है पर वह उसका स्वभाव तो नही कहलाता। स्वभाव तो शीतलता ही है। जहाँ अग्निका सम्बन्ध दूर हुआ कि फिर शीतलका शीतल। क्या बतलावें। पदार्थ का स्वरूप इतना स्पष्ट और सरल है परन्तु अनादि-कालीन मोहके कारण वह दुरूह हो रहा है।

क्रोधके निमित्तसे आदमी पागल हो जाता है और इतना पागल कि अपने स्वरूप तकको भूल जाता है। वस्तुकी यथार्थता उसकी दृष्टिसे लुप्त हो जाती है। एकने एक को घूंसा मार दिया। वह उसका घूंसा काटनेको तैयार हो गया पर इससे क्या? घूंसा मारनेका जो निमित्त था उसे दूर करना था। वह मनुष्य कुक्कुर-वृत्ति पर उतारू हुआ है।' कोई कुत्तेको लाठी मारता है तो वह लाठीको दांतोंसे चबाने लगता है, पर सिंह बन्दूक की ओर न झपट कर बन्दूक मारनेवालेकी ओर झपटता है। विवेकी मनुष्यकी दृष्टि सिंहकी तरह होती है। वह मूल कारणको दूर करनेका प्रयत्न करता है। आज हम क्रोधका फल प्रत्यक्ष देख रहे हैं। लाखों निरपराध प्राणी मारे गये और मारे जा रहे हैं। क्रोध चारित्रमोहकी प्रकृति है। उससे आत्माके संयम गुणका घात होता है। क्रोधके अभावमें प्रकट होनेवाला क्षमागुण संयम है, चारित्र है। राग द्वेषके अभाव को ही तो चारित्र कहते हैं।

ज्ञानसूर्योदय नाटकको प्रारम्भिक भूमिकामें सूत्रधार नटीसे कहता है कि आज की यह सभा अत्यन्त शान्त है। इसलिये कोई अपूर्व कार्य इसे दिखलाना चाहिये। वास्तवमें शान्तिके समय कौनसा अपूर्व कार्य नहीं होता? मोक्ष-मार्गमें प्रवेश होना ही अपूर्व कार्य है। शान्तिके समय उसकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है। आप लोग प्रयत्न कीजिये कि मोक्षमार्ग प्रवेश हो और संसारके अनादि बन्धन खुल जायें। आजके दिन जिसने क्षमा धारण नहीं की वह अन्तिम दिन क्षमावणी क्या करेगा? 'मैं तो आज क्षमा चाहता हूँ' इस वाचनिक क्षमाकी आवश्यकता नहीं है। हार्दिक क्षमासे ही आत्माका कल्याण हो सकता है। क्षमाके अभावमें अच्छेसे अच्छे आदमी बरबाद हो जाते हैं।

मैं नदिया (नवद्वीप) में दुलारझाके पास न्याय पढ़ता था। वे न्यायशास्त्रके बड़े भारी विद्वान् थे। उन्होंने अपने जीवनमें २५ वर्ष न्याय ही न्याय पढ़ा था। वे व्याकरण प्रायः नहीं जानते थे। एक दिन उन्होंने किसी प्रकरणमें अपने गुरुजीसे कहा कि जैसा 'वक्ति' होता है वैसा 'ब्रीति' क्यों नहीं होता? उनके गुरु उनकी मूर्खता पर बहुत क्रुद्ध हुए और बोले कि तू बैल है, भाग जा यहाँसे। दुलारझाको बहुत बुरा लगा। उनका एक साथी था जो व्याकरण अच्छा

जानता था और न्याय पढ़ता था। दुलारझाने कहा कि यहाँ क्या पढ़ते हो ? चलो हम तुम्हें घर पर न्याय बढ़िया पढ़ा देंगे। साथी इनके गाँवको चला गया। वहाँ उन्होंने उससे एक सालमें तमाम व्याकरण पढ़ डाला और एक साल बाद अपने गुरुके पास आकर क्रोधसे कहा कि तुम्हारे बापको धूल दी, पूछले व्याकरण कहाँ पूछना है ? गुरु ने हँसकर कहा—आओ बेटा ! मैं यही तो चाहता था कि तुम इसी तरह निर्भीक बनो। मैं तुम्हारी निर्भीकतासे बहुत संतुष्ट हुआ, पर मेरी एक बात याद रक्खो—

अपराधिनि चेत्क्रोधः, क्रोधे क्रोधः कथं न हि ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां, चतुर्णां परिपन्थिनि ॥

दुलारझा अपने गुरुकी क्षमाको देखकर नतमस्तक रह गये। क्षमासे क्या नहीं होना ? अच्छे-अच्छे मनुष्योंका मान नष्ट हो जाता है। दरभंगामें दो भाई थे। दोनों इतिहासके विद्वान् थे। एक बोला कि आल्हा पहले हुआ है और दूसरा बोला कि ऊदल पहले हुआ है। इसीपर दोनों में लड़ाई हो गई। आखिर मुकदमा चला और जागीरदारसे किसानकी हालतमें आ गये। क्षमा सर्वगुणोंकी भूमि है इसमें सब कुछ सरलतासे विकसित हो जाते हैं। क्षमासे भूमिकी शुद्धि होती है। जिसने भूमिको शुद्ध कर लिया उसने सब कुछ कर लिया। एक गांवमें दो आदमी थे—एक चित्रकार और दूसरा अचित्रकार। अचित्रकार चित्र बनाना तो नहीं जानता था पर था प्रतिभाशाली। चित्रकार बोला कि मेरे समान कोई चित्र नहीं बना सकता। दूसरेको उसकी गर्वोक्ति सह्य नहीं हुई अतः उसने झटसे कह दिया कि मैं तुमसे अच्छा चित्र बना सकता हूँ। विवाद चल पड़ा। अपना-अपना कौशल दिखानेके लिये दोनों तुल पड़े। तय हुआ कि दोनों चित्र बनावें फिर अन्य परीक्षकोंसे परीक्षा कराई जावे। एक कमरेकी आमने सामनेकी दीवालोंपर दोनों चित्र बनानेको तैयार हुए। कोई किसीका देख न ले इसलिये बीचमें परदा डाल दिया गया। चित्रकारने कहा कि मैं १५ दिनमें चित्र तैयार कर लूंगा। इतने ही समयमें तुझे भी करना पड़ेगा। उसने कहा — मैं पौने पन्द्रह दिनमें कर दूँगा, घबड़ाते क्यों हो ? चित्रकार चित्र बनानेमें लग गया और दूसरा दीवाल साफ करनेमें। उसने १५ दिनमें दीवाल इतनी साफ कर दी कि काँचके समान स्वच्छ हो गई। १५ दिन बाद लोगोंके सामने बीचका परदा हटाया गया। चित्रकारका पूरा चित्र उस स्वच्छ दीवालमें प्रतिबिम्बित हो गया और इस तरह कि उसे स्वयं मुंहसे कहना पड़ा कि तेरा चित्र अच्छा है। क्या उसने चित्र बनाया था ? नहीं, केवल जमीन ही स्वच्छकी थी, पर उसका चित्र बन गया और प्रतिद्वन्दीकी अपेक्षा अच्छा रहा। आप लोग क्षमा धारण करें, चाहे उपवास एकाशन आदि न करें। क्षमा ही धर्म है और धर्म ही चारित्र है। कुन्दकुन्द स्वामीका वचन है—

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हु समो ॥

यह जीव अनादि कालसे पर पदार्थको अपना समझकर व्यर्थ ही सुखी दुखी होता है। जिसे यह सुख समझता है वह सुख नहीं है। वह ऊँचाई नहीं जहाँ से फिर पतन हो। वह सुख नहीं जहाँ फिर दुखकी प्राप्ति हो। यह वैषयिक सुख पराधीन है, बाधासहित है, उतने पर भी नष्ट हो जानेवाला है और आगामी दुःखका कारण है। कौन समझदार इसे सुख कहेगा ? इस शरीरसे आप स्नेह करते हैं पर इस शरीरमें है क्या ? आप ही बताओ। माता पिताके रज-वीर्यसे इसकी उत्पत्ति हुई। यह हड्डी, मास, रुधिर आदिका स्थान है। उसीकी फुलवारी है। यह मनुष्य पर्याय सांटेके समान है। साटेकी जड़ तो सड़ी होने से फेंक दी जाती है, बांड़ भी बेकाम होता है और मध्य में कीड़ा लग जाने से बेस्वाद हो जाता है। इसी प्रकार इस मनुष्य की वृद्ध अवस्था शरीर शिथिल हो जाने से बेकार है। बाल अवस्था अज्ञानी की अवस्था है और मध्यदशा अनेक रोग संकटों से भरी हुई है। उसमें कितने भोग भोगे जा सकेंगे ? पर यह जीव अपनी हीरा सी पर्याय व्यर्थ ही खो देता है। जिस प्रकार बात की व्याधि से मनुष्य के अङ्ग अङ्ग दुखने लगते हैं। कषायसे विषयेच्छासे इसकी आत्मा का प्रत्येक प्रदेश दुखी हो रहा है। यह दूसरे पदार्थ को जब तक अपना समझता है तभी तक उसे अपनाए रहता है। उसकी रक्षा आदि में व्यग्र रहता है पर ज्यों ही उसे पर में परकीय बुद्धि हो जाती है, उसका

त्याग करने में उसे देर नहीं लगती। एक बार एक धोबी के यहां दो मनुष्यों ने कपड़े धुलाने दिये। दोनों के कपड़े एक समान थे, धोबी भूल गया। वह बदल कर दूसरे का कपड़ा दूसरे को दे आया। एक खास परीक्षा किये बिना दुपट्टा को अपना समझ ओढ़ कर सो गया, पर दूसरे ने परीक्षा की तो उसे अपना दुपट्टा बदला हुआ मालूम हुआ। उसने धोबी से कहा। धोबी ने गलती स्वीकार कर उसका कारण बतलाया और झटसे उस सोते हुए मनुष्य के दुपट्टे का अंचल खींचकर कहा—जरा जागिये, आपका कपड़ा बदल गया है। आपका यह है वह मुझे दीजिये। धोबी के कहने पर ज्यों ही उसने लक्षण मिलाये त्यों ही उसे धोबीकी बात ठीक जँची। अब उसे उस दुपट्टे से जिसे वह अपना समझ मुह पर डाले हुए था, घृणा होने लगी और तत्काल उसने उसे धोबी को वापिस कर दिया। आपके शुद्ध चतन्यभाव को छोड़कर सभी तो आपमें परपदार्थ हैं, परन्तु आप नींद में मस्त हो उन्हें अपना समझ रहे हैं। स्वपरस्वरूपोपादानापोहनके द्वारा अपने को अपना समझो और पर को पर। फिर कल्याण तुम्हारा निश्चित है।

आप लोग कल्याण के अर्थ सही प्रयास तो करना नहीं चाहते और कल्याण की इच्छा करते हैं सो कैसे हो सकता है? जैनधर्म यह तो मानता नहीं है कि किसी के वरदान से किसी का कल्याण हो जाता है। यहाँ तो कल्याण के इच्छुक जन को प्रयत्न स्वयं करना होगा। कल्याण कल्याण के ही मार्ग से होगा। मुझे एक कहानी याद आती है। वह यह कि एक बार महादेवजी ने अपने भक्त पर प्रसन्न होकर कहा—बोल तू क्या चाहता है? उसके लड़का नहीं था अतः उसने लड़का ही माँगा। महादेवजी ने 'तथास्तु' कह दिया। घर आनेपर उसने स्त्री से कहा—आज सब काम बन गया, साक्षात् महादेव जी ने वरदान दे दिया कि तेरे लड़का हो जायगा। भगवान् के वचन तो झूठ होते नहीं। अब कोई पाप क्यों किया जाय? हम दोनों ब्रह्मचर्य से रहें। स्त्री ने पति की बात मान ली। पर ब्रह्मचारी के संतान कहाँ? वर्षों पर वर्ष व्यतीत हो गयी परन्तु सन्तान नहीं। स्त्री ने कहा भगवान् ने तुम्हें धोखा दिया। पुरुष बेचारा लाचार था। वह फिर महादेवजी के पास पहुँचा और बोला भगवन्! दुनियां झूठ बोले सो तो ठीक है पर आप भी झूठ बोलने लगे। आपको वरदान दिये १२ वर्ष हो गये आजतक लड़का नहीं हुआ। ठगने के लिये मैं ही मिला। महादेवजी ने कहा—तुमने लड़का पाने के लिये क्या किया? पुरुष ने कहा—हम लोग तो आपके वरदान का भरोसाकर ब्रह्मचर्य से रहे। महादेवजी ने हँसकर कहा—भाई! मैंने वरदान दिया था सो सच दिया था पर लड़का लड़के के रास्ते होगा। ब्रह्मचारी के संतान कैसे होगी? तू ही बता, मैं आकाश से तो गिरा नहीं देता। ऐसा ही हाल हम लोगों का है, कल्याण कल्याण के मार्ग से ही होगा।

यह मोह दुखदायी है—शास्त्रों में लिखा है, आचार्यों ने कहा है, हम भी कहते हैं, पर वह झूठा तो है ही नहीं, प्रयत्न जो हमारे अधूरे होते हैं। पूज्यपाद स्वामी समाधितन्त्र में कहते हैं कि—

यन्मया दृश्यते रूपं, तन्न जानाति सर्वथा।
यज्जानाति न तद् दृश्यं, केन साकं ब्रवीम्यहम्॥

जो दिखता है वह जानता नहीं है और जो जानता है वह दिखता नहीं फिर मैं किसके साथ बातचीत करूँ? अर्थात् किसी के साथ बोलना नहीं चाहिये यह आत्मा का कर्तव्य है। वे ऐसा लिखते हैं पर स्वयं बोलते हैं, स्वयं दूसरोंको ऐसा करनेका उपदेश देते हैं। तत्त्वार्थसूत्रका प्रवचन आपने सुना। उसकी भूमिकामें उसके बननेके दो तीन कारण बतलाये हैं, पर राजवार्तिकमें अकलंकदेवने जो लिखा है वह बहुत ही ग्राह्य है। वे लिखते हैं कि इस सूत्रकी रचनामें गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अपेक्षित नहीं है, किन्तु अनन्त संसारमें निमजते जीवोंका अभ्युद्धार करनेकी इच्छासे प्रेरित हो आचार्य ने स्वयं वैसा प्रयास किया है। कहनेका तात्पर्य है कि मोह चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, किसीको नहीं छोड़ता। भगवान् ऋषभदेव तो युगके महान् पुरुष थे पर उन्होंने भी मोहके उदयमें अपनी आयुके ८३ लाख पूर्व बिता दिये। आखिर, इन्द्रका इस ओर ध्यान गया कि १८ कोड़ा-कोड़ी सागरके बाद इस महापुरुषका जन्म हुआ और यह सामान्य जीवोंकी तरह संसार में फँस रहा है, स्त्रियों और पुत्रोंके स्नेहमें डूब रहा है। संसारके प्राणियों का कल्याण कैसे होगा? उसने यह

सोचकर नीलाञ्जनाके नृत्यका आयोजन किया और उस निमित्तसे भगवान्का मोह दूर हुआ। जब मोह दूर हुआ तब ही उनका और उनके द्वारा अनन्त संसारी प्राणियोंका कल्याण हुआ। रामचन्द्रजी सीताके स्नेहमें कितने भटके, लड़ाई लड़ी, अनेकोंका संहार किया पर जब स्नेह दूर हो गया तब सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितना प्रयत्न किया उन्हें तपसे विचलित करनेका। पर क्या वह विचलित हुये ? मोह ही संसारका कारण है मेरा यही अटल श्रद्धान है।

हम मोहके कारण ही अपने आपको दुनियाँका कर्ता-धर्ता मानते हैं पर यथार्थ में पूंछो तो कौन कहाँका ? कहाँ की स्त्री ? कहाँ का पुत्र ? कौन किसको अपनी इच्छानुसार परिणमा सकता है ? 'कहीं की ईंट कहीं का रोरा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' ठीक हम लोग भी भानमती के समान ही कुरमा जोड़ रहे हैं। नहीं तो कहाँ का मनुष्य ! कहाँ का क्या ! इसलिये जो संसार के बन्धन से छूटना चाहते हैं उन्हें मोह को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। आप लोग बिना कुछ किये कल्याण चाहते हो पर वह इस तरह होने का नहीं। आपका हाल ऐसा है कि 'अम्मा मैं तैरना सीखूंगा, पर पानी का स्पर्श नहीं करूँगा'।

---

२ : उत्तम मार्दव धर्म

मार्दवका अर्थ कोमलता है। कोमलतामें अनेक गुण वृद्धि पाते हैं। यदि कठोर जमीनमें बीज डाला जाय तो व्यर्थ चला जायगा। पानी की बारिसमें जो जमीन कोमल हो जाती है उसीमें बीज जमता है। बच्चों को प्रारम्भ में पढ़ाया जाता है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

विद्या विनयको देती है, विनयसे पात्रता आती है, पात्रतासे धन मिलता है। धनसे धर्म और धर्मसे सुख प्राप्त होता है। जिसने अपने हृदयमें विनय धारण नहीं किया वह धर्मका अधिकारी कैसे हो सकता है ? विनयी छात्रपर गुरुका इतना आकर्षण रहता है कि वह उसे एक साथ सब कुछ बतलानेको तैयार रहता है।

एक स्थानपर एक पण्डितजी रहते थे। पहले गुरुओं के घर पर ही छात्र रहा करते थे तथा गुरु उनपर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। पण्डितजी का एक छात्रपर विशेष स्नेह था, पण्डितानी उनसे बार बार कहा करती कि सभी लड़के तो आपकी विनय करते हैं, आपको मानते हैं फिर आप इसी एककी क्यों प्रशंसा करते हैं। पण्डितजी ने कहा कि इस जैसा कोई मुझे नहीं चाहता। यदि तुम इसकी परीक्षा ही करना चाहती हो तो मेरे पास बैठ जाओ। आमका सीजन था, गुरुने अपने हाथपर एक पट्टीके भीतर आम बाँध लिया। और दुखी जैसी सूरत बना कराहने लगे। समस्त छात्र गुरुजी के पास दौड़ आये। गुरुने कहा दुर्भाग्य वश भारी फोड़ा हो गया है। छात्रोंने कहा मैं अभी वैद्य लाता हूँ, ठीक हो जावेगा। गुरुने कहा बेटो ! यह वैद्यसे अच्छा नहीं होता—एक बार पहले भी भी मुझे हुआ था। तब मेरे पिताने इसे चूसकर अच्छा किया था, यह चूसने ही से अच्छा हो सकता है। मवादसे भरा फोड़ा कौन चूसे ? सब ठिठक कर रह गये। इतनेमें वह छात्र आ गया जिसकी गुरु बहुत प्रशंसा किया करते थे। आकर बोला—गुरुजी क्या कष्ट है ? बेटा ! फोड़ा है, चूसनेसे ही अच्छा होगा गुरु ने कहा। गुरुजीके कहने की देर थी कि उस छात्रने उसे अपने मुंहमें ले लिया। फोड़ा तो था ही नहीं आम था। पण्डितानीको अपने पतिके

वचनोंपर विश्वास हुआ। आजका छात्र तो गुरुको नौकर समझ उसका बहुत ही अनादर करता है। यही कारण है कि उसके हृदयमें विद्याका वास्तविक प्रवेश नहीं हो रहा है। क्या कहें आजकी बात? आज तो विनय रह ही नहीं गया। सभी अपने आपको बड़ेसे बड़ा अनुभव करते हैं। मेरा मान नहीं चला जाय इसकी फिकरमें सब पड़े हैं, पर इस तरह किसका मान रहा है? आप किसीको हाथ जोड़कर या सिर झुकाकर उसका उपकार नहीं करते बल्कि अपने हृदय से मान रूपी शत्रुको हराकर अपने आपका उपकार करते हैं। किसीने किसीकी बात मान ली, उसे हाथ जोड़ लिये, शिर झुका दिया, उतने से ही वह खुश हो जाता है और कहता है कि इसने हमारा मान रख लिया। अरे मान रख क्या लिया? अपितु खो दिया। आपके हृदयमें जो अहंकार था उसने उसे अपनी शारीरिक क्रिया से दूर कर दिया?

दिल्ली में पञ्च कल्याणक हुआ था। पञ्च कल्याणक के बाद लाडू बाँटनेकी प्रथा वहाँ थी। लाला हरसुखरायजीने नौकरके हाथ सबके घर लाडू भेजा, लोगोंने सानन्द लाडू ले लिया पर एक गरीब आदमी ने, जो चना गुड़ आदिकी दुकान किये था, यह विचार कर लाडू लेना अस्वीकृत कर दिया कि मैं कभी लालाजीको पानी नहीं पिला सकता तब उनके लाडूका व्यवहार कैसे पूर्ण कर सकूंगा? शामके समय जब लालाजीको पता चला तो दूसरे दिन वे स्वयं लाडू लेकर नौकर के साथ गाड़ीपर सवार हो उसकी दूकानपर पहुंचे और बड़ी विनय से दूकानपर बैठकर उसकी डालीमें से कुछ चने और गुड़ उठाकर खाने लगे। खानेके बाद बोले लाओ पानी पिलाओ। पानी पिया, तदनन्तर बोले कि भाई अब तो मैं तुम्हारा पानी पी चुका अब तो तुम्हें हमारा लाडू लेना अस्वीकृत नहीं करना चाहिये। दूकानदार अपने व्यवहार और लालाजीकी सौजन्यपूर्ण प्रवृत्तिसे दङ्ग रह गया। लाडू लिया और आँखों से आँसू गिराने लगा कि इनकी महत्ता तो देखो कि मुझ जैसे तुच्छ व्यक्तिको भी ये नहीं भुला सके। आजका बड़ा आदमी क्या कभी किसी गरीबका इस प्रकार ध्यान रख सकता है।

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर की सुन्दरता इन आठ बातों को लेकर मनुष्य गर्व करता है; पर जिनका वह गर्व करता है क्या वे इसकी हैं? सदा इसके पास रहनेवाली हैं? क्षायोपशमिक ज्ञान आज है, कल इन्द्रियोंमें विकार आ जाने से नष्ट हो जाता है। जहाँ चक्रवर्तीकी भी पूजा स्थिर नहीं रह सकी वहाँ अन्य लोगोंकी पूजा स्थिर रह सकेगी यह सम्भव नहीं है। कुल और जातिका अहङ्कार क्या है? सबकी खान निगोद राशि है। आज कोई कितना ही बड़ा क्यों न बना हो पर निश्चित है कि वह किसी न किसी समय निगोदसे ही निकला है। उसका मूल निवास निगोदमें ही था। बलका अहंकार क्या? आज शरीर तगड़ा है पर जोरका मलेरिया आ जाय तथा चार-छह लंघनें हो जावें तो सूरत बदल जाय, उठते न बने। धन सम्पदाका अभिमान थोथा अभिमान है, मनुष्यकी सम्पत्ति जाते देर नहीं लगती। इसी प्रकार तप और शरीरके सौन्दर्यका अभिमान करना व्यर्थ है।

कलके दिन प्रथमाध्यायमें आपने सम्यग्दर्शनका वर्णन सुना था। जिस प्रकार अन्य लोगोके यहाँ ईश्वर या खुदा का माहात्म्य है वैसा ही जैनधर्ममें सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है। सम्यग्दर्शनका अर्थ आत्मलब्धि है। आत्मीक स्वरूपका ठीक ठीक बोध हो जाना आत्मलब्धि कहलाती है। आत्मलब्धिके सामने सब सुख धूल हैं। सम्यग्दर्शन से आत्मा का महान् गुण जागृत होता है, विवेक शक्ति जागृत होती है। आज कल लोग हर एक बातमें क्यों? क्यों?' करने लगते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि उनमें श्रद्धा नहीं है। श्रद्धाके न होनेसे ही हर एक बात पर कुतर्क उठा करते हैं। एक आदमी को 'क्यों' का रोग हो गया। उससे बेचारा बड़ा परेशान हुआ। पूछने पर किसी भले आदमी ने सलाह दी कि तू इसे किसी को बेच डाल, भले ही सौ पचास लग जायें। बीमार आदमी इस विचार में पड़ा कि यह रोग किसे बेचा जाय? किसी ने सलाह दी कि स्कूल के लड़के बड़े चालाक होते हैं, ५०) देकर किसी लड़के को बेच दे। उसने ऐसा ही किया। एक लड़केने ५०) लेकर उसका वह रोग ले लिया। सब लड़कोंने मिल कर ५०) की मिठाई खाई। जब लड़का मास्टरके सामने गया और मास्टरने पूछा कि कलका सबक सुनाओ, तब

लड़का बोला—क्यों ? मास्टरने कान पकड़ कर लड़केको बाहर निकाल दिया। लड़का समझा कि 'क्यों' का रोग तो बड़ा खराब है, वह उसको वापिस कर आया। अबकी बार रोगी ने सोचा कि चलो अस्पतालके किसी मरीजको बेच दिया जाय तो अच्छा है। ये लोग तो पलंग पर पड़े पड़े आनन्द करते ही हैं। ऐसा ही किया, एक मरीजको बेच आया। दूसरे दिन डाक्टर आये। पूछा—तुम्हारा क्या हाल है ? मरीजने कहा—क्यों ? डाक्टरने उसे अस्पतालसे बाहर कर दिया। उसने भी समझा कि दर असल यह रोग तो बड़ा खराब है। वह भी वापिस कर आया। अबकी बार उसने सोचा कि अदालती आदमी बड़े टंच होते हैं, उन्हीको बेचा जाय। निदान, एक आदमीको बेच दिया। वह मजिस्ट्रेटके सामने गया। मजिस्ट्रेटने कहा कि तुम्हारी नालिशका ठीक-ठीक मतलब क्या है ? आदमीने कहा—क्यों ? मजिस्ट्रेटने मुकद्दमा खारिज कर कहा कि घरकी राह लो। यह तो कहानी है, पर विचार कर देखा जाय तो हर एक बातमें कुतर्कसे काम नही चलता। युक्तिके बलसे सभी बातोका निर्णय नही किया जा सकता। कितनी ही बाते ऐसी हैं जिनका आगम से निर्णय होता है और कितनी ही बातें ऐसी हैं जिनका युक्तिसे निर्णय होता है। यदि आपको धर्ममें श्रद्धा न होती तो हजारोंकी संख्यामें क्यों आते ?

आचार्योंने सबसे पहले यही कहा कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता ही मोक्षका मार्ग है। आचार्यकी करुणा बुद्धि तो देखो। अरे, मोक्ष तो तब हो जब पहले बन्ध हो। यहाँ पहले बन्धका मार्ग बतलाना था फिर मोक्षका, परन्तु उन्होने मोक्षमार्गका पहले वर्णन किया है। उसका कारण यही है कि ये प्राणी अनादिकालसे बन्ध जनित दुःखका अनुभव करते करते घबरा गये हैं अतः पहले इन्हें मोक्षका मार्ग बतलाना चाहिये। जैसे जो कारागारमें पड़ कर दुःखी होता है वह यह नहीं जानना चाहता है कि मैं कारागारमें क्यों पड़ा ? वह तो यह जानना चाहता है कि मैं इस कारागारसे छूटूँ कैसे ? यही सोच कर आचार्यने पहले मोक्षका मार्ग बतलाया है। सम्यग्दर्शनके रहनेसे विवेक शक्ति सदा जागृत रहती है। वह विपत्ति में पड़ने पर भी कभी अन्यायको न्याय नही समझता। रामचन्द्रजी सीताको छुड़ानेके लिये लङ्का गये थे। लङ्काके चारों ओर उनका कटक पड़ा था। हनुमान् आदिने रामचन्द्रजीको खबर दी कि रावण जिनमन्दिरमें बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर रहा है। यदि उसे यह विद्या सिद्ध हो गई तो फिर वह अजेय हो जायगा। आज्ञा दीजिये कि जिससे हम लोग उसकी विद्यासिद्धिमें विघ्न करें। रामचन्द्रजीने कहा कि हम क्षत्रिय हैं, कोई धर्म करे और हम उसमें विघ्न डालें यह हमारा कर्त्तव्य नहीं है। 'सीता फिर दुर्लभ हो जायगी···' यह हनुमानने कहा। रामचन्द्रजीने जोरदार शब्दोंमें उत्तर दिया—हो जाय, एक सीता नही सब कुछ दुर्लभ हो जाय पर मैं अन्याय करने की आज्ञा नही दे सकता। रामचन्द्रजीमें जो इतना विवेक था उसका कारण क्या था ? कारण था उनका सम्यग्दर्शन—विशुद्ध क्षायिक सम्यग्दर्शन।

सीताको तीर्थयात्राके बहाने कृतान्तवक्र सेनापति जंगलमें छोड़ने गया। क्या उसका हृदय वैसा करना चाहता था ? नही, वह तो स्वामीकी परतन्त्रतासे गया था। उस वक्त कृतान्तवक्रको अपनी पराधीनता काफी खली। जब वह निर्दोष सीताको जंगलमें छोड़ अपने अपराधकी क्षमा माँग वापिस आने लगा तब सीता उससे कहती हैं—सेनापते ! मेरा एक संदेश उनसे कह देना। वह यह, कि जिस प्रकार लोकापवादके भयसे आपने मुझे त्यागा है इस प्रकार लोकापवादके भयमे जैनधर्मको नही छोड़ देना। उस निराश्रित अपमानित स्त्रीको इतना विवेक बना रहा। इसका कारण क्या था ? उसका सम्यग्दर्शन। आज कलकी स्त्री होती तो पचास गालियाँ सुनाती और अपने समानता-के अधिकार बताती। इतना ही नही, सीता जब नारदजीके आयोजन द्वारा लवणांकुशके साथ अयोध्या आती है, एक वीरता पूर्ण युद्धके बाद पिता-पुत्रका मिलाप होता है, सीता लज्जासे भरी हुई राजदरबारमें पहुंचती है। उसे देखकर रामचन्द्रजी कह उठते हैं कि दुष्टे ! तू बिना शपथ दिये—बिना परीक्षा दिये यहाँ कहाँ ? तुझे लज्जा नहीं आई ? सीताने विवेक और धैर्यके साथ उत्तर दिया कि मैं समझी थी कि आपका हृदय कोमल है पर क्या कहूँ ? आप मेरी जिस प्रकार चाहें शपथ ले लें। रामचन्द्रजीने उत्तेजनामें आकर कह दिया कि अच्छा अग्नि में कूद कर अपनी सचाईकी परीक्षा दो। बड़े भारी जलते हुए अग्नि कुण्डमें

कूदनेके लिये सीता तैयार हुई। रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं कि सीता जल न जाय। लक्ष्मणने कुछ रोषपूर्ण शब्दोंमें उत्तर दिया कि यह आज्ञा देते समय न सोचा ? यह सती है, निर्दोष है। आज आप इसके अखण्ड शीलकी महिमा देखिये। इसी समय दो देव केवलीकी वन्दनासे लौट रहे थे। उनका ध्यान सीताका उपसर्ग दूर करनेकी ओर गया। सीता अग्नि कुण्डमें कूद पड़ी और कूदते ही साथ जो अतिशय हुआ सो सब जानते हो। सीताके चित्त-में रामचन्द्रजीके कठोर शब्द सुन कर संसारसे वैराग्य हो चुका था। पर, 'निःशल्यो व्रती' व्रतीको निःशल्य होना चाहिये। यदि बिना परीक्षा दिये मैं व्रत लेती हूं तो यह शल्य निरन्तर बनी रहेगी। इसलिये उसने दीक्षा लेनेसे पहले परीक्षा देना आवश्यक समझा था। परीक्षामें वह पास हो गई, रामचन्द्रजी उससे कहते हैं—देवि ! घर चलो। अब तक हमारा स्नेह हृदय में था पर अब आँखों में आ गया है। सीताने नीरस स्वर मे कहा —

कहि सीता सुन रामचन्द्र संसार महादुःख वृक्षकंद।
तुम जानत पर कछु करत नांहि ··· ·········॥

रामचन्द्रजी ! यह घर दुःखरूपी वृक्ष की जड़ है। अब मैं इसमें न रहूँगी। सच्चा सुख इसके त्यागमें ही है। रामचन्द्रजी ने बहुत कुछ कहा—यदि मैं अपराधी हूँ तो लक्ष्मणकी ओर देखो, यदि यह भी अपराधी है तो अपने बच्चों लवणाँकुशकी ओर देखो और एक बार पुनः घर में प्रवेश करो। परन्तु सीता अपनी दृढ़तासे च्युत नहीं हुई। उसने उसी वक्त केश उखाड़ कर रामचन्द्रजी के सामने फेंक दिये और जङ्गलमें जाकर आर्या हो गई। यह सब काम सम्यग्दर्शनका है। यदि उसे अपने कर्मपर, भाग्यपर विश्वास न होता तो वह क्या यह सब कार्य कर सकती ?

अब रामचन्द्रजीका विवेक देखिये। जो रामचन्द्र सीताके पीछे पागल हो रहे थे, वृक्षों से पूछते थे—क्या तुमने मेरी सीता देखी है ? वही जब तपश्चर्यामें लीन थे तब सीताके जीव प्रतीन्द्रने कितने उपसर्ग किये, पर वह अपने ध्यानसे विचलित नहीं हुए। शुक्ल ध्यान धारणकर केवली अवस्था को प्राप्त हुए।

सम्यग्दर्शनसे आत्मामें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य गुण प्रकट होते हैं जो सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। यदि आपमें ये गुण प्रकट हुए हैं तो समझ लो हम सम्यग्दृष्टि हैं। कोई क्या बतलायगा कि तुम सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि ? अप्रत्याख्यानावरणी कषायका संस्कार छह माहसे ज्यादा नही चलता। यदि आपकी किसीसे लड़ाई होनेपर छह माहसे अधिक कालतक बदला लेने की भावना रहती है तो समझ लो कि अभी हम मिथ्यादृष्टि हैं। कषाय के असंख्यात लोकप्रमाण स्थान हैं। उनमें मनका स्वरूपसे ही शिथिल हो जाना प्रशम गुण है। मिथ्यादृष्टि अवस्थामें इस जीवकी विषय कषायमें जैसी स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है वैसी सम्यग्दर्शन होने पर नहीं होती। यह दूसरी बात है कि चारित्रमोहके उदयसे यह उसे छोड़ नहीं सकता हो पर प्रवृत्तिमें शैथिल्य अवश्य आ जाता है। प्रशमका एक अर्थ यह भी है जो पूर्वकी अपेक्षा अधिक ग्राह्य है। वह यह कि सद्यःकृतापराध जीवोंपर भी रोष उत्पन्न नही होना प्रशम कहलाता है। बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रामचन्द्रजीने रावणपर जो रोष नही किया था वह इसका उत्तम उदाहरण है। प्रशम गुण तब तक नही हो सकता जब तक अनन्तानुबंधी क्रोध विद्य-मान रहता है। उसके छूटते ही प्रशम गुण प्रकट हो जाता है। क्रोध ही क्यों अनन्तानुबन्धी सम्बन्धीमान माया लोभ सभी कषाय प्रशमगुणके घातक हैं। संसारसे भय उत्पन्न होना संवेग है। विवेकी मनुष्य जब चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंका चिन्तन करता है तब उसकी आत्मा भयभीत हो जाती है तथा दुःखके कारणोंसे निवृत्त होजाती है। दुःखी मनुष्यको देखकर हृदयमें कम्पन उत्पन्न हो जाना अनुकम्पा है। मिथ्यादृष्टि की अनुकम्पा और सम्यग्दृष्टिकी अनुकम्पामें अन्तर होता है। सम्यग्दृष्टि मनुष्य जब किसी आत्माको क्रोधादि कषायोंसे अभिभूत तथा भोगासक्त देखता है तब उसके मनमें करुणाभाव उत्पन्न होता है कि देखो बेचारा कषायके भारसे कितना दब रहा है ? इसका कल्याण किस प्रकार हो सकेगा ? आप्त व्रत श्रुत तत्त्वपर तथा लोक आदि पर श्रद्धापूर्ण भावका होना आस्तिक्य भाव है। ये गुण सम्यग्दर्शनके अविनाभावी हैं। यद्यपि मिथ्यात्वकी मन्दतामें भी ये हो जाते हैं तथापि वे यथार्थ गुण नहीं किन्तु गुणाभास कहलाते हैं।

३ : उत्तम आर्जव धर्म

आज आर्जव धर्म है। आर्जवका अर्थ सरलता है और सरलता के मायने मन वचन कायकी एकता है। मनमें जो विचार आया हो उसे वचनसे कहा जाय और जो वचनसे कहा जाय उसी के अनुसार कायसे प्रवृत्ति की जाय। जब इन तीनों योगों की प्रवृत्तिमें विषमता आ जाती है तब माया कहलाने लगती है। यह माया शल्य की तरह हृदय में सदा चुभती रहती है। इसके रहते हुये मनुष्य के हृदय में स्थिरता नहीं रहती और स्थिरता के अभाव में उसका कोई भी कार्य यथार्थरूप में सिद्ध नहीं हो पाता।

मान और लोभ के बीच में माया का पाठ आया है सो उसका कारण यह है कि माया मान और लोभ—दोनों के साथ संपर्क रखती है। दोनों से उसकी उत्पत्ति होती है। मानके निमित्तसे मनुष्यको यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मेरे बड़प्पन में कोई प्रकार की कमी न आ जाय, परन्तु शक्ति की न्यूनतासे बड़प्पन का कार्य करने में असमर्थ रहता है इसलिये मायाचाररूपी प्रवृत्ति कर अपनी हार्दिक कमजोरी को छिपाये रखता है। मनुष्य जिस रूप में वस्तुत: है, उसी रूप में उसे अपने आपको प्रगट करना चाहिये। इसके विपरीत जब वह अपनी दुर्बलता को छिपाकर बड़ा बनने का प्रयत्न करता है तब मायाकी परिणति उसके सामने आती है। यही दम्भ है, माया है। जिनागम तो यह कहता है कि जितनी शक्ति हो उतना कार्य करो और अपने असली रूप में प्रगट होओ। लोभ के वशीभूत होकर जीव नाना प्रकार के कष्ट भोगता है तथा इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए निरन्तर अध्यवसाय करता है। वह तरह-तरह की छल-क्षुद्रताओं को करता है। मोहकी महिमा विचित्र है। आपने पद्मपुराण में त्रिलोकमण्डन हाथी के पूर्व भव श्रवण किये होंगे। एक मुनिने एक स्थान पर मासोपवास किये। व्रत पूर्ण होने पर वे तो कहीं अन्यत्र विहार कर गये पर उनके स्थान पर अन्यत्र से विहार करते हुये दूसरे मुनि आ गये। नगरके लोग उन्हें ही मासोपवासी मुनि समझ उनकी प्रभावना करने लगे, पर उन आगन्तुक मुनि को यह भाव नहीं हुआ कि कह दें—मैं मासोपवासी नहीं हूँ। महान् न होनेपर भी महान् बनने की आकांक्षाने उनकी आत्मा को मायाचार से भर दिया और उसका परिणाम क्या हुआ सो आप जानते हैं। मनुष्य अपने पापको छिपाने का प्रयत्न करता है वह रुई में लपेटी आगके समान स्वयमेव प्रकट हो जाता है। किसी का जल्दी प्रकट हो जाता है और किसी का विलम्बसे, पर यह निश्चित है कि प्रकट अवश्य होता है। पाप के प्रगट होने पर मनुष्यका सारा बड़प्पन समाप्त हो जाता है और छिपाने के कारण संक्लेश रूप परिणामोंसे जो खोटे कर्मों का आस्रव करता रहा उसका फल व्यर्थ ही भोगना पड़ता है। बाँस की जड़, मेढ़े के सींग, गोमूत्र तथा खुरपी के समान माया चार प्रकार की होती है। यह चारों प्रकार की माया दु:खदायी है। मायाचारी मनुष्य का कोई विश्वास नहीं करता और विश्वासके न होनेसे उसे जीवन भर कष्ट उठाना पड़ते है। जब कि सरल मनुष्य इसके विरुद्ध अनेक सम्पत्तियों का स्वामी होता है। आपने पूजा में पढ़ा होगा—

कपट न कीजे कोय चोरनके पुर ना बसें।
सरल स्वाभावी होय ताके घर बहु सम्पदा ।।

अर्थात् किसी को कपट नहीं करना चाहिये क्योंकि चोरों के कभी गाँव बसे नहीं देखे गये। जीवन भर चोर चोरी करते हैं पर अन्त में उन्हें कफनके लिये परमुखापेक्षी होना पड़ता है। इसके विपरीत सरल मनुष्य अधिक सम्पत्तिशाली होता है। माया से मनुष्य की सब सुजनता नष्ट हो जाती है। मायावी मनुष्य ऐसी मुद्रा बनाता है कि देखने में बड़ा भद्र मालूम होता है पर उसका अन्त:करण अत्यन्त कलुषित रहता है। वनवासके समय जब रामचन्द्रजी पम्पा सरोवर के किनारे पहुँचे तब एक बगला बड़ी शान्त मुद्रामें बैठा था। उसे देख रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहते हैं कि-लक्ष्मण! देखो कैसा शान्त तपस्वी बैठा है? उसी समय एक मच्छ की आवाज आती है कि-महाराज! इसकी शान्त वृत्ति का हाल तो मुझसे पूछिये। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य येन केन प्रकारेण अपना ऐहिक प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं, पर पारलौकिक प्रयोजन की ओर उनकी दृष्टि नहीं है। साँप

लहराता हुआ चलता है पर जब वह अपने बिल में घुसने लगता है तब उसे सीधा ही चलना पड़ता है। इसी प्रकार मनुष्य जब स्वरूपमें लीन होना चाहता है तब उसे सरल व्यवहार ही करना पड़ता है। सरल व्यवहार के बिना स्वस्वभाव में स्थिरता कहाँ हो सकती है ?

जहाँ पर स्वस्वभावरूप परिणमन है वहाँ पर कपट-मय व्यवहार नहीं, और जहाँ कपट व्यवहार है वहाँ स्वस्वभाव परिणमन में विकार है। इसीसे इसको विभाव कहते हैं। विभाव ही संसारका कारण है। प्रायः संसार में प्रत्येक मनुष्य की यह अभिलाषा रहती है कि मैं लोगों के द्वारा प्रशंसा पाऊं—लोग मुझे अच्छा समझें यही भाव जीव के दुःख के कारण हैं। ये भाव जिनके नहीं होते वे ही सुजन हैं। उनके जो भी भाव होते हैं वे ही सुस्वभाव कहलाते हैं। जिन जीवोंके अपने कषाय पोषणके परिणाम नहीं वही सुजन हैं। उनको जो परिणति है वही सुजनता है। यहाँ तक उनकी निर्मल परिणति हो जाती है कि वे परोपकारादि करके भी अपनी प्रशंसा नहीं चाहते। किसी कार्यके कर्ता नही बनते। मेरा तो विश्वास है कि ऐसे महान् पुरुष पुण्य को बन्धका कारण समझते हैं। यदि उसे बन्धका कारण न समझते तो उसके कर्तृत्वको क्यों न अपनाते ? वे कर्मोदयमें विषयादि कार्य भी बलात् करते हैं परन्तु उसमें विरक्त रहते हैं। जो पुण्य कार्य करने में भी उपेक्षा करते हैं वे पाप कार्य करने में अपेक्षा करें, यह बुद्धि में नही आता। सुजन मनुष्य की चेष्टा अगम्य है। उनका जो भी कार्य है वह कर्त्तव्य से शून्य है। इसीसे वे लौकिक सुखों और दुःख के होनेपर हर्ष और विषाद भाव के पात्र नही होते। वे उन कार्योंको कर्मकृत जान उनसे उपेक्षित रहते हैं। वे जो दानादि करते हैं उनमें भी उनके प्रशंसादि के भाव नहीं होते। यही कारण है कि वे अल्प कालमें संसार के दुःखों से बच जाते हैं।

सुजनता की गन्ध भी मनुष्य के लग जावे तो वह अधर्म कार्यों से बच जावे। वर्तमान युगमें मनुष्य प्रायः विषयलम्पटी हो गये हैं। इससे सम्पूर्ण संसार दुःखमय हो रहा है। पहले मनुष्य विद्यार्जन इसलिये करते थे कि हम संसारके कष्टोसे बचें तथा परको भी बचावें। हमारे संचयमें जो वस्तु हो उससे परको भी लाभ पहुंचे। पहले लोग ज्ञानदान द्वारा अज्ञानीको सुज्ञानी बनानेका प्रयत्न करते थे परन्तु अब तो विद्याध्ययनका लक्ष्य परिग्रह पिशाचके अर्जनका रह गया है। यह बात पहले ही लक्ष्यमें रखते हैं कि इस विद्याध्ययनके बाद हमको कितना मासिक मिलेगा ? पारलौकिक लाभका लक्ष्य नहीं। पाश्चात्य विद्याका लक्ष्य ही यह है कि विज्ञानके द्वारा ऐसे ऐसे आविष्कार करना जो किसी तरह द्रव्य का अर्जन हो, प्राणियों का संहार हो, सहस्त्रों जीवोंका जीवन खतरे में पड़ जावे। ऐसे आविष्कार किये जावें कि एक अणुबमके द्वारा लाखों मनुष्यों का स्वाहा हो जावे। अथवा ऐसे ऐसे सिनेमा दिखाये जावें। यद्यपि कोई कोई सिनेमा भलाईके हैं तो भी वे विष मिश्रित भोजनके समान हैं। अस्तु, यह सब इस निकृष्ट कालकी महिमा है। इस युगमें भी कई ऐसे सुजन हैं जो इन उपद्रवोंसे सुरक्षित हैं और उन्हींके प्रतापसे आज कुछ शान्ति देखी जाती है। जिस दिन उन महात्माओं का अभाव हो जायगा उस दिन सर्वत्र ही अराजकताका साम्राज्य हो जावेगा। आजकल प्राचीन आर्यपद्धति के परम्परागत नियमोंकी अवहेलना की जाती है और नये नये नियमोंका निर्माण किया जा रहा है। प्राचीन नियम यदि दोष पूर्ण हों तो उन्हें त्याग दो। इसमें कोई भी आपत्ति नहीं, परन्तु अब तो प्राचीन महात्माओंकी बात सुननेसे मनुष्य उबल उठते हैं। मेरा तो विश्वास है कि परिग्रहके पिशाचसे पीड़ित आत्मा कितने ही ज्ञानी क्यों न हों उनके द्वारा जो भी कार्य किया जावेगा उससे कदापि साधारण मनुष्यों का लाभ नही पहुँच सकता, क्योंकि वे स्वयं परिग्रहसे पीड़ित हैं। प्राचीन समय में वीतराग साधुओंके द्वारा संसारमात्रकी भलाईके नियम बनाये जाते थे अतः जिन्हें संसारके कल्याण करनेकी अभिलाषा है वे पहले स्वयं सुजन बनें। सुजन मायने भले मनुष्य। भले मनुष्यका अर्थ है जिनका आचार निर्मल हो। निर्मल आचारके द्वारा वे आत्मकल्याण भी कर सकते हैं और उनके आचारको देखकर संसारी मनुष्य स्वयं कल्याण कर सकता है। यदि पिता सदाचारी है तो उसकी संतान स्वयं सदाचारी बन जाती है। यदि पिता बीड़ी पीता है तो बेटा सिगरेट पीवेगा और पिता भंग पीता है तो बेटा मदिरा पान करेगा। इसलिए निर्मल आचारके धारक सुजन बनो

तथा निश्छल प्रवृति करो।

आपने तृतीयाध्यायमें नरक लोकका वर्णन सुना, वहाँके स्वाभाविक तथा परकृत दु:खोंका जब ध्यान आता है तब शरीरमें रोमाञ्च उठ आते हैं। हृदयमें विचार करो कि इन दु:खोंका मूल कारण क्या है? इन दु:खों का मूल कारण मिथ्यात्वकी प्रबलता है। मिथ्यात्वकी प्रबलतामे यह जीव अपने स्वभावसे च्युत हो, पर पदार्थों को सुखका कारण मानने लगता है। इसलिये परिग्रहमें तथा उसके उपार्जनमें इसकी आसक्ति बढ़ जाती है और यह परिग्रह तथा आरम्भ सम्बन्धी आसक्ति ही इस जीव को नरक के दु:खोंका पात्र बना देती है। नरक गतिमें यह जीव दश हजार वर्षसे लेकर तेतीस सागर तक विद्यमान रहता है। वहाँसे असमयमें निकलना भी नहीं होता अर्थात् जो जीव जितनी आयु लेकर नरकमें जहाँ पहुँचता है उसे वहाँ उतनी आयु तक रहना ही पड़ता है। नरक दु:खका कारण है परन्तु वहाँ भी यदि किन्हीं जीवोंकी काललब्धि आजाती है तो वे सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। सम्यग्दृष्टि बनते ही उनकी अन्तरात्मा आत्मसुख का स्वाद लेने लगती है।

चिनमूरति दृग्धारीकी मोहि रीति लगत है अटापटी।
बाहर नारक कृत दुःख भोगे अन्तर सुख रस गटागटी।।

सम्यग्दर्शन हो जाने पर भी नारकी बाह्यमें यद्यपि पूर्वकी भाँति ही दुःख भोगता है तथापि अन्तरंगमें उसे मोहाभाव जन्य सुखका अनुभव होने लगता है। वह समझता है कि नारकियोंके द्वारा दिया हुआ दुःख हमारे पुराकृत कर्मोंका फल है जिसे भोगना अनिवार्य है परन्तु यह दुःख हमारा निज स्वभाव नहीं है। मेरा निज स्वभाव तो चैतन्यमूर्ति तथा अनन्त सुखका भण्डार है। मोहके कारण मेरा स्वभाव वर्तमान में अन्यथा परिणमन कर रहा है पर जब मोहका विकार आत्मासे निकल जायगा तब आत्मा निजस्वभावमें लीन हो जाएगा।

मध्यम लोकके वर्णनसे यह चिन्तवन करना चाहिये कि इस लोकमें ऐसा कोई स्थान नहीं बचा जिसमें मैं अनंत बार उपजा-मरा न होऊँ। धर्म रूढ़ि नहीं है प्रत्युत आत्माकी निर्मल परिणति है। उसे जीवनमें उतारनेसे ही आत्माका कल्याण हो सकता है।

४ : उत्तम शौच धर्म

आज शौचधर्म है। शौचका अर्थ पवित्रता है। यह पवित्रता लोभ कषायके अभावमें प्रकट होती है। लोभके कारण ही संसारके यावन्मात्र प्राणी दुखी हो रहे हैं। आचार्य गुणभद्रने आत्मानुशासनमें लिखा है—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।

अर्थात् यह आशारूपी गर्त प्रत्येक प्राणीके सामने बना है। ऐसा गर्त कि जिसमें समस्त संसार का वैभव परमाणु के समान है। फिर किसके भागमे कितना आवे अतः विषयोंकी वाञ्छा करना व्यर्थ है। इस आशारूपी गर्तको जैसे-जैसे भरा जाता है वैसे-वैसे ही यह गहरा होता जाता है। पृथिवीके अन्य गर्त तो भर देनेसे भर जाते हैं, पर यह आशागर्त भरनेसे और भी गहरा हो जाता है। किसी आदमीको हजारकी आशा थी, हजार उसे मिल भी गये, पर अब आशा दस हजारकी हो गई। अर्थात् आशारूपी गर्त पहलेसे दसगुना गहरा हो गया। भाग्यवश दस हजार भी मिल गये पर अब एक लाखकी आशा हो गई। अर्थात् आशागर्त पहलेसे सौ गुना गहरा हो गया। यह केवल कहनेकी बात नहीं है। इसे आप लोग रात दिन अपने जीवनमें उतार रहे हैं। तृष्णाके वशीभूत हुआ प्राणी क्या-क्या नहीं करता है? वह इष्ट व्यक्तिका प्राणान्त करनेमें भी पीछे नहीं हटता। आजका मानव निरन्तर 'और और' चिल्लाता रहता है। उसके मुखसे कभी 'बस' नहीं निकलता। बिना सन्तोषके बस कैसे निकले? एक समय था कि जब लड़का कार्य सम्भालने योग्य हो जाता था तब वृद्ध पिता सम्पत्ति से 'मोह' छोड़ दीक्षा ले लेता था। पर आज वृद्ध पिता और उनके भी पिता हों तो वह भी सम्पत्तिसे मोह नहीं छोड़ना चाहते, फिर लड़का तो लड़का ही है। वह सम्पत्तिसे मोह नहीं छोड़ रहा है इसमें आश्चर्य ही क्या है? कपड़ा बुननेवाला कुविन्द कपड़ा बुनते बुनते अन्तिम छीरा छोड़ देता है पर हम उस अन्तिम छीरे तक बुनना चाहते हैं। इस तृष्णाका भी कभी अन्त होगा?

लोभ मीठा शत्रु है। यह दशम गुणस्थान तक मनुष्य

का पिण्ड नहीं छोड़ता। अन्य कषाय यद्यपि उसके पहले ही नष्ट हो जाती हैं पर लोभकषाय सबसे अन्त तक चलती जाती है। लोभके निमित्तसे आत्मा में अपवित्रता आती है। लोभसे ही समस्त पापोंमें इस प्राणीकी प्रवृति होती है। आचार्योंने लोभको ही पापका बाप बतलाया है। एक बार एक आदमी काशी पढ़ने गया। उस समय छोटी अवस्थामें विवाह हो जाता था इसलिये उसका भी विवाह हो गया था। वह स्त्रीको घर छोड़ गया। ५-६ वर्ष काशीमें पढ़नेके बाद जब घर लौटा तब गाँवके लोगोंने उसका बड़ा सत्कार किया। जब वह अपनी स्त्रीके पास पहुँचा तब स्त्री ने कहा कि आप मुझे अकेली छोड़ काशी गये थे। अब आप मेरे एक प्रश्नका उत्तर यदि दे सकें तो मैं अपने घरके भीतर पैर रखने दूँगी, अन्यथा नहीं। उसने कहा कि अपना प्रश्न कहो। स्त्रीने कहा कि बताओ 'पापका बाप क्या है? अद्भुत प्रश्न सुनकर वह बहुत घबराया। रामायण महाभारत भागवत आदि सब ग्रन्थ देख डाले पर कहीं पाप का बाप नहीं मिला। उसे चुप देख स्त्रीने कहा अब पुनः काशी जाइये और यह पढ़कर आइये। काशी बहुत दूर थी इसलिए उसने सोचा कि यदि कोई यहीं पापका बाप बता दे तो काशी न जाना पड़े। अन्तमें वह पागलकी भांति नगरकी सड़कों पर पापका बाप क्या है? पापका बाप क्या है? यह चिल्लाता हुआ भ्रमण करने लगा। एक दिन एक वेश्याने अपने घरकी छपरीसे उसे ऊपर बुलाया और कहा कि यहाँ आओ, पाप का बाप मैं बताती हूँ। वह आदमी सीढ़ियोंसे जब ऊपर पहुँचा तो उसे वेश्या जान बड़ा दुखी हुआ और झटसे नीचे उतरने लगा। वेश्याने कहा—महाराज! ठहरिये तो सही; आप जिस सड़कसे चल रहे थे उस सड़कपर तो वेश्या आदि सभी अधम प्राणी चलते हैं, फिर हमारा यह मकान उस सड़कसे तो अच्छा है। आप इतनी घृणा क्यों करते है? आपने हमारा घर अपनी चरणरजसे पवित्र किया इसलिए एक मुहर आपको चढ़ाती हूँ। यह कहकर वेश्या ने एक मुहर उसे दे दी। मुहर देख उसने सोचा कि यह ठीक तो कह रही है। आखिर यह मकान सड़क से तो अच्छा है। कुछ देर ठहरनेके बाद वह जाने लगा तब वेश्या ने कहा महाराज! दो मुहरें देती हूँ। यह सामने पंसारीकी दूकान है, इससे सीधा बुलाकर भोजन बना लीजिये, फिर जाइये। दो मुहरों का लाभ देख उसने सोचा कि मैं भी तो इसी पंसारीकी दूकानसे खाद्य सामग्री लेता हूं। इसलिए वेश्या का इसके साथ क्या सम्बन्ध है? २ मुहरें लेकर उसने भोजन बनाना शुरू किया। जब भोजन बन चुका तब वेश्या ने कहा महाराज! मैंने जीवन भर पाप किये हैं। यदि आपके लिए अपने हाथ से भोजन परोस सकूं तो मैं पाप से निर्मुक्त हो जाऊँ। इस कार्य के लिए मैं पाँच मुहरें आपके चरणों में चढ़ाती हूँ। पाँच मुहरोंका नाम सुनते ही उसके मुँहमें पानी आ गया। उसने सोचा कि भोजन तो मेरे हाथ का बनाया है। यदि वेश्या छूकर इसे मेरी थाली में रख देती है तो इसमें कौन-सा अधर्म हुआ जाता है? यह विचारकर उसने वेश्या को परोसने की आज्ञा दे दी। वेश्याने उत्तम थाली में भोजन परोस दिया। पश्चात् वेश्या बोली—महाराज! एक भावना बाकी और रह गई है। मैं चाहती हूँ कि मैं एक ग्रास थालीसे उठाकर आपके मुखमें दे दूँ तो मेरे जन्म जन्म के पाप कट जावें। इस कार्य के लिए मैं दस मुहरें चढ़ाती हूँ। दस मुहरों का लाभ देख उसने वेश्याके हाथसे भोजन करना स्वीकृत कर लिया। वेश्याने जो ग्रास मुख में देने के लिए उठाया था उसे मुखतक ले जानेके बाद छोड़ दिया और उसके गालमें जोर की थप्पड़ मारते हुए कहा कि समझे, पापका बाप क्या है? पापका बाप लोभ है। कहाँ तो आप वेश्याके घर आनेपर ग्लानिसे नीचे उतरने लगे थे और कहाँ उसके हाथ का ग्रास खानेके लिये तैयार हो गये? यह सब महिमा लोभ की है। मुहरोंके लोभने आपको धर्म-कर्मसे भ्रष्ट कर दिया है।

शौच पवित्रता को कहते हैं और यह पवित्रता बाह्य आभ्यन्तर के भेदसे दो प्रकार की है। अपने-अपने पदके अनुसार लौकिक शुद्धि का विचार रखना बाह्य शुद्धि है, और अन्तरङ्ग में लोभादि कषायों का कम करना आभ्यन्तर शुद्धि है। 'गङ्गास्नानात्मुक्ति'—गङ्गा स्नान से मुक्ति होती है इसे जिन शासन नहीं मानता। उससे शरीर का मल छूट जाने के कारण लौकिक शुद्धि हो सकती है पर वास्तविक शुद्धि तो आत्मामें लोभादि कार्योंके कृश करने से ही होती है। अर्जुनके प्रति उपदेश है—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था:
सत्योदका शीलतटाः दयोर्मि: ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र
न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ।

संयम ही जिसका पवित्र घाट है, सत्य ही जिसमें पानी भरा है, शील ही जिसके तट हैं और दया रूप भवरें जिसमें उठ रही हैं, ऐसी आत्मारूपी नदीमें हे अर्जुन ! अभिषेक करो, क्योंकि पानीमात्रसे अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती ? आत्मा को निर्मल बनाने का जिसने अभ्यास कर लिया उसने सब कुछ कर लिया । 'आतमके अहित विषय कषाय'—आत्माके सबसे बड़े शत्रु विषय और कषाय हैं । इनसे जिसने अपने आपकी रक्षा कर ली उसने जग जीत लिया, अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लिया ।

लोभ केवल रुपया पैसाका ही हो सो बात नहीं । मान प्रतिष्ठा आदिकी आकांक्षा रखना भी लोभ का ही रूप है । जब रामका रावणके साथ लङ्कामें युद्ध हो रहा था तब राम रावणको मारते थे तो वह बहुरूपिणी विद्या से दूसरा रूप बना कर सामने आ जाता था । इसी प्रकार हम लोभ को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं । घर गृहस्थी, बाल बच्चे छोड़ कर जंगल में जाते हैं पर वहाँ शिष्य संग्रह, धर्म प्रचार, आदि का लोभ सामने आ जाता है । पहले घर के कुछ लोगोके भरण-पोषण का ही लोभ था । अब अनेकों शिष्यों के भरण-पोषण तथा शिक्षा-दीक्षा आदिका लोभ सामने आ गया । लोभ नष्ट कहाँ हुआ ? वह तो वेष बदल कर आपके सामने आ गया है । यदि वास्तवमें लोभ नष्ट हो जाता तो इस परिकर की क्या आवश्यकता थी ? 'इसका कल्याण करूं उसका कल्याण करू" ऐसे विकल्पजाल निरन्तर आत्मा में क्यों उठते ? अतः प्रयत्न ऐसा करो कि जिससे यह लोभ समूल नष्ट हो जाय । यह रोग छूटने के बाद यदि दूसरा रोग दवाईसे होता है तो वह दवाई दवाई नहीं । दवाई तो वह है जिससे वर्तमान रोग नष्ट हो जाय और उसके बदले कोई दूसरा रोग उत्पन्न न हो । विषय कषायका सेवन करते करते अनन्तकाल बीत गया पर आत्मामें संतोष उत्पन्न नहीं हुआ । इससे जान पड़ता है कि यह सब संतोषके मार्ग नहीं हैं । समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

तृष्णार्चिषःपरिदहन्ति न शान्तिरासा—
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।।

अर्थात् तृष्णारूपी ज्वालाएं इस जीवको निरन्तर जला रही हैं । यह जीव इंद्रियोंके इष्ट विषय एकत्रित कर उनसे इन तृष्णा रूपी ज्वालाओंको शान्त करनेका प्रयत्न करता है पर उनसे इसकी शान्ति नहीं होती, प्रत्युत वृद्धि ही होती है । जिस प्रकार घृतकी आहुतिसे अग्निकी ज्वाला शान्त होनेके बदले प्रज्वलित ही होती है उसी प्रकार विषय सामग्रीसे तृष्णारूप ज्वाला शान्त होनेके बदले प्रज्वलित ही अधिक होती है ।

चतुर्थ अध्यायमें देवलोकका वर्णन आपने सुना । देवपर्यायके दीर्घ काल तक स्थिर रहनेवाले सुखोंसे भी इस जीवको तृप्ति नहीं हुई फिर मनुष्य लोकके अल्पकालीन सुखोंसे इसे तृप्ति हो जायगी यह संभव नहीं । सागरो पर्यन्त स्वर्गके सुख यह जीव भोगता है पर अन्तमें जब माला मुरझा जाती है तो दुखी होता है कि हाय अब यह सामग्री अन्यत्र कहाँ मिलेगी ? इसी आर्तध्यानसे मरकर कितने ही देव एकेन्द्रिय तक हो जाते हैं । नरकसे निकलकर एकेन्द्रिय पर्याय नहीं मिलती पर देवसे निकल कर यह जीव एकेन्द्रिय तक हो जाता है । परिणामों की विचित्रता है । देवोंके वर्णनमें आपने सुना है कि उनमें 'स्थितिप्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः' और 'गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः' अर्थात् स्थिति, प्रभाव, सुख, कान्ति, लेश्याकी विशुद्धता, इन्द्रिय और अवधिज्ञानके विषयकी अपेक्षा अधिकता है तथा गति, शरीर परिग्रह और अभिमानकी अपेक्षा हीनता है । ऊपर ऊपरके देवोंमें सुखकी मात्रा तो अधिक है परन्तु परिग्रहकी अल्पता है । इससे सिद्ध होता है कि परिग्रह सुखका कारण नहीं है किन्तु परिग्रहकी आकांक्षा न होना ही सुखका कारण है । यह प्राणी मोहोदयके कारण परिग्रहको सुखका कारण मान रहा है इसीलिये रातदिन उसीके संचयमें तन्मय हो रहा है । पासका परिग्रह नष्ट न हो जाय यह लोभ है, और नवीन परिग्रह प्राप्त हो जाय यह तृष्णा है । इस प्रकार आज मनुष्य इन लोभ और तृष्णा दोनोंके चक्रमें फंसकर दुखी हो रहा है ।

५ : उत्तम सत्य धर्म

जो पदार्थ जैसा है उसका उसी रूप कथन करना सत्य है। भगवान् उमास्वामीने असत्य पापका लक्षण लिखा है—'असदभिधानमनृतम्' अर्थात् प्रमादके योगसे जो कुछ असत्का कथन किया जाता है उसको अनृत या असत्य कहते हैं। इसके चार भेद हैं। जो वस्तु अपने द्रव्यादि चतुष्टय कर है, उसका अपलाप करना यह प्रथम असत्य है। जैसे देवदत्तके रहने पर भी कहना कि यहां पर देवदत्त नहीं है। वस्तु अपने चतुष्टय कर नहीं है वहां उसका सद्भाव स्थापना द्वितीय असत्य है। जैसे जहाँ पर घट नहीं है वहाँ पर कहना कि घट है। जो वस्तु अपने स्वरूपसे है उसे पर रूपसे कहना तृतीय असत्य है जैसे गौको अश्व कहना। तथा पैशुन्य, हास्य, कर्कश, असमंजस, प्रलाप तथा उत्सूत्ररूप जो वचन हैं वह चतुर्थ असत्य है। इन चार भेदोंमें ही सब प्रकारके असत्य आ जाते हैं। इन चार भेदोंके विपरीत जो वचन हैं वे चार प्रकारके सत्य हैं। असत्य भाषणके प्रमुख कारण दो हैं—एक अज्ञान और दूसरा कषाय। अज्ञानके कारण मनुष्य असत्य बोलता है और कषायके वशीभूत होकर कुछका कुछ बोलता है। यदि अज्ञान जन्य असत्यके साथ कषायकी पुट नहीं है तो उससे आत्माका अहित नहीं होता क्योंकि वहाँ वक्ता अज्ञानसे विवश है। ऐसा अज्ञान जन्य असत्यवचनयोग तो आगममें बारहवें गुणस्थान तक बतलाता है परन्तु जहां कषायकी पुट रहती है वह असत्य आत्माके लिए अहितकारक है। संसारमें राजा वसुका नाम असत्यवादियोंमें प्रसिद्ध हो गया, उसका खास कारण यही था कि वह कषाय जन्य था। पर्वतकी माताके चक्रमें पड़कर उसने 'अजैर्यष्टव्यम्' वाक्यका मिथ्या अर्थ किया था इसलिये उसका तत्काल पतन हो गया, और वह दुर्गतिका पात्र हुआ। कषायवान् मनुष्य अपने स्वार्थके कारण पदार्थका स्वरूप उस रीतिसे कहनेका प्रयत्न करते हैं जिससे उनके स्वार्थमें बाधा न पड़ जाय। महाभारतमें एक गृद्ध और गोमायुका संवाद आया है। किसीका पुत्र मर गया, उस मृतक पुत्रको लेकर उसके परिवारके लोग श्मशानमें गये। जब श्मसानमें गये तब सूर्यास्त होनेमें कुछ बिलम्ब था। उसी श्मसानमें एक गृध्र तथा एक गोमायु-शृगाल विद्यमान थे। गृध्र रातमें नहीं खाता इसलिये वह चाहता था कि ये लोग मृत बालकको छोड़कर जल्दी ही यहाँसे चले जावें तो मैं इसे खा लूं और गोमायु यह चाहता था कि ये लोग यहाँ सूर्यास्त होने तक विद्यमान रहें जिससे सूर्यास्त होनेके बाद इसे गृध्र खा नहीं सकेगा तब केवल मेरा ही यह भोज्य हो जावेगा। अपने अभिप्रायके अनुसार गृध्र कहता है।

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन्गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयकरे ॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥

अर्थात् गृध्र तथा शृगालोंसे भरे और समस्त प्राणियों को भय उत्पन्न करनेवाले श्मशानेमें ठहरना व्यर्थ है। मृत्युको प्राप्त हुआ कोई भी प्राणी यहाँ आकर जीवित नहीं हुआ। चाहे प्रिय हो चाहे अप्रिय हो, प्राणियोंकी रीति ही ऐसी है।

गृध्र वचनोंका प्रभाव मृत बालकके बन्धुजनों पर न पड़ जाय इस भावनासे गोमायु कहता है—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम्।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम्।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥

अर्थात् अरे मूर्ख ! अभी यह सूर्य विद्यमान है। तुम लोग बालकसे स्नेह करो। यह मुहूर्त अनेक विघ्नों से भरा है। कदाचित् तुम्हारा बालक जीवित हो जाय। जो स्वर्ण के समान कान्तिमान है तथा जिसका यौवन नहीं आ पाया ऐसे बालकको गृध्रके कहनेसे आप लोग निःशङ्क हो क्यों छोड़ रहे हो ?

प्रकरण लम्बा है पर उसका अभिप्राय देखिये कि मनुष्य अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार पदार्थके यथार्थ स्वरूपको कैसा छिन्न-भिन्न करते हैं। इस छिन्न-भिन्न करने का कारण मनुष्यके हृदयमें विद्यमान प्रमादयोग या कषायपरिणति ही है। उस पर विजय होजाय तो फिर मुखसे एक भी असत्य शब्द न निकले। मनुष्यकी शोभा या प्रामाणिकता उसके वचनोंसे है। वचनोंकी प्रामाणिकता नष्ट हुई कि सब कुछ नष्ट हो गया। असत्यवादी के वचन

रथ्यापुरुषके वचनके समान अप्रमाणिक होते हैं। उनपर कोई ध्यान नही देता पर सत्यवादी मनुष्यके वचन सुनने के लिए लोग घण्टों पहलेसे उत्सुक रहते हैं। वचनोंमें बल सत्यभाषणसे ही आता है, असत्य भाषणसे नहीं। एक सत्यभाषण ही मनुष्यकी अन्य पापोंसे रक्षा कर देता है।

एक राजपुत्रको चोरी की आदत पड़ गई। जब राजाको उसका व्यवहार सह्य नही हुआ तब उसने घरसे निकाल दिया। अब वह खुले रूपमें चोरी करने लगा। एक दिन उसने किन्हीं मुनिराज के उपदेशसे प्रभावित होकर असत्य बोलनेका त्याग कर दिया। अब वह एक राजाके यहाँ चोरी करनेके लिये गया। पहरे पर खड़े लोगोंने पूछा कि कहाँ जाते हो? उसने कहा चोरी करनेके लिये जाता हूँ। राजपुत्र था इसलिये शरीरका सुन्दर था। पहरे पर खड़े लोगों ने सोचा कि यह कोई महापुरुष राजाका स्नेही व्यक्ति है। कहीं चोर यह कहते नही देखे गये कि मैं चोरीके लिए जाता हूँ। यह तो हम लोगोंसे हँसी कर रहा है। ऐसा विचारकर उन्होंने उसे रोका नही चोरी करनेके बाद वह वही एक स्थानपर सो गया। प्रातःकाल जब लोगोंकी दृष्टि पड़ी तब उससे पूछा गया तो उसने यही कहा कि मैं चोर हूँ, चोरी करनेके लिए आया हूँ। फिर भी लोगोंको विश्वास नही हुआ। राजपुत्र सोचता है कि देखो सत्य वचनमें कितना गुण है कि चोर होने पर भी किसीको विश्वास ही नही होता कि मै चोर हूँ। जब एक पापके छोड़ने में इतना गुण है तब समस्त पापोंके छोड़नेमें कितना गुण न होगा? यह विचार कर उसने मुनिराजके पास जाकर समस्त पापों का परित्यागकर दीक्षा धारण करली। अस्तु,

मैं आज तक नही समझा कि असत्य भी कुछ है। क्योंकि जिसे आप असत्य कहते हैं वह वस्तु भी तो आत्मीय स्वरूपसे सत है। तब मेरी बुद्धिमे तो यह आता है कि जो पदार्थ आत्माको दु खकर हो उसको त्यागना ही सत्य है। जैसे शरीरको आत्मा मानना असत्य है शरीर असत्य नहीं है किन्तु जिस रूपसे वह है उससे अन्यरूप मानना असत्य है। शरीर पुद्गल द्रव्यका विकार है। उसे आत्मद्रव्य मानना मिथ्या है। यह विपरीत मान्यता मिथ्यात्वके कारण उत्पन्न होती है इसलिये सर्व प्रथम इसे ही त्यागना चाहिये।

पञ्चमाध्यायमें षड् द्रव्योंका वर्णन आपने सुना है। उसमें प्रमुख जीव द्रव्य है। उसीका सब खेल है, वैभव है—

अहं प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात्।
'एको दरिद्र एकः श्रीमानिति च कर्मणा॥

'मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ' इत्यादि प्रत्ययसे जीवके अस्तित्व का साक्षात्कार होता है तथा अन्वयसे भी इसका प्रत्यय होता है। यह वही देवदत्त है जिसे मैंने मथुरामें देखा था, अब यहाँ देख रहा हूँ। इस प्रत्ययसे भी आत्माके अस्तित्वका निर्णय होता है तथा कोई तो श्रीमान् देखा जाता है और कोई दरिद्र देखा जाता है इस विभिन्नतामें भी कोई कारण होना चाहिये। यह विभिन्नता विषमता निर्हेतुक नही। जो हेतु है उसीको कर्म नामसे कहा जाता है। नाममें विवाद नही—चाहे कर्म कहो, अदृष्ट कहो, ईश्वर कहो, खुदा कहो, विधाता कहो, जो आपको रुचिकर हो। परन्तु यह अवश्य मानना कि यह विभिन्नता निर्मूल नही। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि जो यह दृश्यमान जगत् है वह केवल एक जीवका परिणाम नही। केवल एक पदार्थ हो तो उसमें नानात्व कहाँसे आया? नानात्वका नियामक द्रव्यान्तर होना चाहिये। केवल पुद्गलमें शब्द बन्धादि पर्यायें नहीं होती। जब पुद्गल परमाणुओं की बन्धावस्था हो जाती है तभी यह पर्यायें होती है। उस अवस्थामें पुद्गल परमाणुओंकी सत्ता द्रव्यरूपसे अबाधित रहती है। एतावता शब्दादि पर्यायें केवल परमाणुओंकी नहीं किन्तु स्कन्ध पर्यायापन्न परमाणुओं की हैं। इसी तरह जो रागादि पर्याय है वह उदयावस्थापन्न कर्मोंके सद्भाव में ही जीवके होती है। यदि ऐसा न माना जावे तो रागादि परिणाम जीवका पारिणामिक भाव हो जावेगा, और ऐसा होनेसे संसारका अभाव हो जावेगा, जो कि किसीको इष्ट नहीं। रागादिक भावोंका प्रत्यक्षमें सद्भाव देखा जाता है। इससे यही तत्त्व निर्गत होता है कि रागादि भाव औपाधिक हैं। जैसे स्फटिकमणि स्वच्छ है किन्तु जब स्फटिकमणिके साथ जपापुष्पका सम्बन्ध होता है तब उसमें लालिमा प्रतीत होती है। यद्यपि स्फटिकमणि स्वयं रक्त नहीं किन्तु निमित्त को पाकर रक्तिमामय प्रत्ययका

विषय होता है। इससे यह समझमें आता है कि स्फटिक-मणि निमित्त को पाकर लाल जान पड़ती है। यह लालिमा सर्वथा असत्य नही। ऐसा सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमती है वह उस कालमें तन्मय हो जाती है। श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने स्वयं प्रवचनसार में लिखा है—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥

इस सिद्धान्तसे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा जिस समय रागादिरूप परिणमेगा उस समय नियमसे उसी रूप होगा तथा पर्याय दृष्टिसे उन्हीं रागादिका उस कालमें अस्तित्व रहेगा। जो भाव करेगा उसीका वर्तमान में अनुभव होगा।

जल शीत है परन्तु अग्निके सम्बन्धसे उष्ण पर्यायको प्राप्त करता है। यद्यपि उसमें शक्ति अपेक्षा शीत होनेकी योग्यता है तथापि वर्तमानमें शीत नहीं। यदि कोई उसे शीत मानकर पान करे तो दग्ध ही होगा। इसी प्रकार आत्मा यदि वर्तमानमें रागरूप है तो रागी ही है। इस अवस्थामें वीतरागका अनुभव होना असंभव है— इस कालमें आत्माको रागादि रहित मानना मिथ्या है। यद्यपि रागादि परिणाम परनिमित्तक हैं अतएव औपाधिक हैं— नशनशील हैं तथापि वर्तमानमें तो औष्ण्य परिणत अयः-पिण्डवत् आत्मा तन्मय हो रहा है। अर्थात् उन परिणामोंके साथ आत्माका तादात्म्य हो रहा है। इसीका नाम अनित्य तादात्म्य है। यह अलीक कथन नहीं। एक मनुष्यने मद्यपान किया और उसके नशासे वह उन्मत्त होगया। हम पूछते हैं कि क्या वह वर्तमानमें उन्मत्त नहीं है? अवश्य उन्मत्त है किन्तु किसीसे आप प्रश्न करें कि मनुष्यका क्या लक्षण है? इसके उत्तरमें उत्तर देनेवाला क्या यह कह सकता है कि उन्मत्तता मनुष्यका लक्षण है? नहीं, यह उत्तर ठीक नहीं। क्योंकि मनुष्यकी सर्व अवस्थाओं में उन्मत्तताकी व्याप्ति नहीं। इसी तरह आत्मामें रागादिभाव होनेपर भी आत्माका लक्षण रागादि नहीं हो सकता क्योंकि आत्माकी अनेक अवस्थाओंमें रागादिभाव व्यापकरूपसे नही रहता। अतः यह आत्माका लक्षण नहीं हो सकता। लक्षण वह होता है जो सर्व अवस्थाओंमें पाया जावे। ऐसा लक्षण चेतना ही है। यद्यपि रागादि परिणाम तथा केवलज्ञानादि भी आत्मामें ही होते हैं। तथापि उन्हें लक्षण नही माना जाता। क्योंकि वे जीवकी पर्यायविशेष हैं, व्यापक रूपसे नहीं रहती। अन्ततोगत्वा चेतना ही आत्माका एक ऐसा गुण है जो आत्माकी सर्व दशाओंमें व्यापकरूपसे रहता है। आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं। संसारी और मुक्त। इन दोनोंमें चेतना रहती है। उसीसे अमृत चन्द्र स्वामीने लिखा है कि—

अनाद्यमनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥

जीव नामक जो पदार्थ है वह स्वयं सिद्ध है तथा परनिरपेक्ष अपने आप अतिशय कर चकचकायमान हो रहा है। कैसा है? अनादि है। कोई इसका उत्पादक नहीं अतएव अनादि है, अतएव अकारण है। वस्तु अनादि अकारणक है। वह अनन्त भी है तथा अचल है। ऐसे अनादि, अनन्त तथा अचल अजीव द्रव्य भी है, इससे इसका लक्षण स्वसंवेद्य भी है यह स्पष्ट है। जीव नामक पदार्थमें अन्य अजीवोंकी अपेक्षा चेतनागुण ही भेद करनेवाला है। वही गुण इसमें ऐसा विशद् है कि सर्व पदार्थोंकी तथा निजकी व्यवस्था कर रहा है।

इस गुणको सब मानते हैं परन्तु कोई उस गुणको जीव से सर्वथा भिन्न मानते हैं। कोई गुणसे अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं—गुण-गुणी सर्वथा एक है ऐसा मानते हैं। कोई चेतना तो जीवमें मानते हैं परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेदसे पराङ् मुख रहता है ऐसा अङ्गीकार करते हैं। प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसमें चेतनाके संसर्गसे जानपना आता है। कोईका कहना है कि पदार्थ नाना नहीं एक ही अद्वैत तत्त्व है। वह जब मायावच्छिन्न होता है तब यह संसार होता है। किसीका कहना है कि जीव नामक स्वतन्त्र पदार्थकी सत्ता नही किन्तु पृथिवी जल अग्नि वायु और आकाश इनकी जिस समय विलक्षण अवस्था होती है उसी समय यह जीवरूप अवस्था हो जाती है। ये जितने मत हैं वे सर्वथा मिथ्या नहीं। जैनदर्शनमें अनन्त गुणोंका जो अविष्वग्भाव

सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। वह आत्मीय स्वरूप की अपेक्षा भिन्न भिन्न है, परन्तु कोई ऐसा उपाय नहीं कि उनमेंसे एक भी गुण पृथक् हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्यमें रूप रस गन्ध स्पर्श गुण है। चक्षुरादि इन्द्रियोंसे पृथक् पृथक् ज्ञानमें आते हैं परन्तु उनमेंसे कोई पृथक् करना चाहे तो नही कर सकता। वे सब अखण्डरूपसे विद्यमान हैं। उन सर्व गुणोंकी जो अभिन्न प्रदेशता है उसीका नाम द्रव्य है। अतएव प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्ददेवने लिखा है—

णत्थि विण परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिप्पण्णो ॥

परिणामके बिना अर्थकी सत्ता नहीं तथा अर्थके बिना परिणाम नहीं। जैसे दुग्ध, दधि, घी, छांछ इनके बिना गोरस कुछ भी सत्ता नही रखता इसी तरह गोरस न हो तो इन दुग्धादिकी भी सत्ता नहीं। एवं यदि आत्माके ज्ञानादि गुण न हों तो आत्माके अस्तित्व की सिद्धि नही हो सकती। तथा आत्माके बिना ज्ञानादि गुणोंका कोई आस्तित्व नही। बिना परिणामीके परिणमनका नियामक कोई नही। हां, यह अवश्य है कि ये गुण सदा परिणमन-शील हैं, किन्तु अनादिसे आत्मा कर्मोंसे सम्बद्ध है, इससे इसके ज्ञानादि गुणोंका विकास, निमित्त कारणोंके सहकारसे होता है। होता उसीमें है परन्तु जैसे घटोत्पत्तिकी योग्यता मृत्तिकामें ही होती है, किन्तु कुम्भकारके बिना घट नहीं बनता। यद्यपि घटकी उत्पत्ति योग्य व्यापार कुम्भकारमें ही होगा फिर भी मृत्तिका अपने व्यापारसे घटरूप होगी, कुम्भकार घटरूप न होगा। उपादानको मुख्य मानने-वालोंका कहना है कि जब मृत्तिकामें घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है तब वहां कुम्भकारकी उपस्थिति स्वयमेव हो जाती है। यहांपर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वमेव मृत्तिकामें होती है। इसका क्या अर्थ है? जिस काल मृत्तिकामें घट होता है उस कालमें क्या कुम्भकारादि निर-पेक्ष घट होता है या सापेक्ष? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती हो तो एक भी उदाहरण ऐसा बताओ कि मृत्तिकामें कुम्भकारके बिना घट हुआ हो, सो तो देखा नहीं जाता। यदि सापेक्ष पक्षको अङ्गीकार करोगे तो स्वयमेव आ गया कि कुम्भकारके व्यापार बिना घटकी उत्पत्ति नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्तिमें सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मामें रागादि परिणाम होते हैं। यद्यपि आत्मा ही उनका उपादान कर्ता है परन्तु चारित्रमोहके उदय बिना रागादि नहीं होते। होते आत्मामें ही हैं परन्तु बिना कर्मोदयके यह भाव नहीं होते। यदि निमित्तके बिना यह हो तब तो आत्माका त्रिकाल अबाधित स्वभाव हो जावे, सो ऐसा यह भाव नहीं। इसका विनाश हो जाता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि यह आत्माका निज भाव नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि यह भाव आत्मामें होता ही नहीं। होता तो है परन्तु निमित्त कारणकी अपेक्षासे होता है। यदि निमित्त कारणकी अपेक्षासे नहीं है ऐसा कहोगे तो आत्मामें मतिज्ञानादि जो चार ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे भी तो नैमित्तिक हैं, उनको भी आत्माके मत मानो। यह भी हमें इष्ट है, हम तो यहां तक माननेको प्रस्तुत हैं कि क्षायोपशमिक औदयिक, औपशमिक जितने भी भाव हैं वे आत्माके अस्तित्व में सर्वदा नहीं होते। उनकी कथा छोड़ो, क्षायिक भाव भी तो क्षयसे होते हैं वे भी अबाधित रूपसे त्रिकालमें नहीं रहते अतः वे भी आत्माके लक्षण नही। केवल चेतना ही आत्माका लक्षण है। यही अबाधित त्रिकालमें रहता है। इसी भावको पुष्ट करनेवाला श्लोक अष्टावक्र गीतामें अष्टावक्र ऋषिने लिखा है—

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्धो या स्याज्जीविते स्पृहा ॥

अर्थात् मैं देह नहीं हूं और न मेरा देह है, न मैं जीव हूँ, मैं तो चित् हूं चैतन्यगुणवाला हूँ। यदि ऐसा वस्तुका निज स्वरूप है तो आत्माको बन्ध क्यों होता है? इसका कारण हमारी इस जीवमें स्पृहा है। यह तो इंद्रिय मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्‌वास तथा आयुप्राणवाले पुतलेमें हमारी स्पृहा है यही तो बन्धका मूल कारण है। हम जिस पर्यायमें जाते हैं उसीको निज मान बैठते हैं। उसके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व मान कर पर्याय बुद्धि हो पर्यायके अनुरूप ही समस्त व्यवहार कर पर्यायान्तरको प्राप्त होते हैं। इससे यही तो निकला कि हम पर्यायबुद्धि-

से ही अपनी जीवनलीला पूर्ण करते हैं। अस्तु विषय लम्बा हो गया है।

६ : उत्तम संयम धर्म

स्पर्शनादि पांच इन्द्रियों तथा मनके विषयों और षट्कायिक जीवोंकी हिंसासे विरत होना संयम कहलाता है। इन्द्रिय विषयोंके आधीन हुआ प्राणी उत्तर कालमें प्राप्त होनेवाले दुःखोंको अपनी दृष्टिसे ओझल कर देता है। यही कारण है कि वह तदात्व सुखमें निमग्न हो आत्महितसे वञ्चित हो जाता है। इन्द्रिय विषयोंके आधीन हुआ वनका हाथी अपनी सारी स्वतन्त्रता नष्ट कर देता है। रसनेन्द्रिय वशमें पड़ा मीन धीवरकी वंशीमें अपना कण्ठ छिदा देता है। नासिकाके आधीन रहनेवाला भ्रमर सन्ध्याके समय यह सोचकर कमलमें बन्द हो जाता है कि रात्रि व्यतीत होगी, प्रातःकाल होगा, कमल फूलेगा तब मैं निकल जाऊँगा। अभी रात भर तो मकरन्दका रसास्वादन करूं। पर प्रातःकाल होनेके पहले ही एक हाथी आकर उस कमलिनी को उखाड़ कर चबा जाता है। भ्रमरके विचार उसके जीवनके साथ ही समाप्त हो जाते हैं। कहा है—

> रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
> भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
> इत्थं विचारयत्यब्जगते द्विरेफे,
> हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ।।

नेत्रेन्द्रियके वशीभूत हुए पतंग दीपकों पर अपने प्राण न्योछावर कर देते हैं और कर्णेन्द्रियके आधीन हो हरिण बहेलियोंके द्वारा मारे जाते हैं। ये तो पञ्चेन्द्रियोंमें एक-एक इन्द्रियके आधीन रहनेवाले जीवोंकी बात कही पर जो पाँचों ही इन्द्रियोंके वशीभूत हैं उनकी तो कथा ही क्या है। पञ्चेन्द्रियोंमें स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां अधिक प्रबल हैं। वट्टकेर स्वामीने मूलाचारमें कहा है कि चतुरङ्गुल प्रमाण स्पर्शन और रसना इन्द्रियने संसारको चटरा कर दिया—नष्ट कर दिया। इन इन्द्रियोंकी विषय-दाहको सहन करनेके लिये जब प्राणी असमर्थ हो जाता है तब वह इनमें प्रवृत्ति करता है। कुन्दकुन्द स्वामीने प्रवचनसारमें यहाँ तक लिखा है कि संसारके साधारण मनुष्योंकी तो कथा ही क्या है? हरि, हर हलधर, चक्रधर तथा देवेन्द्र आदिक भी इन्द्रियोंकी विषय दाहको न सहकर उनमें झम्पापात करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि बड़े बड़े पुरुष इनमें झम्पापात करते हैं, अतः ये त्याज्य नहीं हैं। विष तो विष ही है, चाहे उसे छोटे पुरुष पान करें चाहे बड़े पुरुष। हरि-हरादिककी विषयोंमें प्रवृत्ति हुई सही परन्तु जब उनके चारित्रमोहका उदय दूर हुआ तब उन्होंने उस विषयमार्गको हेय समझ कर त्याग दिया। भगवान् ऋषभदेव अपने राज्य पाट भोग विलासमें निमग्न थे। परन्तु नीलाञ्जनाका विलय देख विषयोंसे विरक्त हो गये। जब तक चारित्रमोहका उदय उनकी आत्मामें विद्यमान रहा तब तक उनका भाव विषयोंसे विरक्त नहीं हुआ। उन्होंने समस्त राज्य वैभव छोड़ कर दिगम्बर दीक्षा धारण की। इससे यही तो अर्थ निकला कि यह विषयका मार्ग श्रेयस्कर नहीं। यदि श्रेयस्कर होता तो तीर्थंकर आदि इसे क्यों छोड़ते। अतः अन्तरङ्गसे विषयेच्छाको दूर कर आत्महितका प्रयत्न करना चाहिये।

वज्रदन्त चक्रवर्ती सभामें विराजमान थे। मालीने एक सहस्रदल कमल उनकी सेवामें भेंट किया। सूँघनेके बाद जब उन्होंने कमलके अन्दर मृत भ्रमरको देखा तो उनके हृदयके नेत्र खुल गये। वे विचार करने लगे कि देखो नासा इन्द्रियके वशीभूत हो इस भ्रमरने अपने प्राण गँवाये हैं। यह विषयासक्ति ही जन्म-मरणका कारण है। ऐसा विचार कर उन्होंने दीक्षा लेनेका विचार कर लिया। चक्रवर्ती थे इसलिये राज्यका भार बड़े पुत्रको देने लगे। पुत्रके भी परिणाम देखो, उसने कहा पिताजी! यह राज्यवैभव अच्छा है या बुरा? यदि अच्छा है तो आप ही इसे क्यों छोड़ रहे हैं? यदि बुरा है तो फिर मैं तो आपका प्रीतिपात्र हूँ—स्नेह भाजन हूँ। यह बुरी चीज मुझे ही क्यों दे रहे हैं। किसी शत्रुको दीजिये। चक्रवर्ती निरुत्तर हो गये। दूसरे पुत्रको राज्य देना चाहा, उसने भी लेनेसे इनकार कर दिया। तब पुण्डरीक नामका छोटा सा बालक जो कि बड़े पुत्रका लड़का था उसका राज्याभिषेक कर वन को चले गये। उनके मनमें यह भी विकल्प न उठा कि षट्खण्डके राज्यको छोटा सा बालक

कैसे संभालेगा ? संभाले या न संभाले, इसका विकल्प ही उन्हें नहीं उठा। यही सच्चा वैराग्य कहलाता है। हम लोग तो 'ग्रालसी बानिया ग्रपशकुनकी वाट जोहै' वाली कहावत चरितार्थ कर रहे हैं। जरा जरासे कामके लिये बहाना खोजा करते हैं पर यह निश्चित समझो, ये बहाना एक भी काम न ग्रावेंगे। मनुष्य जीवनका भरोसा क्या है। ग्रभी ग्राराम से बैठे हो पर हार्ट फैल हो जाय तो पर्याय समाप्त होते देर न लगे, इसलिये समय रहते, सावधान हो जाना विवेकका कार्य है। 'सुरग-नरक पशुगतिमें नाहीं' यह संयम देव, नरक तथा पशुगतिमें प्राप्त नहीं होता। यद्यपि पशुगतिमें संयमासंयमरूप थोड़ा सा संयम प्रकट हो जाता है पर वह उत्कृष्ट संयमके समक्ष नगण्य ही है। यह संयम कर्मभूमिके मनुष्यके ही हो सकता हैं, ग्रतः मनुष्य पर्याय पाकर इसे ग्रवश्य धारण करना चाहिये। ग्रपनी शक्तिको लोग भूलकर दीन हीन हो रहे हैं। कहते हैं कि हमसे ग्रमुक काम नहीं बनता, ग्रमुक विषय नहीं छोड़ा जाता। यदि राजाज्ञा होने पर बलात् यह काम करना पड़े तो फिर शक्ति कहाँसे ग्रावेगी। ग्रात्मामें ग्रचिन्त्य शक्ति है। यह प्राणी उसे भूल, पर पदार्थका ग्रालम्बन ग्रहण करता फिरता है परन्तु यह निश्चित है कि जब तक यह परका ग्रालम्बन छोड़ ग्रपनी स्वतन्त्र शक्तिकी ग्रोर दृष्टिपात न करेगा तब तक इसका कल्याण नहीं होगा।

ग्राजका मनुष्य इच्छाग्रोंका कितना दास हो गया है ? न उसके रहन-सहनमें विवेक रह गया है, न खान-पानमें भक्ष्या भयका विचार शेष रहा है। स्त्री-पुरुषोंकी वेष-भूषा ऐसी हो गई है कि जिससे कुलीन ग्रौर ग्रकुलीन-का ग्रन्तर ही नहीं मालूम होता है। पुरुष स्वयं विषयोंका दास हो गया है जिससे वह स्त्रियोंको नाना प्रकारके उत्तेजक वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित देख प्रसन्नताका ग्रनुभव करता है। यदि पुरुषके ग्रन्दर थोड़ा विवेक रहे तो वही ग्रपने घरके वातावरणको संभाल सकता है। ग्राजके प्राणी जिह्वा इन्द्रियके इतने दास होगये हैं कि उन्हें भक्ष्य ग्रभक्ष्य-का कुछ भी विचार नहीं रह गया है। जिन चीजोंमें प्रत्यक्ष त्रसघात ग्रथवा बहुस्थावरघात होता है उन्हें खाते हुए वे सुखका ग्रनुभव करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि हमारे ग्रल्प स्वादके पीछे ग्रनन्त जीवोंकी जीवन लीला समाप्त हो रही है। ग्राज खाते समय लोग दिन-रातका विकल्प छोड़ बैठे हैं। उन्हें जब मिलता है तभी खाने लगते हैं। ग्राशाधरजीने कहा है कि उत्तम मनुष्य दिनमें एक बार, मध्यम मनुष्य दो बार ग्रौर ग्रधम मनुष्य पशुके समान चाहे जब भोजन करते हैं। जैसे पशुके सामने जब भी घासका पूला डाला जाता है वह तभी उसे खाने लगता है। वैसे ही ग्राजका मनुष्य जब भी भोजन सामने ग्राता है तभी खाने लगता है।

छठवें ग्रध्यायमें ग्रापने ग्रास्रवतत्त्वका वर्णन सुना है। मेरी दृष्टिमें यह ग्रध्याय ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण है। हम कर्मबन्धनसे बचना तो चाहते हैं, पर कर्म किन कारणोंसे बँधते है यह न जाने तो कैसे बच सकते हैं ? बुद्धिपूर्वक ग्रथवा ग्रबुद्धिपूर्वक ऐसे बहुतसे कार्य हम लोगोंसे होते रहते हैं जिनसे कर्मका बन्ध जारी रहता है। जो वैद्य रोगके निदानको ठीक ठीक समझ लेता है उसकी दवा तत्काल लाभ पहुँचा देती है पर जो निदानको समझे बिना उपचार करता है उसकी दवा महीनों सेवन करनेपर भी लाभ नहीं पहुँचाती।

'ग्राग्रो चोर चोरी कर ले गग्रो मोरी मूंदत मुगध फिरे'

सीधा साधा पद है। किसीके घर चोर ग्राया ग्रौर चोरी कर लेगया। पर उस मूर्खको यह पता नहीं चला कि चोर किस रास्तेसे ग्राया था ग्रतः वह मुहरी-पानी ग्राने जानेके मार्गको-चोरका मार्ग समझ कर मूंदता फिरता है। दूसरी रात फिर चोर ग्राते हैं। यही दशा संसारी प्राणीकी है कि जिन भावोंसे कर्मोंका ग्रास्रव होता है-कर्मरूपी चोर ग्रात्मामें घुसते हैं—उन भावोंका इसे पता नहीं रहता इसलिये ग्रन्य प्रयत्न कर्मोंका ग्रास्रव रोकनेके लिये करता है। पर कर्मोंका ग्रास्रव रुकता नहीं है। यही कारण है कि यह ग्रनन्तबार मुनिलिङ्ग धारण कर नवम ग्रैवेयक तक उत्पन्न हुग्रा, परन्तु संसार बन्धनसे मुक्त नहीं हो सका। जान पड़ता है कि उसे कर्मों के ग्रास्रवका बोध ही नहीं हुग्रा। ग्रात्माकी विकृत परिणतिसे होनेवाले ग्रास्रवको उसने केवल शरीराश्रित क्रियाकाण्डसे रोकना चाहा सो कैसे रुक सकता था ? ग्रागममें लिखा है कि ग्रज्ञानी जीव करोड़ों जन्मकी तपस्याके द्वारा भी जिस

कर्मको नहीं खिपा सकता। ज्ञानी जीव उसे क्षणमात्रमें खिपा देता है। तालेकी जो कुंजी है उसीसे तो वह खुलेगा। दूसरी कुंजीसे दूसरा ताला घंटों परिश्रम करनेपर भी नहीं खुल सकता, और कुंजीका ठीक ठीक बोध हो जानेपर जरासी देरमें खुल जाता है। यही बात यहाँपर है। जो कर्म जिस भावसे आता है उस भावके विरुद्ध भाव जब आत्मामें उत्पन्न हो तब उस कर्मका आना रुक सकता है। आपने सुना है 'सकषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः' अर्थात् योग सकषाय जीवोंके साम्परायिक तथा कषाय-रहित जीवोंके ईर्यापथ आस्रवका कारण है। जिस आस्रव-का प्रयोजन संसार है उसे साम्परायिक आस्रव कहते हैं और जिसमें स्थिति तथा अनुभाग बन्ध नहीं पड़ता उसे ईर्यापथ आस्रव कहते हैं। साम्परायिक आस्रव आत्माका अत्यन्त अहित करनेवाला है। यह कषाय सहित जीवके ही होता है। जिस प्रकार शरीरमें तेल लगाकर मिट्टीमें खेलनेवाले पुरुषके मिट्टीका सम्बन्ध सातिशय होता है और तेल रहित मनुष्यके नाममात्रका होता है उसी प्रकार कषाय सहित जीवका आस्रव सातिशय होता है—स्थिति और अनुभागसे सहित होता है— परन्तु कषाय रहित जीव-के नाममात्रका होता है, अर्थात् समर्थमात्र स्थित रहकर निर्जीर्ण हो जानेवाले कर्मप्रदेशोंका आस्रव उसके होता है। इस तरह आत्माकी सकषाय अवस्था ही आस्रव है—बन्धका कारण है, अतः उससे बचना चाहिये। जिस प्रकार फिटकरी आदिके संसर्गसे जो वस्त्र सकषाय हो गया है उसपर रंगका सम्बन्ध अच्छा होता है परन्तु जो वस्त्र फिटकरी आदिके संसर्गसे रहित होनेके कारण अकषाय है उसपर रङ्गका सम्बन्ध स्थायी नहीं होता उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

नामकर्मकी ९३ प्रकृतियोंमें तीर्थंकर प्रकृति सातिशय पुण्य—प्रकृति है, इसलिये उसके आस्रव आचार्यने अलगसे बतलाये हैं। दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंके चिन्तनसे उसका आस्रव होता है। इन सभीमें दर्शनविशुद्धि प्रमुख हैं। यदि यह नहीं है और बाकी सब हैं तब भी तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव नहीं हो सकता और यह है तथा बाकीकी नहीं हैं तब भी उसका आस्रव हो सकता है। दर्शनविशुद्धिका अर्थ है अपायविचय धर्मध्यानमें बैठकर करुणापूर्ण हृदयसे यह विचार करना कि ये संसारके प्राणी मोहके वशीभूत हो मार्गसे भ्रष्ट हो कितना दुःख उठा रहे हैं। इनका दुःख किस प्रकार दूर कर सकूं। इस लोक-कल्याणकी भावनाके समय जो शुभ राग होता है उसीसे तीर्थंकर प्रकृतिका आस्रव होता है। सम्यग्दर्शनकी विशु-द्धता तो मोक्षका कारण है। उसके द्वारा कर्मबन्ध किस प्रकार हो सकता है?

७ : उत्तम तप धर्म

'तपसा निर्जरा च' आचार्य उमास्वामीने लिखा है कि तपके द्वारा संवर तथा निर्जरा दोनों ही होते हैं। मोक्ष उपादेय तत्त्व है और संवर तथा निर्जरा उसके साधक तत्त्व हैं। इनके बिना मोक्ष होना संभव नहीं। तप चारित्रका ही विशेष रूप है। चारित्रमोहका अभाव होने पर मनुष्यकी विरक्तिरूप अवस्था होती है, और उस विरक्ति अवस्थामें जो कार्य होता है वह तप कहलाता है। विरक्ति रूप अवस्थामें इच्छाओंका निरोध सुतरां हो जाता है इसलिये 'इच्छानिरोधस्तपः, इच्छाको रोकना तप है यह तपका लक्षण प्रसिद्ध हो गया है। रागके उदयमें यह जीव बाह्य वैभवको पकड़े रहता है पर जब अन्तरङ्गसे राग छूट जाता है तब उस वैभवको छोड़ते इसे देर नहीं लगती। बड़े-बड़े पुरुष संसारसे विरक्त न हो सकें पर छोटे पुरुष विरक्त होकर आत्मकल्याण कर जाते हैं। प्रद्युम्नको वैराग्य आया-दीक्षा लेनेका भाव उसका हुआ अतः राज्यसभामें बलदेव तथा श्रीकृष्णसे आज्ञा लेने गया। वहाँ जाकर जब उसने अपना अभिप्राय प्रकट किया तब बलदेव तथा श्रीकृष्ण कहते हैं कि बेटा! अभी तेरी अवस्था ही क्या है? तूने संसारका सार जाना ही क्या है? जो दीक्षा लेना चाहता है। अभी हम तुझसे बड़े बूढ़े विद्यमान हैं। हम लोगोंके रहते तू यह क्या विचार कर रहा है? सुनकर प्रद्युम्नने उत्तर दिया कि आप लोग संसारके स्तम्भ हो, अतः राज्य करो। मेरी तो इच्छा दीक्षा धारण करनेकी है। इस संसारमें सार है ही क्या जिसे जाना जाय। इस प्रकार राज्यसभासे विदा लेकर अपने अतःपुरमें पहुँचा और स्त्रीसे कहता है—प्रिये! मेरा दीक्षा लेनेका भाव है। स्त्री

पहलेसे ही विरक्त बैठी थी। वह कहती है जब दीक्षा लेनेका भाव है तब 'प्रिये' ! सम्बोधनकी क्या आवश्यकता है ? क्या स्त्रीसे पूछ-कर दीक्षा ली जाती है। आप दीक्षा लें या न लें, मैं तो जाकर अभी लेती हूँ। यह कहकर वह प्रद्युम्नसे पहले निकल गई। दोनोंने दीक्षा धारण कर आत्मकल्याण किया और श्रीकृष्ण तथा बलदेव संसारके चक्रमें फँसे रहे। एक समय था कि जब लोग थोड़ा सा निमित्त पाकर संसारसे विरक्त हो जाते थे। सिरमें एक सफेद बाल देखा कि वैराग्य आ गया पर आज एक दो नहीं समस्त बाल सफेद हो जाते हैं पर वैराग्यका नाम नहीं आता उसका कारण यही है कि मोहका संस्कार बड़ा प्रबल है। जिस प्रकार चिकने घड़े पर पानीकी बूंद नहीं ठहरती उसी प्रकार मोही जीवोंपर वैराग्यवर्धक उपदेशोंका प्रभाव नही ठहरता। थोड़ा बहुत वैराग्य जब कभी आता भी है तो श्मशान वैराग्यके समान थोड़ी ही देरमें साफ हो जाता है।

बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारके हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। इन्हें बाह्य पुरुष भी कर सकते हैं तथा इनका प्रवृत्त्यंश बाह्यमें दृष्टिगोचर होता है इसलिये इन्हें बाह्य तप कहते हैं। और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह आभ्यन्तर तप हैं। इनका सीधा सम्बन्ध आभ्यन्तर—अन्तरात्मासे है तथा इन्हें बाह्य पुरुष नही कर सकते इसलिये ये अभ्यन्तर तप कहलाते हैं। इन सभी तपोंमें इच्छाका न्यूनाधिक रूपसे नियन्त्रण किया जाता है। इसीलिये इनसे नवीन कर्मोंका बन्ध रुकता है और पूर्वके बँधे कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। 'कर्मशैलको बज्रसमाना' यह तप कर्मरूपी पर्वतको गिराने के लिये बज्रके समान है। जिस प्रकार बज्रपातसे पर्वतके शिखर चूर-चूर हो जाते हैं उसी प्रकार तपश्चरणसे कर्म चूर चूर हो जाते हैं। जिन कर्मोंके फल देनेका समय नहीं आया ऐसे कर्म भी तपके प्रभावसे असमयमें ही गिर जाते हैं। अविपाक निर्जराका मूल कारण तप ही है। तपके द्वारा किसी सांसारिक फलकी आकांक्षा नही करना चाहिये। जैनसिद्धान्त सम्मत तप तथा अन्य लोगोंके तपमें अन्तर बताते हुए श्री समन्तभद्र स्वामीने लिखा है—

> अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया
> तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।
> भवान् पुनर्जन्म-जराजिहासया
> त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरनारुणत् ॥

हे भगवन् ! कितने ही लोग संतान प्राप्त करने के लिये, कितने ही धन प्राप्त करने के लिये तथा कितने ही मरणोत्तर कालमें प्राप्त होनेवाले स्वर्गादिकी तृष्णासे तपश्चरण करते हैं परन्तु आप जन्म और जराकी बाधाका परित्याग करनेकी इच्छासे इष्टानिष्ट पदार्थोंमें मध्यस्थ हो मन वचन कायकी प्रवृत्तिको रोकते हैं। अन्यत्र तपका प्रयोजन संसार है तो यहाँ तपका प्रयोजन मोक्ष है। परमार्थ से तप मोक्षका ही साधन है। उसमें यदि कोई न्यूनता रह जाती है तो सांसारिक सुखका भी कारण हो जाता है। जैसे खेती का उद्देश्य अनाज प्राप्त करना है। यदि पाला आदि पड़ने से अनाज प्राप्त करने में कुछ कमी हो जाय दो पलाल कौन ले गया, वह तो प्राप्त होगा ही। इसी प्रकार तपश्चरणसे मोक्ष मिलता है। यदि कदाचित् उसकी प्राप्ति न हो सकी तो स्वर्गका वैभव कौन छीन लेगा ? वह तो प्राप्त होगा ही।

पद्मपुराणमें विशल्याकी महिमा आपने सुनी होगी। उसके पास आते ही लक्ष्मणके वक्षःस्थलसे देवोपुनीत शक्ति निकलकर दूर हो गई। इसमें विशल्याका पूर्व जन्ममें किया हुआ तपश्चरण ही कारण था। निर्जन वनमें उसने तीन हजार वर्ष तक कठिन तपश्चरण किया था। तपश्चर्याके प्रभावसे मुनियों के शरीरमें नाना प्रकारकी ऋद्धियां उत्पन्न होती हैं पर वे उनकी ओरसे निर्भान ही रहते हैं। विष्णुकुमार मुनिको विक्रिया ऋद्धि उत्पन्न थी पर उन्हें इसका पता ही नहीं था। क्षुल्लकके कहनेसे उनका उस ओर ध्यान गया। सनत्कुमार चक्रवर्ती तपश्चरण करते थे। दुष्कर्मके उदयसे उनके शरीरमें नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो गये फिर भी उस ओर उनका ध्यान नहीं गया। एक बार इन्द्र की सभामें इसकी चर्चा हुई तो एक देव इनकी परीक्षा करने के लिये आया। जहां वे तप करते थे वहाँ वह देव एक वैद्यका रूप धरकर

चक्कर लगाने लगा तथा उनके शरीर पर जो रोग दिख रहे थे उन सबकी औषधि अपने पास होनेकी टेर लगाने लगा। एक दो दिन हो गये। मुनि विचार करते हैं कि यदि यह वैद्य है तो नगरमें क्यों नहीं जाता? यहाँ क्या झाड़-झंखाड़ोंकी औषधि करने आया है? उन्होंने उसे बुलाया और पूछा कि तुम्हारे पास क्या क्या औषधियाँ हैं? उसने जो रोग उनके शरीर पर दिख रहे थे उन सबकी औषधियाँ बता दीं। मुनिराजने कहा कि भाई! ये रोग तो मुझे हैं नहीं। ये सब शरीरमें अवश्य हैं पर उसके साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? मैं तो आत्मद्रव्य हूँ जो कि इससे सर्वथा भिन्न है। उसे इन रोगोंमेंसे एक भी रोग नहीं है। हाँ, उसे जन्म-मरणका रोग है। यदि तुम्हारे झोलामें उसकी औषधि हो तो देदो। वैद्य असली रूपमें प्रकट हो चरणों में गिर कर कहता है कि भगवन्! इस रोगकी औषधि तो आपके ही पास है। हम देव लोग तो इसकी औषधि जो तप है उससे वञ्चित ही रहते हैं। चाहते हैं कि तप करें पर हमारा यह वैक्रियिक शरीर उसमें बाधक है। कहनेका तात्पर्य यह है कि किसी तरह गृहस्थीके जालसे छुटकारा मिला है तो दूसरे जालमें नहीं फँसना चाहिये और निर्द्वन्द होकर आत्माका कल्याण करना चाहिये।

अन्तरङ्ग तपोंमें स्वाध्यायको भी तप बताया है। स्वाध्यायसे आत्मा और अनात्माका बोध होता है इसलिये प्रमाद छोड़कर स्वाध्यायमें प्रवृत्ति करना चाहिये। आचार्योंकी बुद्धि तो देखो, उन्होंने शास्त्र पढ़नेके लिये 'स्वाध्याय' यह कितना सुन्दर शब्द चुना है। अरे शास्त्र पढ़ते हो तो उसके लिये 'शास्त्राध्याय' शब्द चुनते पर उन्होंने स्वाध्याय शब्द चुना है। इसका तात्पर्य यह है कि शास्त्र पढ़कर स्व को पढ़ो, अपने आपको पहचानो। यदि ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वको पढ़नेके बाद भी स्व को नहीं पढ़ सके तो उस भारभूत ज्ञानसे कौनसा लाभ होनेवाला है? इतना ज्ञान तो इस जीवने अनन्तबार प्राप्त किया परन्तु संसार सागरसे पार नहीं हो सका। जैन सिद्धान्तमें अनेक शास्त्रोंको जाननेकी प्रतिष्ठा नहीं है किंतु सम्यग्ज्ञानकी प्रतिष्ठा है। यहाँ तो मात्र तुषमाषको भिन्नभिन्न जाननेवाले मुनिको केवल ज्ञानकी प्राप्ति बताकर मोक्ष पहुँचनेकी बात लिखी है। अतः ज्ञान थोड़ा भी हो तो हानि नहीं परन्तु मिथ्या न हो इस बातका ध्यान रक्खो।

सप्तम अध्याय में आप ने शुभास्रव का वर्णन सुनते समय अहिंसादि पाँच व्रतों का वर्णन सुना है। उसमें उन्होंने व्रतों की स्थिरता के लिए पाँच पाँच भावनाओं का वर्णन किया है, उस पर ध्यान दीजिये। जिन कामों से व्रत में बाधा होती दिखी उन्हीं उन्हीं कामों पर आचार्यने पहरा बैठा दिया है। जैसे मनुष्य हिंसा करता है तो किन किन कार्यों से करता है? १ वचनसे कुछ बोलकर, २ मनसे कुछ विचार, ३ शरीरसे चलकर, ४ किन्हीं वस्तुओंको रख तथा उठाकर और ५ भोजन ग्रहणकर। इन पाँच कार्योंसे ही करता है। आचार्यने इन पाँचों कार्योंपर पहरा बैठाते हुए लिखा है—

'वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च' अर्थात् वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकितपानभोजन इन पांच कार्योंसे अहिंसा व्रतकी रक्षा होती है। इसी प्रकार सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत और परिग्रहत्यागव्रतकी बात समझना चाहिये।

उन्होंने एक बात और लिखी है 'निःशल्यो व्रती' अर्थात् व्रतीको निःशल्य होना चाहिये। माया, मिथ्यात्व और निदान ये तीन शल्य हैं। ये कांटेकी तरह सदा चुभती रहती हैं इसलिये व्रतीको इनसे दूर रहना चाहिये। मायाका अर्थ है भीतर कुछ और बाहर कुछ। व्रतीको ऐसा कभी नहीं होना चाहिये। कितने ही व्रती अन्तरङ्गमें कुछ हैं और लोक व्यवहारमें कुछ और ही प्रवृत्ति करते हैं। जिसकी ऐसी प्रपञ्चसे भरी वृत्ति है वह व्रती कैसे हो सकता है? हृदय यदि दुर्बल है तो कठिन व्रत कभी धारण नहीं करो तथा हृदय की दुर्बलता छिपाकर बाह्य प्रवृत्तिके द्वारा उन्नत बननेकी भावना निन्द्य भावना है। इससे व्रतीको सदा यह भय बना रहता है कि कहीं मेरी हृदयकी दुर्बलता कोई जान न जावे। इसी तरह जिस व्रतको धारण किया है उसमें पूर्ण श्रद्धा होना चाहिये। उसके बिना मिथ्यात्व अवस्था रहेगी तथा श्रद्धाकी दृढ़ता

न होने से आचार भी निर्मल नहीं रह सकेगा। इसलिये जितना आचरण किया जाय उनका विवेक और श्रद्धाके साथ किया। जाय यदि व्रती के विवेक नही होगा तो वह उत्सूत्र प्रवृत्ति करेगा और अपनी उस प्रवृत्तिसे जनतापर आतंक जमाने की चेष्टा करेगा। यदि भाग्यवश जनता विवेकवती हुई और उसने उसकी उत्सूत्र प्रवृत्तिकी आलोचना शुरू कर दी तो इससे हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हो जायगा जो निरन्तर अशान्तिका कारण होगा। इसके सिवाय व्रतीको व्रत धारण कर उसके फलस्वरूप किसी भोगोपभोगकी आकांक्षा नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेके कारण उसकी आत्मामें निर्मलता नही आ सकेगी। जहाँ स्वार्थकी गन्ध है वहाँ निर्मलता कैसी ? व्रतीको तो केवल यह भावना रखना चाहिये कि पापका परित्याग करना हमारा कर्तव्य है जिसे मैं कर रहा हूँ। इससे क्या फलकी प्राप्ति होगी ? इस प्रपञ्चमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं। एक बार सही मार्गपर चलना शुरू कर दिया तो लक्ष्य स्थानकी प्राप्ति अवश्य होगी उसमें सन्देहकी बात नहीं है।

८ : उत्तम त्याग धर्म

त्याग का अर्थ छोड़ना है, पर जब ग्रहण हो तभी न छोड़ना बने। संसार के समस्त पदार्थ अपना-अपना चतुष्टय लिये स्वतन्त्र विद्यमान हैं। किसी को ग्रहण करने की किसी में सामर्थ्य नही। हमारा कमण्डलु वहाँ रक्खा और मैं यहाँ बैठा, मैंने कमण्डलु को क्या ग्रहण कर लिया ? आपकी सम्पत्ति आपके घर है। आप यहाँ बैठे हैं। आपने सम्पत्ति को क्या ग्रहण कर लिया ? जब ग्रहण ही नहीं किया तब त्यागना कैसा ? बाह्य में तो ऐसा ही है परन्तु मोह के कारण यह जीव उन पदार्थों में 'ये मेरे हैं' 'मैं इनका स्वामी हूँ', इस प्रकार का मूर्च्छाभाव लिये बैठा है। वही मूर्च्छाभाव छोड़ने का नाम त्याग है। जिसका यह मूर्च्छाभाव छूट गया उसकी आत्मा निःशल्य हो गई। यह मनुष्य पर-पदार्थ को अपना मान उसके इष्ट अनिष्ट परिणमन से व्यर्थ ही हर्ष-विषाद का अनुभव करता है। यदि पर में परत्व और निज में निजत्व बुद्धि हो जावे तो त्याग का आनन्द उपलब्ध हो जावे। इस तरह निश्चय से ममता भाव को छोड़ना त्याग कहलाता है। बहिरङ्ग में आहार औषधि, ज्ञान तथा अभय से त्याग के चार भेद हैं। जब यहाँ भोगभूमि थी तब सब की एक सी दशा थी, कल्पवृक्षों से सबकी इच्छाएँ पूर्ण होती थीं इसलिये किसी से किसी को कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। मुनिमार्ग का भी अभाव था इसलिये आहारादि देना अनावश्यक था परन्तु जब से कर्मभूमि प्रचलित हुई और विषमता को लिए हुये मनुष्य यहाँ उत्पन्न होने लगे तबसे पारस्परिक सहयोगकी आवश्यकता हुई। मुनिमार्गका भी प्रचलन हुआ इसलिये आहारादि देना आवश्यक हो गया। फलस्वरूप उसी समय से त्याग धर्म का आविर्भाव हुआ। दाता को हृदय से जब तक लोभ कषाय की निवृत्ति नहीं तब वह किसी के लिये एक कपर्दिका भी देने के लिये तैयार नहीं होता, पर जब अन्तरङ्ग से लोभ निकल जाता है तब छह-खण्ड का वैभव भी दूसरे के लिये सौंपने मे देर नहीं लगती। मुनि ने श्रावक से आहार लिया, श्रावक ने भक्तिपूर्वक दिया, इसमें दोनों का कल्याण हुआ। दाता का तो इसलिये हुआ कि उसकी आत्मा से लोभकषाय की निवृत्ति हुई और मुनि का इसलिये हुआ कि आहार पाकर उसके औदारिक शरीर में स्थिरता आई जिससे वह रत्नत्रय की वृद्धि करने में समर्थ हुआ। मुनि अपने उपदेश से अनेक जीवों को सुमार्ग पर लगावेंगे इस दृष्टि से अनेक जीवों का कल्याण हुआ। इस तरह विचार करने पर त्यागधर्म अत्यधिक स्वपर कल्याणकारी जान पड़ता है। मुनि अपने पद के अनुकूल निश्चय त्यागधर्म का पालन करते हैं और गृहस्थ बाह्य त्याग धर्मका पालन करते हैं। इतना निश्चित है कि संसार का समस्त व्यवहार त्याग से ही चल रहा है। अन्यथा जिसके पास जो है वह किसी के लिए कुछ न दे तो क्या संसार का व्यवहार चल जावेगा ?

एक बार एक साधु नदी के किनारे पहुँचा। दूसरी पार जाने के लिए नाव लगती थी। नाव का किराया दो पैसा था। साधु के पास पैसा का अभाव था इसलिए वह नदी के इस पार ही ठहरने का उद्यम करने लगा। इतने में एक सेठ आया, बोला— बाबाजी ! रात्रि को यहाँ कहाँ ठहरेंगे। साधु ने कहा बेटा ! नाव में बैठने के लिये

दो पैसा चाहिये। मेरे पास हैं नहीं अतः यहीं रात्रि बिताने का विचार किया है। सेठ ने कहा पैसों की कोई बात नही, आप नाव पर बैठिये। सेठ और साधु—दोनों नाव पर बैठ गये। सेठ ने चार पैसे नाव वाले को दिये। जब नाव से उतरकर दूसरी ओर दोनों पहुँच गये तब सेठ ने साधु से कहा बाबाजी आप बहुत त्याग का उपदेश देते हो। यदि आपके समान मैंने भी पैसे त्याग दिये होते तो आज क्या दशा होती ? अतः त्याग की बात छोड़ो। साधु ने हँसकर कहा—बेटा ! यदि नदी पार हुई है तो चार पैसों के त्याग से ही हुई है। यदि तू ये पैसे अपनी अंटी में रखे रहता तो यह नाववाला तुझे कभी भी नदी से पार नही उतारता। सेठ चुप रह गया।

कहने का तात्पर्य यही है कि त्याग से ही संसार के सब काम चलते हैं।

> पानी बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
> दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम ।।

यदि नाव में पानी बढ़ रहा है तो दोनों हाथों से उलचकर उसे बाहिर करना ही बुद्धिमता है। इसी प्रकार यदि घर मे सम्पत्ति बढ़ रही है तो उसे दान के द्वारा उत्तम कार्य में खर्च करना ही उसकी रक्षा का उपाय है। दान सम्मान के साथ देना चाहिये और उसके बदले किसी प्रकार का अभिमान हृदय में उत्पन्न नही होना चाहिये, अन्यथा पैसा का पैसा जाता है और उससे आत्मा को लाभ भी कुछ नहीं होता। दान में लोभ कषाय से निवृत्ति होने के कारण दाता की आत्मा को लाभ होता है। यदि लोभ के बदले उसके दादा-मानका उदय आत्मा में हो गया तो इससे क्या लाभ कहलाया। उत्तम पात्र के लिये दिया हुआ दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। धन्यकुमार की कथा आप लोग जानते हैं। घर से निकलने पर उसे जो स्थान-स्थान पर अनायास ही लाभ हुआ था वह उसके पूर्व पर्याय में दिये दान का ही फल था। समन्तभद्र स्वामी ने लिखा है —

> क्षितिगतमिव बटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
> फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम् ।।

अर्थात् जिस प्रकार योग्य भूमि में पड़ा हुआ बट का छोटा बीज कालान्तर में बड़ा वृक्ष बनकर छाया के विभव को प्रदान करता है उसी प्रकार योग्य पात्र के लिये दिया हुआ छोटा सा दान भी समय पाकर अपरिमित वैभव को प्रदान करता है।

> जब बसन्त याचक भये दीने तरु मिल पात।
> तातें नव पल्लव भये 'दिया व्यर्थ नहिं जात' ।।

एक कवि के सामने पूर्ति के लिये समस्या रखी गई 'दिया व्यर्थ नहिं जात' जिसकी उसने उक्त प्रकार पूर्ति की। कितना सुन्दर भाव इसके अन्दर भर दिया है। वसन्त ऋतु में प्रथम पतझड़ आती है जिससे समस्त वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ जाते हैं और उसके बाद उन वृक्षों में नये लहलहाते पल्लव उत्पन्न होते हैं। कवि ने यही भाव इसमें अंकित किया है कि जब वसन्त ऋतु याचक हुआ अर्थात् उसने वृक्षों से पत्तों की याचना की तब सब वृक्षों ने उसे अपने-अपने पत्ते दे दिये। उसी के फलस्वरूप उन्हें नये-नये पल्लवों की प्राप्ति होती है क्योंकि दिया दान कभी व्यर्थ नहीं जाता है। मान बड़ाई के लिए जो दान दिया जाता है वह व्यर्थ जाता है। इसके लिए महाभारत में एक उपकथा आती है।

युद्ध में विजयोपरान्त युधिष्ठर महाराज ने एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें हजारों ब्राह्मणों को भोजन कराया गया। जिस स्थान पर ब्राह्मणों को भोजन कराया गया उस स्थान पर युधिष्ठिर महाराज खड़े हुए कुछ लोगों से वार्ता कर रहे थे। वहाँ एक नेवला जूठनमें बार-बार लोट रहा था। महाराज ने नेवला से कहा—यह क्या कर रहा है ? तब नेवला ने कहा महाराज ! एक गाँव में एक वृद्ध ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री थी, एक लड़का था और लड़के की स्त्री थी। इस तरह चार आदमियों की उसकी गृहस्थी थी। बेचारे बहुत गरीब थे। खेतों पर से शिला बीनकर लाते और उससे अपनी गुजर करते थे। एक बार तीन दिन के अन्तर से उन्हें भोजन प्राप्त हुआ। शिला बीनकर जो अनाज उन्हें मिला उससे वे आठ रोटियाँ बनाकर तथा दो-दो रोटियाँ अपने हिस्से की लेकर खाने बैठे। बैठे ही थे कि इतने में एक गरीब आदमी चिल्लाता हुआ आया कि सात दिन से भूख

में अनाज का दाना भी नहीं गया, भूख के मारे प्राण निकले जा रहे हैं। उसकी दीन वाणी सुन ब्राह्मण को दया आ गई जिससे उसने यह विचार कर कि अभी मुझे तो दो तीन ही दिन हुए हैं, पर इस बेचारेको सात दिन हो गये हैं, अपनी रोटियाँ उसे दे दीं। वह आदमी तृप्त नहीं हुआ। तब ब्राह्मण अपनी स्त्रीकी ओर देखने लगा। ब्राह्मणीने कहा कि आप भूखे रहें और मैं भोजन करूँ यह कैसे हो सकता है ? यह कह उसने भी अपनी रोटियाँ उसे दे दीं। वह फिर भी तृप्त नहीं हुआ। तब दोनों लड़कों-की ओर देखने लगे। लड़केने कहा कि हमारे वृद्ध माता पिता भूखे रहें और मैं भोजन करूँ यह कैसे हो सकता है ? यह कह उसने भी अपनी रोटियाँ उसे खिला दीं। वह फिर भी तृप्त नहीं हुआ तब वे तीनों, लड़केकी स्त्रीकी ओर देखने लगे। उसने भी कहा कि यद्यपि मैं आपके घर उत्पन्न नहीं हुई हूँ तथापि आप लोगोंके सहवाससे मुझमें भी कुछ-कुछ उदारता और दयालुता आई है। यह कहकर उसने भी अपनी रोटियाँ उसे खिला दीं। वह भूखा आदमी तृप्त होकर आशीर्वाद देता हुआ चला गया। चारोंके चारों भूखे रह गये। महाराज ! जिस स्थान पर उस गरीबने बैठकर भोजन किया था, मैं वहांसे निकला तो मेरा नीचेका भाग स्वर्णमय हो गया। अब आधा स्वर्णमय और आधा चर्ममय होनेसे मुझे अपना रूप अच्छा नहीं लगता। इसी बीच मैंने सुना कि महा-राजके यहाँ यज्ञमें हजारों ब्राह्मणोंका भोजन हुआ है। वहां जाकर लेटूँगा तो पूरा स्वर्णमय हो जाऊँगा। यही विचारकर मैं यहाँ आया और बड़ी देरसे जूँठनमें लोट रहा हूँ, परन्तु मेरा शेष शरीर स्वर्णमय नहीं हो रहा है। महाराज ! जान पड़ता है आपने यह ब्राह्मणभोजन करुणाबुद्धिसे नहीं कराया। केवल मान बड़ाईके लिये लोक-व्यवहार देख कराया है। ..कथा तो कथा ही है पर इससे सार यही निकलता है कि मान बढ़ाईके उद्देश्यसे दिया दान निष्फल जाता है। दान देते समय पात्रकी योग्यता और आवश्यकता पर भी दृष्टि डालना चाहिये। एक स्थान पर कहा है—

> दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्।
> व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधम् ॥

अर्थात् हे युधिष्ठिर ! दरिद्रोंका भरण पोषण करो, सम्पन्न व्यक्तियोंको धन नहीं दो। रुग्ण मनुष्यके लिए औषधि हितकारी है, नीरोग मनुष्यको उससे क्या प्रयोजन ?

प्रसन्नताकी बात है कि जैन समाजमें दान देनेका प्रचार अन्य समाजोंकी अपेक्षा अधिक है। प्रतिवर्ष लाखों रुपयोंका दान समाजमें होता है और उससे समाजके उत्कर्षके अनेक कार्य हो रहे हैं। पिछले पचास वर्षोंसे आपकी समाजमें जो प्रगति हुई है वह आपके दानका ही फल है।

अष्टम अध्यायमें आपने बन्धतत्त्वका वर्णन सुना है। बन्धका प्रमुख कारण मोहजन्य विकार है। 'मिथ्यादर्श-नाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः' इस सूत्रमें जो बन्धके कारण बतलाये हैं उनमें योगको छोड़कर शेष सब मोह-जन्य विकार ही तो हैं। अन्य कर्मोंके उदयसे जो भाव आत्मामें उत्पन्न होते हैं उनसे नवीन कर्म बन्ध नहीं होता। परन्तु मोह कर्मके उदयसे जो भाव होता है वह नवीन कर्मबन्धका कारण है। कुन्दकुन्द स्वामीने भी समयसारमें कहा है—

> रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
> एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥

अर्थात् रागी प्राणी कर्मोंको बाँधता है और राग रहित प्राणी कर्मोंको छोड़ता है। बन्धके विषयमें जिनेन्द्र भग-वान् का यही उपदेश है, अतः कर्मोंमें राग नहीं करो। इस रागसे बचनेका प्रयत्न करो। 'यह राग आग दहै सदा तातैं समामृत सेइये' यह राग रूपी आग सदा जलाती रहती है इसलिये इससे बचनेके लिए सदा समताभावरूपी अमृतका सेवन करना चाहिये। यह संसारचक्र अनादि कालसे चला आ रहा है और सामान्यकी अपेक्षा अनन्त काल तक चलता रहेगा। पञ्चास्तिकायमें श्री कुन्दकुन्द-देवने लिखा है—

> गदिमधिगदस्स देहो देहादिंदियाणि जायंते।
> जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तोदुहोदि परिणामो ॥
> परिणामादो कम्मं कम्मादो गदिसु होदि गदी।
> गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते ॥

तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणोवा ।

जो संसारमें रहनेवाले जीव हैं उनके स्निग्ध परिणाम होता है, परिणामोंसे कर्मका बन्ध होता है, कर्मसे जीव एक गतिसे अन्य गतिमें जाता है, जहाँ जाता है वहाँ देहग्रहण करता है, देहसे इन्द्रियोंका उत्पादन होता है, इन्द्रियोंके द्वारा विषय ग्रहण करता है, विषय ग्रहणसे रागादि परिणामोंकी उत्पत्ति होती है, फिर रागादिकसे कर्म, और कर्मसे गत्यन्तरगमन, फिर गत्यन्तरगमन से देह, देहसे इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण, विषयों से स्निग्ध परिणाम, स्निग्धपरिणामोंसे कर्म और कर्मसे वही प्रक्रिया। इस तरह यह संसार चक्र बराबर चला जाता है। यदि इसकोमिटाना है तो उक्त प्रक्रियाका अन्त करना पड़ेगा। इस प्रक्रियाका मूल कारण स्निग्ध परिणाम है। उसका अन्त करनाही इस भवचक्रके विध्वंसका मूल हेतु है। इसको दूर करनेके उपाय बड़े बड़े महात्माओंने बतलाए हैं। आज संसारमें धर्मके जितने आयतन दृष्टिपथ पर हैं वे इसी चक्रसे बचनेके साधन हैं, किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डालो तो ये सर्व उपाय पराश्रित है। केवल स्वाश्रित उपाय ही स्व द्वारा अर्जित संसारके विध्वंसका कारण हो सकता है। जैसे शरीरमें यदि अन्न खाकर अजीर्ण हो गया है तो उसके दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय यही है कि उदरसे पर द्रव्यका सम्बन्ध पृथक् कर दिया जावे। उसकी प्रक्रिया यह है कि प्रथम तो नवीन भोजन त्यागो, तथा उदरमें जो विकार है वह या तो काल पाकर स्वयमेव निर्गत हो जावेगा या शीघ्र ही पृथक् करना है तो वमन-विरेचन द्वारा निकाल दिया जावे। ऐसा करनेसे निरोगताका लाभ अनायास हो सकता है। मोक्षमार्गमें भी यही प्रक्रिया है। बल्कि जितने कार्य हैं उन सर्वकी यही पद्धति है। यदि हमें संसार बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो सबसे प्रथम हम कौन हैं? क्या हमारा स्वरूप है? वर्तमान क्या है? तथा संसार क्यों अनिष्ट है? इन सब बातों का निर्णय करना आवश्यक है। जब तक उक्त बातोंका निर्णय न हो जावे तब तक उसके अभावका प्रयत्न हो ही नहीं सकता। आत्मा अहम्प्रत्ययवेद्य है। उसकी जो अवस्था हमें संसारी बना रही है उससे मुक्त होनेकी हमारी इच्छा है तब केवल इच्छा करनेसे मुक्तिके पात्र हम नहीं हो सकते। जैसे जल, अग्नि के निमित्तसे उष्ण होगया है। अब हम माला लेकर जपने लगें कि 'शीत-स्पर्शवज्जलाय नमः' तो क्या इससे अनल्प कालमें भी जल शीत हो जायगा? नहीं, वह तो उष्ण स्पर्शके दूर करनेसे ही शीत होगा। इसी तरह हमारी आत्मामें जो रागादि विभाव परिणाम हैं उनके दूर करनेके अर्थ 'श्री वीतरागाय नमः' यह जाप असंख्य कल्प भी जपा जावे तो भी आत्मामें वीतरागता न आवेगी, किन्तु रागादि निवृत्तिसे अनायास वीतरागता आ जावेगी। वीतरागता नवीन पदार्थ नहीं, आत्माकी निर्मोह अवस्था ही वीतरागता है। जो कि शक्तिकी अपेक्षा सदा विद्यमान रहती है। जिसके उदयसे परमें निजत्व बुद्धि होती है वही मोह है। परको निज मानना यह अज्ञान भाव है अर्थात् मिथ्याज्ञान है। इसका मूल कारण मोहका उदय है। ज्ञानवरणके क्षयोपशमसे ज्ञान तो होता है परन्तु विपर्यय होता है। जैसे शुक्तिकामें रजतका विभ्रम होता है। यद्यपि शुक्ति रजत नही हो गई तथापि दूरत्व एवं चाकचक्यादि कारणोंसेभ्रान्ति हो जाती है। यहा भ्रान्तिका कारण दूरत्वादि दोष है। जैसे कामला रोगी जब शङ्ख देखता है तब 'पीतः शङ्खः' ऐसी प्रतीति करता है। यद्यपि शङ्खमें पीतता नही, यह तो नेत्रमें कामला रोग होने से शङ्खमें पीतत्व भासमान है। यह पीतता कहासे आई! तब यही कहना पड़ेगा कि नेत्रमें जो कामला रोग है वही इस पीतत्व का कारण है। इसी प्रकार आत्मामें जो रागादि होते हैं उनका मूल कारण मोहनीय कर्म है। उसके दो भेद हैं—१ दर्शनमोह और २ चारित्रमोह। उनमें दर्शनमोह के उदय से मिथ्यात्व और चारित्रमोह के उदय से राग द्वेष होते हैं। उपयोग आत्माका ऐसा है कि उसके सामने जो आता है उसीका उसमें प्रतिभास होने लगता है। जैसे नेत्र के समक्ष जो पदार्थ आता है वह उसका ज्ञान करा देता है। यहां तक तो कोई आपत्ति नही, परन्तु जो पदार्थ ज्ञान में आवे उसे आत्मीय मान लेना आपत्ति जनक है। क्योंकि वह मिथ्या अभिप्राय है। जो पर वस्तुको निज मानता

है, संसार में लोग उसे ठग कहते हैं, परन्तु यह चोट्टापन छूटना सहज नहीं। अच्छे अच्छे जीव पर को निज मानते हैं और उन पदार्थों की रक्षा भी करते हैं किन्तु अभिप्राय में यह है कि ये हमारे नहीं। इसीलिये उन्हें सम्यग्ज्ञानी कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें निज मान अनन्त संसार के पात्र होते हैं। अतः सिद्ध होता है कि यह मोह परिणति ही बन्ध का कारण है। इससे छुटकारा चाहते हो तो प्रथम मोह परिणतिको दूर कर आत्मस्वरूपमें स्थित होनेका प्रयास करो। इसीसे आत्मशान्ति प्राप्त होगो। परमार्थ से आत्मशान्तिका उपाय यही है कि परसे सम्बन्ध छोड़ा जाय और आत्मपरिणतिका विचार किया जाय। विचारका मूल कारण सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति आप्तश्रुतिसे होती है, आप्तश्रुति आप्ताधीन है, आप्त रागादि दोष रहित है अतः रागादि दोषोंको जानो, उनकी पारमार्थिक दशासे परिचय करो। रागादि दोषोंका त्याग ही संसार बन्धनसे मुक्तिका उपाय है। रागादिकोंका यथार्थ स्वरूप जान लेना ही उनसे विरक्त होनेका मूल उपाय है।

९ : उत्तम आकिंचन धर्म

त्याग करते करते अन्तमें आपके पास क्या बचेगा ? कुछ नहीं। जिसके पास कुछ नहीं बचा वह अकिञ्चन कहलाता है और अकिञ्चनका जो भाव है वही आकिञ्चन्य कहलाता है। परिग्रहका त्याग हो जानेपर ही पूर्ण आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है। सुख आत्माका गुण है। भले ही वह वर्तमानमें विपरीतरूप परिणमन कर रहा हो पर यह निश्चित है कि जब भी वह प्रकट होगा तब आत्मामें ही प्रकट होगा। यह ध्रुव सत्य है, परन्तु मोहके कारण यह जीव परिग्रहको सुखका कारण जान उसके संचयमें रात दिन एक कर रहा है। 'परितो गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः' जो आत्माको सब ओरसे पकड़ कर जकड़ कर रक्खे वह परिग्रह है। परमार्थसे विचार किया जाय तो यह परिग्रह ही इस जीवको समन्तात्— सब ओरसे जकड़े हुए है। 'मूर्च्छा परिग्रहः'। आचार्य उमास्वामी महाराजने परिग्रहका लक्षण मूर्च्छा रक्खा है। मैं इसका स्वामी हूँ, ये मेरे स्व हैं इस प्रकारका भाव ही मूर्च्छा है। इस मूर्च्छाके रहते हुए पासमें कुछ भी न हो तब भी यह जीव परिग्रही कहलाता है और मूर्च्छाके अभावमें समवसेरणरूप विभूतिके रहते हुए भी अपरिग्रह— परिग्रह रहित—कहलाता है। परिग्रह सबसे बड़ा पाप है जो दशम गुणस्थान तक इस जीवका पिन्ड नहीं छोड़ता। आज परिग्रहके कारण संसारमें त्राहि त्राहि मच रही है। जहाँ देखो वहीं परिग्रहकी पुकार है। जिनके पास है वे उसे अपने पाससे अन्यत्र नहीं जाने देना चाहते और जिनके पास नहीं है वे उसे प्राप्त करना चाहते हैं। इसीलिये संसारमें संघर्ष मचा हुआ है। यदि लोगोंकी दृष्टिमें इतनी बात आ जाय कि परिग्रह निर्वाहका साधन है। जिस प्रकार हमें भोजन, वस्त्र और निवासके लिए परिग्रह की आवश्यकता है उसी प्रकार दूसरेके लिए भी इसकी आवश्यकता है, अतः हमें आवश्यकतासे अधिक अपने पास नही रोकना चाहिये, तो संसारका कल्याण हो जाय। यदि परिग्रहका कुछ भाग एक जगह अनावश्यक रुक जाता है तो दूसरी जगह उसके बिना कमी होनेसे संकट उत्पन्न हो जाता है। शरीर के अन्दर जबतक रक्तका संचार होता रहता है तबतक शरीरके प्रत्येक अंग अपने कार्यमें दक्ष रहते हैं पर जहाँ कहीं रक्तका संचार रुक जाता है, वहाँ वह अङ्ग बेकार होजाता है और जहाँ रक्त रुक जाता है वहाँ मवाद पैदा हो जाता है। यही हाल परिग्रहका है। जहाँ यह नहीं पहुँचेगा वहाँ उसके बिना संकटापन्न स्थिति हो जायगी और जहाँ रुक जायगा वहाँ मद-मोह विभ्रम आदि दुर्गुण उत्पन्न कर देगा। इसलिये जैनागममें यह कहा गया है कि गृहस्थ अपनी आवश्यकताओंके अनुसार परिग्रहका परिमाण करे और मुनि सर्वथा ही उसका परित्याग करे।

आजके युगमें मनुष्यकी प्रतिष्ठा पैसेसे आँकी जाने लगी है इसलिये मनुष्य न्यायसे अन्यायसे जैसे बनता है वैसे पैसेका संचय कर अपनी प्रतिष्ठा बढाना चाहता है। प्रतिष्ठा किसे बुरी लगती है ? इस परिग्रहकी छीना-झपटीमें मनुष्य भाईका, पुत्र पिताका और पिता पुत्र तकका घात करता सुना गया है। इसके दुर्गुणोंकी ओर जब दृष्टि जाती है, तब शरीरमें रोमाञ्च उठ आते हैं।

चक्रवर्ती भरत ने अपने भाई बाहुबलिके ऊपर चक्र चला दिया। किसलिए? परिग्रह के लिए। क्या वे यह नहीं सोच सकते थे कि आखिर यह भी तो उसी पिताकी सन्तान है जिसकी मैं हूँ। यह एक न वशमें हुआ—न सही, षट्खण्डके समस्त मानव तो वशमें आगये आज्ञाकारी हो गये। पर वहाँ तो मोहका भूत सवार था इसलिए संतोष कैसे हो सकता था? वे मन्त्रियों द्वारा निर्णीत दृष्टियुद्ध, और मल्लयुद्धमें पराजित होनेपर भी उबल पड़े—रोषमें आगये और भाईपर चक्ररत्न चलाकर शान्त हुए। उस समयके मंत्रियोंकी बुद्धिमानी देखो। वे समझते थे कि ये दोनों भाई चरम-शरीरी मोक्षगामी हैं। इनमेंसे एकका भी विघात होनेका नहीं। यदि सेनाका युद्ध होता है तो हजारों निरपराध व्यक्ति मारे जावेंगे, इसलिये अपनी बलवत्ता का निर्णय ये दोनों अपने ही युद्धोंसे करें। और युद्ध भी कैसे, जिनमें घातक शस्त्रोंका नाम भी नहीं? यह उस समयके मन्त्री थे और आजके मन्त्रियोंकी बात देखो। आप घरमेंसे बाहर नहीं निकलेंगे पर निरपराध प्रजाके लाखों मानवोंका विध्वंस करा देंगे। कौरव और पाण्डवोंका युद्ध किंनिमित्तिक था? इसी परिग्रह निमित्तक तो था। कौरव अधिक थे इसलिये सम्पत्तिका अधिक भाग चाहते थे। पाण्डव यदि यह सोच लेते कि हम थोड़े हैं अतः हमारा काम थोड़ेसे ही चल सकता है। अर्ध भागकी हमें आवश्यकता नहीं है तो क्या महाभारत होता? नहीं, पर उन्हे तो आधा भाग चाहिये था। कितने निरपराध सैनिकोंका विनाश हुआ, इस ओर दृष्टि नहीं गई। जावे कैसे? परिग्रहका आवरण नेत्रके ऊपर ऐसी पट्टी बाँध देता है कि वह पदार्थका सही रूप देख ही नहीं पाता। संसारमें परिग्रह पापकी जड़ है। वह जहाँ जावेगा वहीं पर अनेक उपद्रव करावेगा। करावे किन्तु जिन्हें आत्महित करना है वे इसे त्याग करें। त्याग परिग्रहका नही मूर्च्छाका होना चाहिये।

कितने ही लोग ऐसा सोचते हैं कि अभी परिग्रहका अर्जन करो, पीछे दान आदि कार्योंमें व्यय कर पुण्यका संचय कर लेंगे। परन्तु आचार्य कहते है कि 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' अर्थात कीचड़ धोनेकी अपेक्षा दूरसे ही उसका स्पर्श न करना ही अच्छा है। लक्ष्मीको अंगीकार कर उसका त्याग करना कहाँकी बुद्धिमानी है? कार्तिकेय मुनिने लिखा है कि वैसे तो सभी तीर्थङ्कर समान हैं परन्तु वासुपूज्य, मल्लि नेमि, पार्श्व और वर्धमान इन पाँच तीर्थङ्करोंमें हमारी भक्ति विशेष है क्योंकि इन्होंने संपत्तिको अङ्गीकृत ही नहीं किया। जब कि अन्य तीर्थङ्करोंने सामान्य मनुष्योंकी तरह सम्पत्ति ग्रहण कर पीछे त्याग किया। परिग्रहवालोंसे पूछो कि उन्हें परिग्रहसे कितना सुख है? जिसके पास कुछ नहीं है वह सुखकी नींद तो सोता है पर परिग्रहवालोंको यह नसीब नहीं।

एक गरीब आदमी था, महादेवजीका भक्त था। उसकी भक्तिसे प्रसन्न होकर एक दिन महादेवजी ने कहा—बोल क्या चाहता है? महादेवजीको सामने खड़ा देख बेचारा घबरा गया। बोला—महाराज! कल सबेरे माँग लूंगा। महादेवजी ने कहा अच्छा। वह आदमी सायंकालसे ही विचार करने बैठा कि महादेवजीसे क्या माँगा जाय। हमारे पास रहनेके लिये घर नहीं इसलिये यही माँगा जाय। फिर सोचता है जब महादेवजी मुंह मांगा वरदान देनेको तैयार हैं तब घर ही क्यों माँगा जाय? देखो ये जमीदार हैं, गाँवके समस्त लोगों पर रौब गाँठते हैं, इसलिये हम भी जमींदार हो जावें तो अच्छा है। यह विचार कर उसने जमींदारी माँगनेका निर्णय किया। फिर सोचता है आखिर जब लगान भरनेका समय आता है तब ये तहसीलदारकी आरज़ू मिन्नत करते हैं। इसलिये इनसे बड़ा तो तहसीलदार है, वही क्यों न बन जाऊँ? इस तरह विचार कर वह तहसीलदार बननेकी आकांक्षा करने लगा। कुछ देर बाद उसे जिलाधीशका स्मरण आया तो उसके सामने तहसीलदारका पद फीका दिखने लगा। इस प्रकार एकके बाद एक इच्छाएं बढ़ती गई और वह निर्णय नहीं कर पाया कि क्या माँगा जाय। सारी रात्रि विचार करते करते निकल गई। सबेरा हुआ, महादेवजीने पूछा—बोल क्या चाहता है? वह उत्तर देता है—महाराज! कुछ नहीं चाहिये! क्यों? क्यों क्या, जब पासमें संपत्ति आई नहीं, आनेकी आशामात्र दिखी तब तो रात्रिभर नींद नहीं। यदि कदाचित् आ गई तो फिर नींद तो एकदम विदा हो जायगी। इसलिये महाराज मैं जैसा हूँ, वैसा ही अच्छा हूँ। उदाहरण है

अतः इससे सार ग्रहण कीजिये। सार इतना ही है कि परिग्रह जञ्जालका कारण है, अतः इससे निवृत्त होने का प्रयत्न करना चाहिये।

नवम अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वका वर्णन आपने सुना है। वास्तवमें विचार करो तो मोक्षके साधक ये दो ही तत्त्व हैं। नवीन कर्मोका आस्रव रुक जाय यही संवर है और पूर्वबद्ध कर्मोका क्रम-क्रमसे खिर जाना निर्जरा है। 'संवर' गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह-जय और चारित्रके द्वारा होता है। इन कारणोंमें आचार्य महाराजने सर्वसे प्रथम गुप्तिका उल्लेख किया है। समस्त आस्रवोंका मूल कारण योग है। यदि योगों पर नियन्त्रण हो गया तो आस्रव अपने आप रुक जावेंगे। इस तरह गुप्ति ही महासंवर है। परन्तु गुप्तिका प्राप्त होना सहज नहीं। गुप्तिरूप अवस्था सतत नहीं हो सकती अतः उसके अभावमें प्रवृत्ति करना पड़ती है। तब आचार्यने आदेश दिया कि भाई यदि प्रवृत्ति ही करना है तो प्रमाद रहित प्रवृत्ति करो। प्रमाद रहित प्रवृत्तिका नाम समिति है। मनुष्य चलता है, बोलता है, खाता है, किसी वस्तुको उठाता धरता है और मलमूत्रादिका त्याग करता है। इनके सिवाय यदि अन्य कर्म करता हो तो बताओ? उसके समस्त कार्य इन्हीं पाँच कर्मोके अन्तर्गत हो जाते हैं। आचार्य महाराजने पाँच समितियोंके द्वारा इन पाँचों कार्यों पर पहरा बैठा दिया फिर अनीति में प्रवृत्ति हो तो कैसे हो?

१० : उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म

आत्माका उपयोग आत्मामें स्थिर नहीं रहता इसका कारण परिग्रह है। परिग्रहके कारण ही उपयोगमें सदा चञ्चलता आती रहती है। आकिञ्चन्य धर्ममें परिग्रहका त्याग होनेसे आत्माका उपयोग अन्यत्र न जाकर ब्रह्म अर्थात् आत्मामें ही लीन होने लगता है। यथार्थमें यही ब्रह्मचर्य है। बाह्य ज्ञेयसे उपयोग हटकर आत्मस्वरूपमें ही लीन हो जाय तो इससे बढ़कर धर्म क्या होगा? इसी ब्रह्मचर्यको सबसे बड़ा धर्म माना है। ब्रह्मचर्यकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थानमे होती है। आगममें वहाँ ही शीलके अठारह हजार भेदोंकी पूर्णता बतलाई। यद्यपि निश्चय नयसे ब्रह्मचर्यका यही स्वरूप है तथापि व्यवहारसे स्त्री त्यागको ब्रह्मचर्य कहते हैं। स्वकीय तथा परकीय दोनों प्रकारकी स्त्रियोंका त्याग हो जाना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। और परकीय स्त्रीका त्यागकर स्वकीय स्त्रीमें संतोष रखना अथवा स्त्रीकी अपेक्षा स्वपुरुषमें संतोष रखना एक-देश ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यसे ही मनुष्यकी शोभा तथा प्रतिष्ठा है। चिरकालसे मनुष्योंमें जो कौटुम्बिक व्यवस्था चली आ रही है उसका कारण मनुष्यका ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य का सबसे बड़ा बाधक कारण कुसङ्गति है। कुसंगतिके चक्रमें पड़कर ही मनुष्य बुरी आदतों में पड़ता है इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षा चाहनेवाले मनुष्यको सर्व प्रथम कुसंगति से बचना चाहिये। शुभचन्द्राचार्यने वृद्ध सेवाको ब्रह्मचर्यका साधक मानकर ज्ञानार्णवमें इसका विशद वर्णन किया है। यहाँ जो उत्तमगुणोंसे सहित हैं उन्हें वृद्ध कहा है। केवल अवस्थासे वृद्ध मनुष्योंकी यहाँ विवक्षा नहीं हैं। मनुष्यके हृदयमें जब दुर्विचार उत्पन्न होते हैं तब उन्हें रोकनेके लिए लज्जा गुण बहुत कुछ प्रयत्न करता है। उत्तम मनुष्योंकी संगतिसे लज्जागुणको बल मिलता है। और वह मनुष्योंके दुर्विचारों को परास्त कर देता है परन्तु जब नीच मनुष्योंकी संगति रहती है तब लज्जागुण असहाय जैसा होकर स्वयं परास्त हो जाता है। हृदयसे लज्जा गई फिर दुर्विचारोंको रोकनेवाला कौन है?

आदर्श गृहस्थ वही हो सकता है जो अपनी स्त्रीमें संतोष रखता है। इस एकदेश ब्रह्मचर्यका भी कम माहात्म्य नहीं है। सुदर्शन सेठकी रक्षाके लिये देव दौड़े आते हैं। सीताजीके अग्निकुण्डको जलकुण्ड बनानेके लिये देवोका ध्यान आकर्षित होता है। यह क्या है? एक शीलव्रतका ही अद्भुत महात्म्य है। इसके विरुद्ध जो कुशील पापमें प्रवृत्ति करते हैं वे देर सवेर नष्ट हो जाते हैं इसमें संदेह-की बात नही है। जिन घरोंमें यह पाप आया वे घर बरवाद ही हो गये और पाप करनेवालोंको अपने ही जीवनमें ऐसी दशा देखनी पड़ी कि जिसकी उन्हें स्वप्नमें भी संभावना नहीं थी। जिस पापके कारण रावणके भवनमें एक बच्चा भी नहीं बचा उसी पापको आज

लोगोंने खिलौना बना रक्खा है।

> जाहि पाप रावणके छौना रह्यौ न भौना माँहि।
> ताही पाप लोगनने खिलौना करि राख्यौ है॥

पाप पाप ही है। इसे जो भी करेगा वह दुःख उठावेगा। ब्रह्मचारी मनुष्यको अपने रहन, वेषभूषा आदि सब पर दृष्टि रखना पड़ती है। बाह्य परिकर भी उज्वल बनाना पड़ता है क्योंकि इन सबका असर उसके ब्रह्मचर्यपर अच्छा नहीं पड़ता। आप भगवान् महावीर स्वामीके संबोधे हुए शिष्य हैं। भगवान् महावीर कौन थे? बाल ब्रह्मचारी ही तो थे। अच्छा जाने दो उनकी बात, उनके पहले भगवान् पार्श्वनाथ कैसे थे? वे भी बाल ब्रह्मचारी थे और उनके पहले कौन? नेमिनाथ, वे भी ब्रह्मचारी थे। उनका ब्रह्मचर्य तो और भी आश्चर्यकारी है। बीच विवाहमें विरक्त हो दीक्षा उन्होंने धारण की थी। इस तरह एक नही तीन तीन तीर्थंकरोंने आपके सामने ब्रह्मचर्यका माहात्म्य प्रकट किया है। हम अपने आपको उनका शिष्य बतलाते हैं पर ब्रह्मचर्यकी ओर दृष्टि नही देते। जीवन विलासमय हो रहा है और उसके कारण सूरतपर बारह बज रहे हैं, फिर भी इस कमी को दूर करने की ओर लक्ष्य नहीं जाता। कीड़े मकोड़े की तरह मनुष्य संख्या में वृद्धि होती जा रही है। बल-वीर्यका अभाव शरीर में होता जा रहा है फिर भी ध्यान इस ओर नहीं जाता। एक बच्चा माँ के पेट में और एक अञ्चल के नीचे है फिर भी मनुष्य विषय से तृप्त नहीं होता। पशु में तो कम से कम इतना विवेक होता है कि वह गर्भवती मादा से दूर रहता है पर हाय रे मनुष्य! तू तो पशुसे भी अधम दशाको पहुँच रहा है। तुझे गर्भवती स्त्रीसे भी समागम करनेमें संकोच नहीं रहा। इस स्थितिमें जो तेरे सन्तान उत्पन्न होती है उसकी अवस्थापर भी थोड़ा विचार करो। किसीके लीवर बढ़ रहा है तो किसीके पक्षाघात हो रहा है। किसीकी आंख कमजोर है तो किसीके दाँत दुर्बल हैं। यह सर्व क्यों है? एक ब्रह्मचर्यके महत्त्वको नहीं समझनेसे है। जब तक एक बच्चा माँका दुग्धपान करता है तब तक दूसरा बच्चा उत्पन्न न किया जाय तो बच्चे भी पुष्ट हों तथा माता पिता भी स्वस्थ रहें। आज तो स्त्रीके दो तीन बच्चे हुए नहीं कि उसके शरीर में बुढ़ापाके चिह्न प्रकट हो जाते हैं। पुरुषके नेत्रों पर चश्मा आ जाता है और मुँहमें पत्थरके दाँत लगवाने पड़ते हैं। जिस भारतवर्षमें पहले टी. बी. का नाम नहीं था वहाँ आज लाखोंकी संख्यामें इस रोगसे ग्रसित हैं। विवाहित स्त्री पुरुषोंकी बात छोड़िये अब तो अविवाहित बालक बालिकायें भी इस रोगकी शिकार हो रही हैं। इस स्थितिमें भगवान् ही देशकी रक्षा करें। एक राजा ज्योतिष विद्याका बड़ा प्रेमी था। वह मुहूर्त दिखाकर ही स्त्री समागम करता था। राजाका ज्योतिषी तीन सालमें एक बार मुहूर्त निकाल कर देता था। इससे राजाकी स्त्री बहुत कुढ़ती रहती थी। एक दिन उसने राजासे कहा कि ज्योतिषी जी आपको तो तीन साल बाद मुहूर्त शोध कर देते हैं और स्वयं निजके लिए चाहे जब मुहूर्त निकाल लेते हैं। उनका पोथी-पत्रा क्या जुदा है? देखो न, उनके प्रति वर्ष बच्चे उत्पन्न हो रहे हैं। स्त्रीकी बात पर राजाने ध्यान दिया और ज्योतिषीको बुलाकर पूछा कि महाराज! क्या आपका पोथी-पत्रा जुदा है? ज्योतिषीने कहा— महाराज! इसका उत्तर कल राजसभामें दूँगा।

दूसरे दिन राजसभा लगी हुई थी। सिंहासन पर राजा आसीन थे। उनके दोनों ओर तीन तीन वर्षके अन्तरसे हुए दोनों बच्चे सुन्दर वेष-भूषामें बैठे थे। राजसभामें ज्योतिषी जी पहुँचे। प्रति वर्ष उत्पन्न होनेवाले बच्चोंमेंसे वे एकको कन्धेपर रखे थे, एकको बगलमें दाबे थे और एकको हाथसे पकड़े थे। पहुँचने पर राजाने उत्तर पूछा। ज्योतिषीने कहा— महाराज! मुहूर्तका बहाना तो मेरा छल था। यथार्थ बात यह है कि आप राजा हैं। आपकी संतान राज्यकी उत्तराधिकारी है। यदि आपके प्रतिवर्ष संतान पैदा होती तो वह हमारे इन बच्चोंके समान होती। एकके नाक बह रही है, एककी आँखोंमें कीचड़ लग रहा है, कोई चीं कर रहा है, कोई पीं कर रहा है। ऐसी संतानसे क्या राज्यकी रक्षा हो सकती है? हम तो जाति के ब्राह्मण हैं। हमारे इन बच्चों को राज्य तो करना नहीं है, सिर्फ अपना पेट पालना है सो येन केन प्रकारेण पाल ही लेंगे। आपके

ये दोनों बच्चे तीन तीन सालके अन्तरसे हुए हैं और ये हमारे बच्चे एक एक वर्षके अन्तरसे हुए हैं। दोनोंकी सूरत मिलान कर लीजिये। राजा ज्योतिषीके उत्तरसे निरुत्तर हो गया तथा उसकी दूरदर्शितापर बहुत प्रसन्न हुआ। यह तो कथा रही, पर मैं आपको एक प्रत्यक्ष घटना सुनाता हूं। मैं पं० ठाकुरदासजीके पास पढ़ता था। वह बहुत भारी विद्वान थे। उनकी स्त्री दूसरे विवाहकी थी पर उसकी परिणतिकी बात हम आपको क्या सुनावें? एक बार पण्डित जी उसके लिए १००) सौ रुपयेकी साड़ी ले आये। सड़ी हाथ में लेकर वह पण्डित जी से कहती है पण्डित जी! यह साड़ी किसके लिये लाये हैं? पण्डितजीने कहा कि तुम्हारे लिये लाया हूँ। उसने कहा कि अभी जो साड़ी मैं रोज पहिनती हूँ वह क्या बुरी है? बुरी तो नहीं है पर यह अच्छी लगेगी, पण्डितजीने कहा। यह सुन उसने उत्तर दिया कि मैं अच्छी लगने के लिए वस्त्र नहीं पहनना चाहती। वस्त्रका उद्देश्य शरीरकी रक्षा है, सौन्दर्य वृद्धि नहीं; और सौन्दर्य वृद्धि कर मैं किसे आकर्षित करूं? आपका प्रेम मुझपर है यही मेरे लिये बहुत है। उसने वह साड़ी अपनी नौकरानीको दे दी और कह दिया कि इसे पहिन कर खराब नहीं करना। कुछ बट्टे से वापिस होगी सो वापिस कर आ और रुपये अपने पास रख। समय पर काम आवेंगे। जब पण्डितजीके दो सन्तान हो चुकीं तब एक दिन उसने पण्डितजीसे कहा कि देखो अपने दो संतान, एक पुत्र और एक पुत्री हो चुकी। अब पापका कार्य बन्द कर देना चाहिये। पण्डितजी उसकी बात सुन कर कुछ हीला-हवाला करने लगे तो वह स्वयं उठ कर उनकी गोदमें जा बैठी और बोली कि अब तो आप मेरे पिता तुल्य हैं और मैं आपकी बेटी हूँ। पण्डितजी गद्गद् स्वरसे बोले--बेटी! तूने तो आज वह काम कर दिया जिसे मैं जीवन भर अनेक शास्त्र पढ़कर भी नहीं कर पाया। उस समयसे दोनों ब्रह्मचर्यसे रहने लगे। यदि किसीकी लड़की या बधू विधवा हो जाती है तो लोग यह कह कर उसे रुलाते है कि हाय! तेरी जिन्दगी कैसे कटेगी? पर यह नहीं कहते कि बेटी! तू अनन्त पापसे बच गई, तेरा जीवन बन्ध-मुक्त हो गया। अब तू आत्महित स्वतन्त्रतासे कर सकती है।

प्रथमानुयोगमें एक कथा आती है--किसी आदमीसे पानी छाननेके बाद जो जीवानी होती है वह लुढ़क गई। उसने मुनिराज से इसका प्रायश्चित्त पूछा तो उन्होंने कहा कि असिधारा व्रत धारण करनेवाले स्त्री-पुरुषको भोजन कराओ। महाराज! इसकी परीक्षा कैसे होगी? ऐसा उसने पूछा तो मुनिराजने कहा कि जब तेरे घरमें ऐसे स्त्री-पुरुष भोजन कर जावेंगे तब तेरे घरका मलिन चंदेवा सफेद हो जावेगा। मुनिराजके कहे अनुसार वह स्त्री-पुरुषोंको भोजन कराने लगा। एक दिन उसने एक स्त्री तथा पुरुषको भोजन कराया और देखा कि उनके भोजन करते करते मैला चंदेवा सफेद हो गया है। आदमीको विश्वास हो गया कि ये ही असिधारा व्रतके धारक हैं। भोजनके बाद उसने पूछा तो उन्होंने परिचय दिया कि जब हम दोनों का विवाह नहीं हुआ था, उसके पहले हमने शुक्ल पक्षमें और इसने कृष्ण पक्षमें ब्रह्मचर्य रखनेका नियम ले रक्खा था। अनजानमें हम दोनोंका विवाह हो गया। शुक्लपक्षके बाद कृष्णपक्षमें जब हमने इसके प्रति कामेच्छा प्रकट की तो इसने उत्तर किया कि मेरे तो कृष्णपक्षमें ब्रह्मचर्य से रहने का जीवन पर्यन्त के लिये नियम है। मैं उत्तर सुनकर शान्त हो गया। तदनन्तर जब कृष्णपक्ष के बाद शुक्लपक्ष आया और इसने अपना अनुराग प्रकट किया तब मैंने कहा कि मैंने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य से रहने का नियम, जीवन पर्यन्त के लिये विवाह के पूर्व लिया है। स्त्री शान्त हो गई। इस प्रकार स्त्री-पुरुष दोनों साथ-साथ रहते हुए भी ब्रह्मचर्य से अपना जीवन बिता रहे हैं। देखो उनके संतोष की बात कि सामग्री पास में रहते हुए भी उनके मन में विकार उत्पन्न नहीं हुआ तथा जीवन भर उन्होंने अपना अपना व्रत निभाया। अस्तु।

दशम अध्याय में आपने मोक्ष तत्व का वर्णन सुना है। इसमें आचार्य ने मोक्ष का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि 'बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' अर्थात् बन्ध के कारणों का अभाव और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने से जो समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय हो जाता है वह मोक्ष कहलाता है। निश्चय से

तो सब द्रव्य स्वतन्त्र हैं। जीव स्वतन्त्र है और कर्मरूप पुद्‌गल द्रव्य भी स्वतन्त्र हैं। इनका बन्ध नहीं। जब बन्ध नहीं तब मोक्ष किसका? इस तरह निश्चय की दृष्टि से तो बन्ध और मोक्ष का व्यवहार बनता नहीं है परन्तु व्यवहार की दृष्टि से जीव और कर्मरूप पुद्‌गल द्रव्य का एकक्षेत्रावगाह हो रहा है, इसलिये दोनों का बन्ध कहा जाता है और जब दोनों का एक-क्षेत्रावगाह मिट जाता है तब मोक्ष कहलाने लगता है। समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्ते।
स्याद्वादिनो नाथ! तवैव युक्तः
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥

अर्थात् बन्ध मोक्ष, इनके कारण, जीव की बद्ध और मुक्त दशा तथा मुक्ति का प्रयोजन यह, सब हे नाथ! आपके ही शासन में संघटित होता है, क्योंकि आप स्वाद्वाद से पदार्थ का निरूपण करते हैं, एकान्त दृष्टि से आप पदार्थ का उपदेश नहीं देते।

इस तरह परपदार्थ से भिन्न आत्मा की जो परिणति है वही मोक्ष है। इस परिणति के प्रकट होने में सबसे अधिक बाधक मोह कर्म का उदय है, इसलिये आचार्य महाराज ने आज्ञा की है कि सर्व प्रथम मोह कर्म का क्षय कर तथा उसके बाद शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त करो। उसके बाद ही अन्य अघातिया कर्मों का क्षय होने से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा। मोह के निकल जाने तथा केवलज्ञान के हो जाने पर भी यद्यपि पचासी प्रकृतियों का सद्भाव आगम में बताया है तथापि वह जली हुई रस्सी के समान निर्बल है—

ध्यान कृपाण पानि गहि नाशी त्रेशठ प्रकृति अरी।
शेष पचासी लाग रही हैं ज्यों जेवरी जरी॥

परन्तु इतना निर्बल नहीं समझ लेना कि कुछ कर ही नहीं सकती हैं। निर्बल होने पर भी उनमें इतनी शक्ति है कि वे देशोन कोटि पूर्व तक इस आत्मा को केवलज्ञान हो जाने पर भी मनुष्य शरीर में रोके रहती हैं। फिर निर्बल कहने का तात्पर्य यही है कि वे इस जीव को आगे के लिये बन्धन युक्त नहीं कर सकतीं। परम यथाख्यात चारित्रकी पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में होती है। अतः वहीं शुक्लध्यान के चतुर्थ पाये के प्रभाव से उपान्त्य तथा अन्तिम समय में बहत्तर और तेरह प्रकृतियों का क्षय कर यह जीव सदा के लिये मुक्त हो जाता है तथा ऊर्ध्वगमन स्वभाव के कारण एक समय में सिद्धालय में पहुँचकर विराजमान हो जाता है। यही जैनागम में मोक्ष की व्याख्या है।

निरन्तर जैनधर्मके ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेसे चित्तमें अपूर्व शान्ति होती है। शरीरकी रक्षा धर्मसाधनके अर्थ पापप्रद नहीं। विषयसे निवृत्ति होने पर तत्त्वज्ञानकी निरन्तर भावना ही कुछ कालमें संसार-लतिकाका छेदन कर देती है। केवल देह-शोषण मोक्षमार्ग नहीं। अन्तरंग वासनाकी विशुद्धिसे ही कर्म निर्जीर्ण होते हैं। किसी पदार्थमें भीतरसे आसक्त नहीं होना चाहिये। अपनी भावना ही आपकी आत्माका सुधार करनेवाली है। जहाँतक बने, यही कार्य करनेमें समय बिताना।

—अध्यात्म पत्रावलि–५४

८

समाधिमरण पत्र-पुंज

ये पत्र स्व० उदासीन ब्र० मौजीलालजी सागर वालोंके समाधिलाभार्थ उनके प्रत्युत्तरमें पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीके द्वारा लिखे गये थे। एक-एक पंक्तिमें आत्मरसिकता झलक रही है। जब कभी मन स्थिर हो शान्ति-पूर्वक प्रत्येक वाक्यका परिशीलन करके उसके मन्तव्यको हृदयङ्गत करना चाहिये। पत्र नहीं, ये मोक्षमार्गमें प्रवेश करने के लिये वास्तविक दीपक हैं।

योग्य शिष्टाचार !

सत्य दान तो लोभका त्याग है और उसको मैं चारित्रका अंश मानता हूँ। मूर्छाकी निवृत्ति ही चारित्र है। हमको द्रव्यत्यागमें पुण्यबंधकी ओर दृष्टि न देनी चाहिये, किन्तु इस द्रव्यसे ममत्वनिवृत्ति द्वारा शुद्धोपयोग का वर्धक दान समझना चाहिये। वास्तविक तत्त्व ही निवृत्तिरूप है। जहाँ उभय पदार्थका बंध है वही संसार है। और जहाँ दोनों वस्तु स्वकीय २ गुण-पर्यायोंमें परिणमन करती हैं वहीं निवृत्ति है, यही सिद्धान्त है। कहा भी है—

श्लोक

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिःसेव्यतां।
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमज्योतिस्सदैवास्म्यहम् ॥
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥

अर्थ—यह सिद्धान्त उदारचित्त और उदारचरित्र वाले मोक्षार्थियोंको सेवन करना चाहिये कि मैं एक ही शुद्ध (कर्मरहित) चैतन्यस्वरूप परम ज्योति वाला सदैव हूँ। तथा ये जो भिन्न लक्षण वाले नाना प्रकार के भाव प्रकट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे सम्पूर्ण परद्रव्य हैं।

इस श्लोक का भाव इतना सुन्दर और रुचिकर है जो हृदय में आते ही संसार का आताप कहाँ जाता है, पता नहीं लगता। आप जहाँ तक हो, अब इस समय शारीरिक अवस्था की ओर दृष्टि न देकर निजात्मा की ओर लक्ष्य देकर उसी के स्वास्थ्य की औषधि का प्रयत्न करना। शरीर परद्रव्य है, उसकी कोई भी अवस्था हो उसका ज्ञाता-दृष्टा ही रहना। सो ही समयसार में कहा है—

गाथा

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ॥

भावार्थ—'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसा ज्ञानी पण्डित नही कह सकता। क्योंकि ज्ञानी जीव तो आत्मा को ही स्वकीय परिग्रह मानता या समझता है।

यद्यपि विजातीय दो द्रव्योंसे मनुष्य पर्यायकी उत्पत्ति हुई है किन्तु विजातीय २ दो द्रव्य मिलकर सुधा-हरिद्रा-वत् एकरूप नहीं परिणमे हैं। वहां तो वर्ण गुण दोनोंका एकरूप परिणमना कोई आपत्तिजनक नहीं है। किन्तु यहां पर एक चेतन और अन्य अचेतन द्रव्य है। इनका एकरूप परिणमना न्यायप्रतिकूल है। पुद्गलके निमित्त को प्राप्त होकर आत्मा रागादिकरूप परिणम जाता है, फिर भी रागादिक भाव औदयिक हैं अतः बन्धजनक हैं, । आत्मा को दुःखजनक हैं, अतः हेय हैं परन्तु शरीर का परिणमन आत्मा से भिन्न है, अतः न वह हेय है और न वह उपादेय है। इसही को समयसारमें श्री महर्षि कुन्दकुन्दाचार्य ने निर्जराधिकार में लिखा है—

गाथा

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा ग्रहव जादु विप्पलयं ।
जम्हा तम्हा गच्छदु तह वि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥

अर्थ—यह शरीर छिद जावो अथवा भिद जावो अथवा ले जावो अथवा नाश हो जावो, जैसे तैसे हो जावो तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है।

इसीसे सम्यग्दृष्टिके परद्रव्यके नाना प्रकारके परिगमन होते हुए भी हर्ष-विषाद नहीं होता। अतः आपको भी इस समय शरीरकी क्षीण अवस्था होते हुए कोई भी विकल्प न कर तटस्थ ही रहना हितकर है।

चरणानुयोगमें जो परद्रव्यों को शुभाशुभ में निमित्तत्व की अपेक्षा हेयोपादेय की व्यवस्था की है, वह अल्पप्रज्ञके अर्थ है। आप तो विज्ञ हैं। अध्यवसाय को ही बंधका जनक समझ उसीके त्यागकी भावना करना और निरंतर "एगो मे सासदो आदा णाणदंसणलक्खणो" अर्थात् ज्ञान दर्शनात्मक जो आत्मा है वही उपादेय है। शेष जो बाह्य पदार्थ हैं वे मेरे नहीं है। ऐसी भावना करना।

मरण क्या वस्तु है? आयुके निषेक पूर्ण होने पर पर्यायका वियोग मरण, तथा आयुके सद्भावमें पर्यायका संबंध सो ही जीवन। अब देखिये, जैसे जिस मन्दिरमें हम निवास करते हैं उसके सद्भाव असद्भावमें हमको किसी प्रकारका हानि-लाभ नहीं, तब क्यों हर्ष-विषादकर अपने पवित्र भावोंको कलुषित किया जावे। जैसे कि कहा है—

श्लोक

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो ।
ज्ञानं सत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचिद् ॥
अस्यातो मरणं न किंचिद् भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो ।
निः शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥

अर्थ—प्राणोंके नाशको मरण कहते हैं। और प्राण इस आत्माका ज्ञान है। वह ज्ञान सत् रूप स्वयं ही नित्य होनेके कारण कभी नहीं नष्ट होता है। अतः इस आत्मा का कुछ भी मरण नहीं है तो फिर ज्ञानीको मरणका भय कहांसे हो सकता है। वह ज्ञानी स्वयं निःशंक होकर निरंतर स्वाभाविक ज्ञानको सदा प्राप्त करता है।

इस प्रकार आप सानन्द ऐसे मरणका प्रयास करना जो परंपरा मातास्तन्यपानसे बच जाओ। इतना सुन्दर अवसर हस्तगत हुवा है, अवश्य इससे लाभ लेना।

आत्मा ही कल्याणका मन्दिर है, अतः परपदार्थोंकी किंचित् मात्र भी आप अपेक्षा न करें। अब पुस्तक द्वारा ज्ञानाभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। अब तो पर्यायमें घोर परिश्रम कर, स्वरूपके अर्थ मोक्ष-मार्गका अभ्यास करना उचित है। अब उसी ज्ञान-शस्त्रको राग-द्वेष शत्रुओं के ऊपर निपात करनेकी आवश्यकता है। यह कार्य न तो उपदेष्टाका है और न समाधिमरणमें सहायक पंडितोंका है। अब तो अन्य कथाओंके श्रवण करनेमें समयको न देकर उस शत्रुसेनाके पराजय करनेमें सावधान होकर यत्नपर हो जावो।

यद्यपि निमित्तको प्रधान मानने वाले तर्क द्वारा बहुत-सी आपत्ति इस विषयमें ला सकते हैं। फिर भी कार्य करना अन्तमें तो आपही का कर्त्तव्य होगा। अतः जबतक आपकी चेतना सावधान है, निरंतर स्वात्मस्वरूप-चिंतवन में लगा दो।

श्री परमेष्ठी का भी स्मरण करो किन्तु ज्ञायककी ओर ही लक्ष्य रखना, क्योंकि मैं "ज्ञाता दृष्टा" हूँ, ज्ञेय भिन्न हैं, उनमें इष्टानिष्ट विकल्प न हो, यही पुरुषार्थ करना और अन्तरंगमें मूर्छा न करना तथा रागादिक भावोंको तथा उसके वक्ताओंको दूर ही से त्यागना। मुझे आनन्द इस बात का है कि आप निःशल्य हैं। यही आपके कल्याणकी परमौषधि है।

× × ×

महाशय,

योग्य शिष्टाचार।

आपके शरीर की अवस्था प्रत्यहं क्षीण हो रही है। इसका ह्रास होना स्वाभाविक है। इसके ह्रास और वृद्धि से हमारा कोई घात नहीं, क्योंकि आपने निरंतर ज्ञानाभ्यास किया है, अतः आप इसे स्वयं जानते हैं। अथवा मान भी लो, शरीरके शैथिल्यसे तद् अवयवभूत इन्द्रियादिक भी

शिथिल हो जाती हैं तथा द्रव्येन्द्रियके विकृत भावसे भावेन्द्रिय स्वकीय कार्य करनेमें समर्थ नहीं होती हैं किन्तु मोहनीय-उपशम-जन्य सम्यक्त्वकी इसमें क्या विराधना हुई। मनुष्य शयन करता है उस काल जागृत अवस्थाके सदृश ज्ञान नहीं रहता किन्तु जो सम्यग्दर्शन गुण संसारका अन्तक है उसका आंशिक भी घात नहीं होता। अतएव अपर्याप्त अवस्थामें भी सम्यग्दर्शन माना है, जहाँ केवल तैजस कार्मण शरीर है, उत्तरकालीन शरीर की पूर्णता भी नहीं। तथा आहारादि वर्गणाके अभावमें भी सम्यग्दर्शन का सद्भाव रहता है। अतः आप इस बातकी रंचमात्र आकुलता न करें कि हमारा शरीर क्षीण हो रहा है, क्योंकि शरीर पर-द्रव्य है; उसके सम्बन्ध से जो कोई कार्य होने वाला है वह हो, अथवा न हो, परन्तु जो वस्तु आत्माहीसे समन्वित है उसकी क्षति करने वाला कोई नहीं। उसकी रक्षा है तो संसारतट समीपही है। विशेष बात यह है कि चरणानुयोगकी पद्धतिसे समाधिके अर्थ बाह्य संयोग अच्छे होना विधेय है, किन्तु परमार्थ दृष्टिसे निज प्रबलतम श्रद्धान ही कार्यकर है। आप जानते हैं कि कितने ही प्रबल ज्ञानियोंका समागम रहे, किन्तु समाधिकर्त्ताको उनके उपदेश श्रवणकर विचार तो स्वयं ही करना पड़ेगा। जो मैं एक हूं, रागादिक शून्य हूँ, यह जो सामग्री देख रहा हूँ परजन्य है, हेय है, उपादेय निज ही है। परमात्माके गुणगानसे परमात्मा द्वारा परमात्म-पदकी प्राप्ति नहीं किन्तु परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलनेसे ही उस पदका लाभ निश्चित है। अतः सर्व प्रकारके झंझटोंको छोड़कर भाई साहब ! अब तो केवल वीतराग निर्दिष्ट पथपर ही आभ्यन्तर परिणामसे आरूढ़ हो जाओ। बाह्य त्यागकी वहीं तक मर्यादा है जहाँ तक निजभावमें बाधा न पहुँचे। अपने परिणामोंके परिणमनको देख कर ही त्याग करना, क्योंकि जैन सिद्धान्तमें सत्यपथ मूर्छात्याग वालेके ही होता है। अतः जो जन्मभर मोक्षमार्गका अध्ययन किया उसके फलका समय है, इसे सावधानतया उपयोगमें लाना। यदि कोई महानुभाव अन्तमें दिगम्बर पदकी सम्मति देवे तब अपनी आभ्यन्तर विचारधारासे कार्य लेना। वास्तव में अन्तरंग बुद्धिपूर्वक मूर्छा न हो तभी उस पदके पात्र बनना। इसका भी खेद न करना कि हम शक्तिहीन हो गये, अन्यथा अच्छी तरहसे यह कार्य सम्पन्न करते। हीन-शक्ति शरीरकी दुर्बलता है। आभ्यन्तर श्रद्धामें दुर्बलता न हो। अतः निरन्तर यही भावना रखना :—

एगो मे सासदो आदा, णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥"

अर्थ एक मेरी शाश्वत आत्मा ज्ञान-दर्शन लक्षणमयी है शेष जो बाहरी भाव हैं, वे मेरे नहीं हैं सर्व संयोगी भाव हैं।"

अतः जहां तक बने, स्वयं आप समाधानपूर्वक अन्यको समाधिका उपदेश करना कि समाधिस्थ आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, तब यह कौनसा विशिष्ट कार्य है। वह तो उन शत्रुओं को चूर्ण कर देता है जो अनन्त संसारके कारण हैं। इति।

इस संसार समुद्रमें गोते खाने वाले जीवोंको केवल जिनागम ही नौका है। उसका जिन भव्य प्राणियोंने आश्रय लिया है वे अवश्य एक दिन पार होंगे। आपने लिखा कि हम मोक्षमार्गप्रकाशकी दो प्रति भेजते हैं सो स्वीकार करना। भला ऐसा कौन होगा जो इसे स्वीकार न करे। कोई तीव्र कषायी ही ऐसी उत्तम वस्तु अनंगीकार करे तो करे, परंतु हम तो शतशः धन्यवाद देते हुए आपकी भेंटको स्वीकार करते हैं। परन्तु क्या करें ? निरन्तर इसी चिन्तामें रहते हैं कि कब ऐसा शुभ समय आवे जो वास्तव में हम इसके पात्र हों। अभी हम इसके पात्र नहीं हुये, अन्यथा तुच्छ सी तुच्छ बातों में नाना कल्पनायें करते हुए दुखी न होते। अब भाई साहब ? जहाँ तक बने, हमारा और आपका मुख्य कर्त्तव्य रागादिकके दूर करने का ही निरन्तर रहना चाहिये। क्योंकि आगमज्ञान और श्रद्धा से बिना संयतत्व भावके मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं, अतः सब प्रयत्नका यही सार होना चाहिये, जो रागादिक भावोंका अस्तित्व आत्मामें न रहे। ज्ञान वस्तुका परिचय करा देता है अर्थात् अज्ञाननिवृत्ति ज्ञानका फल है, किन्तु ज्ञानका फल उपेक्षा नहीं, उपेक्षाफल चारित्रका है। ज्ञानमें आरोपसे वह फल कहा जाता है। जन्मभर मोक्षमार्ग विषयिक ज्ञान संपादन किया, अब एकवार उपयोगमें लाकर उसका आस्वाद लो। आज कल चरणानुयोगका अभिप्राय

लोगोंने पर-वस्तुके त्याग और ग्रहणमें ही समझ रखा है, सो नहीं। चरणानुयोगका मुख्य प्रयोजन तो स्वकीय रागादिकके मेंटने का है, परन्तु वह वस्तुके संबन्धसे होते हैं अर्थात् पर-वस्तु उसका नोकर्म होती है, अतः उसको त्याग करते हैं। मेरा उपयोग अब इन बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धसे भयभीत रहता है। मैं तो किसीके समागमकी अभिलाषा नहीं करता हूँ। आपको भी सम्मति देता हूं कि सबसे ममत्व हटानेकी चेष्टा करो, यही पार होने की नौका है। जब परमें ममत्वभाव घटेगा तब स्वयमेव निराश्रय अहंबुद्धि घट जावेगी, क्योंकि ममत्व और अहंकारका अविनाभावी सम्बन्ध है; एकके बिना अन्य नहीं रहता। बाईजीके बाद मैंने देखा कि अब तो स्वतंत्र हूँ, दान में सुख होता होगा, इसे करके देखूं। ६०००) रुपया मेरे पास था, सर्व त्याग कर दिया परन्तु कुछ भी शान्तिका अंश न पाया। उपवासादिक करके शांति न मिली, परकी निन्दा और आत्मप्रशंसासे भी आनन्दका अंकुर न हुआ, भोजनादिकी प्रक्रियासे भी लेश शान्तिको न पाया। अतः यही निश्चय किया कि रागादिक गये बिना शान्तिकी उद्‌भूति नही, अतः सर्व व्यापार उसीके निवारणमें लगा देना ही शान्तिका उपाय है। वाग्जालके लिखनेसे कुछ भी सार नहीं।

× × ×

मैं यदि अन्तरङ्गसे विचार करता तो जैसा आप लिखते है मैं उसका पात्र नहीं, क्योंकि पात्रताका नियामक कुशलताका अभाव है। वह अभी कोसों दूर है। हाँ, यह अवश्य है यदि योग्य प्रयास किया जावेगा तब दुर्लभ भी नहीं। वक्तृत्वादि गुण तो आनुसंगिक हैं। श्रेयोमार्गकी सन्निकटता जहाँ जहाँ होती है वह वस्तु पूज्य है। अतः हम और आपको बाह्य वस्तुजालमें मूर्छाकी कृशता कर आत्मतत्त्वको उत्कर्ष बनाना चाहिये। ग्रन्थाभ्यासका प्रयोजन केवल ज्ञानार्जन ही तक अवसान नहीं होता, साथहीमे पर पदार्थोंसे उपेक्षा होनी चाहिये। आगमज्ञानकी प्राप्ति और है किन्तु उसकी उपयोगिताका फल और ही है। मिश्रीकी प्राप्ति और स्वादुता में महान् अन्तर है। यदि स्वादका अनुभव न हुआ तब मिश्री पदार्थका मिलना केवल अन्धेकी लालटेनके सदृश है, अतः अब यावान् पुरुषार्थ है वह इसी में कटिबद्ध होकर लगा देना ही श्रेयस्कर है, जो आगमज्ञानके साथ साथ उपेक्षारूप स्वादका लाभ हो जावे। आप जानते ही हैं मेरी प्रकृति अस्थिर है तथा प्रसिद्ध है, परन्तु जो अर्जित कर्म हैं उनका फल तो मुझे ही चखना पड़ेगा, अतः कुछ भी विषाद नहीं।

विषाद इस बात का है जो वास्तविक आत्मतत्त्वका घातक है उसकी उपक्षीणता नहीं होती। उसके अर्थ निरन्तर प्रयास है। बाह्य पदार्थका छोड़ना कोई कठिन नहीं। किन्तु यह नियम नहीं, क्योंकि अध्यवसानके कारण छूटकर भी अध्यवसानकी उत्पत्ति अन्तस्थलवासनासे होती है। उस वासना के विरुद्ध शस्त्र चलाकर उसका निपात करना यद्यपि उपाय निर्दिष्ट किया है, परन्तु फिर भी वह क्या है? केवल शब्दोंकी सुन्दरताको छोड़कर गम्य नहीं। दृष्टान्त तो स्पष्ट है, अग्निजन्य उष्णता जो जलमें हैं उसकी भिन्नता तो दृष्टिविषय है। यहाँ तो क्रोधसे जो क्षमाकी अप्रादुर्भूति है वह यावत् क्रोध न जावे तब तक कैसे व्यक्त हो। ऊपरसे क्रोध न करना क्षमाका साधक नहीं। आशय में वह न रहे, यही तो कठिन बात है। रहा उपाय तत्त्वज्ञान, सो तो हम आप सर्व जानते ही है किन्तु फिर भी कुछ गूढ़ रहस्य है जो महानुभावोंके समागमकी अपेक्षा रखता है, यदि वह न मिले तब आत्मा ही आत्मा है, उसकी सेवा करना ही उत्तम है। उसकी सेवा क्या है "ज्ञाता दृष्टा", और जो कुछ अतिरिक्त है वह विकृत जानना।

× × ×

श्रीमान् वर्णीजी,

योग्य इच्छाकार !

पत्र न देनेका कारण उपेक्षा नहीं किन्तु अयोग्यता है। मैं जब अन्तरङ्गसे विचार करता हूँ तो उपदेश देनेकी कथा तो दूर रही, अभी मैं सुनने और बाँचनेका भी पात्र नहीं। वचनचतुरतासे किसी को मोहित कर लेना पाण्डित्यका परिचायक नहीं। श्रीकुंदकुंदाचार्यने कहा है—

किं काहदि वणवासो कायकिलेसो विचित्त-उववासो
अज्झयणमोणपहुदी समदा-रहियस्स समणस्स ॥

अर्थ—समताके बिना वननिवास और कायक्लेश तथा नाना उपवास तथा अध्ययन, मौन आदि कोई उपयोगी

नहीं। अतः इन बाह्य साधनों का मोह व्यर्थ ही है। दीनता और स्वकार्यमें अतत्परता ही मोक्षमार्गका घातक है। जहाँ तक हो, इस पराधीनताके भावोंका उच्छेद करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। विशेष कुछ समझमें नहीं आता। भीतर बहुत कुछ इच्छा लिखनेकी होती है, परन्तु जब स्वकीय वास्तविक दिशा पर दृष्टि जाती है तब अश्रु-धाराका प्रवाह बहने लगता है। हा आत्मन्! तूने इस मानव-पर्यायको पाकर भी निजतत्त्वकी ओर लक्ष्य नहीं दिया। केवल इन बाह्य पंचेन्द्रिय विषयोंकी प्रवृत्तिमें ही सन्तोष मान कर संसारको क्या, अपने स्वरूपका अपहरण करके भी लज्जित न हुआ।

तद्विषयक अभिलाषाकी अनुत्पत्ति ही चारित्र है। मोक्षमार्गमें संवर तत्त्व ही मुख्य है। तत्त्वकी महिमा इसके बिना स्याद्वादशून्य आगम, अथवा जीवनशून्य शरीर, अथवा नेत्रहीन मुखकी तरह है। अतः जिन जीवोंको मोक्ष रुचता है उनका यही मुख्य ध्येय होना चाहिये कि जो अभि-लाषाओंके अनुत्पादक चरणानुयोग-पद्धति-प्रतिपादित साधनों की ओर लक्ष्य स्थिर कर, निरन्तर स्वात्मोत्थ सुखामृतके अभिलाषी होकर, रागादि शत्रुओंकी प्रबल सेनाका विध्वंस करनेमें भगीरथ प्रयत्न कर जन्म सार्थक किया जावे, किन्तु व्यर्थ न जावे, इसमें यत्नपर होना चाहिये। कहाँ तक प्रयत्न करना उचित है? जहाँ तक पूर्ण ज्ञानकी पूर्णता न होय।

"भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
यावत्तावत्पराच्च्युत्वा, ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम्॥"

अर्थ—यह भेद-विज्ञान अखंडधारासे भावो कि जब तक परद्रव्यसे रहित होकर ज्ञान ज्ञानमें (अपने स्वरूपमें) ठहरे।

क्योंकि सिद्धिका मूलमंत्र भेद-विज्ञान ही है। वही श्री आत्मतत्त्व-रसास्वादी अमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन॥

अर्थ—जो कोई भी सिद्ध हुए हैं वे भेद-विज्ञानसे ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई बँधे हैं वे भेद-विज्ञानके न होनेसे ही बन्धको प्राप्त हुए हैं।

अतः अब इन परनिमित्तक श्रेयोमार्गकी प्राप्तिके प्रयत्नमें समयका उपयोग न करके स्वावलम्बनकी ओर दृष्टि ही इस जर्जरावस्थामें महती उपयोगिनी रामवाणतुल्य अचूक औषधि है। तदुक्तम्—

इतो न किंचित् परतो न किंचित्,
यतो यतो यामि ततो न किंचित्।
विचार्य पश्यामि जगन्न किंचित्
स्वात्मावबोधादधिकं न किंचित्॥

अर्थ—इस तरफ कुछ नहीं है और दूसरी तरफ भी कुछ नहीं है तथा जहाँ-जहाँ मैं जाता हूँ वहाँ वहाँ भी कुछ नहीं है। विचार करके देखता हूँ तो यह संसार भी कुछ नहीं है। स्वकीय आत्मज्ञानसे बढ़ कर कोई नहीं है।

इसका भाव विचार स्वावलम्बनका शरण ही संसार-बंधनके मोचनका मुख्य उपाय है। मेरी तो यह श्रद्धा है जो संवर ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका मूल है।

मिथ्यात्वकी अनुत्पत्तिका नाम ही तो सम्यग्दर्शन है। और अज्ञानकी अनुत्पत्तिका नाम सम्यग्ज्ञान तथा रागा-दिककी अनुत्पत्ति यथाख्यातचारित्र और योगानुत्पत्ति ही परम यथाख्यातचारित्र है। अतः संवर ही दर्शनज्ञान-चारित्राराधना के व्यपदेश को प्राप्त करता है तथा इसीका नाम तप है। क्योंकि इच्छानिरोधका नाम ही तप है।

मेरा तो दृढ़ विश्वास है कि जो इच्छाका न होना ही तप है। अतः तप-आराधना भी यही है। इस प्रकार संवर ही चार आराधना है अतः जहाँ परसे श्रेयोमार्गकी आकांक्षा का त्याग है वहाँ श्रेयोमार्ग है।

× × ×

श्रीयुत महानुभाव पं० दीपचन्दजी वर्णी

इच्छाकार!

अनुकूल कारणकूटके असद्भावमें पत्र नहीं दे सका। क्षमा करना। आपने जो पत्र लिखा वास्तविक पदार्थ ऐसा ही है। अब हमें आवश्यकता इस बातकी है कि प्रभुके उपदेशके अनुकूल प्रभुके पूर्वावस्थावत् आचरण द्वारा प्रभु इव प्रभुताके पात्र हो जावें। यद्यपि अध्यवसानभाव परनिमित्तक हैं। यथा—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन् निमित्तं परसंग एव, वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ।।

अर्थ— आत्मा, आत्मा सम्बन्धी रागादिककी उत्पत्तिमें स्वयं कदाचित् निमित्तताको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् आत्मा स्वकीय रागादिकके उत्पन्न होनेमें अपने आप निमित्त कारण नहीं है, किन्तु उनके होनेमें परवस्तु ही निमित्त हैं। जैसे अर्ककान्त-मणि स्वयं अग्निरूप नहो परणमता है किन्तु सूर्यकिरण उस परिणमनमें कारण है। तथापि परमार्थ तत्त्वकी गवेषणामें वे निमित्त क्या बलात्कार अध्यवसान भावके उत्पादक हो जाते हैं? नहीं, किन्तु हम स्वयं अध्यवसान द्वारा उन्हें विषय करते हैं। जब ऐसी वस्तु-मर्यादा है तब पुरुषार्थ कर उन संसारजनक भावोंके नाशका उद्यम करना ही हम लोगोको इष्ट होना चाहिये। चरणानुयोगकी पद्धतिमें निमित्तकी मुख्यतासे व्याख्यान होता है, और अध्यात्मशास्त्रमें पुरुषार्थकी मुख्यता और उपादानकी मुख्यतासे व्याख्यानपद्धति है। और प्रायः हमें इसी परिपाटीका अनुसरण करना ही विशेष फलप्रद होगा। शरीर की क्षीणता यद्यपि तत्त्वज्ञानमें बाह्य दृष्टिसे कुछ बाधक है तथापि सम्यग्ज्ञानियोंकी प्रवृत्तिमें उतना बाधक नही हो सकती। यदि वेदनाकी अनुभूति में विपरीतताकी कणिका न हो तब मेरी समझमें हमारी ज्ञानचेतनाकी कोई क्षति नही है।

विशेष नहीं लिख सका। आजकल यहाँ मलेरियाका प्रकोप है। प्रायः बहुतसे इसके लक्ष्य हो चुके हैं। आप लोगोंकी अनुकंपासे मैं अभीतक तो कोई आपत्तिका पात्र नहीं हुआ। कलकी दिव्यज्ञानी जाने। अवकाश पाकर विशेष पत्र लिखनेकी चेष्टा करूँगा।

× × ×

श्रीयुत महाशय दीपचन्दजी वर्णी,

योग्य इच्छाकार !

आपका पत्र आया। आपके पत्रसे मुझे हर्ष होता है और आपको मेरे पत्रसे हर्ष होता है। यह केवल मोहज परिणामकी वासना है। आपके साहसने आपमें अपूर्व स्फूर्ति उत्पन्न कर दी है। यही स्फूर्ति आपको संसार-यातनाओंसे मुक्त करेगी। कहने, लिखने और वाक्चातुर्यमें मोक्षमार्ग नहीं। मोक्षमार्गका अंकुर तो अन्तःकरणसे निज पदार्थमें ही उदय होता है। उसे यह परजन्य मन, वचन, काय क्या जानें। यह तो पुद्गल द्रव्यके विलास हैं। जहाँ पर उन पुद्गलकी पर्यायोंने ही नाना प्रकारके नाटक दिखाकर उस ज्ञाता दृष्टाको इस संसारचक्रका पात्र बना रक्खा है। अतः अब दीपसे तमोराशिको भेदकर और चन्द्रसे परपदार्थ जन्य आतापको शमन कर सुधा-समुद्रमें अवगाहनकर वास्तविक सच्चिदानन्द होनेकी योग्यताके पात्र बनिये। वह पात्रता आपमें है। केवल साहस करनेका विलम्ब है। अब इस अनादि संसार-जननी कायरताको दग्ध करनेसे ही कार्य-सिद्धि होगी। निरन्तर चिन्ता करनेसे क्या लाभ? लाभ तो आभ्यन्तर विशुद्धिसे है। विशुद्धिका प्रयोजन भेदज्ञान है। भेदज्ञानका कारण निरन्तर अध्यात्म ग्रन्थोंकी चिन्तना है। अतः इस दशामें परमात्म-प्रकाश ग्रन्थ आपको अत्यन्त उपयोगी होगा। उपयोग सरल रीतिसे इस ग्रन्थमें संलग्न हो जाता है। उपक्षीण कायमें विशेष परिश्रम करना स्वास्थ्यका बाधक होता है, अतः आप सानन्द निराकुलतापूर्वक धर्मध्यानमें अपना समय-यापन कीजिये। शरीरकी दशा तो अब क्षीणता-सन्मुख हो रही है। जो दशा आपकी है वही प्रायः सबकी है। परन्तु कोई भीतरसे दुखी है तो कोई बाह्यसे दुखी है। आपको शारीरिक व्याधि है जो वास्तवमें अघाति कर्म असाताजन्य हैं। वह आत्मगुण घातक नहीं। आभ्यन्तर व्याधि मोहजन्य होती है, जो कि आत्मगुण घातक है। अतः आप मेरी सम्मति अनुसार वास्तविक दुःखके पात्र नहीं—अतः आपको अब बड़ी प्रसन्नता इस तत्त्वकी होनी चाहिये, जो मैं आभ्यन्तर रोगसे मुक्त हूँ।

पं० छोटेलाल से दर्शनविशुद्धि। भाई सा० एक धर्मात्मा और साहसी वीर हैं। उनकी परिचर्या करना। वैयावृत्य तप है, जो निर्जराका हेतु है। हमारा इतना शुभोदय नहीं जो इतने धीर, वीर, वरवीर, दुःखसीर बन्धुकी सेवा कर सकें।

× × ×

श्रीयुत वर्णी जी,

योग्य इच्छाकार।

पत्र मिला। मैं बराबर आपकी स्मृति रखता हूँ, किन्तु ठीक पता न होनेसे पत्र न दे सका। क्षमा करना। पैदल

यात्रा आप धर्मात्माओंके प्रसाद तथा पार्श्वनाथ प्रभुके चरणप्रसादसे बहुत ही उत्तम भावोंसे हुई। मार्गमें अपूर्व शांति रही। कंटक भी नहीं लगा। तथा आभ्यन्तरकी भी अशान्ति नहीं हुई। किसी दिन तो १६ मील तक चला। खेद इस बातका रहा कि आप और बाबाजी साथमें न रहे। यदि रहते तो वास्तविक आनन्द रहता। इतना पुण्य कहाँ? बन्धुवर! आप श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, समाधिशतक और समयसारका ही स्वाध्याय करिये। और विशेष त्यागके विकल्पमें न पड़िये। केवल क्षमादिक परिणामोंके द्वारा ही वास्तविक आत्माका हित होता है। काय कोई वस्तु नहीं तथा आपही स्वयं कृशःहो रही है। उसका क्या विकल्प। भोजन स्वयमेव न्यून हो गया है। जो कारण बाधक है आप बुद्धिपूर्वक स्वयं त्याग रहे हैं। मेरी तो यही भावना है—"प्रभु पार्श्वनाथ आपकी आत्माको इस बंधनके तोड़नेमें अपूर्व सामर्थ्य दें।" आपके पत्रसे आपके भावोंकी निर्मलताका अनुमान होता है। स्वतन्त्र भाव ही आत्मकल्याणका मूल मन्त्र है। क्योंकि आत्मा वास्तविक दृष्टिसे तो सदा शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव वाला है। कर्मकलंकसे ही मलीन हो रहा है। सो इसके पृथक् करनेकी जो विधि है उस पर आप आरूढ़ हैं। बाह्य क्रियाकी त्रुटि आत्मपरिणामका बाधक नहीं और न मानना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टि जो निन्दा तथा गर्हा करता है, वह अशुद्धोपयोगकी है न कि मन, वचन, कायके व्यापारकी। इस पर्यायमें हमारा आपका सम्बन्ध न भी हो। परन्तु मुझे अभी विश्वास है कि हम और आप जन्मान्तरमें अवश्य मिलेंगे। अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी समाचार अवश्य एक मासमें एक बार दिया करें। मेरी आपके भाईसे दर्शन विशुद्धि।

× × ×

श्रीयुत पं० दीपचन्दजी वर्णरत्न,

इच्छाकार।

पत्र पढ़कर सन्तोष हुआ। आपका अभिप्राय जितनी मण्डली थी सबको श्रवण प्रत्यक्ष करा दिया। सर्व लोग आपके आंशिक रत्नत्रयकी भूरिशः प्रशंसा करते हैं।

आपने जो पं० भूधरदासजीकी कविता लिखी सो ठीक है। परन्तु वह कविता आपके ऊपर नहीं घटती। आप शूर हैं। देहकी दशा जैसी कवितामें कविने प्रतिपादित की है तदनुरूप ही है परन्तु इसमें हमारा क्या घात हुआ? यह हमारे बुद्धिगोचर नहीं हुआ। घटके घातसे दीपकका घात नहीं होता। पदार्थका परिचायक ज्ञान है। अतः ज्ञानमें ऐसी अवस्था शरीरकी प्रतिभासित होती है एतावत् क्या ज्ञान तद्रूप हो गया?

श्लोक

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोद्धा न बोध्यादयम्।
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादपि॥
तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो।
रागद्वेषमया भवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम्॥

अर्थ—पूर्ण, अद्वितीय, नहीं च्युत है शुद्धबोधकी महिमा जाकी, ऐसा जो बोद्धा है वह कभीभी बोध्य पदार्थके निमित्त से प्रकाश्य (घटादि) पदार्थसे प्रदीपकी तरह कोई भी विक्रियाको प्राप्त नहीं होता है। इस मर्यादा विषयक बोधसे जिनकी बुद्धि वन्ध्या है वे अज्ञानी हैं। वे ही रागद्वेषादिक के पात्र होते हैं और स्वाभाविक जो उदासीनता है उसे त्याग देते हैं। आप विज्ञ हैं, कभी भी इस असत्य भावको आलम्बन न लेवेंगे। अनेकानेक मर चुके तथा मरते हैं और मरेंगे। इससे क्या आया। एक दिन हमारी भी पर्याय चली जावेगी। इसमें कौनसी आश्चर्यकी घटना है। इसका तो आपसे विज्ञ पुरुषोंको विचार-कोटिसे पृथक् रखना ही श्रेयस्कर है। जो यह वेदना असाताके उदय आदि कारण-कूट होनेपर उत्पन्न हुई और हमारे ज्ञानमें आयी। वेदना क्या वस्तु है? परमार्थसे विचारा जाय तो यह एक तरहसे सुखगुणमें विकृति हुई वह हमारे ध्यानमें आयी। उसे हम नहीं चाहते। इसमें कौनसी विपरीतता हुई? विपरीतता तो तब होती है जब हम उसे निज मान लेते। विकारज परिणतिको पृथक् करना अप्रशस्त नहीं, अप्रशस्तता तो हम उसीका निरन्तर चिंतवन करते रहें और निजत्वको विस्मरण हो जावें तब है।

अतः जितनी भी अनिष्ट सामग्री मिले, मिलने दो। उसके प्रति आदरभाव से व्यवहार कर ऋणमोचन पुरुष की तरह आनन्द से साधु की तरह प्रवृत्ति करना चाहिये।

निदान को छोड़कर आर्त्तत्रय षष्ठ गुणस्थान तक होते हैं। थोड़े समय तक अर्जित कर्म आया, फल देकर चला गया। अच्छा हुआ, आकर हलकापन कर गया। रोग का निकलना ही अच्छा है। मेरी सम्मति में निकलना, रहने की अपेक्षा, प्रशस्त है। इसी प्रकार आपकी असाता यदि शरीर की जीर्ण शीर्ण अवस्था द्वारा निकल रही है तब आपको बहुत ही आनन्द मानना चाहिये। अन्यथा यदि वह अभी न निकलती तब क्या स्वर्ग में निकलती? मेरी दृष्टि में केवल असाता ही नहीं निकल रही, साथ ही मोहकी अरति आदि प्रकृतियाँ भी निकल रही हैं। क्योंकि आप इस असाता को सुखपूर्वक भोग रहे हैं। शांति-पूर्वक कर्मों के रस को भोगना आगामी दुःखकर नहीं।

बहुत कुछ लिखना चाहता हूँ परन्तु ज्ञान की न्यूनता से लेखिनी रुक जाती है। बन्धुवर! मैं एक बात की आपसे जिज्ञासा करता हूँ, जितने लिखने वाले और कथन करने वाले तथा कथन कर बाह्य चरणानुयोग के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाले तथा आर्ष वाक्यों पर श्रद्धालु यावत् व्यक्ति हुये हैं, अथवा हैं तथा होंगे, क्या सर्व ही मोक्षमार्गी हैं? मेरी तो श्रद्धा नहीं। अन्यथा श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है। हे प्रभो! "हमारे शत्रुको भी द्रव्यलिंग न हो" इस वाक्य की चरितार्थता न होती तो काहे को लिखते। अतः परकी प्रवृत्ति देख रंचमात्र भी विकल्प को आश्रय न देना ही हमारे लिये हितकर है। आपके ऊपर कुछ भी आपत्ति नहीं, जो आत्महित करने वाले हैं वह शिर पर आग लगाने पर तथा सर्वाङ्ग-अग्निमय आभूषण धारण कराने पर तथा यंत्रादि द्वारा उपद्रित होने पर भी मोक्षलक्ष्मी के पात्र होते हैं। मुझे तो इस आपकी असाता और श्रद्धा को देख कर इतनी प्रसन्नता होती है प्रभो? यह अवसर सर्वको दे। आपकी केवल श्रद्धा ही नहीं किन्तु आचरण भी अन्यथा नहीं। क्या मुनिको जब तीव्र व्याधि का उदय होता है, तब बाह्य चरणानुयोग आचरण के असद्भाव में क्या उनके छठवां गुणस्थान चला जाता है? यदि ऐसा है तब उसे समाधिमरण के समय हे मुने! इत्यादि सम्बोधन करके जो उपदेश दिया है वह किस प्रकार संगत होगा। पीड़ा आदिमें चित्त चंचल रहता है इसका क्या यह आशय है पीड़ा का बारम्बार स्मरण हो जाता है, हो जाओ, स्मरण ज्ञान है, और जिसकी धारणा होती है उसका बाह्य निमित्त मिलने पर स्मरण होना अनिवार्य है। किन्तु साथमें यह भाव तो रहता है। यह चंचलता सम्यक् नहीं परन्तु मेरी समझ में इस पर भी गंभीर दृष्टि दीजिये। चंचलता तो कुछ बाधक नहीं। साथ में उसके अरति का उदय और असाता की उदीरणा से दुःखानुभव हो जाता है। उसे पृथक् करने की भावना रहती है। इसीसे इसे महर्षियोंने आर्त्तध्यान की कोटि में गणना की है। क्या इस भाव के होने से पंचम गुणस्थान मिट जाता है? यदि इस ध्यान के होने पर देशव्रत के विरुद्ध भाव का उदय श्रद्धा में न हो तब मुझे तो दृढ़तम विश्वास है, गुणस्थान की कोई भी क्षति नहीं। तरतमता ही होती है। वह भी उसी गुणस्थान में। ये बेचारे जिन्होंने कुछ नहीं जाना कहाँ जावेंगे, क्या करें इत्यादि विकल्पों के पात्र होते हैं। कहीं जाओ, हमें उसकी मीमांसासे क्या लाभ? हम बेचारे इस भाव से कहां जावेंगे इस पर ही विचार करना चाहिये।

आपका सच्चिदानन्द, जैसा आपकी निर्मल दृष्टिने निर्णीत किया है, द्रव्यदृष्टिसे वैसा ही है। परन्तु द्रव्य तो भोग्य नहीं, भोग्य तो पर्याय है, अतः उसके तात्त्विक स्वरूपके जो बाधक हैं उन्हें पृथक् करनेकी चेष्टा करना ही हमारा पुरुषार्थ है।

चोरकी सजा देखकर साधुको भय होना मेरे ज्ञान में नहीं आता। अतः मिथ्यात्वादि क्रिया संयुक्त प्राणियोंका पतन देख, हमें भय होने-की कोई भी बात नहीं। हमको तो जब सम्यकरत्नत्रयकी तलवार हाथ में आगई है और वह यद्यपि वर्त्तमानमें मौथरी धार वाली है परन्तु है तो असि। कर्मेन्धनको धीरे धीरे छेदेगी, परन्तु छेदेगी ही। बड़े आनन्दसे जीवनोत्सर्ग करना। अंशमात्र भी आकुलता श्रद्धा में न लाना। प्रभुने अच्छा ही देखा है। अन्यथा उसके मार्ग पर हम लोग न आते। समाधिमरणके योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, क्या पर निमित्त ही हैं? नहीं। जहाँ अपने परिणामोंमें शांति आई वही सर्व सामग्री है। अतः हे भाई! आप सर्व उपद्रवोंके हरणमें समर्थ और कल्याणपथके कारणोंमें प्रमुख जो आपकी दृढ़तम श्रद्धा है, वह उपयोगिनी कर्मशत्रुवाहिनी को जयनशील

तीक्ष्ण असिधारा है। मैं तो आपके पत्र पढ़कर समाधिमरण की महिमा अपने ही द्वारा होती है, निश्चय कर चुका हूँ। क्या आप इससे लाभ न उठावेंगे? अवश्य ही उठावेंगे।

नोट—मैं विवश हो गया। अन्यथा अवश्य आपके समाधिमरण-में सहकारी हो पुण्यलाभ करता। आप अच्छे स्थान पर ही जावेंगे। परन्तु पंचम काल है। अतः हमारे सम्बोधनके लिये आपका उपयोग ही इस ओर न जावेगा। अथवा जावेगा ही तब कालकृत असमर्थता बाधक होकर आपको शांति देगी। इससे कुछ उत्तरकालकी याचना नहीं करता।

× × ×

श्रीयुत महाशय पं० दीपचन्दजी वर्णी

योग्य इच्छाकार

बन्धुवर! आपका पत्र पढ़कर मेरी आत्मामें अपार हर्ष होता है कि आप इस रुग्णावस्थामें दृढ़श्रद्धालु हो गये हैं। यही संसार से उद्धारका प्रथम प्रयत्न है। कायकी क्षीणता कुछ आत्मतत्त्वकी क्षीणतामें निमित्त नहीं, इसको आप समीचीनतया जानते हैं। वास्तवमें आत्माके शत्रु तो राग, द्वेष और मोह हैं। जो इसे निरन्तर इस दुःखमय संसारमें भ्रमण करा रहे हैं। अतः आवश्यकता इसकी है कि जो राग-द्वेषके आधीन न होकर स्वात्मोत्थ परमानन्द-की ओर ही हमारा प्रयत्न सतत रहना ही श्रेयस्कर है।

औदयिक रागादि होवें, इसका कुछ भी रंज नही करना चाहिये। रागादिकोंका होना रुचिकर नहीं होना चाहिये। बड़े-बड़े ज्ञानी जनोंके राग होता है। परन्तु उस रागमें रंजकता के अभावसे अग्रे उसकी परिपाटी-रोधका आत्माको अनायास अवसर मिल जाता है। इस प्रकार औदयिक रागादिकोंकी सन्तानका अपचय होते होते एक दिन समूलतलसे उसका अभाव हो जाता है और तब आत्मा अपने स्वच्छ स्वरूप होकर इस संसारकी वासनाओं-का पात्र नहीं होता। मैं आपको क्या लिखूं? यही मेरी सम्मति है—जो अब विशेष विकल्पोंको त्यागकर जिस उपायसे राग द्वेषका आशयमें अभाव हो वही आपका व मेरा कर्त्तव्य है। क्योंकि पर्यायका अवसान है। यद्यपि पर्यायका अवसान तो होगा ही किन्तु फिर भी सम्बोधनके लिये कहा जाता है, तथा मूढ़ोंको वास्तविक पदार्थका परिचय न होनेसे बड़ा आश्चर्य मालूम पड़ता है।

विचारसे देखिये—तब आश्चर्यको स्थान नहीं। भौतिकपदार्थोंकी परिणति देखकर बहुतसे जन क्षुब्ध हो जाते हैं। भला जब पदार्थमात्र अनन्त शक्तियोंके पुंज हैं, तब क्या पुद्गलमें यह बात न हो, यह कहाँका न्याय है। आजकल विज्ञान के प्रभाव को देख लोगोंकी श्रद्धा पुद्गल द्रव्यमें ही जाग्रत हो गई है। भला यह तो विचारिये, उसका उपयोग किसने किया? जिसने किया उसको न मानना यही तो जड़भाव है।

बिना रागादिकके कार्माण वर्गणा क्या कर्मादिरूप परिणमनको समर्थ हो सकती हैं? तब यों कहिये—अपनी अनन्तशक्ति के विकासका बाधक आपही मोहकर्म द्वारा हो रहा है। फिर भी हम ऐसे अन्धे हैं जो मोहकी ही महिमा आलाप रहे हैं। मोहमें बलवत्ता देने वाली शक्तिमान वस्तुकी ओर दृष्टि-प्रसार कर देखो तो धन्य उस अचिन्त्य प्रभाववाले पदार्थको कि जिसकी वक्रदृष्टिसे यह जगत् अनादिसे बन रहा है। और जहाँ उसने वक्र दृष्टिको संकोचकर एक समयमात्र सुदृष्टिका अवलम्बन किया कि इस संसारका अस्तित्व ही नहीं रहता। सो ही समय-सार में कहा है—

कलश

कषायकेलिरेकतः शान्तिरस्त्येकतो।
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः॥
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः।
स्वभावमहिमाऽऽत्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः॥

अर्थ—एक तरफसे कषाय कालिमा स्पर्श करती है और एक तरफसे शान्ति स्पर्श करती है। एक तरफ संसारका आघात है और एक तरफ मुक्ति है। एक तरफ तीनों लोक प्रकाशमान है और एक तरफ चेतन आत्मा प्रकाश कर रहा है। यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि आत्माकी स्वभाव महिमा अद्भुत से अद्भुत विजयको प्राप्त होती है। इत्यादि अनेक पद्यमय भावों से यही अन्तिम कर्ण-प्रतिभा का विषय होता है जो आत्मद्रव्य ही की विचित्र महिमा है। चाहे नाना दुःखाकीर्ण जगतमें नानावेष धारणकर नटरूप

बहुरूपिया बने। चाहे स्वनिर्मित सम्पूर्ण लीलाको सम्वरण करके गगनवत् पारमार्थिक निर्मल स्वभावको धारणकर निश्चल तिष्ठें। यही कारण है। "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" अर्थ—यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म स्वरूप है। इसमें कोई सन्देह नहीं, यदि वेदान्ती एकान्त दुराग्रहको छोड़ देवें। तब जो कुछ कथन है अक्षरशः सत्य भासमान होने लगे। एकान्त-दृष्टि ही अन्धदृष्टि है। आप भी अल्प परिश्रमसे कुछ इस ओर आइये। भला यह जो पंच स्थावर और त्रसका समुदाय जगत् दृश्य हो रहा है, क्या है? क्या ब्रह्मका विकार नही? अथवा स्वमतकी ओर कुछ दृष्टिका प्रसार कीजिये। तब निमित्त कारणकी मुख्यतासे ये जो रागादिक परिणाम हो रहे हैं, क्या उन्हें पौद्गलिक नही कहा है? अथवा इन्हें छोड़िये। जहाँ अवधिज्ञानका विषय निरूपण किया है, वहाँ क्षयोपशम भावको भी अवधिज्ञानका विषय कहा है। अर्थात्-पुद्गलद्रव्यसम्बन्धेन जायमानत्वात् क्षायोपशमिक भाव भी कथंचित रूपी है। केवलज्ञान भाव अवधिज्ञानका विषय नही, क्योकि उसमें रूपी द्रव्यका सम्बन्ध नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि औदयिक भाववत् क्षायोपशमिक भाव भी कथंचित् पुद्गलसम्बन्धेन जायमान होनेसे मूर्तिमान है न कि रूपरसादिमत्ता इनमें है? तद्वत् अशुद्धताके सम्बन्धसे जायमान होनेसे यह भौतिक जगत भी कथंचित् ब्रह्मका विकार है। कथंचित् का यह अर्थ है—

जीवके रागादिक भावोंके ही निमित्त को पाकर पुद्गल द्रव्य एकेन्द्रियादि रूप परिणमनको प्राप्त है। अतः यह जो मनुष्यादि पर्याय हैं, दो असमान जातीय द्रव्यके सम्बन्धसे निष्पन्न हैं। न केवल जीवकी हैं और न केवल पुद्गलकी हैं। किन्तु जीव और पुद्गलके सम्बन्ध से जायमान है। तथा यह जो रागादि परिणाम हैं जो न तो केवल जीवके ही हैं और न केवल पुद्गलके हैं किन्तु उपादान की अपेक्षा तो जीव के हैं और निमित्त कारणकी अपेक्षा पुद्गलके हैं। और द्रव्यदृष्टि कर देखें तो न पुद्गलके हैं और न जीवके हैं। शुद्ध द्रव्य के कथन में पर्याय की मुख्यता नहीं रहती। अतः यह गौण हो जाते हैं। जैसे पुत्र पर्याय स्त्री पुरुष दोनों के द्वारा सम्पन्न होती है। अस्तु, इससे यह निष्कर्ष निकला, यह जो पर्याय है, वह केवल जीव की नहीं किन्तु पौद्गलिक मोहके उदयसे आत्माके चारित्र गुणमें विकार होता है। अतः हमें यह न समझना चाहिये कि हमारी इसमें क्या क्षति है। क्षति तो यह हुई जो आत्माकी वास्तविक परिणति थी वह विकृत भावको प्राप्त हो गई। यही तो क्षति है। परमार्थसे क्षतिका यह आशय है कि आत्मामें रागादिक दोष हो जाते हैं, वह न होवें। तब जो उन दोषोंके निमित्तसे यह जीव किसी पदार्थमें अनुकूलता और किसीमें प्रतिकूलताकी कल्पना करता था और उनके परिणमन द्वारा हर्ष विषाद कर वास्तविक निराकुलता (सुख) के अभावमें आकुलित रहता था, शान्तिके आस्वादकी कणिका-को भी नहीं पाता था! अब उन रागादिक दोषोंके असद्भाव में आत्मगुण चारित्रकी स्थिति अकम्प और निर्मल हो जाती है। उसके निर्मल निमित्तको अवलम्बन कर आत्माका चेतना नामक गुण है, वह स्वयमेव दृश्य और ज्ञेय पदार्थोंका तद्रूप हो दृष्टा और ज्ञाता शक्तिशाली होकर आगामी अनन्तकाल स्वाभाविक परिणमनशाली आकाशा-दिवत् अकम्प रहता है। इसीका नाम भावमुक्ति है। अब आत्मामें मोहनिमित्तक जो कलुषता थी वह सर्वथा निर्मल हो गई, किन्तु अभी जो योगनिमित्तक परिस्पन्दन है वह प्रदेशप्रकम्पनको करता ही रहता है। तथा तन्निमित्तक ईर्यापथास्रव भी साता वेदनीयका हुआ करता है। यद्यपि इसमें आत्माके स्वाभाविक भावकी क्षति नही। फिर भी निरपवर्त्य आयुके सद्भावमें यावत् आयुके निषेक हैं तावत् भवस्थितिको मेंटनेको कोई भी क्षम नही। तब अन्तर्मुहूर्त आयुका अवसान रहता है। तथा शेष जो नामादिक कर्मकी स्थिति अधिक रहती है, उस कालमें तृतीय शुक्ल-ध्यानके प्रसादसे दंड कपाटादि द्वारा शेष कर्मोंकी स्थितिको आयुसम कर चतुर्दश गुणस्थानका आरोहण कर, अयोग नामको प्राप्त करता हुआ, लघु पंचाक्षरके उच्चारणके काल सम गुणस्थानका काल पूर्ण कर, चतुर्थ ध्यानके, प्रसादसे शेष प्रकृतियोंको नाश कर, परम यथाख्यात चारित्रका लाभ करता हुआ एक समयमें द्रव्यमुक्ति व्यपदेशताको लाभकर मुक्ति-साम्राज्य-लक्ष्मीका भोक्ता होता हुआ लोकशिखरमें विराजमान, होकर तीर्थंकर प्रभुके ज्ञानका विषय होकर हमारे कल्याण में सहायक हो। यही हम सबकी अन्तिम

प्रार्थना है।

श्रीमान् बाबा भागीरथजी महाराज आगये, उनका आपको सस्नेह इच्छाकार। खेद इस बातका विभाजन्य हो जाता है जो आपकी उपस्थिति यहाँ न हुई। जो हमें भी आपकी वैयावृत्ति करनेका अवसर मिल जाता, परन्तु हमारा ऐसा भाग्य कहाँ? जो सल्लेखनाधारी एक सम्यग्ज्ञानी पंचम गुणस्थानवर्ती जीवकी प्राप्ति हो सके। आपके स्वास्थ्यमें आभ्यन्तर तो क्षति है नहीं, जो है सो बाह्य है। उसे आप प्राय: वेदन नहीं करते, यही सराहनीय है। धन्य है आपको—जो इस रुग्णावस्थामें भी सावधान हैं। होना ही श्रेयस्कर है। शरीरकी अवस्था अपस्मार वेगवत् वर्धमान हीयमान होनेसे अध्रुव और शीतदाह ज्वरावेश द्वारा अनित्य है, ज्ञानी जनको ऐसा जानना ही मोक्षमार्गका साधक है। कब ऐसा समय आवेगा जो इसमें वेदनाका अवसर ही न आवे। आशा है एक दिन आवेगा। जब आप निश्चल वृत्तिके पात्र होवेंगे। अब अन्य कार्योंसे गौण भाव धारणकर सल्लेखना के ऊपर ही दृष्टि दीजिये और यदि कुछ लिखनेकी चुलबुल उठे तब उसी पर लिखनेकी मनोवृत्तिकी चेष्टा कीजिये। मैं आपकी प्रशंसा नहीं करता, किन्तु इस समय ऐसा भाव जैसा कि आपका है, प्रशस्त है।

ज्येष्ठ वदी १ से फाल्गुन सुदी ५ तक मौनका नियम कर लिया है। एक दिनमें एक घण्टा शास्त्रमें बोलूंगा।

पत्र मिल गया-- पत्र न देने का अपराध क्षमा करना।

× × ×

श्रीयुत महाशय दीपचन्दजी वर्णी साहब,

योग्य इच्छाकार।

पत्रसे आपके शारीरिक समाचार जाने—अब यह जो शरीर पर है, शायद इससे अल्प ही कालमें आपकी पवित्र भावनापूर्ण आत्माका सम्बन्ध छूटकर, वैक्रियिक शरीरसे सम्बन्ध हो जावे। मुझे यह दृढ़ श्रद्धान है कि आपकी असावधानी शरीरमें होगी—न कि आत्मचिंतवन में। असातोदयमें यद्यपि मोहके सद्भावसे विकलताकी सम्भावना है। तथापि आंशिक भी प्रबल मोहके अभावमें वह आत्म-चिंतनका बाधक नहीं हो सकती। मेरी तो दृढ़ श्रद्धा है कि आप अवश्य इसी पथ पर होंगे। और अन्ततक दृढ़तम परिणामों द्वारा इन क्षुद्र बाधाओंकी ओर ध्यान भी न देंगे। यही अवसर संसार-लतिकाके घात का है।

देखिये, जिस असातादि कर्मोंकी उदीरणाके अर्थ महर्षि लोग उग्रोग्रतप धारण करते-करते शरीरको इतना कृश बना देते हैं, जो पूर्व लावण्यका अनुमान भी नहीं होता। परन्तु आत्म-दिव्यशक्तिसे भूषित ही रहते हैं। आपका धन्यभाग्य है, जो बिना ही निर्ग्रंथपद धारणके कर्मोंका ऐसा लाघव हो रहा है जो स्वमेव उदयमें आकर पृथक् हो रहे हैं। इसका जितना हर्ष मुझे है, नहीं कह सकता। वचनातीत है।

आपके ऊपरसे भार पृथक् हो रहा है, फिर आपके सुखकी अनुभूति तो आपही जानें। शांतिका मूल कारण न साता है और न असाता, किन्तु साम्यभाव हैं। जो कि इस समय आपके हो रहे। अब केवल स्वात्मानुभव ही रसायन परमौषधि है। कोई-कोई तो क्रम-क्रमसे अन्नादि-का त्यागकर समाधिमरणका यत्न करते हैं। आपके पुण्यो-दय से स्वयमेव वह छूट गया। वही न छूटा, साथ-साथ असातोदय द्वारा दु:खजनक सामग्रीका भी अभाव हो रहा है।

अत: हे भाई! आप रंचमात्र क्लेश न करना। जो वस्तु पूर्व अर्जित है यदि वह रस देकर स्वयमेव आत्माको लघु बना देती है तो इससे विशेष और आनन्द का क्या अवसर होगा। मुझे अन्तरंगसे इस बात का पश्चात्ताप हो जाता है, जो अपने अन्तरंग बन्धुकी ऐसी अवस्थामें वैयावृत्य न कर सका।

माघ वदी १४ सं० १९९७, } आपका शुभचिंतक
गणेशप्रसाद वर्णी

१

एक ऐतिहासिक प्रवचन

(निमित्त-नैमित्तिक व्यवस्था; कार्य में निमित्त-उपादान की भूमिका; शुभ-उपयोग तथा अर्हन्त-भक्ति की उपादेयता तथा सोनगढ़ की विचारधारा के सम्बन्ध में पूज्य वर्णी जी का एक विशेष वक्तव्य)

प्रस्तावना

पूज्य श्री १०५ श्री क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीका प्रवचन, जो उन्होंने उदासीन आश्रम ईशरीमें ता० ३१-३-५७ के मध्याह्न कालके समय आश्रमके ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणियों तथा विद्वानों के समक्ष किया था और जिसको रिकार्डिंग मशीनमें भर लिया गया था, उन्हीं शब्दोंमें लेखरूपमें यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

सोनगढ़के श्री कानजी स्वामी तीर्थराज श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रार्थ ता० ६-३-५७ को पहुँचे, तथा उसी दिन पूज्य वर्णीजी से मिलने भी आये। पूज्य वर्णीजी भी ४-५ बार उनके पंडालमें गये। दिनांक १४-३-५७ को श्रीकानजी स्वामीने श्री समयसार ग्रन्थ की आस्रव तत्त्व की गाथा पर प्रवचन किया। इस दिनके प्रवचन पर पूज्य श्री वर्णीजी ने कहा कि - इस आस्रव तत्त्वके श्रीकानजी स्वामीके प्रवचनमें मेरे को कोई विपरीतता नहीं लगी, यह आगमोक्त है।

बस, फिर क्या था? इसी बातको लेकर कुछ भाइयोंने कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, इन्दौर आदि जगहों पर जोरोंसे प्रचार कर दिया कि पूज्य वर्णीजी ने श्री कानजी स्वामीकी मान्यताओंको मंजूर कर लिया है। बहुतसे भाई असमंजसमें पड़ गये, समाजमें एक भ्रान्ति पैदा कर दी गई जिसका निवारण करना अत्यावश्यक समझा गया। बहुतसे भाईयोंने यह भी कहा कि हम सैद्धान्तिक गूढ़ तत्त्वोंको तो समझते नहीं हैं, हम लोगों की पूज्य वर्णीजी के प्रति श्रद्धा है—वे इस सम्बन्धमें जो कहेंगे वह हमें मान्य है—इस कारण से भी यह आवश्यक समझा गया कि इस सम्बन्धमें पूज्य श्री वर्णीजी का स्पष्टीकरण हो जाना आवश्यक है। इसलिए ता० ३०-३-५७ को श्री मांगीलालजी पांड्या, श्री चाँदमलजी बड़जात्या, श्री इन्द्रचन्द्र पाटनी, श्रीकल्याणचन्द्रजी पाटनी, श्रीनेमीचन्द्रजी छाबड़ा और मैं एवं श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार तथा श्री नेमीचन्द्रजी वकील सहारनपुर वाले, जो यहाँ आये हुये थे, ईशरी गये और पूज्य वर्णीजीके सामने सारी परस्थिति कह सुनाई। समाजमें फैलाये जाने वाले भ्रमके निवारणार्थ रेकार्डिंग मशीनके सामने अपना खुलासा कर देने की प्रार्थना उनसे की गई। पूज्य वर्णीजीने लोगों द्वारा किये जाने वाले ऐसे मिथ्या प्रचार पर आश्चर्य प्रकट किया। ता० ३१-३-५७ के दोपहरके समय अपना प्रवचन मशीनमें भर लेने की स्वीकारता उन्होंने दे दी।

इस प्रकाशनमें उनके अपने शब्दोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, कार्यमें उपादान की योग्यताके साथ निमित्त की सहायता की आवश्यकता, शुभोपयोग एवं भगवान की भक्ति की आवश्यकता एवं साधनता के विषयमें दिगम्बर जैनागम की जो आज्ञा है उसे प्रकाशित किया गया है तथा श्री कानजी स्वामीके सम्बन्धमें भी प्रकाश डाला गया है। ज्यों का त्यों प्रकाशन होनेके कारण शब्दों की पुनरावृत्ति तथा बुन्देलखंड प्रान्त की बोलीमें मिश्रित होनेके कारण भाषा की दृष्टिसे कुछ अशुद्धियां रहना स्वाभाविक है पर इसमें पूज्य वर्णीजीके शब्दोंसे एक अक्षर का भी अन्तर नहीं है।

आशा है, मिथ्या भ्रमके निवारणमें यह प्रकाशन सहायक होता हुआ सच्चे मार्गके अवलम्बनमें प्रेरक बनेगा।

कलकत्ता, ता० १५-४-५७

—बाबूलाल जैन जमादार

श्री वर्णीजी का प्रवचन, टेप रिकार्डिंग में प्रस्तावना—

मिती चैत्र कृष्ण ३० ता० ३१-३-५७ को दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ईसरीमें पूज्य १०५ क्षु० श्री गणेशप्रसादजी वर्णी का टेप रिकार्ड किया हुआ प्रवचन :—

श्री नेमिचन्द्रजी वकील सहारनपुर—पूज्य श्री १०५ क्षु० श्री गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्य का आज उदासीन आश्रम—दिग. जैन उदासीन आश्रम ईशरी बाजारमें श्री समयसारजी की गाथा नं० २७८, २७९ पर प्रवचन हो रहा है :—

पूज्य क्षु० श्री वर्णी जी महाराज :—

"रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ।।

यहां पर रागादिक बन्ध का कारण है, यह अमृतचन्द्रसूरिने कहा है। रागादयः-रागादिक कैसे हैं, शुद्ध चिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः। शुद्ध चैतन्यमात्र-मह उससे अतिरिक्त। यहां पर शुद्धसे तात्पर्य 'केवल' का है। आत्मा उन रागादिकके होनेमें 'आत्मा परो वा किमु तद् निमित्तं' ऐसा किसीने प्रश्न किया कि रागादिक होनेमें आत्मा निमित्त है या और कोई निमित्त है ऐसा प्रश्न करने पर आचार्य उत्तर देते हैं :—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।।

जैसे—स्फटिक मणि, केवल स्फटिक मणि स्वयं शुद्ध है। रागादयो-रागादिरूप जो लाल परिणमन है उसका स्वयं न परिणमन्ते, स्वयं न परिणमन्ते इसका क्या अर्थ है, परिणमते स्वयं ही हैं पर निमित्तमन्तरेण न परिणमन्ते इत्यर्थः। स्फटिक मणि स्वयं रागादिक रूप परिणमेगी, स्वयं न परिणमते इसका क्या अर्थ है, परके सम्बन्ध बिना स्वयं न परिणमते। परिणमे स्वयं, पर परके निमित्त बिना नहीं— यथा मृत्तिका स्वयं घटरूपेण, परिणमते। मट्टी ही घटरूप परिणमते। यह बात नहीं है कि मृत्तिका घटरूप परिणमन को प्राप्त नहीं होती परन्तु कुम्भकारादिव्यापारमन्तरेण स्वयं न परिणते इत्यर्थः। कुम्भकार आदि व्यापारके बिना केवल अपने आप तद्रूप परिणम जाय यह बात नहीं है। इसी तरहसे आत्मा स्वयं फलिहमणि शुद्धो ण सयं परिणमति रागमाईहिं। शुद्ध, शुद्धसे तात्पर्य 'केवल' का है। ज्ञानी का यह अर्थ नहीं लेना कि चौथे गुणस्थानसे सम्यग्ज्ञानी, सो नहीं। स्वयं का अर्थ केवल स्वयं, केवल, केवल आत्मा जो है, अकेला एक। एक परमाणुमें बंध नहीं होता। एक आत्मामें स्वयं रागादि परिणमन नहीं होता। रागादि भी स्वयं न परिणमन्ते। स्वयं न परिणमन्ते इत्यस्य कः अर्थः। स्वयं परिणमन को प्राप्त नहीं हुये इसका क्या अर्थ है। अर्थात् रागादि कर्मभिः सम्बन्धमंतरा न स्वयं परिणमन्ते। रागादि कर्मके सम्बन्धके बिना वह स्वयं, केवल, अकेला नहीं परिणमता। परिणमता स्वयं, पर रागादिसम्बन्धमंतरा न परिणमते। उसीका अमृतचन्द्र स्वामी अर्थ करते हैं-न खलु केवलाः स्फटिकोपलाः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात्, रागादिभिः स्वयं न परिणमते। केवल स्फटिक को केवल, केवल माने अकेला शुद्ध, पदार्थान्तर सम्बन्धके बिना, परिणाम स्वभावे सत्यपि, परिणमनशील है परिणाम स्वभाव है। परन्तु स्वस्य माने केवल का शुद्ध स्वभावत्वेन रागादि निमित्तत्वाभावाद् रागादि निमितत्व का अभाव होनेसे रागादिभिः स्वयं न परिणमन्ते। स्फटिकोपलाः, रागादि करके स्वयं न परिणमन्ते अर्थात् जपापुष्प सम्बन्धमन्तरेण, जपा पुष्पके संबंधके बिना केवल न परिणमते, जपापुष्पके सम्बन्ध करते स्वयं स्फटिकोपलेव तुम्हारे रागादि भी परिणमते। पर द्रव्य नैव स्वयं रागादिभावपरिणमतया। परद्रव्य, जपापुष्पादि परद्रव्य, उनके स्वयं रागादिभाव परिणमतया। उनका स्वयं रागादि परिणमन स्वभाव है। स्वस्य रागादि निमित्तभूतेन स्वस्य स्फटिकोपल को रागादिक का निमित्त भूत होने पर शुद्ध स्वभावत्वं प्रच्यवमानेन उसको शुद्ध स्वभावसे च्युत कराता हुआ रागादि भी परिणमते। कौन ? स्फटिकोपल रागादिरूप परिणम जाता है। यह तो दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त कहते हैं। तथा यथा स्फटिकोपल, जपापुष्प सम्बन्धेन रागादिरूप परिणमता

है एवं, किल आत्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि, परिणाम स्वभाव होने पर भी, यथा स्फटिकोपलपरिणाम स्वभाव होने पर जपापुष्पमन्तरेण रागादिरूप नहीं परिणमते तथा केवल आत्मा शुद्ध परिणाम स्वभाव होने पर भी स्वस्य,शुद्ध स्वभाव होने परभी, स्वयं परद्रव्यनिरपेक्षतया रागादि कर्मनिरपेक्षतया स्वयं अपने आप रागादिरूप नही परिणमता। पर द्रव्य नैव स्वयं रागादि भाव परिणमतया, पर द्रव्य जो हैं स्वयं रागादिभाव परिणमन होने से स्वस्य रागादि निमित्त-भूतेन, स्वयं को रागादि निमित्तभूत होने पर, शुद्ध स्व-भावसे च्युत कराता हुआ रागादिभिः परिणमते—राग-द्वेषादिरूप परिणमन को प्राप्त हो जाती है। इति वस्तु-स्वभावः। इस सबका निचोड़ अमृतचन्द्र स्वामी एक श्लोकमें कहते हैं—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो
याति यथाऽर्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावो-
ऽयमुदेति तावत् ॥

आत्मा कभी भी, याति माने कदाचित् भी अपने आप रागादिक का निमित्त होकर परिणमन को प्राप्त हो जाय सो बात नही है। यथा अर्ककान्त सूर्यकान्त मणि यथा सूर्यकिरणसम्बन्धमन्तरेण स्वयं अपने आप अग्निरूप परिणमन को प्राप्त नही होता है। सूर्यकिरणसम्बन्धं प्राप्तः। सूर्यकिरणके सम्बन्ध को पाकरके अग्निरूप परि-णमन जाता है। इस तरहसे आत्मा स्वयं केवल, अकेला पर सम्बन्धमन्तरेण रागादिकरूप स्वयं न परिणमते। किन्तु तस्मिन् निमित्तम् परसंग एव—उसके परिणमनमें निमित्त, परसंग ही है, उसके निमित्त को पाकरके आत्मा रागादिरूप परिणम जाता है। यह वस्तु का स्वभावः उदेति-यह वस्तु का स्वभाव है। इस प्रकार जो वस्तुके स्वभाव को जानते हैं वह ज्ञानी हैं, वे अपनी आत्मा को रागादिक नहो करके कारक नहीं होते और जो ज्ञानी नहीं हैं वे कारक होते हैं। इसका तो तात्पर्य यही है।

संसारके अन्दर पदार्थ दो हैं—जीव और अजीव, दो पदार्थ हैं—अजीव पदार्थके पांच भेद हैं। उसमें पुद्गल को छोड़ करके शेष चार जो अजीव हैं वे शुद्ध ही शुद्ध रहते हैं। दो जो पदार्थ हैं जीव और पुद्गल—इन पदार्थोंमें दोनों प्रकार का परिणमन होता है—इनमें विभावशक्ति भी है। इन दोनों पदार्थोंमें और अनन्तशक्ति भी हैं। वह विभावशक्ति यदि न होती तो एक चाल ही होती। विभावशक्ति ही एक ऐसी चीज है कि जिसके द्वारा आत्मामें परिणमन होता है। पर पदार्थ का सम्बन्ध रहता है। पदार्थ-पदार्थ का सम्बन्ध आज का नहीं है। अनादिकाल का है। अनादिकाल का सम्बन्ध होनेसे आत्मा का वह रागादिकरूप, द्वेषादिकरूप, क्रोधरूप, मानरूप, माया-लोभादिकरूप जितना भी परिणमन है आत्मा का स्वभाव नहीं है—विभावशक्ति का है। विभाव-शक्ति आत्माके अन्दर है सो ऐसा परिणमन हो जाय, परका निमित्त मिले तो उस रूप परिणम जाय, इस वास्ते हम सबको उचित है कि निमित्तकारणों को जो है, उतना ही आदर देवें जितनी कि आदर देने की जरूरत है। उपादान कारण पर भी उतना ही आदर देवें जितनी कि जरूरत है। **उसको अधिक मानो या इसको अधिक मानो यह तत्त्व नहीं है। दोनों अपने अपनेमें स्वतंत्र है। उपादान भी स्वतन्त्र है, वह कहे कि मैं निमित्त बिना परिणम जाऊं तो कोई ताकत नहीं। केवल उपादान की ताकत नहीं है कि निमित्त न मिले और वह परिणम जाय, सो परिणमेगा वही परनिमित्त को पाकर के।** जैसे कुम्भकार घट को बनाता है। सब कोई जानता है कि कुम्भकार घट को बनाता है। अगर कुम्भकार नहीं होय तो घट परिणामके सम्मुख भी है और घट परिणाम की प्राप्तिके उन्मुख भी है। परन्तु कुम्भकारमन्तरेण बिना नही परिणम सकता। कुंभकारादि निमित्त हो और बालू का पुंज लगा हो तो घट का परिणमन हो जाय सो भी नहीं है। इस वास्ते **उपादान और निमित्त दोनों अपने अपनेमें बराबर की चीज हैं। कोई न्यूनाधिक उसमें माने सो नहीं है।** उसका कार्य उसमें होता है, इसका कार्य इसमें होता है। व्याप्य-व्यापक का भाव जो है, उपादान का, अपनी पर्यायके साथ होता है। निमित्त की पर्यायोंके साथ नहीं होता। परन्तु ऐसा नहीं कि उसका कुछ भी सम्बन्ध न हो। यथा अन्तर व्याप्य-व्यापकभावेन मृत्तिकया

घटः । मृत्तिका के द्वारा घट बनता है । अन्तर्व्याप्यव्याप्येन मृत्तिकैव अनुभूयमाने, और मृत्तिका ही अनुभवन करती है और मृत्तिका में ही उसका तादात्म्य-सम्बन्ध है । परन्तु बाह्य व्याप्य-व्यापक भाव कुछ नहीं सो बात नहीं है । व्याप्य-व्यापकभावेन, घटके अनुकूल व्यापार कुम्भकार करेगा तो घट होगा— तो व्यापारं कुर्वाणः कुम्भकार जो है वह घट को बनाने वाला है । और घटसे जो तृप्ति हुई, जलादिक आकर जो तृप्ति हुई उसको अनुभवन करने वाला कौन है ? कुम्भकार ! इस कारण **अगर निमित्त नैमित्तिक भाव न होवे तो तुम्हारे यहाँ पर मृत्तिका में घट नहीं बन सकता** बहि व्याप्यव्यापकभावेन उसके साथ सम्बन्ध है ही, अगर बहिर्व्याप्यव्यापकभाव अस्वीकार करो तो घटोत्पत्ति नहीं हो सकती । इसी तरहसे आत्मामें ज्ञानावरणादिक जो कर्म है सो पुद्गल द्रव्य स्वयं ज्ञानावरणादिक कर्मरूप परिणमता है । और आत्माके मोहादिक परिणामोंके निमित्त को पाकरके परिणमता है । अगर मोहादिक परिणाम निमित्त रूपमें न हों तो कभी भी तुम्हारे ज्ञानावरणादिक रूप पर्याय को प्राप्त नहीं होवें । इस वास्ते **निमित्तकारण की भी आवश्यकता है । उपादानकारण की भी आवश्यकता है ।**

प्रश्न— श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार सहारनपुरः—

ज्ञानमें जो कमी हुई, जीवका स्वभाव तो केवलज्ञान है और वर्तमानमें जो हमारी संसारी अवस्थामें जितने भी जीव हैं, उनके ज्ञानमें जो कमी हुई, वह क्या कर्मके उदय की वजहसे हुई या बिना कर्मके उदयकी वजहसे हुई ।

उत्तर —पूज्य वर्णीजी महाराजः—

इसमें दोनों कारण हैं । कर्मका उदय कारण है और उपादान कारण आत्मा है । कर्मका उदय यदि न होय तो ज्ञान कभी भी न्यूनाधिक परिणमनको प्राप्त नहीं होगा ।

विभाव और बात है । यह तो ज्ञानावरणादिक कर्मका इस प्रकारका क्षयोपशम है । तत् तरतमभावसे आत्माका ज्ञानादिक विकास होता है । जितना उदय होता है उतना अज्ञान रहता है और जितना ज्ञानावरणादिक कर्मका उदय होगा उतना ही अज्ञान रहेगा । जितना ज्ञानावरणादिक कर्मका क्षयोपशम होगा उतना ज्ञान रहेगा ।

प्रश्न—श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार—

कानजी स्वामी यह कहते हैं, महाराज, ज्ञानावरणादिक कर्म कुछ नहीं करते । अपनी योग्यतासे ही ज्ञानमें कमी-बेसी होती है । महाराज, ज्ञानमें कमी होती है अपनी वजह से होती है, अपनी योग्यतासे होती है, कानजी स्वामी यह कहते हैं । ज्ञानावरणादिक कर्म कुछ नहीं करता तो, महाराज, क्या यह ठीक है ?

उत्तर—पूज्य वर्णीजी महाराजः—

यह ठीक है ? आप ही समझो, कैसे ठीक है । **यह ठीक नहीं है । चाहे कोई भी कहे, हम तो कहते हैं कि अंगधारी भी कहे तो भी ठीक नहीं है ।**

प्रश्न—बाबू सुरेन्द्रनाथजीः—

महाराज, सम्यग्दृष्टिके पूजन, दान, व्रतादिकके आचरण ये मोक्ष के कारण हैं या नहीं ?

उत्तर—पूज्य वर्णीजी महाराजः—

मेरी तो यह श्रद्धा है कि सम्यग्दृष्टिके चाहे शुभोपयोग हो, चाहे अशुभोपयोग हो, केवल नहीं होता है उसमें शुद्धोपयोग । अनन्तानुबन्धी कषाय जानेसे शुद्धोपयोगका अंश प्रकट हो जाता है । जहां शुद्धोपयोगका अंश प्रकट हुआ तहाँ पूर्ण शुद्धोपयोग मोक्षका कारण है, तो अल्प शुद्धोपयोग भी मोक्षका कारण है । यानी कारणता तो उसमें आ गई, पूर्णतः आवो या न आवो । प्रवचनसारमें अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र जो है यह पूर्णताको प्राप्त होते हैं. तब वीतरागतासहित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, वीतरागचारित्र सहित मोक्षके ही मार्ग हैं । अतएव सरागात् अगर इनके अंशमें जो राग मिला है तो जो राग है वह बंध का कारण है । इस वास्ते जो राग है, सम्यग्दृष्टिका, जो उपयोग है, जितना शुभोपयोग है वह बंधका कारण है । और जो शुद्धोपयोग है वह निर्जरा और मोक्षका कारण है । **सम्यग्दृष्टिका शुभोपयोग सर्वथा ही बंधका कारण हो, सो बात नहीं है ।**

प्रश्न—श्री रतनचन्द्रजी मुख्तारः—

महाराज ! जिसे मोक्षमार्ग रुचता है, उसे जिनेन्द्र देवकी भक्ति रुचती है या नहीं ?

उत्तर—पूज्य वर्णीजी महाराज:—

मेरा तो विश्वास है कि जिसको मोक्षमार्ग रुचता है उसको जिनेन्द्रदेवकी भक्ति तो दूर रही, सम्यग्दृष्टिकी जो बातें हैं वह सब उसको रुचती हैं। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये। वड़े आचार्य थे, उमास्वामी। मोक्षमार्गका निरूपण करना था, मंगलाचरण क्या करते हैं:—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, विश्वतत्त्वज्ञातारं अहं वंदे, काहेके लाने ? तद्गुण लब्धये, तद्गुणोंकी लब्धिके लिए। तो उनमें जो भक्ति हुई, भगवानकी जो भक्ति हुई, स्तवन हुआ,—भगवानका जो स्तवन हुआ तो भक्ति स्तवन वगैरहका वर्णन किया—क्या चीज है ? गुणस्तोकं समुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः। वह स्तुति कहलाती है कि थोड़े गुण को उल्लंघन करके उसकी बहुत कथा करना, उसका नाम स्तुति है। भगवानके अनन्त गुण हैं। वक्तुम् अशक्त्वात् उनके कथनको करने में अशक्त हैं। अनन्त गुण हैं। भक्ति वह कहलाती है कि गुणोंमें अनुराग हो, उसका नाम भक्ति है। भगवानके अनन्तगुण हैं, उनको कहने को हम अशक्त हैं, कह नहीं सकते। तो भी जैसे समुद्र का, कोई अमृतके समुद्रका अंतस्तल स्पर्श करने में असमर्थ है, अगर उसे स्पर्श भी हो जाय तो शांतिका कारण है। तो भगवानके गुणोंका वर्णन करना दूर रहा, उसका स्मरण भी हो जाय तो हमको संसारताप की व्युच्छित्तिका कारण है। इस वास्ते भगवानका जो स्तवन है वह गुणोंमें अनुराग है। गुणोंमें अनुराग कौन-सी कषायको पोषण करने वाला है ? जिस समय भगवानकी भक्ति करोगे अनन्त ज्ञानादिक गुणोंका स्मरण ही तो होगा। अनन्त ज्ञानादिक गुणोंके स्मरण होनेमें कौन-सी कषाय पुष्टि हुई। क्या क्रोध पुष्ट हुआ, या मान पुष्ट हुआ, या माया पुष्ट हुई, या लोभ पुष्ट हुआ ? तो मेरा तो यह विश्वास है कि उन गुणोंको स्मरण करने से नियमसे अरहंतको द्रव्य, गुण, पर्याय करके जो जानता है यह परोक्ष में अरहंत है, वह साक्षात् अरहंत है। वह परोक्ष में वही गुण तो स्मरण कर रहा है। तो भगवानकी भक्ति तो सम्यग्ज्ञानी ही कर सकते हैं। मिथ्यादृष्टि नहीं। परन्तु कबतक। तो पंचास्तिकायमें कहा कि भगवान की भक्ति मिथ्यादृष्टि भी करता है और सम्यग्दृष्टि भी करता है। परन्तु यह जो है, उपरितन गुणस्थान चढ़नेको असमर्थ है, इस वास्ते अस्थानरागादिक निवर्तन—अस्थान जो है कुदेवादिक, उनमें रागादिक न जाय, अथवा तीव्र रागज्वर निरोधात्मा उसको प्रयोजन, कहा है कि तीव्र रागज्वर मेरा चला जाय, इसलिये वह भगवानकी भक्ति करता है। इस वास्ते जो श्रेणी मांडते हों वे उत्तम पुरुष हैं। उनको तो वस्तुविचार रहता है। उनकी तो आत्माकी तरफ दृष्टि है। नहीं जाने घट की, न पट की। कोई पदार्थ चिन्तवनमें आ जाय तो वह विषका बीज जो रागद्वेष था वह उनका चला गया। हमारा विषका बीज रागद्वेष बैठा है। **इस वास्ते भगवान की भक्ति, उनके गुणों का चिन्तवन करने से रागद्वेषकी निवृत्ति होती है। अतएव सम्यग्दृष्टिको भगवानकी भक्ति करनी ही चाहिए।**

अपने विरोधी मानकर, जैनधर्म तो रागद्वेष रहित है, कोई उनका अन्तरंगसे विरोधी नहीं है। भैया, कोई भी मनुष्य जो है, कानजी स्वामीका विरोधी नहीं है। **वह तो यह चाहता है कि तुम जो इतना-इतना मूल पकड़े हो, इससे तो तमाम संसार उल्टा डूब जायेगा। वह तो हमारके भलेकी बात कहते हों वह तो उल्टा डूबने का मार्ग है। मिथ्यात्व का अंश ही बुरा होता है।** अरे हमारी बात रह जाय, वह बात काहे की। जब पर्याय ही चली जाय, जिस पर्यायमें अहंबुद्धि है, तब बात काहे की है। तुम्हारा यह पर्याय सम्बन्धी ज्ञान, यह पर्याय सम्बन्धी चारित्र, यह पर्याय सम्बन्धी सुन्दरता और आयुका अन्त। अरे सुन्दरता तो अब ही चली जाय। द्रव्यसे विचार करो, वह रख लेवे ? अब ये जवान हैं, रख लेवे, कि हम ऐसे ही बने रहें, नहीं रख सकते। अरे तुम जो बोलना चाहो उसको भी नहीं रख सकते। क्यों ? वह तो उदयमें आकर खिर ही जायगा। इस वास्ते बात तो यह हम अभी भी कहते हैं कि स्थितिकरणकी आवश्यकता है—

दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितीकरणमुच्यते ॥

हमको तो शत्रुभाव उनमें रखना ही नहीं चाहिए। कषायके उदयमें मनुष्य क्या क्या काम करता है—कौन

नहीं जानता है। सब कोई जानते हैं। हम तो कहते हैं अब भी समझानेकी आवश्यकता है, अब भी उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा व्यवहार करो कि वह समझ जांय। बड़ेसे बड़े पाप समझो कि जो नाहरी-उसका पेट विदारण कर दिया अपने बच्चेका, सुकोशल मुनिका। वह नाहरी जब विदारण कर दीया कि मुनि उनके पिता यशोधर वहां आये। वह केवलज्ञान निर्वाण की पूजा करने वगैरह को। उससे कहते हैं कि जिस पुत्रके वियोगसे यह दशा भई आज उसीको विदार दिया? तोउसी समय उसके परिणामोंने पलटा खाया—परिणामोंने पलटा खाया, वह सिर धुनने लगी। अरे सिर धुननेसे क्या होता है। तो महाराज अब तो पापका प्रायश्चित्त यही है कि इस पापका प्रायश्चित्त यही है—किसका? कि सबका त्याग करो! तब इससे बढ़कर क्या कर सकती थी। और जब नाहरी जैसी सुधर जाती है तो मनुष्य न सुधर जाय? मगर यह बात, हमारे मनमें यह कल्पना नहीं होनी चाहिए कि ये हमारे विरोधी हैं। **वह कषायके उदयमें बोलता है—बड़े-बड़े बोलते हैं—क्या बड़ी बात है।** रामचन्द्रजी कषायके उदयमें छह महीने मुर्दाको लिये फिरे, सीताका वियोग हुआ तो मुनिसे पूछते हैं कोई उपाय है, बताओ तो हमारा कल्याण कैसे होगा। तद्भव मोक्षगामी, देशभूषण कुलभूषण से सुन चुका और एक स्त्रीके वियोगमें इतना पागल हो गया। अरे तुम बता तो दो जरा, कहो हमारा भला कैसे होगा? तो उन्होंने वही उत्तर दिया जो देना था—सीताके वियोगका उत्तर नहीं दिया। यह उत्तर दिया कि जब तक लक्ष्मण से स्नेह, तबतक तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। और जिस दिन लक्ष्मण से स्नेह छूटा, कल्याण हो गया। देख लो उसी दिन हुआ। **मेरी समझमें तो आप लोग विद्वान् हैं, सब हैं, कोई ऐसी चिट्ठी लिखो जिससे सब वह छूट जाय। हम तो यही कहेंगे भैया और अन्त तक यही कहेंगे—चाहे वे विरोधी बने रहें, चाहे वह छपा देवें कि हमारा मत इन्होंने स्वीकार कर लिया—जो उनकी इच्छा है—उसमें हम क्या कर सकते हैं।** उनके पण्डालमें नियमसे तीन दिन, चार दिन गये उनका सुना, करा, सब कुछ किया, उन्होंने जो अभिप्राय लगाया हो और आप लोगोंने जो लगाया हो अभिप्राय। मगर हम जो गये, हमारा भीतर का तात्पर्य यही था कि—**हे भगवान! ये मिल जांय, तो एक बड़ा भारी उपकार जैनधर्मका होय। अरे शिखरजी से निर्मल क्षेत्र और कौन है कि जहां पर नहीं होने की थी बात। हम क्या करें बताओ? बात ही नहीं होनी थी। हमारे वशकी बात तो नहीं थी।** अच्छा और भिड़ाने वाले उनके अन्दर ऐसे होते ही हैं—हर कहीं ही ऐसे होते हैं—जैसे मन्त्री तो शनि भये और राजा होय बृहस्पति। और मन्त्री ही तो शनि बैठे, राजा बृहस्पति होनेसे क्या तत्त्व होय। वह तो अच्छी ही कहे मगर तोड़ने मरोड़ने वाले तो वहां बैठे हैं। बीचमें मन्त्री बैठा है, सो बताइये कि कैसे बने। हम तो यह कहें कि सम्यक्त्वके तो आठ अंग बताये, जिसमें दर्शनाच्चरणाद्वापि। दर्शन यानि श्रद्धासे च्युत हो जाय कदाचित् चारित्रसे च्युत हो जाय। दर्शनाच्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलैः। फिर उसीमें स्थापित करना उसीका नाम स्थितिकरण है और वात्सल्य जो है।

स्वयूथ्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्ति-र्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते॥

अपनी ओरसे जो कोई हो, अपनेमें मिलावो। तत्त्व तो यह है भैया। और यह सम्यग्दृष्टि बने हो तो आठ अंग नहीं पालोगे? आठ अंग तो तुम्हारे पेटमें पड़े हैं। क्योंकि वृक्ष चले और शाखा नहीं चले सो बात नहीं हो सकती। अगर सम्यग्दृष्टि बने हो तो आठ अंग होना चाहिए। यहां जोर दिया समन्तभद्र स्वामि ने—**नाङ्गहीनमलं छेत्तुं** ...

जन्मसन्तति को अंगहीन सम्यग्दर्शन छेदन नहीं कर सकता। यह सांगोपाङ्ग होना चाहिए। कोई यहीं से टल जाय तो नीचे लिख दिया है कि एक एक अंगके जो उदाहरण दिये वे तो हम लोगोंको लिख दिये। और जो पक्के ज्ञानी हैं उनके तो आठ ही अंग होना चाहिए। इस वास्ते हम तो कहते हैं कि स्थितिकरण सबसे बढ़िया है। और आप लोग सब जानते हैं। हम क्या कहे?

एक बात हो जाती तो सब हो जाता। **"निमित्त कारण को निमित्त मान लेते तो सब हो जाता।"**

१०
हरिजनों की धार्मिक पात्रता

आत्माकी प्रबल प्रेरणा सदा यही रहती है कि "जो मनमें हो वही वचनोंसे कहो, यदि नहीं कह सकते तब तुमने अबतक धर्मका मर्म ही नहीं समझा।" माया, छल, कपट, वाक-प्रपञ्च आदि वञ्चकताके इन्हीं रूपान्तरोंके त्यागपूर्वक जो वृत्ति होगी वही धार्मिकता भी कहलायगी। यही कारण है कि इस विषयमें कुछ लिखना आवश्यक प्रतीत हुआ।

हरिजन और उनका उद्धार—

अनन्तानन्त आत्मायें हैं परन्तु लक्षण सबके नाना नहीं, एक ही हैं। भगवान गृद्धपिच्छने जीवका लक्षण उपयोग कहा है। भेद अवस्थाकृत है, अवस्था परिवर्तनशील है। एक दिन जो बालक थे अवस्था-परिवर्तन होते होते वृद्धावस्थाको प्राप्त होगये, यह तो शरीर परिवर्तन हुआ, आत्मामें भी परिवर्तन हुआ। एक दिन ऐसा था, जो दिनमें दस बार पानी, पांच बार भोजन करते भी सङ्कोच न करते थे वे आज एक बार ही भोजन और जल लेकर सन्तोष करते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि सामग्रीके अनुकूल प्रतिकूल मिलनेपर पदार्थोंमें तदनुसार परिणमन होते रहते हैं। आज जिनको हम नीच पतित या घृणित जातिके नामसे पुकारते हैं। उनकी पूर्वावस्था (वर्ण व्यवस्था आरम्भ होनेके समय) को सोचिये और आजकी अवस्थासे तुलनात्मक अध्ययन कीजिए। उस अवस्थासे इस अवस्था तक पहुँचनेके कारणोंका यदि विश्लेषण किया जाय तो यही सिद्ध होगा कि बहुसंख्यक वर्गकी तुलनामें उन्हें उनके उत्थान-साधक अनुकूल कारण नहीं मिले, प्रतिकूल परिस्थितियोंने उन्हें बाध्य किया। फलतः इस जातिको विवश यह दुर्दिन देखनेका दुर्भाग्य प्राप्त हुआ। उनकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं धार्मिक सभी समस्यायें जटिल होती गईं। उनकी दयनीय दशा पर कुछ सुधारकोंको तरस आया। गांधीजीने उनके उद्धारकी सफल योजना सक्रिय की। क्योंकि उनकी समझमें यह अच्छी तरह आ चुका था कि यदि हरिजनों को सहारा न दिया गया तो कितना हो सुधार हो, कितना ही धर्मप्रचार हो, राष्ट्रीयताका यह काला कलङ्क धुल न सकेगा। वे सदाके लिये हरिजन (जिनके लिए हरिका ही सहारा हो और सब सहारोंके लिए असहाय हो) ही रह जावेंगे। यही कारण था कि हरिजनोंके उद्धारके लिए गांधीजीने अपनी सत्य साधुताका उपयोग किया। विश्वके साधु सन्तोंसे जोरदार शब्दोंमें आग्रह किया कि "धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं" यह स्पष्ट करते हुए उन्होंने हरिजन उद्धारके लिए सब कुछ त्याग दिया, सब कुछ कार्य किया, दूसरोंको भी ऐसा करनेका उपदेश दिया। हमारे आगममें गृद्ध पक्षीको व्रती लिखा है, मृत्यु पाकर कल्पवासी देव होना भी लिखा है, यही नहीं श्री रामचन्द्रजीका मृतभ्रातृमोह दूर करनेमें उसका निमित्त होना भी लिखा है।

आधुनिक युगमें हरिजनोंका उद्धार एक स्थितीकरण कहा जा सकता है। धर्म भी हमारा पतित-पावन है, यदि हरिजन पतित ही हैं तो हमारा विश्वास है कि जिस जैनधर्मके प्रबल प्रतापसे यमपाल चाण्डाल जैसे सङ्गतिके पात्र हो गये हैं उससे इन हरिजनोंका उद्धार हो जाना कोई कठिन कार्य नहीं है।

ब्राह्मणादि कौन ?—

आगम में लिखा है कि अस्पृश्य शूद्र से स्पृष्ट हो जावे तब स्नान करना चाहिये। अस्पृश्य क्या अस्पृश्य जाति में पैदा होने से ही होजाता है ? तब तीन वर्णों में (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) पैदा होनेसे सभी को उत्तम हो जाना चाहिये। परन्तु देखा यह जाता है कि यदि उत्तम

जाति वाला निन्द्य काम करता है तब चाण्डाल गिना जाता है, उससे लोग घृणा करते हैं। घृणा की बात तो ठीक ही है, लोग उसे पंक्ति-भोजन और सामाजिक कार्यमें सम्मिलित नहीं करते। जो मनुष्य नीच जातिमें उत्पन्न होते हैं परन्तु यदि वह धर्मको अंगीकर कर लेता है तो उसे सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है, उसे प्रमाणित व्यक्ति माना जाता है। यह तो यहाँ के मनुष्य की बात है किन्तु जहां न कोई उपदेष्टा है और न मनुष्यों का सद्भाव है, ऐसे *स्वयं-भूरमणद्वीप और समुद्रमें असंख्यात तिर्यञ्च* मछली, मगर तथा अन्य थलचर जीव व्रती होकर स्वर्गके पात्र होजाते हैं, तब कर्म-भूमिके मनुष्य व्रती होकर यदि जैनधर्म पालें तब आप क्या रोक सकते हैं? आप हिन्दू न बनिये, यह कौन कहता है, परन्तु हिन्दू-जो उच्च कुल वाले हैं वे यदि मुनि बन जावें तो आपको क्या आपत्ति है।

'हिन्दू' शब्दका अर्थ मेरी समझमें धर्मसे सम्बन्ध नहीं रखता। जैसे भारतका रहने वाला भारतीय कहलाता है इसी तरह देश विदेशकी अपेक्षा यह नाम पड़ा प्रतीत होता है। जन्म-से मनुष्य एक सदृश उत्पन्न होते हैं किन्तु जिनको जैसा सम्बन्ध मिला उसी तरह उनका परिणमन होजाता है। भगवान आदि-नाथके समय तीन वर्ण थे। भरतने ब्राह्मणवर्णकी स्थापना की, यह आदिपुराणसे विदित है, इससे सिद्ध है कि इन तीन वर्णोंमेंसे ही ब्राह्मण हुए। मूलमें तीन वर्ण कहांसे आये, विशेष ऊहापोहसे न तो आप ही अपनेको ब्राह्मणादि सिद्ध कर सकते हैं और न शूद्र कौन थे यह निर्णय भी आप दे सकते हैं।

शूद्रोंके प्रति कृतज्ञ बनिए—

लोगोंका जो उपकार शूद्रोंसे होता है अन्यसे नहीं होता। यदि वे एक दिन को भी मार्ग, कूड़ाघर; शौचगृह आदि स्वच्छ करना बन्द करदें तब पता लग जावेगा। परन्तु उनके साथ आप जो व्यवहार करते हैं यदि उसका वर्णन किया जाय तो विवाद चल पड़े। वे तो आपका उपकार करते हैं परन्तु आप पंक्तिभोजन जब होता है तब अच्छा अच्छा माल अपने उदरमें स्वाहा कर लेते हैं और उच्छिष्ट पानी से सिंचित पत्तलोंको उनके हवाले कर देते हैं! जिसमें सहस्रों कीटाणुओंकी उत्पत्ति हो जाती है। वह उच्छिष्ट भोजन जिसे हम करवावें वह क्यों न पतित हो जावेगा। अच्छे अच्छे फल तो आप खा गये और सड़े गले या आने काने पकड़ा देते हैं उन विचारोंको! इसपर भी कहते हो हम आर्ष-पद्धतिकी रक्षा करते हैं। बलिहारी इस दयाकी। धर्मधुरन्धरता-की! मेरा तो दृढ़तम विश्वास है कि पशु जो हैं उन्हें भी दूषित भोजन न देना चाहिये, हरिजन तो मनुष्य हैं।

शूद्र भी धर्म धारण कर व्रती हो सकता है—

यह तो सभी मानते हैं कि धर्म किसीकी पैतृक सम्पत्ति नहीं। चतुर्गतिके जीव भी सम्यक्त्व उपार्जनकी योग्यता रखते हैं, भव्यादि विशेषण-सम्पन्न होना चाहिये। धर्मवस्तु स्वतः सिद्ध है और प्रत्येक जीव में है, विरोधी कारण पृथक होनेपर उसका स्वयम् विकास होता है और उसका न कोई हरता है और न दाता हो है। तथापि इस पञ्चम कालमें उसका पूर्ण विकास नहीं होता, चाहे गृहस्थ हो, चाहे मुनि हो। गृहस्थमें सभी मनुष्योंमें व्यवहार-धर्म का उदय हो सकता है, यह नियम नहीं कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य ही उसे धारण करें, शूद्र उससे वञ्चित रहें।

गृद्ध पक्षी मुनिके चरणोंमें लेट गया। उसके पूर्व भव मुनिने वर्णन किये, सीताने रामचन्द्रजीको उसकी रक्षाका भार सुपुर्द किया। जहाँ गृद्ध पक्षी व्रती हो जावे, वहाँ शूद्र शुद्ध नहीं हो सकते, बुद्धिमें नहीं आता। यदि शूद्र *इन कार्योंको त्याग* देवें और मद्यादि पीना छोड़ देवें तब वह व्रती हो सकता है। मन्दिर आनेकी स्वीकृति देना न देना आपकी इच्छा पर है। परन्तु इस धार्मिक कृत्यके लिए जैसे आप उनका बहिष्कार करते हैं वैसे ही कल्पना करो, यदि वे धार्मिक कृत्यके लिए आपका बहिष्कार कर दें, असहयोग कर दें तब आप क्या करेंगे? सुनार गहना न बनादे, लुहार लोहेका काम न करे, बढ़ई हल न बनावे, लोधी कुरमी आदि खेती न करे, धोबी वस्त्रप्रक्षालन छोड़ देवे, चमेकार मृत पशु न हटाये, बसौरिन सौरीका काम न करे, भंगिन शौचगृह शुद्ध न करे, तब संसारमें हाहाकार मच जावेगा। हैजा, प्लेग, चेचक और क्षय जैसे भयंकर रोगोंका आक्रमण हो जावेगा। अतः बुद्धिसे काम

लेना चाहिये। उनके साथ मानवता का व्यवहार करना चाहिये,जिससे वह भी सुमार्ग पर आ जावें। उनके बालक भी अध्ययन करें तब आपके बालकोंके सदृश वे भी बी. ए, एम. ए. बैरिस्टर हो सकते हैं। संस्कृत पढ़ें तब आचार्य हो सकते हैं। फिर जिस तरह आप पंच पाप त्यागकर व्रती बनते हैं यदि वे भी पंच पाप त्याग दें तब उन्हें व्रती होनेसे कौन रोक सकता है? मुरारमें एक भंगी प्रतिदिन शास्त्रश्रवण करने आता था, संसारसे भयभीत भी रहता था, मांसादिका त्यागी था, शास्त्र सुननेमें कभी भूल करना उसे सह्य न था।

धर्म सब का है—

आप लोगोंने यह समझ रखा है कि हम जो व्यवस्था करें वही धर्म है। धर्मका सम्बन्ध आत्मद्रव्य से है, न कि शरीरसे। हां यह अवश्य है जब तक आत्मा असंज्ञी रहता है, तब तक वह सम्यग्दर्शनका पात्र नहीं होता। संज्ञी होते ही धर्मका पात्र हो जाता है। आर्ष वाक्य है कि चारों गतिवाला संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव इस अनंत संसारके शामक सम्यग्दर्शनका पात्र हो सकता है। वहांपर यह नही लिखा कि अस्पृश्य शूद्र या हिंसक सिंह या व्यन्तरादि या नरकके नारकी इसके पात्र नही होते। जनताको भ्रममें डालकर हरएकको बावला और अपनेको बुद्धिमान कह देना बुद्धिमानी नही। आप जानते हैं कि संसारमें जितने प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं और सुखका कारण धर्म है, उसका अन्तरङ्ग साधन तो निजमें है, फिर भी उसके विकासके लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता है।

जैसे घटोत्पत्ति मृतिका से ही होती है, फिर भी कुम्भारादि बाह्य साधनोंकी आवश्यकता अपेक्षित है, एवं अन्तरंग साधन तो आत्मामें ही है, फिर भी बाह्य साधनोंको अपेक्षा रखता है। बाह्य साधन देव गुरु शास्त्र हैं। आप लोगों ने यहां तक प्रतिबन्ध लगा रक्खे हैं, कि अस्पृश्य शूद्रोंको मंदिर आनेका भी अधिकार नहीं है। उनके आनेसे मंदिरमें अनेक प्रकार विघ्न होनेकी सम्भावना है! यदि शान्त भावसे विचार करो तब पता लगेगा कि उनके मंदिर आनेसे किसी प्रकार की हानि नहीं अपितु लाभ ही होगा। प्रथम तो जो हिंसा आदि महापाप संसारमें होते हैं यदि वे अस्पृश्य शूद्र जैन धर्मको अङ्गीकार करेंगे तब वह पाप अनायास ही कम हो जायेंगे। आपके वशमें ऐसा भले ही न हो परन्तु यदि दैवात् हो जाये तब आप क्या करेंगे? चाण्डालको भी राजाका पुत्र चमर ढुलाते देखा गया ऐसी जो कथा प्रसिद्ध है, क्या वह असत्य है? अथवा कथा छोड़ो, श्रीसमन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है—

> सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
> देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम्॥

आत्मामें अचिन्त्यशक्ति है। जैसे आत्मा अनन्त संसारके कारण मिथ्यात्व करनेमें समर्थ है उसी तरह अनन्त संसारके बन्धन काटनेमें भी समर्थ है।

मेरा हृदय यह साक्षी देता है कि मनुष्य पर्याय वाला जो भी चाहे वह कोई भी जाति हो कल्याणमार्ग का पथिक हो सकता है। शूद्र भी सदाचारका पात्र है, हाँ यह अन्य बात है कि आप लोगों द्वारा जो मंदिर निर्माण किये गये हैं, उनमें उन्हें मत आने दो और शासकवर्ग भी आपके अनुकूल ऐसा कानून बनादे परन्तु जो सिद्धक्षेत्र हैं, कोई अधिकार आपको नहीं जो उन्हें वहां जानेसे आप रोक सकें। मन्दिरके शास्त्र भले ही आप अपने समझकर उन्हें न पढ़ने दें परन्तु सार्वजनिक शास्त्रागार, पुस्तकालय, वाचनालयोंमें तो आप उन्हें शास्त्र, पुस्तक, समाचार-पत्र आदि पढ़ने से मना नहीं कर सकते। यदि वह पंच पाप छोड़ देवे और रागादि रहित आत्माको पूज्य मानें, भगवान अरिहन्तका स्मरण करें तब क्या आप उन्हें ऐसा करनेसे रोक सकते हैं?

मेरे हृदयमें दृढ़ विश्वास है कि अस्पृश्य शूद्र सम्यग्दर्शन और व्रतोंका पात्र है। यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध शरीरसे है तब रहे, इसमें आत्माकी क्या हानि है? और यदि अस्पृश्यका सम्बन्ध आत्मासे है तब जिसने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया वह अस्पृश्य कहाँ रहा? मेरा तो यह विश्वास है कि गुणस्थानोंकी परिपाटीमें जो मिथ्या गुणस्थानवर्ती है वह पापी है। तब चाहे वह उत्तमवर्णका क्यों न हो, यदि मिथ्यादृष्टि है तब परमार्थसे पापी ही है। यदि सम्यक्त्वी है तब उत्तम आत्मा है।

यह विषय शूद्रादि चारों वर्णों पर लागू है। परन्तु व्यवहारमें मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शनका निर्णय बाह्य आचरणोंसे है, अतः जिसके आचरण प्रशस्त हैं वही उत्तम कहलाते हैं, जिनके आचरण मलिन हैं वे जघन्य हैं। तब एक उत्तम कुल वाला यदि अभक्ष्य भक्षण करता है, वेश्यागमनादि पाप करता है, उसे भी पापी जीव मानो। और उसे मन्दिर मत जाने दो, क्योंकि शुभाचरणसे पतित अस्पृश्य और असदाचारी है। शूद्र यदि सदाचारी है तब वह आपके मतसे भगवानके दर्शनका अधिकारी भले ही न हो परन्तु पञ्चम गुणस्थान वाला अवश्य है। पापत्याग ही की महिमा है। केवल उत्तमकुलमें जन्म लेनेसे ही व्यक्ति उत्तम हो जाता है ऐसा कहना दुराग्रह ही है। उत्तम कुलकी महिमा सदाचारसे ही है कदाचारसे नहीं। नीचकुल भी मलिनाचारसे कलङ्कित है। वे माँस खाते हैं, मृत पशुओंको ले जाते हैं, आपके शौचगृह साफ करते हैं, इसीसे आप उन्हें अस्पृश्य कहते हैं।

सच पूछा जाय तो आपको स्वयं स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्हें अस्पृश्य बनाने वाले आप ही हैं। इन कार्योंसे यदि वह परे हो जावे तो क्या आप उन्हें तब भी अस्पृश्य मानते जावेंगे? बुद्धिमें नहीं आता कि आज भङ्गी यदि ईसाई हो जाता है और वह पढ़ लिखकर डाक्टर हो जाता है तब आप उसकी दवा गट-गट पीते हैं या नहीं? फिर क्यों उससे स्पर्श कराते हैं? आपसे तात्पर्य बहुभाग जनतासे है। आज जो व्यक्ति पापकर्ममें रत हैं वे यदि किसी आचार्य महाराजके सान्निध्यको पाकर पापोंका त्यागकर देवें तब क्या वे धर्मात्मा नहीं हो सकते? प्रथमानुयोगमें ऐसे बहुत दृष्टान्त हैं। व्याघ्रीने सुकौशल स्वामीके उदरको विदीर्ण किया और वही श्री कीर्तिधर मुनिके उपदेशसे विरक्त हो समाधिमरण कर स्वर्ग-लक्ष्मीकी भोक्त्री हुई। अतः किसीको भी धर्मसेवनसे वञ्चित रखनेके उपाय रचकर पापके भागी मत बनो।

जैनदर्शनकी महिमा तो वही आत्मा जानता है जो अपनी आत्माको कषायभावोंसे रक्षित रखता है। यदि कषायवृत्ति न गई तब वह मुनि, आचार्य कुछ भी बननेका प्रयत्न करे सब एक नाटकीय स्वांग धारण करना ही है। वे दूसरोंका तो दूर रहे अपना भी उद्धार करनेके लिये पत्थरकी नौका सदृश हैं।

अस्पृश्यता—

शूद्रोंमें भी कई मनुष्य उत्तम प्रकृतिके होते हैं परन्तु अधिकांशका चारित्र घृणित होनेसे उन्हें अस्पृश्योंकी श्रेणीमें गिना दिया जाता है। परमार्थ दृष्टिसे विचार किया जावे तब पाप करनेसे आत्मा पापी और अस्पृश्य कहलाता है। जाति या कुलमें उत्पन्न होने मात्रसे आत्मा पापी और अस्पृश्य नहीं होता। यद्यपि शास्त्रोंमें दो गोत्र माने हैं और उनका इस तरहसे विभाग किया है कि जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुलमें उत्पन्न हो उसे उच्च गोत्री कहते हैं और इनसे अतिरिक्त शूद्रोंमें जन्म ले उसे नीचगोत्री कहते हैं पर इसका यह अर्थ नहीं कि उच्च कहलाने वाले कुलमें जन्म लेने वालेका आचरण उच्च ही होता है और शूद्रकुल वालोंका पतित ही होता है, क्योंकि इसमें विरोध देखा जाता है। उत्तम कुल वाले ऐसे ऐसे पाप करते हैं जो श्रवण सुननेको असमर्थ है।

जिनको हम नीच मानते हैं उनमें यदि कोई विशेष अवगुण है तो वह मदिरापान करना है। यदि वे आज मदिरापान छोड़ देवें तब वह कुल अनायास उत्तम गणनामें आ सकता है। भारत सरकारको इस ओर प्रयत्न करना चाहिये। मद्यपान निषेध होते ही हरिजनोंका कोटि कोटि रुपया बच जावेगा। उनका वह रुपया स्वच्छतामें लगाया जावे। उनके बालकों को यथायोग्य शिक्षा दी जावे, तो अल्पकालमें ही लोग उन्हें अपनाने लगें। संसारमें ऊपरी सफाईकी बहुत मान्यता है।

हरिजनोंको हम लोगोंने केवल सफाईके लिये अछूत बना रखा है। इतनी दया नहीं जो कभी उन्हें मानवधर्मका उपदेश देते। यदि वह कभी मार्गमें सफाई करते मिलते हैं तब हमारा शब्द निकलता है—"दूर हटो! हम आते हैं!!" यह नहीं समझते कि हमारी स्वच्छताके लिये ही तो इन्हें यह करना पड़ता है। यदि कभी उनपर दयाका भाव हुआ तब उन्हें जीर्ण शीर्ण वस्त्र देकर अपने कृतकृत्य होनेका दावा करते हैं।

हरिजनके विषयमें जो धारणा है वह उस रूपसे है जैसी परम्परासे चली आई है। यद्यपि उनके संस्कार इतने मलिन हो चुके हैं जो शताब्दियों में बदलेंगे किन्तु जब कोई सुमार्ग पर लाने की चेष्टा करेगा तब तो सुधरेंगे। चाण्डालका पुत्र चाण्डाल हो हो यह हमारी श्रद्धा नहीं है। यदि कोई प्रयास करे तब उसके संस्कार उत्तम हो सकते हैं।

हम लोगोंने पशुओं तकसे तो प्रेम किया, कुत्ते अपनाये, बिल्ली अपनायी। किन्तु इन मनुष्योंसे इतनी घृणा की जिसका वर्णन करना हृदयमें अन्तर्व्यथा उत्पन्न करता है। अतः यदि भङ्गियोंको सुधारना चाहते हो तो उन्हें अपनाओ।

प्रथम तो भारत सरकारका कर्तव्य है कि मदिरापान का निषेध करे। इसका प्रचार शूद्रोंमें ही नहीं उच्चवर्गमें भी हो गया है। एकदम उसका निराकरण करे। मद्य यह उपलक्षण है। भाँग, गाँजा, चरस, अफीम, चण्डू जितने मादक द्रव्य है सभीका निषेध करे। परन्तु सरकार रुपयेकी आय देखती है। "यदि इन मादक द्रव्योंको बेचना छुड़वा देवे तब करोड़ोंकी आय न होगी" यह जितना विचारणीय है उससे कहीं अधिक उनके जागृत जीवनका उद्धार कैसे हो यह अधिक विचारणीय है।

उत्पत्तिके समय मनुष्य नग्न ही होता है, और मरणके समय भी नग्न रहता है। जब मनुष्य पैदा होता है, जिस देशमें पैदा होता है उसी देशकी भाषाको जानता है। तथा जिसके यहाँ जन्म लेता है उन लोगोंका जो आचारणादि होता है वही उस बालकका हो जाता है। जन्मान्तरसे न तो भाषा लाता और न आचारादि क्रियाओंको लाता है। जिस कुलमें जा जन्म लेता है उसीके अनुकूल उसका आचरण हो जाता है। अतः "सर्वथा जन्मान्तर संस्कार ही वर्तमान आचरणका कारण है" यह नियम नहीं, वर्तमानमें भी कारणकूट के मिलनेसे जीवोंके संस्कार उत्तम हो जाते हैं। अन्यकी कथा छोड़ो। मनुष्योंके सहवाससे पशुओंके भी नानाप्रकार की चेष्टाएँ देखनेमें आती हैं। और उन बालकोंमें जो ऐसे कुलोंमें उत्पन्न हुए जहाँ किसी प्रकारके ज्ञानादिके साधन न थे वे ही उत्तम मनुष्यों के समागममें उत्तम विद्वान् और सदाचारी देखे गये। इसलिये अस्पृश्य सदा अस्पृश्य ही बने रहेंगे ऐसी श्रद्धा करना उचित नहीं है।

क्या अस्पृश्यका अर्थ यह है कि उनके स्पर्शसे हमें स्नान करना पड़ता है? या वे मद्यादि पान करते हैं इससे अस्पृश्य हैं। या वे हम लोगोंके द्वारा की गई गन्दगी स्वच्छ करते हैं इससे अपृश्य हैं? या शरीरसे मलिन रहते हैं इससे अस्पृश्य हैं? या परम्परासे हम उन्हें अस्पृश्य मान रहे हैं इससे अस्पृश्य हैं? यदि मद्य मांस सेवनसे अस्पृश्य हैं तब जो लोकमें उत्तम कुलके हैं और म ससेवन करते हैं वे भी अस्पृश्य होना चाहिये। यदि गन्दगीके साफ करनेसे अस्पृश्य हैं तब प्रत्येक मनुष्य गन्दगी साफ करता है, वह भी अस्पृश्य हो जावेगा। शरीर मालिनता भी अस्पृश्यताका कारण नहीं है। बहुतसे उत्तम कुलवाले शरीर मलिनतासे अस्पृश्य हो जावेंगे। तब यह हो सकता है कि जो उनमें मलिनाचारकी बहुलता है वह अस्पृश्यताका साधक है। यह बहुत उत्तमकुलमें भी पाई जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो यहां पर पापाचारमय प्रवृत्ति है वही अस्पृश्यताका कारण कल्याणके मार्गसे दूर रखने वाली है।

मेरा विश्वास—

मेरा यह दृढ़तम विश्वास है कि मनुष्य जातिमें जन्मे जीवको यदि कालादिलब्धि कारणकूट मिल जावें तब वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है और अप्रत्याख्यान का क्षयोपशम हो जावे तब देशव्रती भी हो सकता है। मेरी तो यहां तक श्रद्धा है कि चाण्डाल कुलमें जन्मा भी जीव योग्य सामग्रीके मिलनेपर उसी पर्यायसे व्रती होसकता है। मन्दिर आने दो, या न आने दो यह और बात है। यदि यह श्रद्धा होनेके कारण लोग हमारी निन्दा करते हैं, तो करें। हमें उसका कोई भय नहीं। हम उसे आगमानुकूल मानते हैं। तथा शूद्र कुल वाला वज्रवृषभनाराच संहननका धारी हो सकता है, क्षयोपशम सम्यक्त्वी भी हो सकता है, उसे यदि श्रुतकेवली या केवलीके पादमूल का सम्बन्ध मिले तब क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

मेरे विचारसे चाण्डालके भी इतने निर्मल परिणाम हो सकते हैं कि वह अनन्त संसारका कारण मिथ्यात्वका अभाव कर सकता है। जो आत्मा सबसे बड़े पापको नाशकर सकता है फिर भी चाण्डाल बना रहे? यह समझमें नहीं आता। चाण्डालका सम्बन्ध यदि शरीरसे है तब तो हमें कोई विवाद नहीं। जिसे विवाद हो रहे। परन्तु आत्माको जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब वह पुण्य जीवोंकी गणनामें आ जाता है। आगममें मिथ्यादृष्टि जीवोंको पापी जीव कहा है, चाहे वह कोई वर्णका हो। परन्तु हम लोग इतने स्वार्थी हो गये कि विरले तो यहाँतक कह देते हैं कि यदि इन लोगोंका सुधार हो जावेगा तो हमारा कार्य कौन करेगा? लोकमें अव्यवस्था हो जावेगी अतः इनको उच्चधर्मका उपदेश ही नहीं देना चाहिये। इतना स्वार्थ जगतमें फैल गया है कि जिनके द्वारा हमारा सब व्यवहार बन रहा है उसीसे हम घृणा करते हैं।

किन्तु संसारमें ऐसा कौन होगा जो आत्मीय हितकी अवहेलना करे? आप जानते हैं धर्म कोई पौद्गलिक पर्याय नहीं, और न पुद्गलका गुण है, और न पुद्गल ही है। धर्म वह आत्मकी पर्याय है जो मोह और क्षोभसे रहित हो। वही कहा है—

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो॥"

निश्चयकर चारित्र ही धर्म है, और आत्माका जो शम परिणाम है वही धर्म है। दर्शनमोहके उदयसे आत्मामें जो परिणाम है और चारित्रमोहके उदयसे जो क्षोभपरिणाम होता है इन दोनों परिणामोंसे रहित आत्माका जो निर्मल परिणाम होता है उसीका नाम साम्यभाव है। वही परिणाम धर्म है और उसीका नाम चारित्र है। यही मोक्षमार्ग है।

हरिजनों का कर्तव्य—

१. आज हमारे हरिजन धर्म काम करते हुए भी मद्यपान आदि अवगुणोंको छोड़ देवें और जो रुपया बचे उसका स्वयं मन्दिर बनवा लेवें, प्रतिदिन धर्मकथा करें, सिनेमा आदि जाना छोड़ देवें।

२. अपने मकानको स्वच्छ रखें, झाड़नेकी झाड़ू टोकनी मकानसे पृथक रखें, बल्कि म्युनिसपलसे प्रार्थना कर एक पृथक गृह इन सफाईके साधनों (झाड़ू टोकनी आदि) को रखनेके लिये रहे।

३. बाजारकी सड़ी गली वस्तुएं खाना छोड़ देवें।

४. जब कुएं पर पानी भरने जावें तब स्वच्छ बर्तन लेकर जावें।

५. निरन्तर अपनी सन्तानको स्वच्छ रखें।

६. जो कोई कुछ देवे, स्वच्छ हो तभी लें। यदि गन्दा हो तो लेनेसे इन्कार कर दें। यह कहें कि हम भी मानव हैं। आपको लज्जित होना चाहिये ऐसा निन्द्य व्यवहार करते हो। उचित तो यह है कि उतना ही भोजन परसाओ जितना खा सको। तृष्णा पापकी जड़ है, उसे छोड़ो। बहुत दिन आपका आचरण शिष्ट समुदायके विरुद्ध रहा। इसीसे आज तक विदेशी शासकोंके दास रहे। अब स्वराज्य पाकर भी यदि इन निन्द्य कृत्योंसे अपनी रक्षा न कर सके तब वही दशा होगी।"

—**वर्णी-वाणी** : २/१६३-१७६

११

द्रव्य और उसके परिणाम का कारण

"अहम्प्रत्ययवेद्यत्वाज्जीवस्यास्तित्वमन्वयात् ।
एको दरिद्रः एकः श्रीमानिति च कर्म्मणः ।।"

मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ इत्यादि प्रत्ययसे जीवके अस्तित्वका साक्षात्कार होता है। अन्वयसे भी इसका प्रत्यय होता है कि 'यह वही देवदत्त है जिसे मैंने मथुरा में देखा था'। अब यहाँ देख रहा हूँ। इस प्रत्ययसे भी आत्माके अस्तित्वका निर्णय होता है। कोई तो श्रीमान देखा जाता है, कोई दरिद्र देखा जाता है, इस विभिन्नतामें कोई कारण होना चाहिये। यह विषमता निर्हेतुक नहीं। इसमें जो हेतु है उसीको कर्म नाम से कहा जाता है। नाममें विवाद नहीं-चाहे कर्म कहो, अदृष्ट कहो, ईश्वर कहो, खुदा कहो, विधाता कहो, जो आपको रुचिकर हो, परन्तु यह अवश्य मानना कि यह विभिन्नता निर्मूल नहीं। यह भी मानना पड़ेगा कि जो यह दृश्यमान जगत है वह केवल एक जीव का परिणाम नहीं। यदि केवल एक पदार्थ का हो तब उसमें नानात्व कहाँ से आया? नानात्व का नियामक द्रव्यान्तर होना चाहिये। केवल पुद्गलमें यह शब्दादि पर्यायें नहीं होतीं। जब पुद्गलपरमाणुओंकी बन्धावस्था हो जाती है तभी यह पर्यायें होती है। उस अवस्थामें पुद्गलपरमाणुओंकी सत्ता द्रव्यरूपसे अबाधित रहती है। शब्दादि पर्यायें केवल परमाणुओं की नहीं, किन्तु स्कन्धपर्यायान्त परमाणुओं की है।

जीव की विकारी पर्याय—

इसी तरह जो रागादि पर्यायें हैं वह उदयावस्थापन्न जो कर्म, उसके सद्भावमें ही जीवमें होती हैं। यदि ऐसा न माना जावे तब रागादि परिणाम जीवका पारिणामिक भाव हो जावे। ऐसा होनेसे संसारका अभाव हो जावे। यह किसीको इष्ट नहीं। किन्तु प्रत्यक्षसे रागादि भावोंका सद्भाव देखा जाता है। इससे यही तत्त्व निर्गत होता है कि रागादि भाव औपाधिक हैं। जैसे स्फटिक मणि स्वच्छ है किन्तु जब स्फटिक मणिके साथ जपापुष्पका सम्बन्ध होता है तब उसमें लालिमा प्रतीत होती है। यद्यपि स्फटिक मणि स्वयं रक्त नहीं किन्तु निमित्तको पाकर रक्तिमामय प्रत्ययका विषय होती है। इससे यह समझमें आता है कि स्फटिक मणि निमित्त को पाकर लाल जान पड़ता है, वह लालिमा सर्वथा असत्य नहीं।

ऐसा सिद्धान्त है कि जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमती है उस कालमें तन्मय हो जाती है। श्री कुन्दकुन्द महाराजने स्वयं प्रवचनसारमें लिखा है—

"परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ।।"

इस सिद्धान्तसे यह निष्कर्ष निकला कि आत्मा जिस समय रागादिमय परिणमेगा उस कालमें नियमसे उस रूप ही है। पर्यायदृष्टि से उन्हीं रागादिका उस काल में भोक्ता होगा। जो भाव करेगा, वर्तमानमें उसीका अनुभव होगा। जल शीत है, परन्तु अग्निके सम्बन्धसे उष्ण पर्यायको प्राप्त करता है। यद्यपि उसमें शक्ति अपेक्षा शीत होनेकी योग्यता है परन्तु वर्तमानमें शीत नहीं। यदि कोई उसे शीत मानकर पान करे तब दग्ध ही होगा। इसी प्रकार यदि आत्मा वर्तमानमें रागरूप है तब रागी ही है। इस अवस्थामें वीतरागताका अनुभव होना असम्भव ही है। उस कालमें आत्माको रागादि रहित मानना मिथ्या है। यद्यपि रागादि परिणाम परनिमित्तक हैं अतएव औपाधिक हैं, नाशशील है परन्तु वर्तमानमें तो औष्ण्य परिणत अयःपिण्डवत् आत्मा तन्मय हो रहा है। अर्थात् उन परिणामोंके साथ आत्माका तादात्म्य हो रहा है। इसीका नाम अनित्य तादात्म्य है। यह अलीक कथन नहीं। जिस कालमें एक मनुष्यने मद्यपान किया वर्तमानमें

जब वह मनुष्य मद्यपान के नशासे उन्मत्त होगा तब क्या वर्तमानमें वह मनुष्य उन्मत्त नही ? अवश्य उन्मत्त है। किन्तु किसीसे आप प्रश्न करें कि मनुष्यका लक्षण क्या है ? तब क्या वह उत्तर देने वाला यह कह सकता है कि मनुष्यका लक्षण उन्मत्तता है ? नहीं। उससे आप क्या यह कहेंगे कि उत्तर ठीक नहीं ? नहीं कह सकते; क्योंकि मनुष्यकी सभी अवस्थाओंमें उन्मत्तताकी व्याप्ति नही। इसी तरह आत्मामें रागादि भाव होने पर भी आत्माका लक्षण रागादि नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माकी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। उन सबमें यह रागादिभाव व्यापक रूपसे नहीं रहता, अतः यह आत्माका लक्षण नही हो सकता। लक्षण वह होता है जो सभी अवस्थाओंमें पाया जावे। ऐसा लक्षण चेतना ही है। यद्यपि रागादि परिणाम तथा केवलज्ञानादि भी आत्मा हीमें होते हैं परन्तु उन्हें लक्षण नहीं माना जाता; क्योंकि वे पर्यायविशेषमें होते हैं। व्यापकरूप से नही रहते। चेतना ही आत्माका एक ऐसा गुण है जो आत्माकी सभी दशाओंमें व्यापक रूपसे रहता है।

चेतना : जीव का लक्षण—

आत्माकी दो अवस्थाएँ हैं—संसारी और मुक्त। इन दोनोंमें चेतना रहती है इसीसे अमृतचन्द्र स्वामीने लिखा है—

> "अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम्।
> जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥"

जीव नामक जो पदार्थ हैं वह स्वयं सिद्ध है तथा परनिरपेक्ष अपने स्वयं अतिशय से चकचकायमान—प्रकाशमान हो रहा है। कैसा है ? अनादि है। कोई इसका उत्पादक नहीं। अनादि है, अतएव अकारण है। जो वस्तु अनादि अकारण है वह अनन्त भी होती है। ऐसे ही अनादि अनन्त तथा अचल अजीव द्रव्य भी हैं। इससे इसका लक्षण स्वसम्वेद्य भी है यह स्पष्ट है। जीव नामक पदार्थमें अन्य अजीवोंकी अपेक्षा चेतनागुण ही भेद करनेवाला है। वही गुण इसमें विशद है। जो सब पदार्थोंकी और निजकी व्यवस्था कर रहा है। इस गुणको सभी मानते हैं परन्तु कोई उस गुणको उससे सर्वथा भिन्न मानते हैं, और कोई गुणसे अतिरिक्त अन्य द्रव्य नहीं, गुणगुणी सर्वथा एक है, ऐसा मानते हैं। कोई चेतना तो जीवमें मानते हैं परन्तु वह ज्ञेयाकार परिच्छेदसे पराङ्मुख रहता है। प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धसे जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसमें चेतनाके संसर्गसे जानपना आता है ऐसा मानते हैं। कोई कहता है कि पदार्थ नाना नही एक ही अद्वैत तत्त्व है। वह जब मायावच्छिन्न होता है तब यह संसार होता है। किसी का कहना है कि जीव नामक स्वतन्त्र जीवकी सत्ता नहीं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश इनकी विलक्षण अवस्था होती है, उसी समय यह जीवरूप अवस्था हो जाती है। यह जितने मत हैं सर्वथा मिथ्या नही।

जैनदर्शनमें अनन्त गुणोंका जो अविष्वग्भाव सम्बन्ध है वही तो द्रव्य है। वह गुण आत्मीय स्वरूपकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न है परन्तु कोई ऐसा उपाय नही जो उनमेंसे एक भी गुण पृथक् हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्यमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श गुण हैं, चक्षुरादि इन्द्रियोंसे पृथक्-पृथक् ज्ञानमें आते हैं, परन्तु उनमें कोई पृथक् करना चाह तो नहीं कर सकता। वे सब अखण्डरूप से विद्यमान हैं। उन सब गुणोंकी जो अभिन्न प्रदेशता है उसीका नाम द्रव्य है। अतएव प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्द देवने लिखा है—

> "णत्थि विणा परिणामं अत्थ अत्थं विणेह परिणामो।
> दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थित्तणिप्पण्णो......"

परिणामके बिना अर्थकी सत्ता नहीं तथा अर्थके बिना परिणाम नहीं। जैसे दुग्ध, दधि, घी, छांछ इनके बिना गोरस कुछ भी सत्ता नहीं रखता। इसी तरह गोरस न हो तब इन दुग्धादिकी सत्ता भी नहीं। एवं यदि आत्माके बिना ज्ञानादि गुणोंका कोई अस्तित्व नहीं। बिना परिणामीके परिणामका नियामक कोई नही। हाँ, यह अवश्य है कि ये गुण सर्वदा परिणामशील हैं किन्तु अनादिसे आत्मा कर्मोंसे सम्बन्धित है इससे इसके ज्ञानादि गुणोंका विकाश निमित्तकारणोंके सहकारसे होता है। होता उसीमें है, परन्तु जैसे घटोत्पत्तिकी योग्यता मृत्तिकामें ही होती है, परन्तु कुम्भकार के व्यापारके बिना घट नहीं बनता। कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार कुम्भकारमें ही होगा।

फिर भी मिट्टी अपने व्यापारसे घटरूप होगी। कुम्भकार घटरूप न होगा।

निमित्तकी सहकारिता—

उपादानको मुख्य माननेवालोंका कहना है कि कुम्भकारकी उपस्थिति वहाँ पर, जब मिट्टीमें घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है, स्वयमेव हो जाती है। यहाँ पर यह कहना है कि घटोत्पत्ति स्वयमेव मिट्टीमें होती है इसका क्या अर्थ है ? जिस समय मिट्टीमें घट होता है उस कालमें क्या कुम्भरादि निरपेक्ष घट होता है या सापेक्ष ? यदि निरपेक्ष घटोत्पत्ति होती है तब तो एक भी उदाहरण बताओ, जो मृत्तिकामें कुम्भकारके व्यापार बिना घट हुआ हो, सो तो देखा नही जाता। साक्षेप पक्षको अङ्गीकार करोगे तब स्वयमेव आ गया कि कुम्भकारके व्यापार बिना घटकी उत्पत्ति नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि कुम्भकार घटोत्पत्तिमें सहकारी निमित्त है। जैसे आत्मामें रागादि परिणाम होते हैं, आत्माही इनका उपादान कर्ता है परन्तु चारित्रमोहके बिना रागादि नहीं होते। होते आत्मामें ही हैं, परन्तु बिना कर्मोदयके ये भाव नहीं होते। यदि निमित्तके बिना ये हों तब आत्माके त्रिकाल अबाधित स्वभाव हो जावें, सो ऐसे ये भाव नहीं। इनका विनाश हो जाता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि वे आत्माका निजभाव नहीं। इसका यह अर्थ नही कि ये भाव आत्माके होते ही नहीं। होते तो हैं परन्तु निमित्तकारण की अपेक्षासे नहीं होते यदि ऐसा कहोगे तब आत्मामें मतिज्ञानादि जो चार ज्ञान उत्पन्न होते हैं वे भी तो नैमित्तिक हैं, उनको भी आत्माके मत मानो।

हम तो यहाँ तक माननेको प्रस्तुत हैं कि क्षायोपशमिक, औदयिक, औपशमिक जितने भी भाव हैं वे आत्माके अस्तित्त्वमें सर्वदा नहीं होते। उनकी कथा छोड़ो, क्षायिक भाव भी तो क्षयसे होते हैं वे भी अबाधित रूपसे त्रिकालमें नही रहते। अत. वे भी आत्माके लक्षण नहीं। केवल चेतना ही आत्माका लक्षण है। यही त्रिकालमें अवस्थित रहता है। इसी भावको प्रकट करने वाला एक श्लोक अष्टावक्र-गीतामें अष्टावक्र ऋषिने लिखा है—

> "नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
> अयमेव हि मे बन्धो आ स्याज्जीविते स्पृहा ॥"

मैं देह नहीं हूँ, और न मेरा देह है, और न मैं जीव हूँ, मैं तो चित् हूँ, अर्थात् चैतन्य गुण वाला हूँ, यदि ऐसा वस्तुका निज स्वरूप है तब आत्माको बन्ध क्यों होता है ? इसका कारण हमारी इस जीवमें स्पृहा है। यह जो इन्द्रिय, मन, वचन, काय, श्वासोच्छवास और आयु प्राण वाले पुतलेमें हमारी स्पृहा है यही तो बन्धका मूलकारण है। हम जिस पर्यायमें जाते हैं उसीको निज मान बैठते हैं। उसके अस्तित्वसे अपना अस्तित्व मान कर पर्यायबुद्धि होकर सब व्यवहार पर्यायके अनुरूप प्रवृत्ति करते-करते एक पर्यायको पूर्णकर पर्यायान्तरको प्राप्त करते हैं। इससे यही तो निकला कि हम पर्यायबुद्धिसे ही अपनी जीवन-लीला पूर्ण करते हैं।

इस तरह यह संसारचक्र बराबर चला जाता है। यदि इसको मिटाना है तब यह जो प्रक्रिया है उसका अन्त करना पड़ेगा। इस प्रक्रिया का मूलकारण स्निग्ध परिणाम है। उसका अन्त करना ही इस भवचक्रके विध्वंस का मूल हेतु है। इसको दूर करनेके उपाय बड़े-बड़े महात्माओंने बतलाए हैं।

स्व-पर विज्ञान—

आज संसारमें जितने आयतन धर्मके दिखते हैं। इसी चक्रसे बचानेके हैं। किन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि डाली तब यह सभी उपाय पराश्रित हैं। केवल स्वाश्रित उपाय ही स्वार्जित संसारके विध्वंसका कारण हो सकता है। जैसे शरीरमें यदि अन्न खाकर अजीर्ण हो गया है तो उसके दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय यह है कि उदर में पर-द्रव्यका जो सम्बन्ध हो गया है उसे पृथक कर दिया जावे। अनायास ही नीरोगताका लाभ हो सकता है। मोक्षमार्गमें भी यह प्रक्रिया है। अपितु जितने कार्य हैं उन सबकी यही पद्धति है। यदि हमें संसार बन्धनसे मुक्त होनेकी अभिलाषा है तो सबसे प्रथम हम कौन हैं ? हमारा क्या स्वरूप है ? वर्तमान क्या है ? संसार क्यों अनिष्ट है ? जब तक यह निर्णय न हो जावे तब तक उसके अभावका प्रयत्न करना हो ही नही सकता।

यह हम प्रारम्भ में ही वर्णन कर चुके हैं उसकी जो अवस्था हमें संसारी बना रही है उससे मुक्त होनेकी हमारी इच्छा है तब केवल इच्छा करने से मुक्तिके पात्र हम नहीं हो सकते । जैसे अग्नि के निमित्त से जल उष्ण हो गया है, अब हम माला लेकर जपने लगें शीत-स्पर्शवज्जलाय नमः' तब अनल्पकालमें भी जल शीत न होगा । उष्णस्पर्श को दूर करनेसे ही जलका शीत स्पर्श होगा । इसी तरह हमारी आत्मामें जो रागादि विभाव परिणाम हैं उनके दूर करनेके अर्थ 'श्री वीतरागाय नमः' यह जाप असंख्य कल्प भी जपा जावे तो भी आत्मामें वीतरागता न आवेगी किन्तु रागादि निवृत्तिसे अनायास वीतरागता आ जावेगी । वीतरागता नवीन पदार्थ नही, यह आत्मा परपदार्थोंसे मोह करता है । मोह क्या वस्तु है ? जिसके उदयसे परमें निजत्वबुद्धि होती है वही मोह है ।

मोह की महिमा—

परको निज मानना यह अज्ञानभाव है । अर्थात् मिथ्याज्ञान है इसका मूलकारण मोहका उदय है । ज्ञानावरणका क्षयोपशम ज्ञानसे होता है परन्तु विपर्यय अज्ञानसे होता है । जैसे शुक्तिका में रजत का विभ्रम होता है । यद्यपि शुक्ति रजत नहीं हो गई, परन्तु दूरत्व, चाकचिक्यादि कारणोंसे भ्रान्ति हो जाती है, भ्रान्तिका कारण दूरत्वादि दोष हैं । जैसे कामला रोगी जब शङ्खको देखता है तब 'पीतः शङ्खः' ऐसी प्रतीति करता है । यद्यपि शङ्खमे पीतता नहीं, यह तो नेत्रमें कामला रोग होनेसे शङ्खमें पीतत्व भासमान है । यह पीतता कहाँसे आयी ? तब यही कहना पड़ेगा कि नेत्रमें कामला रोग है वही इस पीतत्व ज्ञानका कारण हुआ । इसी प्रकार आत्मामें जो रागादि होते है उनका मूल कारण मोहनीय कर्म है । उसके दो भेद हैं --एक दर्शनमोह दूसरा चारित्रमोह । उसमें दर्शन मोहके उदयसे मिथ्यात्व और चारित्रमोहके उदयसे रागद्वेष होते हैं ।

मिथ्यादृष्टि जीव उन्हें निज मान अनन्त संसारके पात्र होते हैं । समझमें नहीं आता यह विषमता क्यों ? विषमताका मिटना सहज नही, स्वयमेव मिटती है या कारणकूटसे । यदि स्वयमेव मिटती है तब उसके मिटानेका जो प्रयास है वह व्यर्थ है। पुरुषार्थ तो प्रायःसभी करते हैं परन्तु सभी सफल मनोरथ क्यों नहीं होते ? तब यही उत्तर होगा कि जिसने यथार्थ प्रयास नहीं किया उसका कार्य सफल नहीं हुआ । फिर कोई प्रश्न करे कि अन्तरङ्गसे तो चाहता है परन्तु प्रयास अनुकूल नहीं बनते, इनमें कारण क्या है कुछ बुद्धिमें नहीं आता । अन्ततोगत्वा यही उत्तर मिलता है कि जब जीवका कल्याण होनेका समय आता है अनायास कारणकूट जुड़ जाते हैं । कौन चाहता कि हमें आकुलता हो और हम दुःखके पात्र बनें । फिर भी जो नही चाहता वह होता है और जो चाहता है वह नही होता । यह प्रश्न हरएक करता है; उत्तर भी लोग देते है, किन्तु अन्तमें अकाट्य उत्तर नहीं मिलता । अतः इन झंझटों के चक्रमें न पड़कर जितनी चेष्टा करो निवृत्तिके ऊपर दृष्टिपात कर करो ।

अन्यकी कथा छोड़ो, यदि तीव्रोदयमें मिथ्यात्व रूपमें कार्य किये गये उनमें भी यही भावना करो कि अब न करने पड़ें । मेरी तो यह श्रद्धा है कि कोई भी कार्य करो, चाहे वह शुभ हो, चाहे अशुभ हो, यही भावना मानो कि अब फिर न करना पड़ें । जैसे मन्द कषायोंके उदयमें पूजनादि कार्य करने पड़ते हैं उनमें यह भावना रक्खो कि हे भगवन् ! अब कालान्तरमें यह न करना पड़े । मिथ्या-ज्ञानी और सम्यग्ज्ञानीमें यही तो अन्तर है कि मिथ्याज्ञानी जीव शुभ कार्योंको उपादेय मानता है, सम्यग्ज्ञानी ऋण जान अदा करता है । यही विषमता दोनोंमें है । इस विषमताका वारण होना कठिन है । यही कारण है कि अनन्तजन्म तप करते करते द्रव्य-लिंगसे मोक्ष नहीं होता । इसका मूल अभिप्राय की ही मलिनता तो है । इस अभिप्रायकी मलिनताको मिटाने वाला यह आत्मा स्वयं प्रयत्नशील हो, मिट सकती है । यदि यह न होता तो मोक्ष-मार्ग ही न होता । जब आत्मामें अचिंत्य शक्ति है तब उसका उपयोग आत्मीय यथार्थ परिणतिके लिए क्यों न किया जाय ?

ज्ञान की महत्ता—

जो आत्मा जगतकी व्यवस्था करनेमें समर्थ है वह

आत्मीय व्यवस्था न कर सके समझमें नहीं आता। किन्तु हम उस ओर लक्ष्य नहीं देते। यहाँपर इस शङ्काको अवकाश नहीं कि नेत्र पदार्थान्तरोंको जानता है परन्तु अपनेको नहीं जानता। इसका उत्तर यह है कि जब नेत्र अपनेको देखना चाहे तब एक दर्पणको समक्ष रक्खे, उसमें जब मुखका प्रतिबिम्ब पड़ता है तब नेत्रकी आकृति का बोध हो जाता है। यह भी तो नेत्रने दिखाया। जब ज्ञान घटादि पदार्थोंको देखता है तब उनकी व्यवस्था करता है और जब स्वोन्मुख होता है तब यही तो विकल्प होता है कि जो घटादि देखने वाला है वही तो मैं हूँ।

परमार्थसे ज्ञान बाह्य घटादिकोंकी व्यवस्था नहीं करता किन्तु ज्ञानमें जो विकल्प हुआ उसको जानता है। उसीकी व्यवस्था करता है। अर्थात् ज्ञानमें जो अर्थाकार विकल्प हुआ, ज्ञान उसी ज्ञानकी पर्यायका संवेदन करता है। तब इसका यही तो अर्थ हुआ कि ज्ञानने अपने स्वरूप ही का वेदन किया। इस तरह ज्ञेय और ज्ञानकी व्यवस्था है। यह व्यवस्था अनादिसे चली आई है। अनन्तकाल पर्यन्त रहेगी। किन्तु इस व्यवस्थामें जो हमारी परको निज माननेकी पद्धति है वही पद्धति रागद्वेषकी उत्पादक है। अतः जिन्हें अपनेको संसारबन्धनमें रखना इष्ट है उन्हें इस मान्यताको अपनाना चाहिये। यद्यपि किसीको यह इष्ट नहीं कि इस जालमें हम रहें परन्तु अनादिसे हमारी मान्यता इतनी दूषित है जिससे निजको जानना ही असम्भव है। जैसे जिस मनुष्यने खिचड़ीका भोजन किया है उससे केवल चावलका स्वाद पूछो तो नहीं बता सकता। इसी तरह मोहके उदयमें जो ज्ञान होता है उसमें परको निज मानने की ही मुख्यता रहती है। यद्यपि पर निज नहीं, परन्तु क्या किया जावे। जो निर्मल दृष्टि है वह मोहके सम्बन्धमे इतनी मलिन हो गई है कि निजकी ओर जाती ही नहीं। इसीके सद्भावमें यह दशा जीवकी हो रही है कि उन्मत्त पान करने वालेकी तरह अन्यथा प्रवृत्ति करता है। अतः इस चक्रसे बचनेके अर्थ पर में ममता त्यागो। केवल वचनों से व्यवहार करनेसे ही सन्तोष मत कर लो। जो मोहके साधक हैं उन्हें त्यागो।

पञ्चेन्द्रियों के विषय त्यागने से ही इन्द्रियविजयी होगा। कथा करनेसे कुछ तत्त्व नहीं निकलता। बात असलमें यह है कि हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान है, इस ज्ञानमें जो पदार्थ भासमान होगा उसीकी ओर तो हमारा लक्ष्य जावेगा। उसीकी सिद्धिके लिये हम प्रयास करेंगे, चाहे वह अनर्थकी जड़ हो। अनर्थकी जड़ बाह्य वस्तु नहीं। बाह्य वस्तु तो अध्यवसानमें विषय पड़ती है। बाह्य वस्तु बन्धका जनक नहीं। श्री कुन्दकुन्द देवने लिखा है—

"वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं दु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो य बंधो अज्झवसाणेण बंधो दु॥"

वस्तुको निमित्तकर अध्यवसानभाव जीवोंके होता है किन्तु पदार्थ बन्धका कारण नहीं। बन्धका कारण तो अध्यवसानभाव है। यदि ऐसा सिद्धान्त है तब बाह्य वस्तु का परित्याग क्यों कराया जाता है? अध्यवसानके न होनेके अर्थ ही बाह्य वस्तुका निषेध कराया जाता है। बाह्य वस्तुके बिना अध्यवसानभाव नहीं होता। यदि बाह्य पदार्थके आश्रय बिना अध्यवसानभाव होने लगे तब जैसे यह अध्यवसानभाव होता है कि मैं रणमें जाकर वीरसू माताके पुत्रको मारूँगा, यह भी अध्यवसान होने लगे कि बन्ध्यापुत्रको मारूँगा, नहीं होता, क्योंकि मारण क्रियाका आश्रयभूत बन्ध्यासुत नहीं है अतः जिन्हें बन्ध न करना हो बाह्य वस्तुका परित्याग कर देवें।

परमार्थसे अन्तरङ्ग मूर्छा का त्याग ही बन्धकी निवृत्ति का कारण है। परपदार्थ के जीवन-मरण, सुख-दुःखका अध्यवसान तो सर्वथा ही त्याज्य है, क्योंकि हमारे अध्यवसानके अनुरूप कार्य नहीं होता। इससे यह सिद्धान्त निकला कि इन मिथ्या विकल्पोंको त्यागकर यथार्थ वस्तु-स्वरूपके निर्णयमे अपनेको तन्मय करो। अन्यथा इसी भवचक्रके पात्र रहोगे। तुम विश्वको अपनाते हो, इसमें मूल जड़ मोह है। यह अध्यवसान आदि भाव जिनके नहीं हैं वही महा-मुनि हैं। वही शुभ और अशुभ कर्मसे लिप्त नहीं होते।

बन्ध के हेतु—

ये मिथ्यात्व, अज्ञान तथा अविरति रूप जो त्रिविध

भाव हैं वही शुभाशुभ कर्मबन्धके निमित्त हैं, क्योंकि यह स्वयं अज्ञानादिरूप हैं। वही दिखाते हैं। जैसे जब यह अध्यवसानभाव होता है 'अहं हिनस्मि' यह जो अध्यवसानभाव है यह अज्ञानमयभाव है और आत्मा सत् है, अहेतुक हैं, ज्ञप्तिरूप एक क्रियावान् है ऐसा जो आत्मा है उसका और रागद्वेषके विपाकसे जायमान हननादि क्रियाओंका विशेष भेदज्ञान न होनेसे, भिन्न आत्माका ज्ञान न होनेसे अज्ञान ही रहता है। भिन्न आत्मदर्शन न होनेसे मिथ्यादर्शन रहता है। भिन्न आत्माका चारित्र न होनेसे मिथ्याचारित्र ही का सद्भाव रहता है। इस तरहसे मोहकर्मके *निमित्त से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का* सद्भाव आत्मामें है।

इसी मोहके उदयके साथ जब ज्ञानावरणका क्षयोपशम रहता है *'धर्मो ज्ञायते' जब यह अध्यवसान* होता है, यह जो ज्ञेयभाव ज्ञानमें आते हैं, इनका और सहेतुक ज्ञानमय आत्माका भेदज्ञान न होनेसे अज्ञान, विशेष दर्शन न होने से अदर्शन, इसी तरह विशेष स्वरूपमें चर्या न होने से अचारित्र का सद्भाव रहता है। यदि परमार्थसे विचारा जावे तब आत्मा स्वतन्त्र है और यह जो स्पर्श-रस-गन्धवर्ण वाला पुद्गल द्रव्य है वह स्वतन्त्र है। इन दोनों के परिणमन भी अनादि कालसे स्वतन्त्र हैं परन्तु इन दोनोंमें जीव द्रव्य चेतनगुणवान् है और उसमें यह शक्ति है कि जो पदार्थ उसके सामने आता है उसमें झलकता है, प्रतिभासित होता है। पुद्गलमें भी एक परिणमन इस तरहका है कि उसमें भी रूपी पदार्थ झलकता है परन्तु वह मेरेमें प्रतिभासित होता है यह उसे ज्ञात नहीं। आत्मामें जो पदार्थ प्रतिभासमान होता है उसे यह भाव होता है कि यह पदार्थ मेरे ज्ञानमें आये। यही आपत्ति का मूल है। उन पदार्थों को अपनाने की प्रकृति मोह के सम्बन्धसे हो जाती है, यही अनन्त संसारका कारण होता है। प्रत्येक मनुष्य यह मानता है कि पर पदार्थका एक अंश भी ज्ञानमें नहीं आता है फिर न जाने उन्हें क्यों अपनाता है? यही महती अज्ञानता है। अतः जहाँ तक आत्मद्रव्यको आत्मा ही रहने देनेकी अपेक्षा जो अन्यरूप करने का प्रयास है, यही अनन्त संसारका कारण है। ऐसा कौन बुद्धिमान होगा जो यह पर-द्रव्य है, यह मेरा है, नहीं कह सकता? ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिसका भाव होता है वह उसका स्व है। जिसका जो स्व होता है वह उसका स्वामी है, अतः यह निष्कर्ष निकला कि अन्य द्रव्य अन्यका स्व नहीं तब अन्य द्रव्य अन्यका स्वामी नहीं, तब अन्य द्रव्य आपका स्वामी नहीं। यही कारण है जो ज्ञानी जीव पर को ग्रहण नहीं करता।

पर का स्वामित्व—

मैं ज्ञानी हूँ अतः मैं भी परको ग्रहण नहीं करूँगा। यदि मैं परद्रव्य को ग्रहण करूँ तब यह अजीव मेरा स्व हो जावे और मैं अजीवका स्वामी हो जाऊँगा। अजीवका स्वामी अजीव ही होगा, उसे अजीव होना पड़ेगा, ऐसा नहीं, मैं तो ज्ञाता दृष्टा हूँ अतः पर द्रव्यको ग्रहण नहीं करूँगा। जब पर द्रव्य मेरा नहीं तब वह चाहे छिद जावो, भिद जावो, चाहे कोई ले जाओ अथवा जिस तिस अवस्था को प्राप्त हो जाओ तथापि पर द्रव्यको ग्रहण नहीं करूँगा। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानी धर्म, अधर्म, अमतदान इनको नहीं चाहता। धर्म पदार्थ पुण्यको कहते हैं अर्थात् जब इस जीव के प्रशस्त राग, अनुकम्पा परिणाम और चित्तमें अकलुषतारूप परिणाम होता है उसी समय इस जीवके पुण्यबन्ध होता है अर्थात् तिस कालमें अर्हंत, सिद्ध, साधुके गुणोंमें अनुराग होता है इसीका नाम भक्ति है। अर्थात् उनके गुणोंकी प्राप्ति हो यही तो भक्ति है। आचार्य श्री गृद्धपिच्छने यही तो लिखा कि —

> "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
> ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये॥"

इसमें यही तो दिखाया है कि तद्गुणका लाभ हमें हो। ऐसा सिद्धान्त है कि जो जिस गुणका अनुरागी है वह उसको नमस्कार करता है। जैसे शस्त्रविद्याका इच्छुक शस्त्रविद्या-वेत्ताको नमस्कार करता है। इसी तरह धर्ममें जो चेष्टा अर्थात् धर्मलाभ का अनुराग यही तो हुआ तथा गुरुओंके पीछे रसिक होकर गमन करना। इत्यादि वाक्योंसे यही तो निकलता है कि इन सब वाक्योंमें इच्छा ही की प्रधानता है।

इच्छा; दुःख की जननी—

इच्छा परिग्रह है क्योंकि इच्छाका जनक मोहकर्म है। मोहकर्मके उदयसे जो भाव होते हैं सामान्यसे वह इच्छा-रूप पड़ते हैं। मिथ्यात्वके उदयमें विपरीत अभिप्राय ही तो होता है। वह इच्छारूप ही है। क्रोधकषाय के उदयमें परका अनिष्ट करनेकी ही तो इच्छा होती है। तथा मानके उदय-में अन्यको तुच्छ दिखाना, अपनेको महान् माननेकी ही तो इच्छा रहती है। मायाके उदयकालमें अन्तरङ्गमें तो अन्य है, बाह्यसे उसके विरुद्ध कार्यमें प्रवृत्ति होती है। लोभकषाय का जब उदय आया है तब परपदार्थको अपहरण करनेकी ही तो इच्छा होती है। इसी प्रकार हास्यकषाय के उदयमें हास्य का भाव होता है। रतिके उदयमें पर पदार्थके निमित्तको पाकर प्रसन्न होता है। अरतिके उदयमें पदार्थोंके निमित्तसे शोकातुर रहता है। भयके उदयमें भयभीत परिणाम होते हैं। जुगुप्साके उदयमें पदार्थोंके निमित्तसे ग्लानिरूप परिणति हो जाती है। जब स्त्रीवेदका विपाक आता है तब पुरुषसे रमण करनेकी चेष्टा होती है। दैवात् पुरुष का सम्बन्ध न मिले तब भावोंसे पुरुषकी कल्पना कर अपनी इच्छा शान्त करनेकी चेष्टा यह जीव करता है। पुरुषवेदके उदयमें स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छा होती है। निमित्त न मिलनेसे कल्पना द्वारा यह प्राणी जो जो अनर्थ करता है वह प्रायः सर्व विदित हैं। इसी तरह नपुंसकवेदके उदयमें उभयसे रमणके भाव होते हैं। इसकी इच्छा प्रथम दो वेदवालोंकी अपेक्षा प्रबल है। इस विषयमें यदि कोई लिखना चाहे तब बहुत लिख सकता है। इन इच्छाओंसे संसार दुःखी है। इसीसे भगवानने इच्छाको परिग्रह माना है।

जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। इच्छा जो है सो अज्ञानमय भाव है। अज्ञानमय भाव ज्ञानीके नहीं है, ज्ञानीके तो ज्ञानमय भाव ही होता है। यही कारण है कि अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभावसे ज्ञानी जीव धर्मकी इच्छा नहीं करता। ज्ञानमय ज्ञायकभावके सद्भावसे धर्मका केवल ज्ञाता दृष्टा है, जब ज्ञानी जीवके धर्मका ही परिग्रह नहीं तब अधर्मका परिग्रह तो सर्वथा ही असम्भव है। इसी तरहसे न अशनका परिग्रह है और न पानका परिग्रह, क्योंकि इच्छा परिग्रह है। ज्ञानी जीव-के इच्छाका परिग्रह नहीं, इनको आदि देकर जितने प्रकारके पर-द्रव्यके भाव हैं तथा पर-द्रव्यके निमित्तसे आत्मामें जो भाव होते हैं उन सबको ज्ञानी जीव नहीं चाहता।

अपनी पहिचान—

इस पद्धति से जिसने सब अज्ञान भावोंको वमन कर दिया तथा सब पर पदार्थोंके आलम्बनको त्याग दिया केवल टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावको अनुभवन करता है। पूर्वकर्मके विपाकसे ज्ञानीके उपभोग होता है, होओ किन्तु उसमें राग न होनेसे वह उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नहीं होता। रागादि परिणामके बिना मन, वचन और कायके व्यापार अकिञ्चित्कर हैं। जैसे यदि चूना आदिका श्लेष न हो तब ईंटोंके समुदायसे महल नहीं बनता।

परमार्थ से विचार किया जावे सब पदार्थ नियमसे परिणमनशील हैं। सब पदार्थोंका परिणमन अपने अपने में हो रहा है, किसी पदार्थ का अंश भी किसी दूसरे पदार्थमें नहीं जाता। यह जीव उनका ज्ञाता द्रष्टा बनता है, इतना ही नहीं किसीको अपनाता है। किसीको रागका विषय करता है। किसीको द्वेषका विषय करता है। इस तरह पर-पदार्थोंकी व्यवस्था कर ईश्वर बननेका दावा करता है। कोई अपनेको अकिञ्चित्कर मानकर अन्यको इसका कर्ता बनाता है, कोई कहता है यह सब भ्रम है। भ्रमसे ही यह अवस्था बन रही है। भ्रमके अभावमें संसारका अभाव है। अतः इन जालोंसे बचनेके लिये अपनेको जानना परमावश्यक है। आत्मद्रव्य चैतन्यगुण का आश्रय है। यद्यपि आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है किन्तु उन गुणोंमें चैतन्यगुण ऐसा है जो सबकी व्यवस्था करता है।

परमार्थ दृष्टि से सभी द्रव्य अपने-अपने स्वरूपमें लीन हैं। इनमें जीवद्रव्य तो चैतन्य स्वरूपवान् है, पुद्गल चेतनागुण से शून्य है किन्तु उन दोनों का

अनादिकालसे सम्बन्ध हो रहा है, इससे दोनों अपने अपने स्वरूपसे च्युत होकर अन्य अवस्थाको धारण कर विकृत हो जाते हैं। संसारमें जो विकृत परिणाम होते हैं वह परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे होते हैं। यह परिणमन अनादिकालसे धारावाही रूपमें चला आ रहा है और जब तक इसकी सत्ता रहेगी, आत्मा दुःखी रहेगा। जिन जीवोंको भेदज्ञान हो जाता है वे इन परपदार्थोंको अपनाना छोड़ देते हैं। उनको परमें निजत्व कल्पना नहीं होती। यही कल्पना संसारकी मूल जननी है। जिन्होंने इसका ध्वंस कर दिया वही जगतके प्रपञ्चोंसे छूट जाते हैं।

अनेकान्त; तत्त्व की कुञ्जी—

तत्त्वचर्चा को तो सभी शूर हैं परन्तु निजमें रहनेवाले बिरले ही हैं। महती कथा करनेको भी सभी वक्ता हैं परन्तु यदि कोई प्रकृतिविरुद्ध बोले तब उसको निजशत्रु समझते हैं। शत्रु अन्य नहीं, आत्माका विभाव परिणाम ही शत्रु है। विभाव परिणामका जनक उपादानसे आत्मा और निमित्तसे आत्मातिरिक्त परद्रव्य है। वह तो जबरन रागादि नहीं करता। यदि यह रागादि विभाव रूप परिणमे तब अन्यद्रव्य निमित्त होता है। हाँ, यह नियम है कि जब अध्यवसान भावकी उत्पत्ति होगी तब उसमें कोई न कोई परद्रव्य विषय होगा। सर्वथा न मानना कुछ बुद्धिमें नहीं आता। यदि परद्रव्य निमित्त न हो और यह रागादिभाव आत्माके पारिणामिकभाव हो जाते तब जैसे पारिणामिक भाव अबाधित त्रिकाल सत्तावान् है ऐसे यह भी हो जावें। यदि शुभोपयोगमें परमेष्ठीको निमित्त न मानो तब अन्य जो कलत्र आदि पदार्थ भी ज्ञान में आ जावें उन्हें त्याग कर वन मे जाने की आवश्यकता नहीं। अतः यही कहना पड़ेगा कि परमेष्ठी शुभोपयोग में निमित्त होने से, स्वर्ग का कारण और अशुभोपभोगमे स्त्री आदि नरकका कारण हैं। परमार्थमे न तो अर्हंत स्वर्गके कारण हैं और न कलत्रादि नरकके कारण हैं। अपने शुभ अशुभ कषाय स्वर्ग नरकादिके कारण है। अतः सर्वथा एकान्त मत पकड़ो। पदार्थका स्वरूप ही अनेकान्तमय है।

अकलङ्क स्वामीने परमात्माकी जहाँ भक्ति की है वहाँ लिखा है कि प्रमेयत्वादि धर्मोंके द्वारा आत्मा अचेतन है और चैतन्यधर्मके द्वारा चिदात्मा है। इस तरहसे परमात्मा चिदात्मा भी है, और अचिदात्मा भी है। परमार्थसे देखा जावे तब वस्तु अनिवर्चनीय है। अन्यकी कथा छोड़ो, जब हम घटका निरूपण करते हैं उस समय रूपादिका जो बोध होता है, उस बोधमें जो विषय आता है वही घट है। अब यहाँ पर पूछने वाला हमसे यह प्रश्न कर सकता है कि जब यह सिद्धान्त है कि एक द्रव्यमें परद्रव्यका अणुमात्र भी नही आया तब ज्ञान ने घट का क्या निरूपण किया ? ज्ञानमें जो विकल्प आया वही तो कहा। परन्तु वह विकल्प घटके निमित्तसे हुआ इससे कहते हैं यह घट है, वास्तवमें घट क्या है। मृत्तिका की पर्याय विशेष है, । यह भी कहना व्यवहार है। परमार्थसे न तो कोई पदार्थ कहो जाता है और न आता है, सभी पदार्थ निज निज चतुष्टयमें परिणमन कर रहे हैं।

यह जो व्यवहार है सो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धसे बन रहा है। देखो, कुम्भकार जब मिट्टी लाता है तब जहाँ मृत्तिका थी कुम्भकारके द्वारा कुदाल से खोदी जाती है। कुम्भकारका व्यापार कुम्भकारमें होता है, उसके हाथके निमित्तको पाकर कुदालमें व्यापार होता है, कुदालके व्यापारसे मिट्टी अपने स्थानसे च्युत होती है, उसे कुम्भकार अपने गर्दभ द्वारा अपने गृहमें लाता है। पश्चात् उसमें पानी डाला जाता है, हाथोंके द्वारा उसे आर्द्र बनाता है पश्चात् मृत्तिकापिण्डको चाकपर रखकर दण्ड द्वारा व्यापार होनेसे चक्र-भ्रमण करता है, पश्चात् घट बनता है। वास्तवमें जितने व्यापार यहाँपर हुए सब पृथक्-पृथक् हुए परन्तु एक दूसरेमें निमित्त हुआ। इस तरह यह प्रक्रिया अनादिसे चली आ रही है।

जिसकालमें आत्माका मोह चला जाता है उस समय यह ज्ञानावरणादि कर्म आत्मासे सम्बन्धित नही होते। इन कर्मोंके सम्बन्ध न होनेसे आत्मा गत्यादि भ्रमण नहीं करता तब अनायास ही शरीरादिके अभावमें आत्माका जो स्वरूप है उसमें रह जाता है। अब उसे जो आपके ज्ञानमें आवे कहिये। कोई कहता है वह अनन्तज्ञानी है—'सर्व द्रव्य-

पर्यायेषु केवलस्य' अर्थात् केवलज्ञानका विषय सर्व द्रव्य पर्याय हैं। कोई कहता है अनन्त सुखवाला है, अनन्त शक्तिवाला है। कोई यही कह देता है कि उसकी महिमा अचिन्त्य है। नाना विकल्पोंसे उसका निरूपण करनेकी सर्वज्ञकी पद्धति है। वस्तुतः विचार किया जावे तब उसके भावेन्द्रियके अभाव होनेसे न तो उनके ज्ञानमें जैसे हमारे इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा पदार्थोंका विकल्प होता है—वह विकल्प उसके ज्ञानमें नहीं होता। हमारा तो यह विश्वास है कि हमारे मतिज्ञानमे जो पदार्थ आता है तथा रूपादि का विकल्प भी होता है परन्तु जिनके इन्द्रिय ही नहीं उनके पदार्थ तो आवेगा, कल्पना रूपादिकों की न होगी। तथा हमारे ज्ञानमें रूपादिक आते हैं कुछ हानि नहीं परन्तु हमारे मोहादिक कर्मका सद्भाव होनेसे उन पदार्थोंमें इष्टानिष्ट कल्पना होती है। यही कारण है कि हम इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष कर इष्टका सद्भाव और अनिष्टका अभाव चाहते हैं। इस विवेचनसे सर्वज्ञमें जो ज्ञान है इससे उन्हें शान्ति है सो नहीं अपितु उनके इष्टानिष्ट करने वाला मोह चला गया, यही उनके महत्त्वका कारण है।

ज्ञानसे न तो सुख ही होना है और न दुःख ही होता है, ज्ञान तो केवल जाननेमें सहायक होता है। व्यवहारमें हमारा उपकारी श्रुतज्ञान है। इसीके द्वारा हम केवलज्ञान-का निर्णय करते हैं। यदि श्रुतज्ञान न होता तब मोक्षमार्ग-का निरूपण होना असम्भव हो जाता। संसारमें जितनी प्रक्रियाएँ धर्म और अधर्मकी दृष्टिगोचर हो रही है वह श्रुतज्ञान ही का माहात्म्य है। भगवान्‌की दिव्यध्वनिको दर्शाने वाला श्रुतज्ञान ही तो है। आज संसारसे श्रुतज्ञान उठ जावे तो मोक्षमार्गका लोप ही हो जावे। जब पञ्चम कालका अभाव होकर छटवाँ काल आवेगा उस कालमें श्रुतज्ञान ही का लोप हो जावेगा, सभी व्यवहार लुप्त हो जावेंगे, मनुष्योंके व्यवहार पशुवत् हो जावेंगे। अतः जिन्हें इन पदार्थोंकी प्रतीति करना है, उन्हें श्रुतज्ञानका अच्छा अध्ययन करना चाहिये। जितने मत संसारमें प्रचलित हैं श्रुतज्ञानके बलसे ही चल रहे हैं। कुन्दकुन्द स्वामीने तो यहाँ तक लिखा है कि—

"आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूंसि सव्वभूदाणि।
देवादि ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू॥"

अर्थात् आगमचक्षु साधु लोग होते हैं। संसारी मनुष्य इन्द्रियचक्षु होते हैं। देवलोग अवधिचक्षु होते हैं। सिद्ध भगवान् सर्वचक्षु होते है। अर्थात् वह सभी पदार्थोंको इन्द्रियके बिना ही देखते हैं। विचार कर देखो तब यह बात आगम ही तो कहता है। इसीसे देवागममें समन्तभद्र स्वामीने लिखा है—

"स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्॥"

शुक्लध्यानके वास्ते श्रुतज्ञानकी आवश्यकता है, मति अवधि मन.पर्ययकी नहीं।

एकमात्र कर्त्तव्य तत्त्वाभ्यास—

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन्हें आत्मकल्याण करने-की लालसा है वे सभी विकल्पोंको त्याग कर अहर्निश आगमाभ्यास करें और उससे अनादि कालकी जो पर पदार्थोंमें आत्मीय वासना है उसका त्याग करें। अकेले ज्ञानके अर्जनसे कोई लाभ नहीं। जिस ज्ञानार्जनसे आत्म-लाभ न हो उस ज्ञानकी परिग्रहमें गणनाकी जावे तब कोई क्षति नहीं। बाह्य परिग्रहका त्याग इसीलिये कराया जाता है कि वह मूर्च्छामें कारण होता है। इसी प्रकार यह ज्ञान-का अर्जन है उससे भी तो यह अभिमान होता है कि 'हम बहुज्ञानी हैं, हमारे सदृश कोई नहीं'। यह बेचारे पदार्थके मर्मको क्या समझें? हम चाहें तब अच्छे अच्छे विद्वानों को परास्त कर सकते हैं।' इन कल्पनाओं का कारण वह ज्ञान ही तो हुआ, यदि उसे परिग्रह कह दिया जावे तब कौन-सी क्षति है। ज्ञानकी कथा त्यागो, तप इत्यादि जो अहङ्कारसे किये जावें --'लोकमें हमारी प्रतिष्ठा हो, मैं महान् तप-वी हूँ, मेरे समक्ष ये बेचारे क्या तप कर सकते हैं?' इत्यादि दुर्भावोंके उदयमें यह तप हुआ तब इसे परिग्रहका कारण होनेसे यदि परिग्रह कह दिया जावे तब कौन-सी क्षति है? यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामीने इन सबको मदोंमें गिनाया है—

"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं, बलमृद्धिं तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥"

तात्पर्य यह कि यह सब भाव कषायोत्पादक होनेसे यदि इन्हें परिग्रहमें गिना जावे तब कोई क्षति नहीं।

धनादिक तो विचारसे देखो बाह्य पदार्थ हैं ही। वे उतने बाधक नहीं जितने ये हैं। उनके द्वारा आत्मा ठगाया नहीं जाता जितना इन तप ज्ञान आदिकसे जगत ठगाया जाता है। धर्म कार्य जितनी जगतकी वञ्चना करते हैं उतनी चोर आदि नहीं करते। चोर तो केवल बाह्य धनका ही हरण कहते हैं। यदि उन्हें निर्व्याज धन दे दो तो अन्य हानि नहीं करते। ये लोग धन ही का तो हरण करते हैं किन्तु ये द्रव्य तपस्वी आपकी धर्म सम्पत्तिका अपहरण कर अनन्त संसारका पात्र बना देते हैं। अतः आवश्यकता श्रुतज्ञानकी है जिससे पदार्थ तत्त्वका निर्णय हो जावे और हम किसीके द्वारा ठगाये न जावें। आज सहस्रों मत संसारमें चल रहे हैं इन सबका मूलकारण हमने श्रुतज्ञान-का सम्यक् अध्ययन नहीं किया यही है। अतः जिन जीवों-को इन उलझनोंसे अपनी रक्षा करना है उन्हें भेदज्ञानपूर्वक अपनी ज्ञानपरिणति को निर्मल करना चाहिये।

आज संसारका जो पतन हो रहा है उसका मूलकारण यथार्थ पदार्थोंके कहने वाले पुरुषोंका अभाव है। यहाँ तक शास्त्रोंका दुरुपयोग किया कि बकरोंकी बलि करके भी स्वर्गका मार्ग खोल दिया। किसीने खुदाके नाम पर दुर्भावोंकी कुर्बानी कर स्वर्गका मार्ग खोल दिया। वास्तव-में कुर्बानी तो राग-द्वेष मोहकी करनी चाहिये। यही आत्माके शत्रु हैं। इस ओर लक्ष्य देना चाहिये। परन्तु इस ओर लक्ष्य नहो। केवल पञ्चेन्द्रियोंके विषयमें अनादि कालसे संलग्न हैं,। इनके होनेमें हम अपने प्राणों तकको विसर्जन कर देते हैं। जैसे स्पर्शन इन्द्रिय के बशीभूत होकर हाथी अपनेको गर्तमे गिरा देता है। रसनेन्द्रियके बशीभूत होकर मत्स्य अपने कण्ठको छिदा देता है। घ्राण इन्द्रियके वशीभूत होकर भ्रमर अपने प्राण गमा देता है। चक्षु इन्द्रियके वशीभूत होकर पतङ्ग निज प्राणोंका प्रलय कर देता है। श्रोत्र इन्द्रियके वशीभूत होकर मृग बहेलियाके पल्ले पड़ जाते हैं। यह तो कुछ भी नहीं। इन विषयोंके वशीभूत होकर प्राणोंका ही घात होता है, परन्तु कषायोंके वशीभूत होकर बड़े-बड़े महापुरुष संसारके चक्रमें पड़ जाते हैं। आत्माके अहित विषय कषाय हैं, इनमें विषय तो उपचारसे अहित करता है। कषाय ही मुख्यतया अहित करने वाला है।

जिन्हें आत्महित करना है उन्हें अपनेको स्वतन्त्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। स्वतन्त्रता ही मूल सुखकी जननी है। सुख कहीं अन्यत्रसे नहीं आता, सुख आत्माका स्वभाव है, उसका बाधककारण पर है। 'पर' क्या ? हम ही तो हैं। हमने अपने स्वरूपको नहीं समझा। हम ज्ञान-दर्शनके पिण्ड हैं। ज्ञानका काम अपने को और परको जानना है। ज्ञानकी स्वच्छतामें पदार्थ प्रतिभासित होता है, उसे हम अपना मान लेते हैं। ज्ञानके विकल्पको अपना मानना यहाँ तक तो कुछ हानि नहीं जो पदार्थ उसमें झलकता है, किन्तु उसे अपना मानना सर्वथा अनुचित है। हमारी तो यह श्रद्धा है कि ज्ञानमें ज्ञेय आया यह भी नैमित्तिक है अतः उसे भी निज मानना न्याय सङ्गत नहीं। रागादिक भावोंका उत्पाद आत्मामें होता है। वह राग प्रकृतिके उदयसे होता है, उसे आत्माका न मानना सर्वथा अनुचित है। यदि वह भाव आत्माका न माना जावे तब आत्मा सिर्फ ज्ञान स्वरूपही हुआ, फिर यह जो संसार है, इसका सर्वथा अभाव हो जावेगा। क्योंकि रागादिकके अभावमें कार्मण वर्गणाओंमें जो मोहादि रूप परिणमन होता है वह न होगा। ज्ञानावरणादि कर्मोंके अभावमें जो आत्माके गुण हैं, वह सदा विकाशरूप ही रहेंगे। तब संसारमें जो तरतमता देखी जाती है उस सबका विलोप हो जावेगा, संसार ही न होगा। संसारके अभावमें मोक्षका अभाव हो जावेगा, क्योंकि मोक्ष बन्धपूर्वक होता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि आत्मा द्रव्य स्वतन्त्र है और परिणमनमें भी स्वतन्त्र है। किन्तु यह निर्विवाद सिद्धान्त है कि जो रागादि कार्य होते हैं केवल एक द्रव्यसे नहीं होते, उनके होने में दो द्रव्य ही कारण है। उनमें जहाँ रागादिक होते हैं वह उपादान और जिसके सहकारितासे होते हैं उसे निमित्तकारण कहते हैं।

बहुतसे मनुष्य यह कहते हैं कि रागादिरूप परिणमन तो जीवमें हुआ, इसमें पुद्गलका कौनसा अंश आया ? जैसे कुम्भकारके निमित्तसे मृत्तिकामे घट उत्पन्न हुआ उसमें कुम्भकारका कौन-सा अंश आया ? कौन कहता है कुम्भ-कारादिका अंश घटमें आया ? नहीं आया। परन्तु इतना बड़ा घट क्या कुम्भकारकी उपस्थितिके बिना ही होगा ? नहीं हुआ। तब यह मानो कुम्भकार ही घटपर्यायके

उत्पादमें सहकारी होनेसे निमित्त हुआ। यह व्यवस्था कार्यमात्रमें जान लेनी। संसाररूप कार्य इन्हीं कारणोंके ऊपर निर्भर है। जहाँ पर, जीव और पुद्गलका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही रहता, संसार नहीं रहता। संसार कोई भिन्न पदार्थ नही। जहाँ जीव और पुद्गल इन दोनोंका अन्योन्य निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे जीव रागादिरूप तथा पुद्गल ज्ञानावरणादिरूप परिणमता है इसीका नाम संसार है। केवल जीव और केवल पुद्गल इसका नाम संसार नही।

केवल जीवके स्वरूप पर परामर्श किया जावे तब यह 'अस्ति' आदि तत्त्व नहीं बनते। यह सबकी अपेक्षा रखते हैं। इन तीनोंके सम्बन्धसे यह सप्त तत्त्व बनते हैं। जब जीव रागादि भावोंसे रहित हो जाता है तब पुद्गलमें ज्ञानावरणादि नही होते। बद्धज्ञानावरणादि कर्म अन्तर्मुहूर्तमें क्षय हो जाते हैं। उस समयमें आत्मा केवलज्ञानादि गुणोंका आश्रय होकर सर्वज्ञ पदसे व्यपदेश होने लगता है। पश्चात् पूर्वबद्ध जो अघातिया कर्म हैं वे या तो स्वयमेव खिर जाते है या आयुसे अधिक स्थितिवाले हुए तब समुद्घात विधानसे आयुसमान स्थिति होकर स्वयमेव खिर जाते हैं, और आत्मा केवल शुद्धपर्याय का पात्र हो जाता है। यद्यपि यह पर्याय केवल आत्मा में होती है परन्तु अनादिसे लगा हुआ जो मोह है वह इसे व्यक्त नहीं होने देता।

जैनधर्ममें दो प्रकारके पदार्थ माने जाते हैं—एक चेतन और दूसरा अचेतन। चेतन किसको कहते ? जिसमें चेतना पाई जावे। उसका स्वरूप आगममें इस प्रकार कहा है—

"चेतनालक्षणो जीवोऽजीवस्तद्विपर्ययः।"

चेतना नामकी एक शक्ति है, जिसका काम पदार्थोको जानना है। चेतना ही ऐसी शक्ति है जो स्व-परको संवेदन करती है। परमार्थसे तो ज्ञान स्वपर्याय ही को वेदन करता है। ज्ञानकी निर्मलतामें पदार्थके निमित्तको पाकर पदार्थका जो आकार है उस रूप आकार ज्ञानमें आता है, न कि वह वस्तु ज्ञानमें आती है। ज्ञानमें तो ज्ञानकी ही पर्याय आती है। मोही जीव, जो ज्ञानमें आता है, उसे ही निज मान लेता है। ज्ञानमें जो आया वह ज्ञानका परिणमन है, इसमें तो कोई विवाद नहीं, किन्तु ज्ञान परिणमनसे भिन्न जो वस्तु है उसे निज मानना मिथ्या है।

ज्ञानमें जैसे बाह्य पदार्थ आते हैं वैसे सुखादिक गुण भी आते हैं; किन्तु वे अभ्यन्तर हैं। वे भी ज्ञानगुण की तरह आत्माके हैं, परन्तु स्वरूप सभीके पृथक्-पृथक् हैं। अपने अपने स्वरूपको लिये आत्मतत्त्वके साधक हैं। अर्थात् इन सब गुणोंका जो अविष्वग्भाव सम्बन्ध है इसीका नाम द्रव्य है। द्रव्य अनन्तगुणों का पिण्ड है। इसीसे आत्मा ज्ञान भी है, दर्शन भी है, सुख भी है, वीर्य भी है। ज्ञान दर्शन भिन्न है। यह दोनों ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। इसी तरह सभी गुण पृथक् पृथक् जानने। यथा पुद्गलमें स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण गुण भिन्न हैं। इस भिन्नताका द्योतक भिन्न इन्द्रियों द्वारा इनका ज्ञान होना है। भिन्न होने पर भी इनका अस्तित्व पृथक् नहीं हो सकता, इससे कथञ्चित् एक क्षेत्रावगाही होनेसे एक हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा अखण्ड एक द्रव्य है। वैसे ही पुद्गल भी अखण्ड एक द्रव्य है। जैसे अनंत गुणों का पिण्ड आत्मा है, वैसे ही अनन्त गुणोंका पिण्ड पुद्गल है। जैसे आत्मामें अनन्त शक्ति है, वैसे पुद्गलमे भी अनन्त शक्ति है। जैसे आत्मामें अनन्त पदार्थोंके जाननेकी सामर्थ्य है वैसे पुद्गलमें भी अनन्तज्ञान को प्रगट न होने देनेकी शक्ति है। अन्तर केवल इतना ही है कि आत्मा चेतन है, पुद्गल अचेतन है। केवल द्रव्यका विचार किया जावे तो न तो बन्ध है और न मोक्ष ही है। और न ये शब्द, बन्ध, इत्यादि जो पर्याय पुद्गल द्रव्यमें देखे जाते हैं आत्मामें हैं। पुद्गल और जीवके सम्बन्धसे ही यह संसार देखा जाता है। इस विकृतावस्थाही का नाम संसार है। संसारमें जीवकी नाना प्रकारकी नाना अवस्थाएँ होती है। इन्हींसे जीवमें नाना प्रकारके दुःखोंका व अनेक प्रकार के वैषयिक सुखों का अनुभव होता है। परमार्थसे कभी भी इस जीवको एक क्षणमात्र भी सुख नहीं।

यद्यपि सर्व द्रव्य स्वयंसिद्ध हैं किन्तु अनादिसे जीव और पुद्गलका अनादि सम्बन्ध चला आ रहा है। इससे जीवकी जो स्वाभाविक अवस्था है उससे वह च्युत है। पुद्गल भी अपने स्वाभाविक परिणमनसे च्युत हो रहा है। यद्यपि जीव द्रव्यका एक अंश न तो पुद्गल द्रव्यरूप हुआ है और

न पुद्गलका एक परमाणु भी जीवरूप हुआ है फिर भी दोनों अपने अपने स्वरूप च्युत हो रहे हैं। जैसे तोला भर सुवर्णको और तोला भर चाँदीको गलाने से एक पिण्ड हो गया। इस तोलाभर सोनामें एक खशखश भी न्यूनता न आई न एक खशखश वृद्धि हुई। यही अवस्था चाँदीकी हुई। फिर भी पिण्डको न शुद्ध सोना कहते है और न शुद्ध चाँदी ही कह सकते हैं। दोनों अपने अपने स्वरूपमें च्युत हैं। यही अवस्था जीव और पुद्गलकी है। यद्यपि बन्धावस्थामें जीव द्रव्यका एक अंश न तो पुद्गल द्रव्यरूप हुआ है और न पुद्गलका एक अंश जीवरूप हुआ है फिर भी दोनों अपने अपने स्वरूपसे च्युत हैं।

इस अवस्थामें जीवकी क्या क्या दुर्दशा हो रही है सो किसीसे गुप्त नही। यह सम्बन्ध अनादि का है। जैसे बीज वृक्षका सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है। यदि कोई बीजको दग्ध कर देवे तब वृक्ष नही हो सकता और वृक्षके अभावमें बीजोत्पत्ति नहीं हो सकती। इस तरह जीव और पुद्गलके सम्बन्धसे जो संसार सन्तति धारावाही रूपसे आ रही है इसका मूलकारण मोहादि परिणाम है। यदि आत्मा रागादिपरिणाम त्याग देवे तो अनायास ही नवीन बन्ध न हो। जो बद्धकर्म हैं वे उदयमें आकर स्वयमेव खिर जायेंगे। अनायास ही आत्मा इस बन्धनसे मुक्त हो सकता है। यह सब है परन्तु न जाने यह जीव क्यों इस चक्रसे मुक्त नहीं होता। अनादि कालसे मोहके चक्रमें परिवर्तन कर रहा है। प्रतिदिन वही कथा करता है, परको निज माननेमें जो जो उपद्रव होते हैं वे किसीसे गुप्त नहीं। केवल जानता ही नहीं किन्तु तज्जन्य दुःखका वेदन भी करता है। इसके अधीन होकर क्या क्या नहीं करता सो किसीको अविदित नही।

एक सेठजी थे। उनका दूसरा विवाह हुआ था। सेठ क्रूर प्रकृतिके थे। एक दिन सेठ जी का शिर दर्द करने लगा। उन्होंने दासी को आज्ञा दी कि सेठानीसे कहो चंदन घिसकर लावे और मस्तक में लगावे। दासीने आकर सेठानीसे कहा कि सेठजी के शिरमें वेदना हो रही है, शीघ्रतासे चन्दन रगड़ो और सेठके मस्तकको मालिश करो, अन्यथा लातोंकी मार खानी पड़ेगी। सेठानीने उत्तर दिया—मुझे ज्वर आ गया है, सेठजी से कह दो। जैसेही सेठजी ने सुना, शिर वेदनाकी चिन्ता त्याग सेठानी के पास आकर पूछने लगे—क्या हुआ? सेठानीने उत्तर दिया—आपकी शिर वेदना सुनकर मुझे तो ज्वर आ गया। सेठजीने कहा—इसके दूर करनेका उपाय क्या है? सेठानीने कहा—उपाय है परन्तु यहाँ होना असम्भव है। सेठजीने पूछा—उपाय कौन-सा है?

सेठानी ने कहा—मेरे घर पिताजी चन्दनके तेलको मेरे तलवेमें मर्दन करते थे या मेरा भाई पैरको मलता था। आपसे क्या कहूँ? उपाय सुनकर सेठजी चन्दनका तेल लेकर सेठानीके पैरका मर्दन करने लगे। सेठानीने बहुत मना किया पर उन्होने एक न मानी और तलुओंको मलकर अपनेको कृतकृत्य माना।

कहने का तात्पर्य यह है कि स्नेहके वशीभूत होकर जो जो कार्य न हों वे अल्प है। अन्य सामान्य मनुष्योंकी कथा त्यागो, तीन खण्ड के अधिपति महाविवेकी, धर्मके परम अनुरागी लक्ष्मणने श्री रामचन्द्रजीके स्नेहमे आकर प्राणोंका उत्सर्ग ही तो कर दिया। श्री रामचन्द्रजी महाराज, जो तद्भवमोक्षगामी थे, स्नेहके वशीभूत होकर छह मास पर्यन्त लक्ष्मणके शरीरको लिये फिरे और अन्तमे स्नेहको त्यागकर ही मुक्तके पात्र हुए। श्री सीताजीका जीव सोलहवें स्वर्गका प्रतीन्द्र था। जब श्री रामचन्द्रजीने गृहस्थावस्था को त्याग दिगम्बर पद धारण किया। उस समय सीताके जीव प्रतीन्द्रने यह विचार किया वे एक बार देवलोकमें आवें पश्चात् यहाँसे च्युत होकर हम दोनों मनुष्यजन्म धारण कर साथ साथ संयम धारण करें और कर्मबन्धन काट मोक्षके पात्र होवें। ऐसा विकल्प कर जो उपद्रव किया सो पद्मपुराणसे सभी को विदित है सबको विदित होने पर भी इस मोह पर विजयी होना अतिकठिन है।

आत्म–विश्लेषण —

अन्यकी कथा कहाँतक लिखें? हमारी अस्सी वर्षकी आयु हो गई और पचास वर्षसे निरन्तर इसी प्रयत्नमें तत्पर हैं कि मोहशत्रुको परास्त करें। जितने बार प्रयास किया बराबर अनुत्तीर्ण होते रहे। बालकपनमें तो माता पिताके स्नेहमें दिन जाते थे। मेरी दादी मुझपर बहुत

स्नेह करती थीं। प्रातःकाल ताजी रोटी और ताजा घी खिलाती थी और मेरा पालन-पोषण करती थीं। उस समय हम कुछ जानते ही न थे कि मोह दुखदायी पदार्थ है। प्रत्युत इसीको सुख मानते थे। ऐसेही प्रमोदमें निरन्तर अपनेको धन्य समझते थे। हमारे एक मित्र श्री हरीसिंह सौरया थे जो बहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे। उनसे हमारा हार्दिक स्नेह था। इतना स्नेह कि एक दूसरेके बिना हम लोग एक मिनिट भी नहीं रह सकते थे। इसी तरह रात्रिदिन काल व्यतीत करते थे। परलोकका कोई विचार न था। जब कुछ पण्डितोंका समागम हुआ तब कुछ व्यवहार धर्ममें प्रवृत्ति हुई। भगवानकी पूजा और पद्मपुराणका श्रवण कर अपनेको धन्य समझने लगे। इसी पूजा आदि कार्योंमें धर्म मानने लगे और अपनेको धर्मात्मा समझने लगे। कुछ दिन बाद व्रत करने लगे, रात्रिभोजन त्याग दिया, कभी रसपरित्याग करने लगे।

इतनेमें पिताजीने विवाह कर दिया। थोड़े ही दिनोंमें माँने मेरी पत्नीको ऐसे रंगमें रँग दिया कि वह हमसे कहने लगी कि अपनी परम्परामें अपने धर्मका परित्याग कर तुमने जो धर्म अङ्गीकार किया उसमें बुद्धिमत्ता नहीं की। हमने भी उससे बिना विचारे कह दिया कि यदि तुम्हारी आत्मा हमारे धर्मसे विमुख है तब हमारा तुम्हारा व्यवहार अच्छा नहीं। उसने भी आवेगमें आकर कहा मैं भी तुमसे सम्बन्ध नहीं चाहती। अस्तु, हम और हमारी पत्नीमें ३६ का सा (परस्पर विरुद्ध) सम्बन्ध हो गया।

हम टीकमगढ़ प्रान्तमें चले गये और वहीं एक पाठशालामें अध्यापकी करने लगे। दैवयोगसे वहींपर श्री चिरौंजीबाईजीके गाँव, सिमरा, गये। धर्ममूर्ति बाईजीने बहुत सान्त्वना दी तथा एक अपढ़ क्षुल्लकके चक्रसे रक्षा की। पढ़नेकी सम्मति दी किन्तु कहा शीघ्रता मत करो, मैं सब प्रबन्ध कर भेज दूँगी। परन्तु मैंने शीघ्रता की, फल अच्छा न हुआ। अन्तमें अच्छा ही हुआ। अच्छे अच्छे महापुरुषों और पण्डितोंका समागम हुआ, तत्त्वज्ञानके व्याख्यान सुने, व्यवहारधर्ममें प्रवृत्ति हुई, तीर्थयात्रा आदि सब कार्य किये परन्तु शान्तिका आस्वाद न आया। मनमें यह आया कि सबसे उत्तम काम विद्याप्रचार करना है। जो जातिसे च्युत हो गये हैं उन्हें पंचायत द्वारा जातिमें मिलाना। जो दस्से हैं उन्हें मन्दिरोंके दर्शन करनेमें जो प्रतिबन्ध है उसे हटाना, तथा बाईजी द्वारा जो मिले उसे परोपकारमें दे देना आदि। सब किया भी, परन्तु शान्तिका अंश भी नहीं आया। इन्हीं दिनोंमें बाबा भागीरथजी का समागम हुआ। आपके निर्मल त्यागका आत्माके ऊपर बहुत ही प्रभाव पड़ा। मैं भी देखा-देखी निरन्तर कुछ करने लगा, परन्तु कुछ सफलता नहीं मिली।

व्रत-ग्रहण—

अन्त में यही उपाय सूझा जो सप्तम—प्रतिमाके व्रत अङ्गीकार किये। यद्यपि उपवासादिककी शक्ति न थी फिर भी यद्वा तद्वा निर्वाह किया। बाईजीने बहुत विरोध किया—'बेटा! तुम्हारी शक्ति नहीं, परन्तु हमने एक न मानी। फल जो होना था वहीं हुआ। लोग न जाने क्यों मानते रहे? काल पाकर बाईजीका स्वर्गवास हो गया। तब मैं श्री मोतीलालजी वर्णी और कमलापति सेठजीके समागममें रहने लगा। रेलकी सवारी त्याग दी। मोटरकी सवारी पहले ही त्याग दी थी। अन्तमें वह विचार हुआ कि श्री गिरिराजकी यात्रा करना चाहिये। भाग्यसे बाबू गोविन्दरायजी गया वाले आ गये। बरुआसागरसे चार आदमियोंके साथ चल दिये। दो मील चलनेके बाद थक गये, चित्त बहुत उदास हुआ इतनेमें एक नौकर था वह बोला—

'सागर दूर सिमरिया नियरी।'

इसका अर्थ यह है कि बरुआ सागरसे अभी आप दो मील आये है, वह तो दूर है, सिमिरिया यद्यपि ७०० मील है परन्तु उसके सन्मुख हो अतः वह समीप है। कहने का तात्पर्य यह कि गिरिराज समीप है। बरुआसागर दूर है। इस वाक्यको श्रवण किया और उस दिन १० मील मार्ग तय किया।

शान्ति कहाँ—

कुछ माह बाद शिखरजीकी वन्दना की, वहाँ पर कई वर्ष बिताए, परन्तु जिसे शान्ति कहते हैं, नहीं पाई। प्रायः बिहारमें भ्रमण भी किया। श्री वीरप्रभुके निर्वाण क्षेत्रमें

श्री राजगृही चार माह रहे। स्वाध्याय किया। वन्दनाएँ कीं। शक्तिके अनुकूल परस्पर तत्त्वचर्चा भी की, परन्तु जिसको शांति कहते हैं, अणुमात्र भी उसका स्वाद न आया। वहाँसे चलकर वाराणसी आये। अच्छे अच्छे विद्वानों का समागम हुआ, परन्तु शान्तिका लेश भी न आया। वाराणसी त्यागने पर दशमीप्रतिमाका व्रत लिया, परन्तु परिणामों की जो दशा पहिले थी वही रही—शान्तिका आस्वाद न आया। कुछ दिनों बाद मनमें आया कि क्षुल्लक हो जाओ, नटकी तरह इन उत्तम स्वांगोंकी नकल की—अर्थात् क्षुल्लक बन गये। इस पदको धारण किये पाँच वर्ष हो गये परन्तु जिस शान्तिके हेतु यह उपाय था उसका लेश भी न आया। तब यही ध्यानमें आया अभी तुम उसके पात्र नहीं। किंतु इतना होनेपर भी व्रतोंके त्यागनेका भाव नहीं होता। इसका कारण केवल लोकेषणा है। अर्थात् जो व्रतका त्याग कर देवेंगे तो लोकमें अपवाद होगा। अतः कष्ट हो तो भले ही हो, परन्तु अनिच्छा होते हुये भी व्रत-को पालना। जब अन्तरङ्गमें कषाय है, बाह्यमें आचरण भी व्रतके अनुकूल नहीं तब यह आचरण केवल दम्भ है।

श्री कुन्दकुन्द स्वामीका कहना है कि यदि अन्तरङ्ग तप नहीं तब बाह्यवेष केवल दुःखके लिये है। पर यहाँ तो बाह्य भी नहीं; अन्तरङ्ग भी नहीं। तब यह वेष केवल दुर्गतिका कारण है, तथा अनन्त संसारका निवारक जो सम्यग्दर्शन है उसका भी घातक है। अन्तरङ्गमें तो यह विचार आता है कि इस मिथ्यावेष को त्यागो। लौकिक प्रतिष्ठामें कोई तत्त्व नहीं। परन्तु यह सब कहने मात्रको है। अन्तरङ्गमें भय है कि लोग क्या कहेंगे ? यह विचार नहीं कि अशुभकर्मका बन्ध होगा। उसका फल तो एकाकी तुम ही को भोगना पड़ेगा। यह भी कल्पना है। परमार्थसे परामर्श किया जावे तब आगे क्या होगा ? सो तो ज्ञानगम्य नहीं, किन्तु इस वेषसे वर्तमानमें भी कुछ शान्ति नहीं। जहाँ शान्ति नहीं वहाँ सुख काहेका ? केवल लोगोंकी दृष्टिमें मान्यता बनी रहे इतना ही लाभ है।

तब क्या करें—

मेरा यह विश्वास है कि अधिकांश जनता भयसे ही सदाचारका पालन करती है। जहाँ लोगोंकी परवा नहीं वहाँ पापाचरणसे भी भय नहीं देखा गया। जहाँ लोकभय गया वहाँ परलोककी कौन गणना। अतः जिन्हें आत्म-कल्याण करना हो वे मनुष्य तत्त्वाभ्यास करें और यह देखें कि हम कौन हैं ? हमारा स्वरूप क्या है ? हमारा कर्तव्य क्या है? पुण्य-पापादिका क्या स्वरूप है? पुण्य पापादि परमार्थसे हैं या केवल कल्पना हैं ? जो वर्तमानमें विषय सुख होता है क्या उसके अतिरिक्त कोई सुख है या कल्पना मात्र है ? आज जगतमें अनेक मतों का प्रचार हो रहा है। उनमें तथ्यांश है या कुछ नहीं ? इत्यादि विचारकर निर्णय कर अपनी प्रवृत्तिको निर्मल करनेकी चेष्टा करना उचित है। केवल गल्पवादमें ही काल पूर्ण न कर देना चाहिये। अनादिकी कथाको छोड़ो, वर्तमान पर्याय पर विचार करो। जबसे पैदा हुये पांच या छह वर्ष तो अबोध में ही गये। कुछ पर्याय के अनुकूल ज्ञानका विकास बिना शिक्षाके ही हुआ। जैसा देखा वैसा स्वयमेव होगा। बहुभाग भाषाका ज्ञान बिना किसीके सिखाये आ गया। अनन्तर पाठशालामें जानेसे अङ्कविद्या और अक्षरका आभास गुरु द्वारा होने लगा। सात वर्षमें हिन्दी या उर्दूका इतना ज्ञान हो गया जो व्यवहारके योग्य हो गया। अनन्तर जिस धर्ममें अपने माता-पिता और कुटुम्बी जनकी प्रवृत्ति देखी उसी मतमें अपनी भी प्रवृत्ति करने लगा। यदि माता-पिता श्रीरामके उपासक हैं तब आपभी उसी धर्मको मानने लगता है। जैनधर्मानुयायी माता-पिता हुए तब जिनमंदिर में जाने लगा। मुसलमान हुए तब मसजिदमें जाने लगा। ईसाई हुए तब गिरजाघरमें जाने लगा इत्यादि। कहाँतक लिखें जो परम्परासे चला आया है उसीसे अपने उद्धारकी श्रद्धा प्रत्येक मत वाले को है। जो मुसलमान है वह खुदाका नाम लेनेसे ही मोक्ष मानता है। इत्यादि। कहाँतक लिखें अपनी श्रद्धाके अनुकूल कल्याणके मार्गको अपनानेकी सबकी प्रवृत्ति रहती है। यह सब होते हुये भी कई महा-नुभावोने इस विषयमें अच्छा प्रकाश डाला है। कोई पर-मेश्वर हो इसमें विवाद करनेकी आवश्यकता नहीं परन्तु आत्मकल्याण-मार्ग अपने ही पास है अन्यके पास नहीं। यदि नेत्रमें ज्योति नहीं, तब चश्मा चाहे हीराका हो चाहे काँचका हो, कोई लाभ नहीं हो सकता। इसी तरह यदि हमारी अन्तरङ्ग परिणति मलिन है तब चाहे गङ्गास्नान

करो चाहे प्रयाग स्नान करो चाहे मक्काशरीफ जाओ। चाहे मंदिर जाओ। चाहे हिमालयकी शीतल पहाड़ियों पर भ्रमण करो। शांति नहीं मिल सकती। अतः परमात्माके विषयमें विवाद करना छोड़ो। केवल परिणति निर्मल बनाओ। कल्याणके पात्र हो जाओगे और यदि परिणति निर्मल न बनाई तब परमात्माकी कितनी ही उपासना करो कुछ भी शांतिके अस्वादके पात्र न होंगे।

—वर्णी वाणी : ३/२६५-२६८

ज्ञानी जीव जब रागादिकोंको ही हेय समझता है, तब रागादिमें विषय हुए जो पदार्थ, उन्हें चाहे, यह सर्वथा असम्भव है। जब यह वस्तुमर्यादा है तब परसे उपदेशकी वांछा करना सर्वथा अनुचित है। परमें परबुद्धि कर उसके द्वारा कल्याण होनेकी भावनाको छोड़ो। इस विश्वासके छोड़े बिना श्रेयोमार्गका पथिक होना कठिन है। जैसे संसारके उत्पन्न करनेमें हम समर्थ हैं वैसे ही मोक्षके उत्पन्न करनेमें भी स्वयं समर्थ हैं। जैसे—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनः स्वस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः।।

आत्मा ही आत्माको संसार और निर्वाणमें ले जाता है। अतः परमार्थसे आत्माका गुरु आत्मा ही है। परन्तु ऐसा कथन सुनकर कई भाई ऐसी अन्यथा कल्पना करते हैं, जो भक्तिमार्गके विरोधी उपदेश हैं। उनसे हमारी मध्यस्थता है। जबतक कायरताकी लहर है, कल्याण दूर है।

—अध्यात्म-पत्रावली—३०

१२

वर्णी-प्रवचन

(समयसार)

मोह : सारे दुःखों की जड़—

मोह, राग द्वेष इस प्रकार भाव तीन प्रकारके होते हैं। आत्मा तो शुद्ध है, एक प्रकारका है। देवदत्तका सिर्फ एक ही लड़का था तो वही लड़का बड़ा हुआ और वही छोटा हुआ। चैतन्यमात्र आत्मा एक प्रकार का है। इसमें कर्मरूपी अंजन लगा हुआ है। आत्मा बड़ा सरल एवं सीधा है। इसमें जैसी जंग लगी वैसे ही परिणाम हो जाते हैं। यह आत्मा कभी रागी कभी द्वेषी और कभी मोही हो जाता है तथा अज्ञानी हो करके संसार के चक्कर में फँसा हुआ है।

भइया ! जब हम पढ़ते थे तो ठाकुरदास जी को हम बहुत श्रद्धा की दृष्टिसे देखते थे। उनके सामने अधिक बातचीत नही किया करते थे। एक दिन हमारे साथी हजारी ने हमसे कहा कि भांग पियो। हमने पूछा कि भांगमें क्या रखा है। कहने लगा कि भांग पीनेसे साक्षात् महादेवके दर्शन होते हैं। तो मैंने पूछा कि क्या हमारे भगवान आदिनाथ भी हमें दिख सकते हैं ? उसने कहा— हाँ। तो हमने थोड़ी सी भांग पी ली। सोचा पहिली बार थोड़ी सी पीकर भगवान आदिनाथके थोड़ेसे ही दर्शन करने को मिल जावेंगे। भइया ! उसका नशा चढ़ आया और पंडितजीके पास पढ़ने को गये। तो पुस्तकके अक्षर बहुत बड़े बड़े दिखाई देने लगे। तो मैंने पंडितजीसे कहा कि आज पढ़ने को जी नहीं चाहता। मेरी इच्छा है कि मैं आज सोऊँ। पंडितजीने कुछ कहा नहीं तो मैंने कहा कि सुनते नहीं जी ! मैंने कहा कि आज सोनेको जी चाहता है। पंडितजी समझ गये कि किसीने इसे भांग पिला दी है। उन्होंने मुझे लिटा दिया और अपनी धर्म-पत्नीसे कहा कि इसे दही और खटाई खिला दो ताकि इसका नशा उतर जावे। मैंने कहा कि रात को मैं नही खाता, मेरा नियम है। तो पंडितजीने कहा कि जब भांग खाई थी तब नियम कहाँ चला गया था ! मैंने उत्तर दिया कि एक नियम टूट गया दूसरा क्यो तोड़ूँ ? तो भइया ! संस्कार भी बड़े प्रबल होते हैं। हमें अपने जैनधर्म के संस्कार नही मिटाना चाहिये। यदि संस्कार रहे आवें तो हमारा कल्याण हो जावे।

आत्मा तो मिथ्यादर्शन आदि भावोसे दूसरे मार्ग पर आ जाता है। आत्मामें जैसा दाग लग जावेगा वैसा ही वह हो जावेगा। देखिये मंत्र को साधने वाला व्यक्ति दूसरे मंत्रके द्वारा ही अपनी शक्तिको प्रदर्शित कर देता है। बिच्छू, वर्र आदिके जहर शान्त हो जाते है। पानी पीनेसे तृषा शांत हो जाती है। व्याख्यानदाता हजारो आदमियो को अपनी वाणी द्वारा मोहित कर लेता है। पदार्थोंमें अचित्य शक्ति है। मिथ्यादर्शन आत्मा की शक्तिको विकृतिमे परिणत कर देता है। पुद्गल द्रव्यकी शक्ति आत्माकी शक्तिको चौपट कर रही है। पदार्थकी शक्ति विलक्षण है। साम्यभावमे वह शक्ति है कि वह संसारको काट देवे। हमें संसार-सागरसे पार लगा देवे। मोहमें शक्ति अधिक है। चारित्रमोहसे मुनि भी अन्यकी प्रश-स्तियोंको मिटाकर अपनी प्रशस्ति लिखने लगता है।

हम पढ़ते हैं कि जिस समय लव कुशके समक्ष नारद मुनि आये और उन्होंने लव और कुशको राम लक्ष्मण सरीखे होनेका आशीर्वाद दिया तथा उनकी सारी कथा सुनायी तब दोनोंने ही उनसे अपनी माताका बदला लेनेके लिये युद्धकी ठान ली। तो मोह ही सब कराता है। माताके मोहने लव-कुशको युद्धके लिये बाध्य कर दिया। मोहकी शल्यने यह उपद्रव करा दिया। मोहकी महिमा विचित्र है।

भइया ! जिस समय राम व रावणका युद्ध हुआ तो रावण का चक्र लक्ष्मणके हाथमें आ गया तो रामने कहा–मुझे तुम्हारा चक्र नहीं चाहिये तुम तो मेरी सीता लौटा दो पर अभिमानी रावणने कुछ ध्यान नहीं दिया । और जिस समय सीताको रावण उठा ले गया तो रामने मोहमें पागल हो करके वृक्षोंसे सीताका पता पूँछा । बताइये तो इतने बड़े महा-पुरुष और मोहने उनकी कैसी विचित्र दशा की ? और फिर जब रामचन्द्रजीने मुनि अवस्थाको धारण किया तो सीताके जीवने नाना प्रकारके रूप धारण करके कई प्रकारके उपद्रव किये । परन्तु जब राम मोहविजयी हो गये थे तो उन्हें कौन डिगा सकता था । तो संसारमें जितने दुख हैं वे सब मोहसे ही होते हैं इसलिये इसे ही जीतने का प्रयत्न हमें करना चाहिये ।

(सागर ३०-३-५२)

आत्मा-समयसार—

जीवकी पर्याय जीवमें हुआ करती है और पुद्गलकी पर्याय पुद्गलमें हुआ करती है । जीवका आश्रय पाकर पुद्गल द्रव्यमें व्याप्य-व्यापक भावसे परिणमन होता रहता है । पुद्गल और जीव दोनों ही परिणमनशील हैं । यदि हम एकको भी परिणमनशील न मानें तो संसारका अभाव हो जावे ।

जीव पुद्गलको कर्मरूपसे परिणमा देता है । यदि पुद्गलमें कर्मरूप होनेकी ताकत नहीं होती तो उसे कौन कर्मरूप परिणमा सकता था । निमित्त पाकर जीव और पुद्गल दोनोंमें परिणमन होता रहता है । यह परिणमन जुदा जुदा रहता है । जीवमें रागादिक होनेका कारण पुद्गल विपाक है । शंका है कि रागादिक दोनोंके होता है, एक जीवका होता है और पुद्गलका अलग होता है । परन्तु इसका समाधान यह है कि जैसे दर्जी ने अछार बनाया तो अछारकी क्रिया अछारमें ही हुई, दर्जीके हाथ की क्रिया हाथमें हुई । वह अछारमें नहीं गई । इस प्रकार रागादिक दोनोंमें नहीं होते वरन सिर्फ जीवमें ही राग-द्वेष हुआ करते हैं । परन्तु ये औपाधिक हैं यह बात जब जीव जान लेता है, छोड़ देता है । रागादिकका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं । व्यवहारसे देखो तो जीव और कर्ममें बन्ध पर्याय हो रही है, विभिन्नता नहीं हो सकती । परन्तु यदि निश्चयनयकी दृष्टिसे देखो तो जीव और पुद्गल पृथक् पृथक् हैं ।

द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे विचार करो तो जीव अबद्ध है । और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा देखो तो जीव बद्ध है । जो ऐसा जान लेता है वही मोक्षगामी होता है । भगवान्ने दो नय कहे हैं । व्यवहार नयकी अपेक्षा आत्मा रागी-द्वेषी है, मोही है और निश्चयनयकी दृष्टिसे देखो तो आत्मा अखंड है, अचल है, अभेद्य है, स्वसंवेद्य है । विश्वको जानने वाला केवलज्ञानी है । वह तीनों लोकोंके पदार्थोंको ज्ञानमें देख रहा है पर हम मतिज्ञान श्रुतज्ञान से थोड़ा बहुत इन्द्रियजन्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, पर उसमें मोह न लाना ही बुद्धिमानी है । ज्ञान तो सतत होता ही रहेगा वह हटने वाली वस्तु नहीं है । समयसार में अखिल नयोंका पक्ष मिट जाता है । नय कुछ नहीं बिगाड़ सकता ।

विकल्प शांत होनेका नाम ही समयसार है । इसकी प्राप्ति प्रथम तो श्रुतज्ञानसे व शास्त्रसे आत्माका ज्ञान करनेसे होती है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है । इन्द्रिय या अनिन्द्रियसे मतिज्ञानके द्वारा पदार्थोंका निश्चय करना पड़ता है । वह बुद्धि हम पर पदार्थों की ओर लगाये हुए हैं । वहाँ से दृष्टि हटावें और आत्माकी ओर लगावें तो हमारा कल्याण हो जावे ।

भइया ! एक लड़का था । वह सातवीं कक्षामें पढ़ता था । उसकी परीक्षा लेनेके लिये इन्स्पेक्टर आया । वह लड़का बहुत चतुर था परन्तु उसने इन्स्पेक्टरके प्रश्नोंके उत्तरमें कहा कि मैंने पढ़ा ही नहीं है, मैं क्या उत्तर दूँ । अध्यापक को रोष आगया और उसे एक थप्पड़ मार दिया तथा इन्स्पेक्टर भी क्रोधित हुआ । अन्तमें लड़केने कहा कि हम तो कुछ पढ़े नहीं हैं छोटेमें इतना जरूर पढ़े थे कि क्रोध नहीं करना चाहिये, पर आप सब यह भी नहीं पढ़े ।

यदि हमने शास्त्रोंका अध्ययन किया और क्रोध नहीं छोड़ा तो शास्त्र पढ़नेमें हमने निरर्थक समय बरबाद किया । अपनी आत्मासे जो बात करोगे वह सच होगी ।

झूठ बातके लिये आत्मा कभी गवाही दे ही नहीं सकता। दुनियामें जो बुद्धि लगा रहे हो वहां से हटाकर उसे अपनी ओर लगा दो। यदि हम श्रुतज्ञानको अपनी आत्मा की ओर लगावें तो कोई विकल्प पैदा हो ही नहीं सकता, क्योंकि आत्मा तो एक है। जहां दो होते हैं वहां ही विकल्प हो सकता है। प्रथम तो सम्यग्दर्शन उत्पन्न करो फिर दूसरोंका कल्याण करो। यदि दूसरोंकी भलाई पहले करना चाहोगे तो न उनकाही कल्याण होगा और न तुम्हारा ही। केवलज्ञानी विश्वको बाहर मानता है और हम उसे अपने भीतर मानते हैं। केवलज्ञानीसे हममें यही अंतर है। यदि हम यह अंतर दूर करदें और आत्मामें जो एक है, अखंड है विचरण करने लगे तो हमारा ससार शीघ्र कट जावे।

आत्माका ध्यान करो उसीमें सार है। केवलज्ञान तो पढ़नेसे आता है नही, वह तो मोहनीयके अभावसे आता है। हमने संसारके पदार्थोंको अपनेमें चिपका लिया है। उनको छोड़ो तो कल्याण हो जावे। भइया! हमारा काम तो कहनेका है, करो न करो तुम्हारी मर्जी।

(सागर ३१-३-५२)

पुण्य और पाप—

अब यहां पुण्य पापके अधिकारका वर्णन है। सच्ची बात पूछो तो भइया! पाप पुण्य दोनो ही स्वांग है। आत्मा तो अखंडपिंड है। कुंदकुंदस्वामी कहते हैं कि पुण्य और पाप दोनों ही बुरे स्वाग है। न शुभ अच्छा है और न अशुभ बुरा है। ये तो दोनों ही बेड़ियां हैं। चाहे सोनेकी हो या लोहे की। परतंत्रता तो दोनोंमें है। स्वाधीनता किसीमें भी नही।

तब क्या करना चाहिये सो बताते हैं कि कुशीलका खोटा स्वभाव है उससे न तो राग करना चाहिये और न द्वेष ही करना चाहिये। यदि हमने उसमें राग वा द्वेष किया तो हमारी स्वाधीनता नष्ट हो जावेगी। लौकिक दृष्टांत यह है कि यदि कोई स्त्री खोटी है तो उससे न तो राग ही करना चाहिये और न द्वेष ही करना चाहिये। कर्मप्रकृति जब तक है तब तक तो अपने उदय से चारों गतियोंमें भ्रमण करावेगा ही। कर्म तो उपद्रव ही करते हैं। उनमें न तो हमें राग करना चाहिये और न द्वेष करना चाहिये। जहां हमने ऐसा किया वहींसे निर्जरा और संवर जो मोक्षके कारण हैं शुरू हो जाते हैं।

भइया, मोह है बुरी चीज। रामचन्द्रजी ६ माह तक अपने भाईको गोदमें लेकर मोहमें यहां वहां पागलसे होकर फिरते रहे और जब उनका मोह गल गया तो सीताजीके जीवने कितने उपद्रव किये, पर फिर क्या था? अन्तमें केवलज्ञान हुआ और मोक्ष गये।

यहां इतने आदमी वृद्ध हैं फिर भी वे संसार की चिन्ता करते हैं मोह करते है। यह लड़का मेरा है यह पोता मेरा है— इसीमें अपना अमूल्य समय बरबाद करते रहते हैं। वे ही बतावें, इतने दिन तो रहे घरके जंजाल-में। मिला क्या उनको सुख सो बतावें। आकुलतामें सुख तो मिल ही नही सकता। जरा वे इस ओर दृष्टि करें, थोड़ा यह भी करके देख लेवें। इसमें सुख मिलता कि नही। यदि न करे तो बताइये हम क्या करें? हमारा काम तो कहनेका है सो कह दिया। मानो या न मानो आपकी मर्जी। लेकिन इतनी बात जरूर है कि मनुष्य जन्म की सार्थकता धर्म को धारण करनेमे है।

(सागर १।४।५२)

संवर—

यहां संवरका वर्णन किया गया है। संवर याने कर्मो-के आने का रुक जाना है। कर्मोंका न आना ही संवर है।

"सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्"

इसमें यह भावना की जाती है कि संसारमें किसीको दुख ही न हो। इसी प्रकार कर्मोका आना होवे ही नही। मोक्षका मार्ग संवर ही है। निर्जरा तो हमेशा होती ही रहती है। पर संवर होना कठिन है। यदि संवरपूर्वक निर्जरा हो तो समझना चाहिये कि संसारका अंत निकट ही है। सम्यग्ज्ञानरूपी ज्योति का जब उदय होता है तब ही संवर होता है। आत्माका ज्ञान पर द्रव्यसे भिन्न है ऐसा विश्वास कर सम्यग्ज्ञान करनेकी आवश्यकता है। इससे हमें सच्ची शांति और सच्चा सुख मिलेगा।

बनारसमें पुराने समयकी बात है। एक बड़ा भारी

मल्ल आया, उसने बनारसके सारे मल्लोंको हरा दिया तो राजाको बड़ी निराशा हुई और वह लिखने लगा कि अमुक व्यक्तिने बनारसके सारे मल्लोंको पराजित कर दिया। वहाँ एक ६ वर्षीय बालक बैठा था। उसने कहा—'महाराज एक विनन्ती है कहो तो अर्जी करूँ। राजाने कहने के लिये कहा। उसने जवाब दिया कि 'आप ऐसा मत लिखिये कि उसने सारे मल्लोंको पराजित कर दिया। उसको यह लिख देना चाहिये कि उसने अमुक अमुक मल्लको पराजित कर दिया'। राजाने कहा—'ऐसा कौन है जो उसे हरा सके ?'

उत्तरमें उसने कहा—'महाराजजी। क्या इन्ही मल्लोंने सारे मल्लोंका ठेका ले लिया है ? मैं चाहूँ तो उसे हरा दूँ। पहले तो राजाने उसे नादान समझा लेकिन जब उसकी हठ देखी तो राजाने स्वीकृति दे दी। ७ दिनके बाद कुश्ती हुई। १ घंटे तक वह लड़का यहाँ वहाँ कूदता रहा सो उतने समयमें उस मल्लको उसने खूब थका दिया। अन्तमे मल्लने उस लड़केको पकड़ लिया और कहा कि बताओ 'कहाँ पटकूँ ?' वह इस विचारमे ही था कि लड़के ने उसे पटक दिया और उसपर विजय प्राप्त की ! कहनेका तात्पर्य यह है कि संवर करनेका ठेका थोड़े ही किसीने लिखा लिया है। जिस चाहेको हो जावे। चाहे वह गरीब हो, चाहे धनवान् हो। चाहे कमजोर हो, चाहे बलवान् हो। चाहे किसी भी गतिका हो। जैनियों ने थोड़े ही जैनधर्मका ठेका ले लिया है ? वह तो जीवमात्रका धर्म है।

सम्यग्दर्शन संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवके हो सकता है। मिथ्यात्व संसारका कारण है। जब सम्यग्दर्शन हो गया संसार रुक गया, चलो छुट्टी पायी।

क्रोधादि जो चार कषायें हैं उन्हें हम अपना मानते हैं। लोभमें राग करते हैं, द्वेष करते हैं। कुंदकुंदस्वामीने आत्माका लक्षण उपयोग बतलाया है। चैतन्य आत्माका लक्षण है और वह हर अवस्थामें मौजूद रहता है। आत्माका लक्षण क्रोध नहीं हो सकता, क्योंकि यदि क्रोध आत्माका लक्षण होता तो उसे हर अवस्था में मौजूद रहना चाहिये था, पर वह रहता नही है। इससे मालूम पड़ता है कि क्रोध आत्माका लक्षण नहीं है। क्रोध पृथक् है, उपयोग पृथक् है। क्रोधमें क्रोध ही होता है उपयोग नहीं होता और जो उपयोग होता है उसमें क्रोध नही होता। दोनों एक दूसरेके प्रतिकूल हैं परन्तु उपयोग आत्माकी वस्तु है और क्रोध कर्मका औदयिक भाव है; जबतक कर्मोदय है उसकी सत्ता है। जब उसका उपशम, क्षयोपशम या क्षय हो जावे तब क्रोध दूर हो जाता है। लेकिन उपयोग न तो कर्मके उदयसे होता है और न क्षय क्षयोपशमसे। वह तो आत्माका अभिन्न लक्षण है।

जब कर्म और कषाय तुम्हारे नही है तो फिर उन्हें अपना मानकर क्यों उपद्रव कर रहे हो ? यदि हमारी वस्तु हो तो मानना चाहिये अन्यथा काहेको पागल बने हुए हो। देखिये दर्पणके सामने कोई वस्तु आती है तो वह उसमें ज्योंकी त्यों प्रतिबिम्बित हो जाती है। यदि उस प्रतिबिम्बको दर्पणका प्रतिबिम्ब माने तो वस्तुके हटाये जाने पर उस प्रतिबिम्बको उस दर्पणमें रहना चाहिये, पर वह उसमें नही रहती इसलिये मालूम पड़ता है कि वह प्रतिबिम्ब दर्पणका नही है। इसी प्रकार क्रोधादि जो कषाय हैं वे भी कर्मके उदयसे होते हैं वे आत्माका लक्षण नहीं हैं। एक चीज दूसरे की नहीं हो सकती है। एककी सत्ता दूसरेकी सत्तामें नहीं हो सकती। ज्ञानमें क्रोधपना नही है। क्रोधमें ज्ञानपना नहीं है। इस वास्ते वे भिन्न हैं। भेदज्ञान हो जानेसे जब शुद्धात्माका अनुभव जीव करने लगता है तब रागद्वेषका संवर हो जाता है। हम पर पदार्थोंको अपनी चीज समझकर संसारमें रुल रहे हैं। आत्मामें अनंत गुण हैं वे भी पृथक् पृथक् माने जाते हैं तब फिर दूसरी चीजें हमारी कैसे हो सकती हैं। सम्यग्दृष्टिको कैसी ही विपत्ति आ जावे तो भी वे आकुलताको प्राप्त नही करते। जब भेदज्ञान हो गया और मनमें यह निश्चय हो गया कि मैं ज्ञानदर्शन का पिंड हूँ। स्वर्णको कितनी ही तेज अग्निमें जला दो परन्तु वह अग्निमें भी सोना रहेगा उसी प्रकार प्रचंड विपाक कर्मका उदय होने पर वह ज्ञानमें विकृति नहीं ला सकता। हजार कारण-कलाप जुट जावें परन्तु स्वभाव कभी नही मिट सकता। यदि वस्तुका स्वभाव मिट जावे तो वस्तु

ही मिट जावे। हजार विरुद्ध कारण जुटें तो भी हमें घबड़ाना नहीं चाहिये। समझना चाहिये कर्मका विपाक आया सो ऐसा देखना पड़ा और सहना पड़ा। देखिये जब मोहनीय कर्मका उदय उतने बड़े महापुरुषको आया जो इसी भवसे मोक्ष जाने वाला था, अपने भाईके प्रेममें पागल हो गया और ६ माह तक उसकी मृतकाया को लिये यहाँ वहाँ भटकता रहा!

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हम पढ़ते थे और बाई-जी वहीं थीं। एक दिन एक बंगाली विद्वान् आया। उसने कहा कि बाईजी क्या कर रही हो? बाईजीने कहा—कि 'भइया! रोटी बना रही हूँ। मेरा बच्चा पढ़नेको गया है उसे खिलाऊँगी और मैं खाऊँगी।' वह इतना सुनकर चला गया। पासकी कोठरीमें वह अकेला ही ठहरा था, फिर भी वह कहने लगा कि 'तूँ भी रोटी बना अपने बच्चों को खिला–देख ये भूखे हैं। बना जल्दी रोटी बना।' बाईजीने सोचा कि इसके साथ तो कोई औरत है नहीं यह किससे रोटी बनानेके लिये कह रहा है। उन्होंने पूँछा कि 'क्यों जी? किससे रोटी बनानेको कह रहे हो?' उत्तरमें उसने कहा कि 'मैं अपनी स्त्रीकी फोटोसे कह रहा हूँ।' बाईजी ने कहा कि 'मूर्ख तू इतना भी नहीं जानता कि कभी अजीव भी रोटी बनाता है।' 'सो तो मैं भी जानता हूं'—उसने। कहा तो कहनेका तात्पर्य यह है कि हम समझते हैं कि ऐसा करना बुरा है तो भी हम उसे धकाये चले जाते हैं। यह कल्याणकारी बात नहीं।

सम्यग्दृष्टि यह समझते हैं कि जितने ये पुत्र पौत्र आदिक हैं वे सब अन्य हैं। आत्मज्ञान नहीं होनेसे हम सब पागल होरहे हैं। प्रचण्ड कर्मका उदय हो तो हमें भुगतना पड़ेगा। सम्यग्दृष्टि जीव प्रचण्ड कर्मके उदय होने पर न द्वेष करता है और न राग करता है।

शुद्धात्माकी प्राप्ति होनेका कारण भेदज्ञान है। पन्नालालजी बहुत लोभी वा क्रोधी आदमी थे पर ज्ञानवान थे सो उन्होंने अन्त में मुनि अवस्था प्राप्त करली थी। ज्ञान कभी न कभी काममें आ ही जाता है।

काम तो सब करना ही पड़ता है पर अभिप्राय वही रहता है। निर्मल भाव वालेके ज्ञानमय भावसे ज्ञानमय भाव होता है, रागद्वेषकी सत्ताका निरोध होजाता है और शुद्ध आत्माकी उपलब्धि हो जाती है।

योग दो प्रकार के होते हैं (१) शुभयोग (२) अशुभयोग। यदि दोनों ही मिट जावें तो मोक्ष हो जावे। योग जबतक है तबतक शुभ और अशुभ योगके मूल कारण रागद्वेष हैं। उसमें वर्तमान जो आत्मा है उसको दृढ़तर भेद-विज्ञान है अतः उससे आत्माको आत्माके द्वारा आत्मासे रोके।

भइया! घोड़ेकी लगामको पकड़कर दूसरी दिशा बदलनेके लिये पहले लगाम खींचनी पड़ती है। उसे फिर दूसरी ओर मोड़ना पड़ता है। इसीप्रकार पर पदार्थोंकी तरफसे मनको रोककर फिर शुद्धज्ञान दर्शनकी ओर मुड़ना चाहिये। जो मनुष्य समस्त कषायोंसे विमुक्त होकर आत्मामें तल्लीन होते हैं उनके कर्मका बन्धन नहीं होता है।

कषाय रुक जावे तो योग अपने आप रुक जावे। कषाय नष्ट हो जाती है परन्तु योग वर्तमान रहता है तो भी उसमें कर्माभावकी शक्ति नहीं रहती। योग तो मिथ्यादृष्टिके रहता है और सम्यग्दृष्टिके भी रहता है। परन्तु कषायसहित योग होनेसे मिथ्यादृष्टि कषायरहित होकर केवलज्ञान भी प्राप्त कर लेते हैं। पर उसके रहनेसे जगके कल्याणार्थ उपदेश देते फिरते हैं।

आदिनाथ भगवानके दो स्त्रियाँ थी और १०० लड़के थे। परन्तु जब तपस्याके हेतु घरसे बाहर निकल पड़े और केवलज्ञान होगया तो इसके उपरान्त दुनियां भरका परिग्रह रचा गया। समवसरणकी रचना की गई पर मोह न होनेसे उतनी वस्तुऐं कुछ न बिगाड़ सकीं।

कर्मके अभावसे युक्त यह आत्मा एक आत्मामें ही विचरण करता है। आत्मा पर पदार्थसे भिन्न है। चैतन्य चमत्कार युक्त आत्मा सब पर पदार्थोंको त्याग देता है तो वह शीघ्र ही कर्म नष्ट करके मोक्ष प्राप्त करता है।

यदि मिथ्यात्व होगा तो कर्म होगा और इसके विपरीत यदि सम्यग्दर्शन होगा तो न कर्म होगा न राग होगा और न संसार ही होगा। भेदविज्ञान की तब तक साधना

करो जबतक कि ज्ञान ज्ञानरूप न हो जावे। जो सिद्ध हुए हैं वे भेदविज्ञानके द्वारा ही और जो असिद्ध हैं वे भेदविज्ञानके अभावके कारण। शुद्ध आत्माकी उप-लब्धि करके संवर होता है तथा भेदविज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है। भेदविज्ञानसे राग-समुद्र शान्त हो जाता है यदि हे भव्य-जीवो ! तुम अपना कल्याण करना चाहते हो तो भेदविज्ञानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करो।

भाइयो ! कल्याणका जो मार्ग आचार्यों ने बताया है, उस मार्गका आप अवलम्बन करते नहीं हो। विभूतिकी विडम्बनाको प्राप्त कर रहे हो। आप स्वयं तो समझते नही दूसरेको समझाते फिरते हो।

अगर आध्यात्मिक विद्या न पढ़ी जावे तो आत्माकी सच्ची शान्ति व सुख प्राप्त नहीं हो सकता। विद्याके चमत्कार देख लो। साइन्सने ऐसे चमत्कार कर दिये जिन्हें हम मानते हैं, समझते हैं, पर क्या जनता सुखके मार्ग पर है ? मुझे तो मालूम है कि जैसे परिग्रहकी वृद्धि होती है वैसे ही आकुलता बढ़ जाती है। और जहाँ आकुलता रहती है वहाँ सुख हो ही नहीं सकता। आत्माका कल्याण आध्यात्मिक विद्यासे ही हो सकता है। यदि हम आज अपनेको देखने लगें तो हमें संसार दिखने लगे। अपना हित करो संसारका हित हो जावेगा। पर हम ऐसा करते नहीं हैं। हमारी तो ऐसी प्रकृति होगयी है कि हमें बिना दूसरेकी आलोचना किये चैन नही पड़ता। समस्त प्राणियोंमें समताभाव धारण करो। समताभाव सम्पूर्ण आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण है।

राज्य तो वह कहलाता है जिसमें धर्म अर्थ काम ये तीनों पुरुषार्थ अविरोध रूपसे चल रहे हों। धर्म उसे कहते हैं जिससे स्वर्ग व मोक्षकी प्राप्ति हो। इसके विरुद्ध जो फल देवे वह अधर्म कहलाता है। अरे हाय रे हाय ! जैनोंकी बड़ी दुर्दशा है। क्या करें सब जाति वाले बड़ी बुरी निगाहसे देखते हैं—ऐसा हम कहते हैं परन्तु हम तो दावेके साथ कहते हैं कि यदि आज अपने धर्मकी आज्ञाका पालन करो। बुरी दृष्टिसे देखना तो दूर रहा सारा संसार तुम्हारे पैरों पर गिरेगा, तुम्हारी पूजा करेगा।

भाई ! उसीका प्रभाव पड़ता है जो नियम कर लेता है। हमारा मोह तो क्षीण नहीं हुआ। हमारा आप पर कैसे प्रभाव पड़े ? और आप कैसे मोह छोड़ें। यदि हम किसी भी नियम पर अमल करने लगें तो हम दूसरेको अमल करनेके लिये कह सकते हैं अन्यथा नहीं। इसके बाद १२ भावनाओंका वर्णन इसमें है। कहते हैं कि हे भव्य ! भावशुद्धिके लिये भावनाओका चिन्तन करो। हम और आप रातदिन मोह कर रहे हैं। हम अपने बच्चोंको पढ़ाते हैं—

राजा राणा छत्रपति हाथिन के असवार।
मरना सबको एकदिन अपनी अपनी बार॥

६-६ वर्षके बच्चोंको तो पढ़ाते हैं पर जो हमको पढ़ना चाहिये सो हम पढ़ते नहीं। हम ख्याल नहीं करते और अपनेसे बच्चोंको चिपटाये रहते हैं। द्वादशानुप्रेक्षा मुक्ति मन्दिरकी सीढ़ी है।

सबसे पहले अनित्य भावनाका वर्णन किया गया है। हम इन्द्रियोंके सुखोंमें लीन हैं। विचार किया जावे तो संसारमें जितने सम्बन्ध हैं वे सब विपत्तियाँ ही हैं और सबकी सब नीरस हैं उनमें कोई रस नहीं।

एक समय एक साधु के पास एक बच्चा पढ़ता था वह बहुत ही भक्ति किया करता था और रोज आया करता था। कुछ कालके उपरान्त उसकी सगाई हुई और वह २-४ रोज पढ़ने न जा पाया तथा जिस दिन वह वहाँ गया तो साधुने पूँछा क्यों भाई कहाँ गये थे' ? उत्तर दिया—'महाराज आपकी सगाई थी।' साधुने कहा—'बेटा, हमारे से गया।,

थोड़े दिनों बाद उसकी शादी हुई। सो १०-१५ दिन फिर साधुके यहां नहीं गया। जिस दिन वह साधुके पास पहुँचा सो साधुने पुन: पूँछा ! —'क्यों बच्चे कहाँ गये थे।'

उसने कहा—'महाराज आपकी शादी थी।'

महाराजने कहा—अपने माता-पितासे गया।

कुछ दिनों बाद उसके बच्चा हुआ तो साधु ने कहा—'अब तू अपनेसे ही गया।'

फिर अपने शरीरको छोड़कर अपने बच्चोंकी चिन्ता

होने लगती है। अपना कल्याण करो! कहाँ के लड़के कहाँ के बच्चे ?

शरीर रोगोंका मंदिर है। जरा यौवनका घर है। जीवनका मरण होता ही है। जिसने जन्म लिया है वह अवश्य ही मौतको प्राप्त होगा। जो पदार्थ पुण्योदयसे आते हैं वे पाप होने से विलयमान हो जाते हैं। एक घंटेमें २५०००) का लाभ हो जावे या घाटा पड़ जावे। तत्त्वदृष्टिसे विचार करो ये न पहले तुम्हारे थे और न अब भी तुम्हारे हैं। यदि ऐसा निश्चय हो जावे तो न दुख हो और न सुख।

जिस समय रावण मरने लगा तो रामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—कि 'रावण सबसे बड़ा नीतिज्ञ है जावो कुछ शिक्षा ले आवो।' लक्ष्मण गये और रावणके सिरहाने बैठकर पूछने लगे परन्तु रावणने कुछ भी उत्तर नही दिया।

लक्ष्मण लौट आये। रामचन्द्रजीने फिरसे कहा कि जाकर उसके पैरोंके पास बैठकर पूँछना। लक्ष्मण गया और उसने पूछा तो रावणने उत्तरमें कहा—

'करले सो काम, भजले सो राम।'

स्पष्ट करते हुए उसने कहा कि मरनेके पूर्व मैंने विचार किया था कि मैं नरकसे लेकर स्वर्गतक सीढ़ी बना दूँगा तथा समुद्रके पानीको मीठा कर दूँगा। पर जो काम हो जावे सो ही काम है।

(सागर २।४।५२)

अथिर पर्याय—

संसार स्थिर नहीं है। न भाग्य किसीका साथी होता है। जिसको सुबह राज्याभिषेक होना था, क्या मालूम था कि उसे सुबह जंगलको जाना पड़ेगा।

एककी लड़की की शादी हुई। सो भाँवर के समय लड़की सो गई। उसकी माताने आकर उसे जगाया। जागकर उसने अपनी मातासे कहा कि मैंने स्वप्नमें देखा है कि मैं विधवा हो गई हूँ। माताने उत्तर दिया कि इस अवसर पर ऐसे अशुभ विचार नहीं करना चाहिये। भाँवरको जब लड़का आया तब उस समय उसका सिरदर्द करने लगा, परन्तु समय चूक रहा था इसलिये लोगोंने उसकी भाँवर पड़वा दी। सुबह उसका देहान्त हो गया। क्या होना था, क्या हो गया। जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठती हैं उसी प्रकार कर्मके उदयसे हमारी पर्यायें बदलती रहती हैं। इन पर्यायोंको हमे अपना नही समझना चाहिये।

आयुको कोई रोकने वाला नहीं, जब किसीकी मौत आ जाती है फिर उसे बचानेमें कोई समर्थ नहीं। परन्तु हम इतना तो कर सकते हैं कि आयु ही न मिले। यौवन और धन स्वप्नके सदृश है। जब नींद खुले तब ही सारा मजा किरकिरा हो जाता है। इसी प्रकार जबतक शुभ कर्मका उदय है तबतक यह सुख है। नही तो एक क्षणमें विलय जाता है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ स्थिर हैं। और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा सब पदार्थ अस्थिर हैं। इसलिये पर्यायमें जो चीज प्राप्त हुई है उसका अभिमान करना व्यर्थ है।

ज्ञान समान न आन—

यदि मोक्षकी इच्छा है तो ज्ञान गुण प्राप्त करो। यदि जीव ज्ञानसे रहित है और वह बहुत-सी क्रियाएँ भी करे तो भी उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। मोक्षमें जीव विषयसे विरक्त हो जाता है। यदि पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आनन्दका अनुभव हो तो समझना चाहिये कि संसार है और यदि आनन्द नही आवे तो मोक्ष है। बस इतना ही विज्ञान है। यदि मोक्ष-प्राप्तिकी आकांक्षा है तो विज्ञान प्राप्त करो। ऐसा कौन मूढ़ है जो यह नही समझता कि ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं, इससे विरक्त होना ही मोक्षका कारण है। हम इन विषयोंमें ऐसे फँसे हुए हैं कि न तो माता-पिताको समझते हैं और न धर्मका आचरण करते हैं। ये तो सब ठीक ही है, हम स्वयंको भी नहीं गिनते।

बनारसमें जब हम पढ़ते थे, उस समय फारसके नाटक सर्वप्रिय थे। वहाँ 'हवीरे हिसर' नाटक आया। हमारे शास्त्रीजी ने कहा - 'नाटक देखने चलो, अच्छा नाटक आया है।'

हमने कहा—'शास्त्रीजी, आपने तो पुस्तकोंके सिवाय कुछ देखा नहीं, आपको क्यों कर इच्छा हुई ? और फिर वहाँ हम =) ।) के टिकट पर जा नहीं सकते। वहाँ तो बीड़ी फीड़ी पीते हैं। हमें वह धुआँ बहुत बुरा लगता है। हम तो ३) रुपयोंके टिकट पर चलेंगे पर हमारे पास तो पैसा है नहीं।'

शास्त्रीजीने उत्तर दिया—'चलो, तुम्हें हम ऊँचे टिकिट पर ले चलेंगे और टिकटके पैसे हम दे देंगे।'

हम देखने को गये। वहीं हमारे पास एक आदमी बैठा हुवा था। उसने एक कागज पर कुछ लिखा और सामने जहाँ रानी अपना पार्ट कर रही थी उसके पास फैंक दिया। रानी का पार्ट एक स्त्री ही कर रही थी। उसने उस कागजको उठाया और उसे पढ़ा। फिर उस कागजके कई टुकड़े कर पैरोंसे मसल दिया।

जब मनुष्यने यह देखा तो उसने छुरा निकाला और अपनी आत्महत्या करली। उसने कुछ विषय सम्बन्धी ही बात लिखी होगी। और उसकी अवहेलना देखकर अपने प्राणान्त कर लिये। संसारके दुखके कारण इन्ही विषयोंकी आकांक्षा है। विषयमे जो रस है, वही संसार है। विरस ही मोक्ष है। यहीं देख लो, दूर जाने की आवश्यकता नही। अभी, इसी समय मोक्ष देखने को मिल जावे।

मनुष्य सब क्रियाओंको कर डाले, महातप भी सहन कर ले, लेकिन ज्ञान यदि न होवे तो तीन कालमें भी मोक्ष नहीं हो सकता है। सारे अन्धे मिल जावें और कितना ही प्रयत्न करें तो भी वे निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच सकते है। सहजबोध की कलासे मोक्ष सुलभ है। ज्ञानमें रत हो जावो, सन्तोष करो, आत्मा ज्ञानके बराबर है। ज्ञान ही आत्मा है। देखिये अग्निमें उष्णता रहती है, जिस समय उष्णता नही उस समय अग्नि ही नहीं रहती। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान है। आत्मामें सन्तोष करो। सागरमें कई प्रकार की लहरें आती रहती हैं। सारा विश्व ही ज्ञानमें आता है। तू दीनकी तरह उनके पीछे दौड़ता फिरता है। जिस दिन तू उसे छोड़ देगा तेरे पीछे वे दौड़ते फिरेंगे। इसलिये हमेशा आत्मामें रत रहो। इतना ही कल्याण मार्ग है, इसलिये ज्ञानमात्रमें सन्तोष करो। ऐसी कौनसी चीज है जो ज्ञानमें न आती हो ? दुख भी ज्ञानमें आता है, सुख भी ज्ञानमें आता है। ज्ञान तो पीछा छोड़ता नहीं और तुम ज्ञान को जानते नहीं।

पानी गर्म हो गया। ज्ञानसे हम जान लेते हैं कि यह अग्निके संयोगसे इस पर्याय को प्राप्त हो गया है। यथार्थ में इसका स्वभाव शीतलपना है। यह क्रोध है—यह भी ज्ञान बताता है इसलिये ज्ञानमें संतोष करो और इसीका अनुभव करो। उसीमें तृप्त रहो, उससे आगे कोई चीज नहीं। यदि तुम आत्मामें रत हो जाओ, उसीमें सन्तोष करो तथा उसीमें तल्लीन हो जावो तो तुम्हें सुख मिलेगा। और वह सुख न तो किसीसे पूंछना पड़ेगा और न कोई बता सकेगा। वह तो आत्मा की वस्तु है और आत्मामें ही अनुभवन की जाती है।

जब आँखमें मोतियांबिन्दु पड जाता है तो आँखसे दिखना बन्द हो जाता है। परन्तु जब इसे निकाल कर फेंक दिया जाता है तो आँखसे अपने आप दिखाई देने लगता है। किसीसे पूछना नहीं पड़ता कि हमें दिखाई देता है—या नहीं।

एक नवीन बहूके गर्भ रहा तो उसने अपनी सासुसे कहा—कि 'जब बच्चा पैदा होने लगे तब हमें जगा देना।'

सासुने कहा 'तुम्हें जगानेकी जरूरत नहीं पड़ेगी तुम स्वयं सारे मोहल्ले को जगाओगी। इसी प्रकार यदि तुम कषाय को छोड़ दो तो तुम्हें सुख या आनन्द होगा वह तुम्हें किसीसे पूछना न पड़ेगा।

ज्ञानी जीव परपदार्थ को ग्रहण नहीं करता। क्या करें, समय ही ऐसा आगया है। लोग इसको ढोंग समझते हैं। प्राचीन कालमे हजारों मनुष्य घरसे विरक्त हो जाते थे, वनमें निवास करते थे, वही पर लड़कों को पढाया करते थे। परन्तु हम सब ही विषयभोग चाहते हैं, यदि दुखी न हों तो क्या हों ? बीसों कथाऐं हमें बिना मूल्य शिक्षा की मिलती हैं, पर आजकल तो संस्कृतभाषा भी बिना रुपये खर्च किये नहीं मिलती ! सच्ची शिक्षा तो वह है जो दुख को दूर करे और सुखको उपजावे। यदि किसी

को १०००) माहवार मिलते हैं तो उसे १००) खर्च करने चाहिये और ६००) शिक्षादानमें देना चाहिये। वर्तमान समयमें तो शिक्षासे रोटी कमानेकी इच्छा की जाती है, कल्याण कैसे हो ?

धनका तो दान हो सकता है पर कषाय का तो त्याग ही करना पड़ेगा। ज्ञानी विचार करता है जो जिसका 'स्व' है वही उसका धन है और उसका वह स्वामी है। आत्मा का परिग्रह आत्मा और ज्ञान का परिग्रह ज्ञान है। ज्ञान क्रोध नहीं हो सकता और क्रोध ज्ञान नहीं हो सकता। परपदार्थ हमारे नहीं है—ऐसा समझकर वह परपदार्थों को ग्रहण नहीं करता है। जैसा मैं हूँ वैसे ही भगवान् हैं। भगवान ने परपदार्थ छोड़ दिये हैं और हमने परपदार्थ ग्रहण किये हैं, इसलिये हम सेवन करने वाले कहलाते हैं और हम सेवक भी बने हुए हैं। मालिक बनना हो तो अभी बन जावो, जो भगवान्के चरणोंमें सिर रगड़ना पडता है वह छूट जावे; सिर्फ परपदार्थोंका त्याग कर दो। हम क्यों हमेशा हलके बने रहें ?

यदि परपदार्थ को हम ग्रहण करें तो वह हमारा 'स्व' होगया और हम इसके स्वामी हो गये, तो हम अजीव हो जावेंगे। तो क्यों अपने आप अजीव बनते फिरते हो ? तुम तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव आत्मा हो, ज्ञान ही तुम्हारा है। तुम ज्ञानके स्वामी हो। अतएव तुम्हें परद्रव्य को ग्रहण नही करना चाहिये।

एक समयका कथानक है कि एक क्षत्रिय और वैश्य में लड़ाई हुई। क्षत्रियको वैश्यने हरा दिया और उसकी छाती पर आगया। उसी समय क्षत्रियने पूछा—'तुम कौन हो ?'

वैश्यने उत्तर दिया—'मैं तो वैश्य हूँ।'

क्षत्रियने ऐसा सुनते ही साहसपूर्वक उसे नीचे कर दिया। इसी प्रकार जब हमे मालूम पड़ जाय कि कर्म-कषाय तो परपदार्थ हैं और वे हमें संसारमें नानाप्रकार के कष्ट दे रहे है तभी हम उन्हें पराजित कर सकते हैं। लेकिन यदि हम समझें ही नहीं तो हमारी गलती है। नेता जो होते हैं या तीर्थंकर जो होगये हैं, वे हममें से ही हुए हैं। उनके नाम लेनेसे कोई लाभ नहीं, उन सरीखे काम हमें करने चाहिये। यदि हम ऐसा करें तो हम भी नेता या तीर्थंकर बन सकते हैं। आज ही हमारा कल्याण हो जावे। हम आज ही बन तीर्थंकर जावें, थोड़ी इस ओर दृष्टि करने की आवश्यकता है।

हमारा यह निश्चय हो जावे कि ये सारे पदार्थ हमारे नहीं हैं, चाहे कुछ भी हो जावे हमारा तो एकमात्र टंकोत्कीर्ण ज्ञान ही है। मनुष्य मोहके आधीन होकर विकल्प करते हैं कि अरे हम क्या करें– हमारे बच्चे हैं, यह गृहस्थी है, सभी बिगड़ जावेगी। पर ये तो सब परपदार्थ हैं। इनकी तुम्हें क्यों चिन्ता है ? परपदार्थ तो हमारे 'स्व' नही हो सकते, न हम उनके स्वामी ही हो सकते हैं।

धर्म-अधर्म, खान-पान ये चार पदार्थ हैं। इनके सिवाय कोई पाँचवी वस्तु नही। सम्यग्दृष्टि जीव न तो धर्म को चाहता है और न अधर्म को पसन्द करता है। परिग्रह नाम बाह्य वस्तुओं का नही है, अपितु अन्तरङ्गमें 'यह मेरी है' ऐसा भाव रखना ही परिग्रह है। राग द्वेष और मोह परिग्रह ही हैं—इनका त्याग किये बिना पर का त्याग नही होता। हम अपनी इच्छासे जो भोग भोगते हैं उनसे शरीरकी ही पुष्टि होती है। आत्मा पुष्ट नही होता। धर्मसे हमें काम या अर्थकी सामग्री प्राप्त होती है। पर अर्थ तो अनर्थ की जड़ है और काम बैरी है अत: इनका कारण धर्म भी त्यागने योग्य है।

ज्ञानी पुरुष जो है वह न तो धर्म को चाहेगा और न अधर्म को। इसी तरह उसके लिये खान-पान भी त्याज्य हैं पर कर्मोदय से उसे सब भुगतना पड़ता है।

अर्थसे कभी संतोष प्राप्त नही होता। चक्रवर्तीके तो हजारों लाखों उपभोग्य वस्तुऐं होती है। लेकिन वे भी उन सबको छोड़कर दैगम्बरी दीक्षा धारण कर जंगलकी ओर प्रस्थान कर जाते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये सब चीजें सुख देने वाली नहीं हैं।

इन परपदार्थों को ज्ञानी जीव ग्रहण नहीं करता इसलिये वह अपरिग्रही होता है। परिग्रह से शून्य होता हुआ और परपदार्थों के विकल्पों को छोड़ता हुआ तथा

अत्यन्त निरालम्ब होता हुआ ऐसा जो सम्यग्दृष्टि पुरुष है वह आत्माके सच्चे ज्ञानगुण को प्राप्त करता है। फिर ज्ञानीके भोग क्यों होते हैं ? पूर्वकर्मके उदयसे उसे भोगना पड़ता है। परन्तु वह इन्हें ऋण समझकर चुकाता है। इनमें न तो राग करता है, न द्वेष करता है।

टीकमगढ़में एक बड़ा भारी व्यापारी था। उसके व्यापारमें एक गरीब आदमी साझेदार था। एक समय दुर्भाग्यसे उसे व्यापारमें एक लाख रुपया का घाटा पड़ गया। गरीब आदमीने कहा कि हम तो ५० हजार चुकाने में असमर्थ हैं पर इतना जरूर कहते हैं कि तुम्हारा पूरा रुपया चुका देंगे। उसने अपनी एक छोटीसी दुकान खोल ली। साल भरमें उसे १२५) का लाभ हुआ। उसे वह उस सेठके पास जमा करने गया। सेठने कहा कि इस दुकानदारी में कर्ज नहीं चुक सकता। एक बार और व्यापार कर लो। उसने उत्तर दिया—'अरे हम नहीं करेंगे, एक बार का ५० हजार तो पहले चुकाले, फिर दूसरा व्यापार करेंगे।'

सेठने कहा—'अबकी बार ऐसा करो। यदि नुकसान हो तो हमारा और यदि लाभ हो तो आधा कर लेंगे।' व्यापार किया सो उसमें ३ लाख का लाभ हो गया। उस आदमीने अपना हिस्सा लेकर कर्ज को व्याज समेत लौटा दिया। उसकी नियत साफ थी, उसमें किसी प्रकार का मैल नहीं था। इससे सब काम बन गया।

इसी प्रकार जब भी कर्मका उदय आवे शान्तिपूर्वक उसे सहन करना चाहिये। किसी प्रकारकी विकलता मनमें पैदा नही करनी चाहिये।

क्षमा—

भैया ! अफीमची अफीम छोड़ना चाहता है, पर वह आदत से मजबूर है, वह उसे छोड़ नही सकता। कर्मोदय से प्राप्त प्रत्येक वस्तुका समागम जीवको करना पड़ता है। जिस वस्तुकी इच्छा हम करें वह प्राप्त नहीं हो सकती। सम्यग्दृष्टि अपने मनमें विचार करता है कि इच्छित चीज मिले तो आकांक्षा करे पर मिले ही नहीं तो आकांक्षा काहे को करे ?

कर्मका उदय आने पर संक्लेश परिणाम मत करो, कर्म तो उपकारी है। विकारभाव तो द्रव्यके निमित्तसे होते हैं। शरीर पर है। इसे हम अपना बनानेका प्रयत्न करते हैं। हम कहते हैं कि यदि वह तुम्हारी चीज है तो उसे रख लो पर ऐसा नहीं है वह सर्वदा स्थित नहीं रह सकता। आत्मामें जो खास चीज उत्पन्न होती है वह है रागद्वेष। ये विकार परिणाम है, वे आ जावें कोई बात नहीं। उन्हें निकल जाने दो। संक्लेश परिणाम मत करो। जहाँ आकुलता है वहाँ सुख नहीं हो सकता। अच्छे या बुरे काम की आकुलता दुख देती है, उसे छोड़ो।

तीर्थंकरकी कर्मोदयसे ६ घड़ी दिव्यध्वनि खिरती है तो उसको छोड़नेमें समर्थ नहीं तब हमारी क्या सामर्थ्य है ? कर्म खिर जाने पर विकल्प मनमें मत लाओ। ज्ञानी जीवके कर्म होता है पर वह परिग्रहको प्राप्त नहीं होता; क्योंकि उसमें रागद्वेष नही है। अज्ञानावस्थामें आत्मा कर्त्ता हो जाता है। सम्यग्दृष्टिके कर्तृत्व नही रहता है पर कर्मके उदयसे काम करता है।

"हर्रा लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय।"

मो कैसे होवे सम्यग्दृष्टिके राग होता है न द्वेष।

ज्ञानी जीव स्वभावसे रागरहित होनेसे कर्ममें पड़ता हुआ भी परिग्रह-भावको प्राप्त नहीं होता। परद्रव्यके ग्रहणका भाव मिट गया इसीलिये परिग्रह प्राप्त नहीं होता। ज्ञानीके हृदयमें यह बात आ जाती है कि पर-पदार्थ मेरे नहीं हैं। कीचड़ में पड़ा लोहा कीचड़युक्त हो जाता है। औदयिक को छोड़ सम्यग्दर्शनको प्राप्त करो, इसी तत्त्वको ही ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

एक समय मच्छड़ अपनी फरियाद लेकर भगवान के पास गये कि महाराज ! हमें बड़ा कष्ट है। हवा हमें यहाँ वहाँ उड़ा देती है। भगवानने दोनोंको हाजिर होने के लिये आदेश निकाला, मच्छड़ बहुत खुश थे। आज उनका निर्णय होने वाला था, बड़ी प्रसन्नतासे वे भगवानके पास गये। थोड़ी देरमें हवा भी वहाँ आई सो मच्छड़ उड़ गये। अब निर्णय कैसे हो। मुकद्दमा खारिज कर दिया गया इसी प्रकार क्रोध और क्षमाकी स्थिति है। लोग ऐसा

कहते हैं कि क्रोध और क्षमा का वैर है पर वास्तविकता यह नही है। क्षमाके सद्भावमें क्रोधका अभाव सर्वमान्य है। जीव अचित्त सचित्त खाते हैं पर ये उस रूप परिणत नही हो जाते हैं। ज्ञान अज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव भोग भोगता है पर बंधका कारण नही। बंधका कारण तो भोगोंमें आसक्ति बताई गई है। अगर तुम आसक्तिपूर्वक भोगोको भोगोगे तो बँध जाओगे।

दो बहरे थे। दोनों भेड़ चरा रहे थे। एक आदमी अपनी भेड़ दूसरेके जिम्मे करके खाना लेनेके लिये चला गया। वह लूली थी। वहाँसे वह वापिस आया सो उसने कहा हम खाना ले आये हैं आओ खालो। तो दूसरेने कहा—हमने तुम्हारी भेड़ की टांग नहीं तोड़ी हम अच्छी नहीं दे सकते। दोनो एक दूसरे की बात समझनेमें असमर्थ थे इसलिये लड़ाई प्रारम्भ हो गई। इतनेमें वहाँ एक घोड़ा वाला आया। दोनों ही उसके पास अपनी फरियाद लेकर दौड़े और अपनी अपनी बात सुनाई परन्तु वह भी बहरा था। उसने समझा ये लोग कहते हैं, कि यह घोड़ा इनका है। उसने उत्तर दिया—यह तो हमारी घोड़ीका बच्चा है हमें क्यो चोरी लगाते हो? अब वे जमीदार साहबके पास पहुँचे। वह भी बहरा था। रातको उसकी और उसकी स्त्रीकी लड़ाई हुई थी। उसने समझा कि ये हमारी लड़ाईके बारेमें कह रहे हैं, इससे उसने कहा—इसमें हमारी कोई गलती नही पटेलनने ही ज्यादती की है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि बहरे हैं, वे एक दूसरे की बात समझनेमे असमर्थ हैं। इनका बिल्कुल बनता नहीं। सम्यग्दृष्टि बन जाते तो सब काम बन जाता। सम्यग्दृष्टि किसी कर्मकी अभिलाषा नहीं करता। जिनकी अज्ञान चेतना मिट गई वह कर्मकी इच्छा काहेको करेगा?

रत्तो बंधदि कम्मं—

रागादिकसे बन्ध होता है। मुनिराजने विचार किया कि बन्धकी जड़ राग है। वे साम्यभाव करके राग छोड़ते हैं, ऐसे मुनिको नमस्कार है। जब कृतान्तवक्र सेनापति दिगम्बर दीक्षा धारण करने लगा तो रामचन्द्रजी ने कहा कि यह दीक्षा तो बहुत कठिन है तुम इसको कैसे सहन कर सकोगे? उसने उत्तरमें कहा कि जब तुमसे जिसका गहरा मोह था उसको छोड़ दिया तो हमें यह कोई कठिन नहीं मालूम पड़ती।

रागको जान करके हम प्रमादी बन गये हैं और जैसी चाहे क्रीड़ा करते रहते हैं। परन्तु ज्ञानके उदयमें ये सब नष्ट हो जाते हैं, रातको नाटक करते समय भले ही कोई काला आदमी अपने मुखमें पाउडर लगा ले और अंग्रेजों का काम करे लेकिन जब दिनको सूर्यका प्रकाश होगा तब उसकी पोल खुल जावेगी।

ज्ञानीका भोजन आनन्द है, आकुलता नहीं। सहज अवस्था को प्राप्त होता हुवा वह अनाकुल और निरापद हो जाता है। धर्म सिद्धान्तके अनुसार आठ वर्षका बालक भी सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है और केवलज्ञानी हो सकता है।

अज्ञानताके कारण हरिण गर्मीके दिनोंमें चमकती हुई धूलमें जलकी कल्पना करता है और यहाँ-वहाँ दौड़ता फिरता है पर उसे जल नही मिलता। अज्ञानताके कारण रस्सीको हम साँप समझ लेते हैं सो कोई नुकसानकी बात नहीं। पर हम इष्टानिष्टकी कल्पना कर लेते हैं—वही नुकसानकी बात है।

एक मनुष्य था, उसके एक लड़का था। एक समय उसने हाथीके पैरसे दबता हुवा अपना लड़का देखा। यथार्थमें वह उसका लड़का नहीं था, पर उसे ऐसा भान हुवा कि यह मेरा ही लड़का है। ऐसा सोचकर वह मूर्छित हो गया। वहाँ उसका मित्र आया और सारी बात समझकर वह कुछ गुलाब जल लाया और साथमें उसके लड़के को लिवा लाया और उसकी मूर्छा दूर की। तो अज्ञानसे उसे मूर्छा नही आई, पर मोह होनेसे ही उसे मूर्च्छा आ गई थी। यदि मोह न होता और उसका लड़का भी दब जाता तो भी मूर्च्छा होनेका कोई कारण न था। संसारमें सबको मोह ही सताता है। इसलिये इस मोह को ही छोड़ना चाहिये।

एक धनी पुरुष अपने मालसहित जहाजमें जा रहा था दुर्भाग्यसे उसका जहाज फट गया और सारा माल

डूब गया। वह पुरुष एक लकड़ीके सहारे एक किनारे पर पहुंचा। उसके पास खानेको तो कुछ नही था सो उसने सोचा कि चलो एक हुंडी लिखे देता हूँ और उसे शहरमें सकार लेता हूँ, सौ रुपया मिल जावेगा जिससे घर जाने का साधन बन जायगा। इसलिये उसने एक हुंडी लिखी और चूंकि कोई आदमी तो था नही इसलिये वह स्वयं ही हुंडी सिकारनेको गया पर उसे कोई पहचानता नहीं था, अतएव किसीने उसे पैसा नही दिया।

उसके नगरको एक बैलों वाला अपने बैल लेकर जा रहा था सो उसने खाने पर उसके यहाँ नौकरी कर ली और बर्तन वगैरह मलने लगा। जिस समय वह बर्तन मलता था उस समय उसके मनमे यही कल्पना थी कि मैं तो सेठ हूँ, जब नगरमें पहुंच जाऊँगा तब उसी प्रकार आनन्द उठाऊँगा। इसी तरह हमारा तो विश्वास है कि हमें भेदज्ञान हो जावे तो हमे कितने ही उपद्रव आवें पर हम सोचते है कि हम तो मोक्ष जावेंगे। अरे और सब बाते छोड़ो सातवें नरकके भयानक कष्टोंका भी सामना करता हुवा वह नारकी जिसके सम्यग्दर्शन हो गया है यही विचार करता है कि हमे तो मोक्ष जाना है। जैसे किसी पुरुषने अपने शरीरमे तल लगाया फिर धूलमें जाकर कई प्रकारकी अस्त्र-शस्त्रकी क्रीडाएँ की तो उसके शरीरमें धूल लग गई। पर धूल लगनेका कारण न तो उसकी शस्त्रक्रीड़ा है और न धूल ही। धूल लगने का मुख्य कारण उसके शरीरमे जो तैल लगा है, वही है।

इसी प्रकार मोहसे लिपटा हुवा मनुष्य जो अचित्त सचित्तकी बात किया करता है उसे उससे ही बन्ध होता है। दूसरे सम्यग्दृष्टि मनुष्य जो रागद्वेष मोहसे रहित हैं उनके कर्म करने पर भी बन्ध नही होता। अतः सिद्ध है कि उपयोगमें जो राग-द्वेष मोह है वही बन्ध का कारण है।

जो मनुष्य तेलके निमित्तसे धूल रूपी बन्धको प्राप्त हुवा था यदि वह अपने तेलको बिल्कुल साफ करले और फिरसे वे ही सब व्यापार करे तो उसे वैसी धूल नहीं लगेगी। इसी प्रकार यदि हमारे उपयोगमें से मोह निकल जावे तो हमारे लिये बन्ध न होगा। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिके समान सब काम करता हुवा बन्धको प्राप्त नही होता। इसका मूल कारण उसके रागका न होना ही है।

आदिनाथ वर्तमान कालके २४ तीर्थंकरोंमें से प्रथम तीर्थंकर थे। उन्होंने अपने लड़कोंको गोदमें खिलाया। विषय सेवन किया। चार गुणस्थानके बाद उनको बन्ध नही हुवा तो हमने क्या गल्ती की जो हमें बन्ध होगा?

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नही होता पर यदि वह इच्छा करके काम करने लगे तो उसे भी बन्ध शुरू हो जावेगा। इसलिये मोह छोड़ना ही चाहिये। 'परजीवको मैं मारता हूँ परजीव मुझे मारते हैं।' यह अध्यवसान भाव जिसके होता है वह ही कर्मबन्धको प्राप्त करता है। आयुका क्षय हो जाता है तो मरण हो जाता है। न तुम किसीको मार सकते हो, न किसीको जिला सकते हो। ये तो पर्यायें हैं जो नष्ट हो जाया करती है। यथार्थमें जीव तो मरता नही है। अज्ञानी ही यह समझता है कि हमारी कृपासे ये प्राणी सुख पा रहे हैं, जी रहे है।

मैनासुन्दरीके पिताने जब अनेकोंसे पूछा कि तुम किसके भाग्यसे जीवित हो? तो सबने तो यही उत्तर दिया कि आपके भाग्यसे, लेकिन मैनासुन्दरीने कहा कि हम तो अपने भाग्यसे जीवित हैं। इसपर वे बहुत क्रोधित हुए और उसका एक कोढ़ीके साथ विवाह कर दिया। मैना-सुन्दरीका दृढ़ विश्वास था कि यह सब पापके उदयका निमित्त है। जब पुण्यका उदय होना होगा इष्टकारी वस्तुओंका समागम हो जायगा। सिद्धचक्रविधान किया। पापोंका क्षय हो गया पुण्यका उदय आ गया, तथा सब इष्टकारी वस्तुएँ मिल गईं। श्रीपालका शरीर कंचन सरीखा सुन्दर हो गया।

हमारे ही आँखों देखी एक बात है। खुर्जामें एक मुसलमान था उसके एक लड़की थी। उसका निकाह एक मुसलमानके साथ पढ़ाया गया। दुर्भाग्यसे उसे कोढ़ हो गया। लड़कीके पिताने लड़कीको दूसरा निकाह पढ़ानेको बहुत समझाया पर जब वह तैयार न हुई तब उसके पिताने उसे अपने घरसे बाहर निकाल दिया। वह लड़की अपने पतिके साथ गाँवके बाहर रहने लगी और उसने हिंसा करना और मांस खाना छोड़ दिया। हिन्दुओंके

यहाँसे वह भीख माँगकर लावे और अपने पतिकी सेवा करे। उसके अच्छे दिन आये जिससे उसका कोढ़ ठीक हो गया, फिर कुछ चन्दा करके उसने दुकान की। आज वही ५० हजार का गृहस्थ है। जब पापका उदय आता है तब दुख देने वाली सामग्री अपने आप उत्पन्न हो जाती है हममें दूसरा कोई कर्तृत्वशक्ति नहीं रखता।

छह माह तक आदिनाथ को आहार नहीं मिला, इसमें दुःखी होने की क्या आवश्यकता? संसारका यही तो ठाठ है। आयुका उदय है सो जीता है और जब आयुकर्म समाप्त हो जावेगा सो कोई भी बचा न सकेगा।

धर्मानुरागके कारण मुनियोंने शास्त्रोंकी रचना की, मोह सब कुछ करवाता है और हम कहते हैं कि हम कर रहे हैं, यह ही हमारी भूल है।

एक समय हम यहाँ से बनारसको जा रहे थे। रास्ते में एक शिकारी मनुष्य मिला। कुछ चर्चा छिड़ गई तो मैंने उससे अहिंसाके बारेमें बातचीत छेड़ी पर वह उसे न रुची। मैंने उससे उस दिनके लिये शिकार छोड़नेके लिये कहा पर उसने उसे स्वीकार नही किया। और वह बाँदकपुर स्टेशन पर उतर गया। जब हम बनारससे एक वर्ष बाद लौटे तो कटनी स्टेशन पर वही आदमी फिरसे मिल गया। उसने कहा कि अहिंसाकी चर्चा छेड़ो। मैंने कहा कि तुम सुनते ही नहीं, मानते ही नहीं, तुम्हें नही सुनाते। अन्तमें उसने अपनी सारी कथा सुनाई कि उस दिन हम यहाँ से जंगलमें गये, पर हमें एक शिकार नही मिला। घर जाकर अपनी स्त्रीसे कबूतर मारने को कहा पर उसने अस्वीकार कर दिया। फिर उसने बबरचीसे कहा, उसने भी मना कर दिया। फिर उसकी हिम्मत नही पड़ी कि वह अपने हाथमे कबूतरको मार दे। इस प्रकार आज एक वर्ष व्यतीत हो गया, पर हमने शिकार नहीं किया। इसलिये आज शिकार न खेलनेकी प्रतिज्ञा लेता हूँ।

पाप छोड़ दें तो हमारा कल्याण हो जावे। पांच पाप छोड़ना चाहिये। बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं, जीवका उपयोग ही बंधका कारण है। यदि ऐसा है कि बाह्य वस्तुसे बंध नहीं होता तो बाह्य वस्तुओंको छोड़ने का उपदेश क्यों देते हैं? अध्यवसान भाव बिना पर पदार्थों के नहीं हो सकता। बाह्य वस्तुका आश्रय तो लेना ही पड़ता है।

पंच समितिसे मुनि यदि चर्या करे तो उसे बंध नहीं होता भले ही उससे किसी जीवका हनन हो जावे।

कषाय या अध्यवसान—

अध्यवसान भाव जो होगा सो वस्तुको प्रतीत करके होगा। संसारमें सिर्फ एक वस्तु है जिसे भोगा जा सकता है। वह है पुद्गल। पाँचों इन्द्रियोंके विषय पुद्गल ही है। मैं किसीको सुख पहुँचाता हूँ, दुख पहुंचाता हूँ, मारता हूँ, जिलाता हूँ—ये सब आकाशके कुसुमके समान असत्य हैं। हम क्या करें हमारा भाई तो मानता नही, कुटुम्ब मानता नही, नही तो हम यह सब त्याग कर देते। अरे उन्हें मनानेसे कुछ न होगा। तुम स्वयं मान जाओ तो सब काम बन जावेगा। देखो तो हम कैसी २ इच्छाऐं करते है, यदि वे इच्छाएँ पूरी हो जाती तो कोई बात नही थी पर वे इच्छाएं तो पूरी होती नही है।

रागद्वेष मोह न होवे तो बंध नही हो सकता। भले ही सब प्रकारके कर्म करना पड़ें। लोग कहते है कि हमारी सब बातें मानते हैं पर हम कहते है कि त्यागी हो जावो तो इस बातको कोई नही मानता। हमारी क्या बात है। हम तो छद्मस्थ है। सर्वज्ञ भगवान की बात सब ही माने—ऐसा तो कोई नियम नहीं है।

हम कहने लगते हैं कि यह कलियुग है इसमें तो इतनी शक्ति नही रहती कि सम्यग्दर्शन धारण कर सकें। क्या हो गया यदि हम शरीरके छोटे हो गये। कोई सबसे छोटा पुरुष होगा तो क्या उसे सम्यग्दर्शन नहीं होगा—ऐसा कोई नियम हे? संज्ञी पंचेन्द्रिय होना चाहिये। सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेकी शक्ति सबमे है। मनुष्योंको तो ठीक—हाथी—कुत्ता बन्दर सब ही सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं।

कोई किसीका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। जैसा तुम बनना चाहो वैसा काम करो। तुम काम करो दूसरा और अच्छी पर्याय लेना चाहो, यह तो हो नहीं सकता।

झाँसीकी बात है। एक १०-१२ वर्षका लड़का था। उस समय बहिष्कार आन्दोलन हो रहा था। सब आदमी जंगल कानून तोड़ने पर लगे हुए थे। वह लड़का भी एक कुल्हाड़ी लेकर जंगलकी ओर जा रहा था। रास्तेमें उसे एक कप्तान मिला—'उसने पूँछा कि तुम कहाँ जा रहे हो? उसने उत्तर दिया कि क्या तुमको दिखता नहीं। हम तो जंगल काटने जा रहे हैं, कुल्हाड़ी हाथमें है। उसने फिरसे पूँछा कि 'जंगल काटनेसे क्या मिलेगा? उत्तरमें उस लड़केने कहा—'यह बात बड़े नेताओं से पूछो; हमसे क्या पूछते हो? हम तो वैसा ही करेंगे, जैसा वे सब कहेंगे।

उस कप्तानको गुस्सा आ गया और उसने एक थप्पड़ जोरसे उसके गाल पर मार दिया। लड़केने कहा—'शान्ति, शान्ति, शान्ति। इस प्रकार उसने ३-४ चाटे लगाये। उतने बार ही उसने शान्ति शान्ति शब्दों का उच्चारण किया।

अफसरने कहा—'तू बड़ा नालायक है।'

लड़केने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया—'तुम क्रोध करते हो और मैं शान्ति रखनेके लिये कह रहा हूँ और आप मानते नहीं। अब कौन जाने नालायक कौन है'?

अफसर उसके उत्तरोंसे बहुत ही सन्तुष्ट हुआ और उसने कहा—'अच्छा तुम्हें क्या चाहिये सो माँगो। लड़का था उसने कहा—'तुम कुछ दे नहीं सकते हो। नौकर हो। ४००-५०० रुपये मिलते होंगे। १००-२०० रुपया दे दोगे, सो हमें चाहिये नहीं और हमें जो चाहिये है, सो तुम नौकर होनेसे दे नहीं सकते। रहने दीजिये, हमें कुछ नहीं चाहिये।'

उस कप्तानने नौकरी छोड़ दी और विलायत चला गया। सो यदि आत्मा निर्मल हो तो असर अवश्य पड़ता है। छोटे बड़े का कोई प्रश्न नहीं।

यदि अग्नि राखके भीतर हो तो जो चाहे उसके ऊपर लात रखता हुवा चला जाता है। अंगारे पर कोई लात नहीं रखता। हम ही हिंसक हैं, हम ही चोर हैं और यदि हम चाहें तो अपरिग्रही होकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। हम लोगोंको उचित है कि अब हम अपनी ओर देखें। हम जयन्ती मनानेके लिये पर्याप्त खर्च करते हैं लेकिन अपनी ओर देखते नहीं। महावीरके रास्ते पर चलना था सो चलते नहीं।

लोग कहते फिरते हैं कि जैनोंके ऊपर सबकी बुरी निगाह हैं पर हम कहते हैं कि तुम्हारी खुदकी तुम्हारे ऊपर बुरी निगाह है। तुम शुभास्रव करो तो देव हो जावो सो वह आस्रव हमने अपने उपयोगसे ही किया, भगवानने क्या कर दिया? हमने ही तीव्र कषाय कर अपनी आत्माको पापी बना लिया। तुम्ही धर्मका ज्ञान कर लो तुम्हीं अधर्मका ज्ञान करलो। ज्ञानके ही कारण यह सब कार्य चल रहा है। बिना ज्ञानके तो कुछ हो नहीं सकता।

तुम संसारको जानते हो, संसारमें स्थित वस्तुओं को जानते हो, और तुम्ही मोहको जानने वाले हो, पर तुम सबसे भिन्न हो। हमारेमें मोह है यदि यह छूट जावे तो संसार छूट जावे। नग्न होनेसे कोई लाभ नहीं यदि अन्तरङ्गका मोह न छोड़ा। मोहसे ही संसारमें सुख दुखकी माया फैल रही है।

छटवें गुणस्थान तक व्यवहारमें सब उपदेश है, शास्त्र रचना है, इसके बाद सातवें गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक आत्मा और ज्ञानका ही मनन है। १३ वें गुणस्थानमे केवलज्ञान हो जाता है पर वचनयोग होनेसे जगत्के कल्याणके हेतु दिव्यध्वनि खिरती है।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति और कषाय जो हैं वे आत्माका बन्ध करने वाले हैं। ये सब मिट जावें तो कल्याण हो जावे। मैं इसकी हिंसा करता हूँ यह अध्यवसान भाव है। आत्माको न कोई मारने वाला है और न कोई जिलाने वाला है, आत्माके अन्दर ज्ञानगुण मौजूद है वह हमेशा उसके साथ रहता है। रागादि जो क्रियायें हैं वे आत्मासे भिन्न हैं। इनका विशेष ज्ञान नहीं हुआ, इसलिये संसार है। पेड़ामें खोवा और शक्करका स्वाद अलग अलग है पर हम उसे एकरूप समझ रहे हैं।

जो बन्धके निमित्त हैं उन्हें जिन्होंने छोड़ दिया वे ही यति हैं। आनन्द आत्माकी वस्तु है। वह तुम भी प्राप्त

कर सकते हो। ज्ञानमें परपदार्थ झलकते रहते हैं उसमें कोई आनन्द नहीं। आनन्दकी जड़ मोहका अभाव है। उसीको लाने का प्रयत्न करो।

जाननेमें क्या धरा है—हमने जान लिया। परन्तु उनमें राग द्वेष करना ही बिगाड़का कारण है। आचार्योंने सब तैयार कर रखा है—आपको खाना ही है। जो दौलतरामजी ने कह दिया उससे आगे भगवान क्या कहेंगे?

'आतम के अहित विषय कषाय—
इनमें मेरी परिणति न जाय।'

तुम तो टससे मस नहीं होना चाहते, कल्याण कैसे होवे? मन्दिरके बाहर जाते हो सो सब भूल जाते हो।

आत्मा तो स्वाश्रित है, पराश्रित तो अध्यवसान है। जरा इस तरफ दृष्टि करो। यदि अभिप्राय निर्मल नही और तप वगैरह करें तो संसारसे नही छूट सकते। मोक्ष की श्रद्धा नही होती, बाह्यकी ही श्रद्धा होती है। इसीसे वह उस ओर लगनेसे असमर्थ रहता है। मन्दिरका फल शुभोपयोग नहीं होना चाहिये। दृष्टि रखो कि संसार कटे। तुम्हारी दृष्टि तो मोक्षप्राप्तिकी ओर लगना चाहिये। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही पूजन करते हैं। राग दूसरी जगह न जावे इसलिये सम्यग्दृष्टि धर्मकार्यमें व्यतीत करता है। लौकिक पदार्थोंकी प्राप्ति के लिये धर्मकार्य नही है।

कर्मोंका बन्ध तो कषायसे होता है। मन दुष्ट है ऐसा लोग कहते हैं। मन कोई बुरी चीज नही, कषाय बुरी चीज है। इन्द्रियाँ क्या बुरी है, यदि है तो उन्हें जीतने का प्रयत्न करो। तुम कहते हो कि पुद्‌गल मिट जावे तो हमारा कल्याण हो जावे—यह झूठ है। वस्तुओंके नष्ट हो जाने से कषाय थोड़े ही नष्ट हो जाता है?

अज्ञान भाव—

ज्ञानका जो पुञ्ज है वह स्फुरायमान है अर्थात् विकासको प्राप्त होता है। वह ज्ञान अचल, टङ्कोत्कीर्ण के समान स्थिर है। आत्मामें बन्ध और मोक्षकी कल्पना सामान्यकी अपेक्षा नही की जाती, परन्तु जब विशेषकी अपेक्षा पदार्थका निरूपण करना होता है उस समय बन्ध और मोक्ष दोनोंका समावेश करना पड़ता है।

जिस प्रकार स्वप्न झूठा होता है परन्तु उस झूठेपनसे यह निश्चय किया जाता है कि स्वप्नकी यह स्थिति है। इसी प्रकार जैनधर्मके सिद्धान्तके अनुसार जो मिथ्याज्ञान होता है उससे सिद्ध होता है कि आत्माके साथ ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध है जो मिथ्यारूप परिणत है। यदि वह पर्याय मिट जावे तो शुद्ध टङ्कोत्कीर्ण ज्ञान प्रगट हो जावे। यदि ज्ञानके सद्भावका ही निषेध किया जावे तो मिथ्या-का आरोप किस प्रकार सिद्ध किया जा सकेगा?

कर्त्तत्व या भोक्तृत्व जितने भी भाव हैं वे ज्ञानसे रहित हैं। ये अज्ञानावस्थामें ही होते हैं। आत्माका कर्त्तापना स्वभाव नही है, उसका स्वभाव तो ज्ञायक भावसे पूर्ण है। यह ज्ञान न तो कर्त्तापनमें परिवर्तित हो सकता है और न कर्त्तापन ज्ञानमे परिवर्तित हो सकता है। ज्ञान ज्ञान रहेगा और पदार्थ पदार्थ रहेगा। द्रव्य कभी परिवर्तनशील नही है पर पर्याय उसकी बदलती रहती है। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। जिसमें ये तीन पर्याय न हो सकें वह पदार्थ ही नहीं कहा जा सकता।

चेतना ३ प्रकारकी है। ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। इसके सिवाय चौथा परिणमन कोई भी नही है।

अज्ञानचेतनामें आत्मामें कर्त्तापनका आभास होता है। क्रोध हो जाता है, पर वह आत्माकी चीज नही है क्योंकि यदि वह आत्माकी चीज होती तो वह आत्माके साथ रहती। पर वह आत्माके साथ कभी रहती नही है। आत्माका ज्ञायकभाव है जो हमेशा उसके साथ रहता है।

तीन मनुष्य थे। वे बाजारको निकले। एक मनुष्य घट (सोने का) खरीदना चाहता था। दूसरा आदमी सोनेका मुकुट खरीदना चाहता था और तीसरे आदमीकी इच्छा सोने खरीदनेकी थी। एक स्वर्णकारके पास सोनेका घड़ा था। वह अधिक दिनसे बिका नहीं था, इसलिये वह उसे तोड़कर मुकुट बनानेका प्रयत्न करने लगा। तीनों

आदमी इसके पास अपनी अपनी इच्छित वस्तुएँ खरीदने आये। जो घटका अर्थी था उसे दुःख हुआ। जो मुकुटका अर्थी था उसे हर्ष हुआ तथा जो स्वर्णका अर्थी था वह न सुखी हुआ और न दुखी हुआ। पर्याय की अपेक्षा वस्तु परिणमनशील है।

जीवके जितने परिणाम हैं वे जीवके ही होंगे। आत्मा न तो किसीसे उत्पन्न हुआ और न किसीको उत्पन्न करनेमें समर्थ है। संसारी जीवकी जितनी पर्याय होती हैं वे कर्मोदयसे होती और जीव हमेशा ही रहता है तथा उसका जो ज्ञानमय स्वभाव है वह भी उसके साथ हमेशा रहता है। क्रोधी होना; शान्त होना ये तो पर्यायें हैं, आत्माके स्वभाव नहीं।

जीवका जो तादात्म्यभाव ज्ञान है वह जीवके साथ हमेशा रहता है। पर्याय दृष्टिसे आत्मा कभी तिर्यञ्चमें, कभी देवमें और कभी मनुष्यमें जन्म लेकर उसके प्रतिरूप शरीरको धारण करता रहता है।

पुद्गल और आत्मा एक क्षेत्रावगाह हो रहे हैं। आत्माका जो स्वरूप ज्ञायकभाव था वह कर्मोदयसे राग-द्वेष मोह युक्त हो रहा है। राग द्वेष कर्मोके कारण होते है। रागमें राग या द्वेष करनेसे फिर कर्मबन्ध होता है, कर्मबन्धसे चारों गतियोंमें परिभ्रमण करना पड़ता है। जीवके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप परिणत हो जाते हैं। पुद्गलके निमित्तसे आत्मामें रागद्वेष आदि उत्पन्न होते रहते है—ये सब मिट जावें तो ससार मिट जावे।

उपकारी शिक्षा—

संसारकी परिस्थिति इस समय अत्यन्त भयङ्कर और दयनीय हो रही है। परिग्रह-पिशाचके आवेगमें मानवने दानवका आश्रय ले लिया है। लाखों निरपराध व्यक्तियों-की निर्मम हत्या हो रही है। करोड़ोंकी सम्पत्ति अग्निदेव-के द्वारा भस्म हो चुकी। हजारों मकानोंको श्मशान बना दिया! कहते क्या है? ऐसा स्वराज्य आजतक संसारमें किसीने नहीं पाया जो बिना लड़ाई किये ही मिल गया। ऐसा इतिहासमें कोई भी दृष्टान्त नहीं है। परन्तु यह भी तो दृष्टान्त इतिहासमें नही मिलता कि राज्य मिलने-पर इतनी हत्याएँ निरपराधियोंकी हुई हो। इससे यही सिद्ध होता है कि आजकलके मनुष्योंके हृदयमें धार्मिक शिक्षाका बिलकुल अभाव है। यह आजके विज्ञानका फल है।

विलायत वालोंको लोग बड़ा विज्ञानी मानते हैं और उनकी बड़ी बड़ी कीर्तियाँ आलाप करते हैं। परन्तु उन्होंने एक अणुबमसे लाखों मनुष्य और करोड़ोंकी सम्पत्तिका स्वाहा कर दिया। जो जापान ५० वर्षमें सम्पन्न हुआ था वह एक दिनमे रसातल पहुँचा दिया गया। जापानकी लोग बड़ी प्रशंसा करते थे कि उसने थोड़े ही कालमें अपने देश-को सम्पन्न बना लिया। परन्तु यदि उसकी अन्तरङ्ग व्यवस्था देखें तो पता चले। उसने चीनको नाकों दम कर दिया, लाखो मनुष्योंका स्वाहा कर दिया तथा जो देश काबूमें आया उसे भिखमङ्गा बना दिया।

मैं तो इतिहास भूगोल जानता नहीं, पर इतना अवश्य जानता हूँ कि आजकलकी शिक्षा केवल अर्थोपार्जनकरी और कामविषयिक है। इसलिये लोगोंके हृदयमें शिक्षित होनेपर भी वह राष्ट्रीयता नहीं आई जो आजके स्वतन्त्र नागरिकको आवश्यक है। राष्ट्रीयता जबतक पूर्णरूपसे नहीं आयगी स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओंमे प्रेम न होगा और न औद्योगिक धन्धोंको प्रोत्साहन मिलेगा। यन्त्रादि द्वारा लाखों मन कपास और लाखों थान कपड़ा मिलों द्वारा एक दिनमे बन जाता है। फल यह होता है कि इने-गिने धनाड्यों को उससे लाभ पहुँचता है या लाखों मजदूरों को मजदूरी मिलती है। परन्तु करोड़ों मनुष्य और हजारों दुकानदार आजीविकाके बिना मारे मारे फिरते हैं। इसी प्रकार यन्त्रों द्वारा एक दिनमें हजारों मन तैल तैयार हो जाता है। फल इसका यह हुआ जो इने-गिने धनाढ्य और सहस्रों मजदूर मजदूरी पा जाते हैं परन्तु हजारों तेली हाथपर हाथ धरे रोते हैं। कोलुओं द्वारा जो तैल निकलता था वह स्वच्छ होता था तथा जो खली निक-लती थी उसमे तैल का अंश रहनेसे गाय भैंसोंको खानेमें स्वाद आता था। वह पुष्टकर होता था। इसी प्रकार शक्कर आदिके मिलोंकी भी व्यवस्था समझिये। यह तो कुछ भी बात नही, यदि कपड़ेके मिलोंकी व्यवस्थाका जानने वाला लिखना तो पता चलता कि उनमें हजारों मन चर्बी लगती है। यह चर्बी क्या वृक्षोंसे आती है?

नहीं; कसाईखानोंको पहले आर्डर दिये जाते हैं कि इतने मन चर्वी हमको भेजो। चमड़ा कितना लगता है इसका पारावार नहीं। इतने पर भारतवासी चाहते हैं जो गोवध बन्द हो जावे।

पाठकगण! जरा मनको शान्त कर विचारो तो सही हम स्वयं इन बातोंसे घृणा नहीं करते! पतलेसे पतला जोड़ा चाहिये। चाहे उसमें अण्डेका पालिश क्यों न हो। ग्रामोंमें चले जाइये, पशुओंके चरनेको भूमि नहीं! मनुष्योंके आचरणके ऊपर दृष्टिपात कर यदि कोई लिखे तो पुराण बन जावे।

अच्छेसे अच्छे अपनेको मान। वाले होटलोंमें चायके प्याले चांटते देखे गये हैं। जिस प्यालेसे मांसभक्षी चाय पीते हैं। उसीसे निरामिषभोजी चाय पी रहे है। कोई कहे क्या करते हो? तो उत्तर मिलता है अजी छोड़ो इसी छुआछूतने भारतको गारत कर दिया। इसका मूल कारण यदि देखा जावे तब **शिक्षामें धर्म-शिक्षा और सच्ची राष्ट्रीयताका अभाव ही इसका कारण है।** अतः यदि देशका कल्याण करनेकी सत्य भावना है तब एक तो **प्रारम्भसे धार्मिक शिक्षा** अनिवार्य करो और दूसरे यह प्रतिज्ञा प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये कि **हम स्वदेशी वस्त्रादि का ही उपयोग करेंगे।**

शिक्षाका महत्त्व इतना है जो आत्मा इस लोककी कथा छोड़ो परलोक में भी सुखका पात्र हो जाता है। **शिक्षा उसे कहते हैं जिससे प्राणियोंको सुख हो।** सभी मनुष्य दुखसे भयभीत रहते हैं और सुखको चाहते हैं अतः शिक्षा ऐसी हो जिसके द्वारा प्राणियोंको सुख हो। **जिस शिक्षासे प्राणियोंका विनाश हो वह काहेकी शिक्षा? वह तो एक तरहका अस्त्र है। केवल धनार्जन करना शिक्षाका काम नहीं, धनार्जन तो व्यापारसे होता है।**

भारतमें करोड़पतियोंके ऐसे ऐसे फर्म हैं जो उनके मालिक साधारण पढ़े लिखे हैं। **यह संसार महान दुःखोंका भण्डार है इसमें शान्तिका लाभ बिना उत्तम शिक्षाके नहीं मिलता।**

प्राचीन कालमें अपरिग्रही गुरु शिक्षा देते थे जिसके द्वारा संसारी मनुष्य सुमार्गमे प्रवृत्तिकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे तथा अन्तिम वयमें गृहस्थीका भार बालकोंके ऊपर छोड़ आप संसारसे विरक्त होकर मुक्ति-पथके पात्र हो जाते थे। आजकल उस शिक्षाके अभावमें केवल धन-सञ्चय करते करते परलोक चले जाते हैं और वही संस्कार अपने उत्तराधिकारीमें छोड़ जाते हैं। **अतः यदि समाज और देशका उत्थान आप लोगोंको इष्ट है तब पहले शिक्षाकी व्यवस्था ठीक करो।**

—**वर्णी-वाणी** : २ / ३१०-३८५

✻

"बाह्यनिमित्त कोई भी ऐसे प्रबल नहीं, जो बलात्कार परिणाम को अन्यथा कर देवें। अभी अन्तरंगमें कषायकी उपशमता नहीं हुई। इसीसे यह सर्व विपदा है। आकुलता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अपना स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है। यही निरन्तर भावना और तद्रूप रहनेकी चेष्टा रखना। यदि कर्मोदय प्रबल आया तब शान्तभावसे सहना, यही कर्मको नाश करने का प्रबल शस्त्र है।"

—अध्यात्म-पत्रावली—५३

१३
वर्णी प्रवचन
(ज्ञानार्णव)

समताभाव—

ज्ञानार्णवके रचयिता शुभचन्द्राचार्यने प्रारम्भ में परमात्माको नमस्कार किया है। कहते हैं कि ज्ञानकी जो लक्ष्मी है उसके साथ आत्माका तादात्म्य संबंध है और आत्मा ज्ञानमें निशंक प्रवृत्ति करता है। अनंतसुखके धारी परमात्माको नमस्कार है।

यह जीव विषयसेवन आदि में आनंदकी प्रतिच्छाया देखता है इसलिये उन्हें प्राप्त करनेका प्रयास करता है। ज्ञानकी प्राप्ति अज्ञानसे उत्पन्न दुःखकी निवृत्तिके लिये है। महाव्रतका आचरण भी आनंदके लिये है। यदि आनंद प्राप्त करना चाहते हो तो दुःखको दूर करनेका उपाय उसके मुख्य कारण राग और द्वेषको दूर करना है और इनका मूल कारण मोह है। उसे मिटानेसे आप ही आप सुख प्राप्त हो जाता है।

मोहरूपी अग्निको नाश करनेकी यदि इच्छा है तो साम्यभावका अवलम्बन करो। यदि संयम धारण करना चाहते हो तो मोहका त्याग कर दो, आप ही आप संयम हो जायेगा। यदि संसारके दुखोंसे छूटने या मुक्ति पानेकी प्रबल इच्छा है तो पाँच इन्द्रियोंके विषयोंको जो विषके समान हैं उन्हें छोड़ो। रागरूपी वृक्षोंका जो बगीचा है उसे यदि छेदना चाहते हो तो साम्यभावका अवलम्बन करो। साम्यभावमें न राग होता है न द्वेष। सब पदार्थोंको समान मानो। धनी गरीब आदमीकी अपेक्षा मत करो। जैसे भिक्षाको निकले हुए मुनि गरीब व धनीके घरकी अपेक्षा नहीं करते इसी प्रकार साम्यभाव वाला प्राणी न राग करता है और न द्वेष ही। राग द्वेषका अभाव ही साम्यभाव है।

भाव दो प्रकारके होते हैं (१) चैतन्य (जीव) (२) अचैतन्य (जड़)। वैसे तो पदार्थ एक ही रूप हैं पर हमने उसके दो टुकड़े कर दिये हैं। जो हमारे विचारोंकी रुचिके अनुकूल पदार्थ हुए उन्हें हम इष्टपदार्थ कहने लगते हैं और इसके प्रतिकूल पदार्थोंको अनिष्टके नामसे पुकारते हैं। वैसे तो पदार्थ न तो इष्ट है और अनिष्ट।

एक कथानक है कि एक गाँवमें दो भाई रहते थे। उनमें बड़ा घनिष्ठ प्रेम था। वे एक दूसरेसे अत्यन्त प्रेम करते थे। उनके एक एक लड़का था। एक दिन एक भाई बाजारसे दो संतरे लाया। एक बड़ा था और एक कुछ छोटा। जब वह घर आ रहा था तो रास्तेमें दोनों लड़के मिले। दाहिनी तरफ उसका लड़का और बायीं तरफ भाईका लड़का था परन्तु अपने लड़केकी तरफ वाले हाथमें छोटा संतरा था इसलिये उसने पलट करके बड़ा संतरा अपने लड़केको और छोटा संतरा भाईके लड़केको दिया। यह दृश्य उसका भाई देख रहा था। उसने आकर कहा—कि अब हमारा तुम्हारा नहीं चल सकता, तुम अलग रहने लगो।

इसके कहनेका यह मतलब है कि यदि उसके साम्यभाव होता तो यह नौबत न आती।

मुक्तिका स्वयंवर हो रहा है। यदि तुम उसे वरण करना चाहते हो तो भवका दुःख देने वाले जो राग द्वेष हैं उन्हें साम्यभावसे छोड़कर स्वयंवरमें चले आवो। अगर परमात्माके स्वरूपको देखना चाहते हो तो समवसरण, तीर्थक्षेत्र, मंदिर, चैत्यालय आदि कहीं भी जानेकी जरूरत नहीं परन्तु उसके स्वरूपको अपने ही आत्मामें देख सकते हो। साम्यरूपी सूर्यकी किरणोंसे राग द्वेष रूपी अंधकार-

को दूर कर दो तो घर बैठे ही अपनेमें ही परमात्माको देख सकते हो।

क्षमा देखना चाहते हो तो घंटों पूजन, व्याख्यान, शास्त्र, व्रत आदिमें जो समय लगाते हो वह समय क्रोध को जीतनेमें लगाओ। यदि क्रोधको दूर नहीं कर सकते तो क्षमा नहीं मिल सकती। मैदा देखनेके लिये गेहूँके ऊपरका ही छिलका निकालकर देखना पड़ेगा। वह न तो जलमें है और न चक्कीमें। किसीकी संपत्ति उसीके पास रहती है दूसरे के पास नहीं होती। न तो दिगम्बर भाई मन्दिरमें भगवान देख सकते हैं और न तारण भाई शास्त्रोंमें। परमात्मा तो आत्मामें ही है। जरा इस ओर दृष्टि करनेकी जरूरत है।

मिली हुई चीजको दूर करनेका रास्ता जरूर होता है, आत्मा व कर्म मिले हुए हैं। इनको पृथक् पृथक् करने का उपाय है। जहाँ तक साम्यभाव रहे वहाँ तक तो आत्माकी सीमा है, उसके आगे जहाँ साम्यभाव नहीं रहा और रागद्वेष आदि हुए वहीं समझो कि तुम्हारो आत्मा नहीं। जो चतुर ग्वालन होती हैं वे दहीको मथकर घी निकाल लेती हैं। जब छाछ शेष रहती है और जिसमें फिर मक्खन निकलनेकी शक्ति नहीं रहती तब उसे छोड़ देती हैं। हरएक पदार्थमें बड़ी शक्ति विद्यमान है। चतुर रसोइया पकनेको रखी हुई वस्तुके रूप, रंग, स्वाद व स्पर्शको देखकर ही उसके पूर्ण पकनेकी स्थितिको स्पष्ट बता सकते है। ज्ञानमें अचिन्त्य शक्ति मौजूद है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि हृदयकी निर्मलता और साम्यभावमें भी बहुत शक्ति है। इसी साम्यभावसे जीव कर्मको अलग कर सकता है।

अन्य पदार्थ दूसरेका न तो कुछ बिगाड़ कर सकता है और न बना सकता है। दीपक प्रकाशमान होकर घटकी स्थितिको बता देता है। घट दीपकके कार्यमें बाधक नही हो सकता है। जैसे चुम्बकसे दूरकी वस्तु खिची हुई चली आती है उसी प्रकार दीपक किसीके पास नहीं जाता पर प्रकाशसे वस्तुस्थितिका ज्ञान करा देता है। घटकी उपस्थिति व अनुपस्थितिमें दीपकका कार्य होता है। दीपक घटमें कोई विकार उत्पन्न नही कर सकता; क्योंकि वस्तुका स्वभाव परसे उत्पन्न नहीं होता और न परको उत्पन्न ही करता है। इसी प्रकार आत्मामें ज्ञान स्वभाव है वह हमें दुख सुखका ज्ञान करा देता है। ज्ञानसे हम जान जाते हैं कि यह दुख है और यह सुख है। सुधार और बिगाड़ तो पदार्थमें कुछ हुआ नहीं। हम हैं जो ज्ञानसे जाने हुये सुख और दुखकी ओर दृष्टिपात करते हैं पर जिससे 'हम' यह बोध हुआ वह जो ज्ञान है उसकी तरफ हम दृष्टिपात नही करते। साम्यभावकी उत्पत्ति सब दुःखोंको नष्ट कर देती है। सुख देखना चाहते हो तो दुख के मूल कारणको अभी मिटा दो, अभी इसी समय तुम्हें सुखका अनुभव होगा। शुभोपयोग और अशुभोपयोगसे जो कर्मका बंध होता है वह तो पराधीन है जब उदयमें आवेगा तब फल देगा। दे या न दे, कभी कभी कर्मों की उदीरणा हो जाती है और वे फल नही दे पाते। पुण्यका लाभ स्वतंत्र नहीं, पर साम्यभावका फल तो अभी इसी समय मिल जाता है। किसान बीज बोता है तो समय पर उसे फल मिलता है। यदि उपयुक्त साधन पूर्ण न हो पाये तो कहो फल भी न मिले। पर साम्यभावमें यह बात नही होती उसका फल नहीं मिट सकता।

साम्यरूपी वायुसे जिसने अपना आत्मा पवित्र कर लिया है तथा जिसने मोह मिटा दिया है तथा जिसके राग व द्वेष जीर्ण हो गये है ऐसे प्राणीकी संसार वन्दना करता है। संसार उसको पूज्य मानता है। विश्व उसकी पूजन करता है।

राग द्वेषरूपी वृक्षोंसे परिपूर्ण जो जंगल है उसकी रक्षा मोह करता है। महावीर मुनिने चरित्र साम्यरूपी अग्निसे इस जंगलको जला दिया है।

जिसके साम्यभाव हो जाते है उसकी आशाऐं नष्ट हो जाती हैं। अविद्या और चित्तरूपी सूर्य मर जाता है।

भैया! तारणस्वामीका मार्ग भी बहुत ही सर्वोत्कृष्ट है लेकिन हम उस मार्ग पर चले नहीं, नहीं तो हमारा कल्याण हो जाता। सागरमे दो विद्वान् रहें जो शास्त्र सुनावें और हमें धर्ममार्ग बतलावें। हमें जिस समय यहांसे प्रस्थान करना पड़ेगा उस समय न तो हम मंदिर ले जा सकेंगे और न चैत्यालय। हमे यहां ही घर छोड़ना

पड़ेगा। यदि हम पहले ही से नंगे हो जावें तो हमारा कल्याण हो जावे। हमें इस मार्गको प्रदर्शित करने वाले शास्त्रकी शरण लेनी पड़ेगी। यहाँ एक पण्डित रहे, चाहे कोई सुने या न सुने, वह शास्त्रवाचना करता रहे। अब तो सारा रुपया ज्ञानमें लगानेकी आवश्यकता है। मंदिरोंमें लगानेकी जरूरत नहीं। जब वृद्धावस्था हो जाती है तो हमें ऐसी वस्तु खाना चाहिये जो सरलतासे पच सके। अरे, भगवानका नाम लो इसे न तो खाना पड़ेगा और न पीना ही पड़ेगा। डरो मत इससे कुपच भी नही होगा। तुम्हारा कल्याण इसीमें ही है।

हम स्त्रियोंसे ही तो पैदा हुए और उन्हींसे कहते हैं कि वे कमजोर हैं। वे कुछ करती नही। यदि जेवर कपड़ेके खर्चेमें से एक पैसा रुपया और टैक्सके रुपयोंमेंसे एक पैसा रुपया ज्ञानदानमें खर्च करें तो हाईस्कूल कालेज बन सकता है और विद्यालय महाविद्यालय हो सकता है। कौनसी कठिन बात है।

समताभाव—

साम्यभाव वाले योगीने एक क्षणमें जितने कर्मोंको काट लिया है, उतने कर्मों को मिथ्यादृष्टि जीव कोटि-वर्षोंमे नहीं काट सकता है।

आत्मा को छोड़कर शेष परपदार्थों की पर्यायोंसे विलक्षण आत्माका निश्चय करना ही साम्यभाव है। अपनेसे पर तो पर हैं ही, पर अपने में जो पर्याय उत्पन्न हो उस पर जरा विचार करो। जो यह शारीरिक सुन्दरता है वह भी पर है। अच्छा इसको भी छोड़ो ज्ञानावरण आदि जो कर्म हैं उनको तो हम देख नही सकते, पर कर्मोंके उदयसे होनेवाले फलको जानकर उसकी सत्ताका निश्चय करते हैं सो वह भी परपदार्थ है।

कर्म दो प्रकारके होते हैं पहला घातिया कर्म, दूसरा अघातिया कर्म। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी स्वाधीन नही है। देखिये हम आँखसे ही तो देखते हैं, कानसे ही तो सुनते हैं पर जब आँख चली जाती है या कान चले जाते हैं तो हमारा देखना और सुनना बंद हो जाता है। तो बताइये यदि वे हमारे ही होते तो क्यों चले जाते? इससे मालूम पड़ता है कि पर पदार्थोंका संबंध हमसे जरूर है पर वह आत्मासे सर्वथा भिन्न है। कर्मोदयसे हुआ जो ज्ञान वह अपना नहीं है। देखिये तो मोहनीय कर्मकी कैसी विल-क्षणता है। ज्ञानावरण कर्म तो आत्माके ज्ञानको ढक ही लेता है सो कोई नुकसानकी बात नहीं। जब दूर होगा सो हो जावेगा, पर यह मोहनीय कर्म तो विपरीत श्रद्धा करा देता है। आठों कर्मोंमें सबसे अधिक लुच्चा-कर्म मोहनीय कर्म ही है। इसके उदयसे होने वाली पर्यायें अपनी नहीं हैं। क्षायिक पर्याय व पारिणामिक भाव ही अपने हैं। बाकी सब पर पदार्थ हैं। जब जीव साम्यभावी हो जाता है तो उसके संबंधको पाकर दुष्टसे दुष्ट जीव भी शान्त हो जाते हैं। जिस प्रकार जंगल जल रहा है और पानीकी वृष्टि हो जावे तो जंगलकी भयंकर अग्निभी शांत हो जाती है। क्रूरपरिणामी जीव भी साम्यभावी जीवके संसर्गसे अतिप्रसन्न हो जाता है। जैसे वर्षातमें वर्षा होनेके सबबसे सारे जगह कीचड़ मच जाती है। वह जल कीचड़ कर देता है परन्तु जब अगस्त्य नक्षत्रका उदय हो जाता है तो पानी सूख जाता है तथा कीचड़ मिट जाती है। भइया! वर्त्तमानमें तो ऐसे परिणाम वाले जीव हैं नहीं। नही तो उनकी शक्ति हम प्रत्यक्ष देख लेते। एक समय की बात है कि एक क्षुल्लक बहुत ही विद्वान् थे। एवं बड़े ही स्वाभिमानी थे। एक दिन वह मंदिरमें प्रतिष्ठित थे, इतनेमें सगुनचन्दजी नामके व्यक्ति वहाँ आये। उनको देखकर क्षुल्लकजी खड़े हो गये। और कहने लगे कि सगुनचन्द तू बड़ा निर्मल एवं प्रतापी है। न व्यवहारसे और न शास्त्राज्ञासे उन्हें उठना चाहिये था, पर निर्मल आत्माकी शक्ति अपरम्पार है। उसे कौन रोक सकता है!

एक समयकी बात है कि मंदिरमें स्त्रियाँ ऐसे जेवरों को धारण करके आती थी कि जिनसे छम छम छम जैसी आवाज होती थी और सबका ध्यान उस ओर बट जाता था। सब पुरुषोंने बैठकर निर्णय किया कि जिसकी स्त्री मंदिरमें ऐसे जेवरको धारण करके आवे, जिससे छम छम आवाज हो, उससे २५) जुर्माना लिये जावें। सगुनचन्दजी ने यह प्रस्ताव रक्खा था। दैवयोगसे जब यह निर्णय हुआ था उस समय सगुनचंदजीकी स्त्री मंदिरजीसे चली आई थीं। दूसरे दिन वह ही छम छम करती हुई मंदिरमें आई।

सगुनचन्दजीने तुरन्त ही २५) मँगाकर जुर्मानाके दिये। लोगोंने बहुत समझाया कि अज्ञातमें ऐसा अपराध हुआ है पर उन्होंने एक भी न सुनी। कहने का तात्पर्य यह है कि नियम पालने वाला ही नियम चला सकता है।

शास्त्रोंको रचने वाले तो बड़े-बड़े योगी पुरुष हुए हैं। उनके वचनोंको शिरोधार्य करके हम सब साम्यभावी हो सकते हैं। कोई कठिन बात नहीं है। योगीके संसर्गसे क्या नहीं हो सकता। योगीसे तो इन्द्र भी संतुष्ट हो जाते हैं। शेर और गाय अपने वैरको भूल जाते हैं। मनुष्योंकी बात तो जाने दीजिये पशु भी प्रभावित हो जाते हैं। जहाँ योगी पहुँच जाते हैं वहाँ वैर, भय, क्रोध सब ही नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रमाकी शीतल किरणें आतप को दूर कर देती हैं। सूर्य अन्धकारको नष्ट कर देता है।

जिस मुनिका मोह क्षीण हो गया है उसके प्रसादसे हिरणी सिंहनीके बच्चेको दूध पिलाने लगती है। गाय व्याघ्रके बच्चेके साथ खेलने लगती है। बिल्ली हंसके बच्चोंके साथ क्रीडा करने लगती है। मयूरी सर्पके बच्चों को खिलाने लगती है। आजन्मसे जो बैरी होते हैं वे भी अपना वैर भूल जाते हैं।

जयपुरके राजाके यहाँ अमरचन्दजी दीवान थे। एक समय राजा इन्हें शिकार खेलनेके लिये जंगल लिवा ले गये। जंगलमें हिरनोंका समूह जो राजाने देखा तो उन्होंने बन्दूकका निशाना उनकी ओर किया। तो अमरचन्द्रजीने उनकी बन्दूक पकड़ ली। और कहा कि तुम तो इस राज्यके रक्षक हो, इनको कैसे मार सकते हो? तो उत्तरमें राजाने कहा हमारा काम तो बन्दूक चलाना है। तो फिर अमरचन्दजीने पुकार कर हिरनों से कहा---कि अय हिरनों खड़े रहो! तुम्हारा राजा ही तुम्हें मारने पर तुला हुआ है। जब रक्षक भक्षक हो गया तो तुम कैसे भाग सकते हो? तुम सब खड़े हो जावो मार लेने दो देखें, कितनोंको मारते हैं। भइया, उसका ऐसा असर हुआ कि सारे हिरन खड़े हो गये। फिर राजाका साहस नहीं हुआ कि किसीको मार सके। सो निर्मल परिणामी जीव यदि हिरनोंको रोक सके तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है!

एक समय इन्ही अमरचन्दजीको अजायबघर का प्रबंधक बना दिया गया। और जब इनके पास सिंहको मांस खिलानेकी स्वीकृति मांगी गई तो इन्होंने १०-५ सेर बरफी खिलानेकी स्वीकृति दी। परन्तु ८ दिन तक तो सिंहने खाया नहीं। इस पर इसकी रिपोर्ट की गई, तो अमरचन्दजी स्वयं ही सिंहके पिंजड़ेमें बरफी खिलानेको गये। उन्होंने सिंहसे कहा कि—बरफी खालो, यदि मांस खाना है तो मुझे खा डालो। इस पर न मालूम क्या हुआ भइया! शेरने बरफी खा ली। सब आदमी बड़े ही आश्चर्यमें आये। सो इससे मालूम पड़ता है कि जिनके परिणाम निर्मल हो जाते हैं उनकी शक्ति अपरम्पार हो जाती है।

एक मनुष्य मुनिकी पुष्पोंसे पूजन करता है और एक मनुष्य उनके कण्ठमें सर्प डालता है तो भी मुनिकी दृष्टिमें दोनों एक ही हैं, न वे किसीसे राग करते हैं और न किसी से द्वेष, ऐसा साधु साम्यके बगीचामें प्रवेश कर सकता है। तुम चाहो तो स्वयं करके देख सकते हो—कौन बड़ी बात है।

भइया! बाईजी के यहाँ एक चूहा रोज ही कुछ न कुछ खराब कर देता था। कभी दूध खराब कर दे, कभी दही खराब कर दे। तो बाईजीने एक दिन चूहेसे कहा— कि तुम रोज कोई न कोई वस्तु खराब कर देते हो, जिससे कभी मुझे और कभी मेरे लड़केको उस वस्तुसे वंचित रहना पड़ता है। इतने बड़े सागरमें क्या तुम्हें हमारा ही घर मिला जो हमें ही नुकसान पहुँचाते हो? इसपर वह दूसरे दिनसे नहीं आया। क्या हो गया सो कर्मकांडके विद्वान जानें, हम तो कुछ बता नहीं सकते।

तो करे क्या, परिणामोंकी शक्ति तो अपरम्पार है। थोड़ा सा चित्त ही इस तरफ देना है। साम्यभावी क्या मोक्ष नहीं जा सकता? क्या भगवानने ही मोक्ष जानेका ठेका ले लिया है? यह तो मोक्षमार्ग है। भगवान तो मोक्ष गये तथा हम सबको भी वहाँ जानेका रास्ता बता गये। साम्यभाव वाला जो जीव होता है वह न तो किसीसे राग करता है और न किसीसे द्वेष करता है। बन हो या नगर हो, शत्रु हो या मित्र हो, वह इन सबको जान करके

भी किसीसे राग द्वेष नहीं करता। ज्ञानसे पदार्थोंको जान लेना थोड़ा ही अपराध है। ज्ञान तो अपना काम करेगा ही, ज्ञान तो वस्तुस्थिति को प्रदर्शित कर देता है। यह हमारी गलती है कि हम उसमें मोहके द्वारा राग द्वेष करने लगते हैं– यही हमारा अपराध है।

व्यवहारसे विचार करो तो ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय पृथक् पृथक् हैं और निश्चयसे सब एक ही हैं। मोहकी कल्पना मिट जावे तो संसार मिट जावे।

अभिप्राय एक न होनेसे ही झगड़े होते हैं। यदि एक ही अभिप्राय हो पावे तो काम बनते कुछ देर न लगे। देखो, यदि तुम लोग चाहो तो आश्रम और विद्यालय एक हो जावे। अभी दृष्टि उस तरफ गई नहीं है। जहाँ २०० विद्यार्थी पढ़ते हैं वहाँ ५०० पढ़ने लगें, पर उस तरफ अभी हमने ध्यान नहीं दिया, नहीं तो काम बननेमें देर न लगेगी।

मुनि तो तुम्हारी दो रोटी खा करके तुम्हारे लिये शास्त्र लिख गये। साम्यभावी मुनिको न तो श्मशानमें विरोध होता है और न महलमें राग। अगर पर्वत चलायमान हो तो हो, पर मुनिका मन चलायमान नहीं होता।

हम सब पढ़ते हैं। सुकुमालका चरित्र तुमने पढ़ा ही है। जिस समय सुकुमालके साथ वहाके राजाने भोजन किये तो सुकुमालने कभी वैसे चावल खाये नहीं थे। वह तो कमलके पत्रोंमें रातभर रखे हुये चावलोंको बनवा कर खानेका अभ्यासी था। चूंकि चावल कम थे इसलिये सेठानीने कुछ दूसरे चावल पकानेको डाल दिये। राजाने तो सब चावल खा लिये परन्तु सुकुमालने चुन-चुन कर कमलपत्र वाले ही चावल खाये। उन्होंने सूर्यका प्रकाश देखा नहीं था इसलिये राजाके सामने दीपकके प्रकाशमें उनकी आँखोंमें आंसू आ गये। इसपर राजाने कहाकि तुम्हारा लड़का वैसे तो ठीक है पर खाने में कमजोर है। तथा आँखें भी कमजोर हैं। पर सेठानीने कहा कि यह सब इसकी कोमलता है। कहां इतना सुकुमाल आदमी और कहां रातको अपने मामा मुनिके पाठको सुनकर उन्हें वैराग्य हो गया। सात खंड ऊपरसे रातको ही रस्सीसे नीचे उतर आये। वह इतने कोमल थे कि उनके हाथों और पावोंसे खूनकी धाराएँ निकलने लगीं। पर रातको ही जंगलमें चले गये और तपस्या करके तथा शुक्लध्यान मांड कर सर्वार्थसिद्धिमें गये। तपस्यामें उनके पूर्व जन्मकी वैरिणी स्यालिनी और उसके बच्चों ने उनके मांसको खाया परन्तु सुकुमाल अपने ध्यानमें अडिग रहे और साम्यभावी बने रहे। फल हुआ कि सर्वार्थसिद्धि गये और एक भवमें मोक्षभी चले जावेंगे।

जो योगी होता है वह जगत्को उन्मत्तके रूप में देखता है। पागल तो उसे कहते है जो अन्यथा बोले। हम सब पराई चीजोंको अपनी मान रहे हैं। अब बताइये हम पागल हुए या नहीं। यदि इन्द्रका गुरु वाचस्पति भी आ जावे और साम्यभावके गुणोंका वर्णन करे तो हजारों सागरोंकी आयु बीत जाये तो भी उसके गुण समाप्त नहीं हों। दुष्प्रज्ञाने बलसे वस्तुतत्त्वका विलोप कर दिया है। यह प्रज्ञा हरएक घरमें वर्त्तमान है। मोक्षमार्गमें लगने वाले जीव बहुत कम हैं।

राग द्वेषको जीतकर व समताभाव धारण कर जो सुख दुखमें सम आचरण करे वही सच्चा योगी है। राग द्वेषको मिटानेकी कोशिश करो। एक तरफ चित्त लग जावे यदि सब तरफसे चित्त हट जावे तो।

तत्त्व-विचार

यदि तत्त्वका निश्चय नहीं हुआ और मंदिर तीर्थ वगैरह भी किया तो भी सब व्यर्थ है। अन्न छोड़ दिया सो क्या किया, अन्न तो पदार्थ ही था। उसमें जो मोह है उसे छोड़ो, उसमें सार है; क्या बतावें ? काम और अर्थ की लालसाके वशीभूत हो हमने सब चौपट कर दिया।

मोहरूपी तिमिर हटनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान हुआ तथा राग-द्वेष दूर होनेसे ही सम्यक्चारित्र होता है। उपचारसे महाव्रत और देशव्रत करता है। इनका फल राग-द्वेषकी निर्वृत्ति ही है। जैसे गुरवेल तो कड़वी होती ही है पर यदि वह नीमके वृक्ष पर चढ़ जावे तो उसके कड़वे पन का क्या कहना ! इसी प्रकार संसारमें कष्ट हो रहे हैं और आप सब अशुभ कर्मोंका बंध करके उनकी और भी वृद्धि कर रहे हैं। हम पाखंडकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। थोड़ेसे

थोड़े सांसारिक कार्यके लिये हम कुदेव और कुगुरुको पूजने लगते हैं। अब बताइये हमारा कल्याण कैसे हो सकता है।

हमने ही कर्मों का उपार्जन किया और उसका फल भी हमें ही भुगतना पड़ेगा। भगवान तो कहते हैं कि यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो ईश्वरकी भक्ति करना भी छोड़ दो। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि स्वर्ग लोक तो पंचेन्द्रिय के विषयोंका घर है। चक्रवर्तीको इतनी सम्पत्ति और ऐश्वर्य मिला पर इसमें आत्मज्ञानकी कौन-सी वृद्धि हो गई सो बताइये ? साता वेदनीय कर्म ने इस जीवको सुख ही तो दिया, और इससे तीव्र कषाय ही आ गई, और बताइये क्या हो गया ! तो तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो ज्ञात होगा कि शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म त्याज्य हैं।

हम राग करते है और दूसरोंसे कराते हैं। शास्त्र सुननेका फल तो एक ही है कि हम राग-द्वेष करना छोडें। हमको छोड़ दो, कोई भी यहाँ बैठेगा या बड़े भगवान के पास भी चले जावो, तो वह भी राग-द्वेष छोड़नेका उपदेश देंगे। तुम्हें विवेकरूपी माणिक्य मिला है, लेकिन तब भी माणिक्यको छोड़कर तुम बिना विचार किये ही रमणीय विषयोंमें तल्लीन हो रहे हो।

स्वर्गकी प्राप्ति परिणामोंसे होती है न कि द्रव्यसे। एक गरीब आदमी है और वह मोटे चावल चढ़ाता है और उसके परिणाम एकचित्त होकर भगवानके स्वरूपमें लवलीन हो रहे हैं। तथा एक धनिक आदमी हीरा माणिक्य ले भगवानकी पूजन कर रहा है पर उसके परिणाम घरकी ओर लगे हुए हैं तो इसकी अपेक्षा उस गरीब आदमीको फल अच्छा मिलेगा। इससे मालूम पड़ता है कि भावकी कीमत होती है। मेंढक तो सिर्फ कमलका फूल मुँहमें दबाकर पूजनकी महती बांछा लेकर जा रहा था और उसका रास्तेमें ही देहान्त हो गया। तब भी शुभ परिणाम होनेसे उसे स्वर्गकी प्राप्ति हो गई—तो इसमें कौन-सी आश्चर्यकी बात हो गई ? संसारमें ऐसे ऐसे काम प्रारम्भ हो गये हैं जिससे सब चौपट हो गया है। सुखकी प्राप्ति सम्यक्चारित्रसे होती है। सम्यक्चारित्र सम्यग्ज्ञानसे होता है तथा सम्यग्ज्ञान आगमसे होता है। आगम श्रुतिसे होता है। गणधर देव आगम बनाते हैं। श्रुति आप्त भगवानसे होती है। आप्त भगवान राग द्वेष रहित होते हैं। ऐसे त्याज्य रागादिकको समझकर उन्हें छोड़ो। जिसको तुम पूजते हो सो क्या तुम उसके शरीरकी पूजन करते हो या उसके गुणोंमें अनुराग रखते हो। बताइये तो आप भगवानसे बच्चा मांगते हो, धन मांगते हो। क्या उनके पास तुम्हें देनेको रखा है ?

वीतरागविज्ञान ही सच्ची बात कह सकता है। क्योंकि यह तो निर्विवाद है कि झूठ बोला जावेगा तो या तो अज्ञानताके कारण या राग-द्वेषके कारण, परन्तु आप्त भगवानमें दोनों चीजें वर्तमान नहीं हैं।

राग-द्वेष न होनेसे ज्ञान कर्मोंकी निर्जरा करा देता है। नेत्रने वस्तुओंका ज्ञान करा दिया, रागद्वेष नहीं होना चाहिये—चलो छुट्टी पाई। कषाय करना बुरा है। आचार्यों ने वर्णन किया है कि ये पुत्र मित्र घर धन सम्पत्ति हैं वे सब नरकको ले जाने वाले हैं और उन्होने वहीं नरकके दुखोंका वर्णन कर दिया। तो इनसे तो अनिष्ट बुद्धि करवा दी तथा स्वर्गोंके सुखोंका निरूपण किया सो उसमें लाभबुद्धि उत्पन्न करा दी। भगवानने भी जीवको लोभ उत्पन्न करा दिया, व्यवहार है करें क्या।

बड़े बड़े आचार्य उपदेश देते हैं कि किसीसे बोलना नहीं चाहिये; क्योंकि जिससे हम बोलते हैं वह आत्मा नही और जो आत्मा है वह बोलता नही। परन्तु वे स्वयं ही बोलते हैं। सो क्या करे मोहका उदय आया उसे तो भुगतना ही पड़ेगा।

बोधरूपी जो रतन मिला है अगर उसे छोड़ दोगे तो जिस प्रकार समुद्रमें रत्न फेंक देनेसे वह फिरसे प्राप्त नही हो सकता उसी प्रकार बोध भी फिरसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अन्तमें निचोड़ करके दिखलाते हैं कि संसारमें सब वस्तुएँ प्राप्त होना सुगम हैं। राज्य मिल जावे, धन सम्पत्ति मिल जावे, मनके अनुकूल स्त्री पुत्र मिल जावे, एक बोधि ही दुर्लभ है जो बार बार नहीं मिलती।

यदि ज्ञान न हो तो पंडितोंसे सुन लो और अपना कल्याण कर लो, अरे ! यदि लड्डू बनाके नही जानते तो

उसे खाके तो जानते हो ? भेदज्ञान पैदा कर लो— चलो छुट्टी पाई ।

भिखमंगोंमें भी मांगनेकी कला होती है। वे इस तरीकेसे मांगते हैं कि हमारे मनमें गुदगुदी पैदा हो जाती है और हम उसे भिक्षा दिये वगैर चैन प्राप्त नहीं करते ।

एक समयकी बात है कि हमारे घरके पाससे एक भिखारी आया करता था। वह भइया ! इस तरीकेसे मांगे कि हमे कुछ न कुछ देना ही पड़ता था। एक दिन वह मांगनेको आया। मैंने कुछ उसे दिया। तथा उसे रोककर पूछा—'क्यों भाई, तुम्हारा पेट तो भूखा दिखता नही और तुम इस तरहसे क्यों गिड़गिड़ा रहे थे।' वह कहने लगा कि 'यदि इस तरहसे न गिड़गिड़ायें तो हमें कौन देगा ?' फिर मैंने उससे पूछा—'क्यों भाई ? तुम्हारे पास कितना पैसा है।' उसने कहा '५०) है'। मैंने कहा 'ठीक बताओ। 'वह कहने लगा' २००)हैं, दो स्त्रियाँ हैं। आराममे मोराजी मे रहते हैं। आठ दिनको खाना रखा हुआ है। आनन्द करते हैं। लेकिन एक बात है कि तुम लोगोंमें विवेक बिल्कुल नही।' मैंने पूछा—'क्यों भाई ! क्या बात है। हमने तो तुम्हे खानेको दिया और हमसे ही ऐसा कहते हो ? उसने उत्तरमें कहा—कि 'यदि तुम न देते तो हमें दूसरी जगह मिल जाता। लेकिन कभी कभी जो लँगड़ा इस तरफ मांगता है और उसे तुम कुछ न कुछ या बाईजी भी दे दिया करती हैं। परन्तु तुम्हें क्या मालूम उसके पास २०००) रुपया नगद है। तुम्हें तो पात्र अपात्र का कुछ विवेक नही है।'

भइया, सच्ची बात पूछो तो हममें विवेक बिल्कुल नही है। अरे हमने कमाया और हम ही उसका उपभोग न कर सके—यह हमारी नादानी है।

ज्ञान का प्रकाश

ऋण चुकानेके दो रास्ते हैं। एक तो ऋण लेवे नही और प्राचीन कर्ज चुका देवे। इसी प्रकार संवर कर्मोंके आनेको रोक देता है। प्राचीन कर्म रहे सो खिर जावेंगे।

शीतकाल था। मैं और मेरे कुछ अन्य सहपाठी रुई भरानेके लिये बाजारमें गये। बनारसकी वार्ता है यह। सो सबके लिये तो भरने के लिये नौजवान मिल गये परन्तु मेरे हिस्सेमें एक बूढ़ा आदमी पड़ा। मैंने कहा—'अरे तुम नहीं भर सकते बूढ़े आदमी हो। हमारे सब साथी चले जावेंगे। हम तो तुमसे नहीं भरवाते।'

उसने उत्तर दिया—'अरे घबड़ाते क्यों हो ? उन सबसे अच्छा और जल्दी तुम्हें दे देंगे, तुम चिन्ता न करो।' सबने तो एक बारमें सब रुई धुनक डाली, पर बूढ़ेने तो एक एक छटाक करके धुनकी। अन्तमें सबसे पहले उस वृद्धने वह रुई धुनकी और वह रुई सबमे अच्छी धुनकी गई। उसने मुझसे कहा—'कुछ समझे कि नहीं या पूरे मूर्ख ही हो।' मैंने कहा—'मैं सब समझ गया 'तुम अपनी एक-एक छटाक धुनक करके काम करनेकी चिन्ता कम करते गये और उन्होंने पूरी ही धुनकी और फिरसे पूरी ही धुनकी। इससे उनको पूरेकी ही चिन्ता रही।'

इसी प्रकार जब हम कर्मोका संवर कर लेते हैं तो एक चिन्तासे निवृत हो जाते हैं फिर हमें सिर्फ निर्जरा ही करना पड़ती है सो वह भी हम कर लेंगे। रागादिकको रोककर जिसने ज्ञानकी धुरी धारण करके संवर कर दिया वह अब प्राचीन कर्मका नाश करने के लिये निर्जरा करनेके लिए उद्यत होता है।

संवर कहाँसे होता है इसको बताते हैं। वीतरागी चेतन व अचेतन दोनोंका उपभोग नहीं करता है। उपभोग-का अर्थ है – रुच जाना। जैसे तुमने किसी पदार्थको खाया तो तुम्हें जिह्वासे उस पदार्थका स्वाद आया। तुमको रुच गया सो तुम उसमें राग करने लगे। मुनिने भी उस पदार्थ-को खाया और जिह्वा इन्द्रियसे उसके रसास्वादनका ज्ञानोपार्जन किया परन्तु उन्होंने उसमें रागबुद्धि नहीं की। वह समझते हैं कि सिर्फ शरीरकी स्थितिके लिये उन्हें ऐसा करना पड़ा। क्योंकि कहा है—

"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।"

मन्दिरमें हम भी जाते हैं, माली भी जाता है और मन्दिरमें सबसे अधिक समय लगाता है लेकिन भक्त हम ही कहलाते हैं, माली नही। परिणामोंकी अपेक्षासे यह व्यवहार होता है। यदि हमें धर्म रुच गया तो समझना चाहिये कि हमारा कल्याण हो गया।

बन्ध का कारण राग-द्वेषकी परिणति है। पदार्थके उपभोगमें दो बातें होती हैं। जब सातावेदनीयका उदय होता है तो पदार्थ रुचिकर प्रतीत होनेसे सुखानुभव होने लगता है। कभी-कभी वे ही पदार्थ असातावेदनीयके उदयसे अरुचिकर प्रतीत होनेसे दुःखानुभव होने लगता है। ज्ञानमें तो सुख दुःख दोनों ही आवेंगे। परन्तु चूंकि उपयोग बन्धका कारण नहीं, बन्धका कारण मोह है। जहाँ उपयोग-के समय मोहका सहयोग मिला वहीं पर नवीन कर्मका बन्ध हो जाता है।

असातावेदनीयके उदयसे यदि किसीको दुःख हुआ। यदि अब वह अपने संक्लेश परिणाम करेगा तो उसे नवीन कर्मबन्ध होगा और यदि समता धारण की तो उसे संवर होगा।

दीपचन्दजी सुनाया करते थे कि मारवाड़में एक बुढ़िया थी। उसके ७ लड़के थे। वे बहुत ही सुन्दर और आज्ञा-कारी थे। आयुपूर्ण होनेसे बड़े लडकेका स्वर्गवास हो गया। उस बुढ़ियाने बहुत ही विलाप किया। दिन रात रोती रहती थी। लड़कोंने बहुत समझाया कि हम तुम्हारी सेवा करेंगे और यदि तुमने विलाप करना नहीं छोड़ा तो अवश्य हम सब भी मर जावेंगे। दैवात् सब मर गये।

आचार्योंने तो यह निरूपण किया है कि कर्मके उदयसे होनेवाले पर पदार्थोंका उपभोग करलो, पर उनमें न तो विषाद ही लावो और न उनसे सुख ही मनाओ। बन्धका कारण कषाय है। बन्धके जो अनुभाग और स्थिति भेद किये गये है कषाय पर निर्भर है। तीव्र कषायमें तीव्र अनुभाग एवं लम्बा स्थिति बन्ध होगा।

अभी किसीको यदि कोई विषैला जीव जन्तु काट खावे तो मन्त्रमें ऐसी ताकत है कि वह उसे दूर कर देता है। उसी प्रकार ज्ञान भी एक ऐसा मन्त्र है जिससे मोह राग और द्वेषरूपी कर्म क्षणमें ही नष्ट कर दिया जाता है। कई वस्तुएं ऐसी देखनेको हमें मिलती हैं या हमें भुगतना पड़ती हैं जिन्हें हम नहीं जानते लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपयोग करते समय आत्माका सन्तुलन ही खो दिया जावे।

धर्मका फल मीठा रहता है पर धर्मकी रक्षा करना बड़ा कठोर है। देखिये तो आज सुबह खाया फिर अपना पेट खाली हो जाता है। क्या विचित्र लीला है ? रोज रोज यहाँ आनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अरे ! एकदिन समझलो और अपने कल्याणमें लग जाओ।

जो तुम इतरको दृष्टा मानते हो उसको छोड़ अपनेको ही दृष्टा समझो। तू न तो शरीर है और न किसी जाति-वाला है। तू ही ज्ञाता है, तू ही दृष्टा है। भूल छोड़ दो आज कल्याण हो जावे। ज्ञान और वैराग्यकी ताकत ये दो चीजें ही तुम्हारा कल्याण कर देंगी। कोई मनुष्य मद्यपान कर लेता है और वह पागल हो जाता है। ऐसे समय यदि दवाई खा ली जावे तो नशा दूर हो जावे, चलो छुट्टी पाई।

सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको तीव्र विरागीभाव होनेसे नवीन कर्मबन्ध नही होता। प्रमादी भी नही होना चाहिये। भीतर हृदयका अभिप्राय ठीक रखो। भइया, अध्यापक लड़केको मारता है तो लड़का कहता है –'अच्छा मारा'। उसका संरक्षक कहता है –'अच्छा मारा' क्योंकि उस अध्यापक का अभिप्राय उस लड़के को पढ़ाने का है।

सम्यग्दृष्टिको भी सब भुगतना पड़ता है। मोहसे मुनि अपने पास पिछी रखते हैं। कहीं जीवोंका घात न हो जावे - यह मोह रहता है। जब मोह नष्ट हो जाता है तो कोई बुराई पैदा नहीं होती। देखो तो हम नित्यप्रति पुद्गलकी पर्यायोंको बुरी अवस्थामें ला रहे हैं। सुन्दर २ पदार्थ मल मूत्र और अन्य पर्यायोंमें बदल रहे है। यह सब तुम्हारे ही दोषों का परिणाम है। जब परिहारविशुद्धि हो जाती है तो शरीर ऐसा हो जाता है कि भोजन भी करते हैं तो भी मलमूत्रका परिणमन नहीं होता है। इससे ज्ञात होता है कि शरीरमें मोह न होनेसे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही विषय सेवन कर रहे है पर एकको फल प्राप्त नहीं होता और एकको होता है। ज्ञानवैभव एवं विरागताका बल है। सेवन करते हुए भी असेवक है; क्योंकि वे उदासीन हैं तथा पदार्थ-के स्वरूपको जानते हैं। अन्तरंग आसक्ति न होनेसे

सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं होता और मिथ्यादृष्टि न सेवन करते हुए भी बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान व चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्मा में स्थित होता हुआ रागसे विरक्त होता है। सामान्य व विशेष प्रकारसे कर्मका उदय होता है और हमें सुख व दुख देने वाली विविध प्रकारकी सामग्री प्राप्त होती है। पर सम्यग्दृष्टि यह समझता है कि मैं यह नहीं हूँ मैं तो ज्ञाता और दृष्टा हूँ। किसी वस्तुके विछोहमे या भगवानकी मूर्तिके खण्डन होने पर हम दुखी होते हैं। तत्त्वदृष्टिसे विचार करो तो हमें वस्तुमे कोई भी दुःख प्राप्त नहीं होता वरन हम अपने मोहसे ही दु.खी होते हैं। मोहका बड़ा बाहिजाल ठाट है। यदि मोह मिट जावे तो संसार मिट जावे, आत्माका असली आनन्द प्राप्त होने लगे। हमारा ज्ञान है उसमें तो सब पदार्थ झलकेंगे, इसमें मोह क्यों करते हो। मोहसे उस पदार्थको अपना मान लेते हो—यही तो गलती है। यदि यह गलती सुधर जावे तो कल्याण होनेमें कोई विलम्ब नहीं।

वर्तमान कालमें जल गर्म है पर उसका स्वभाव गर्म नहीं है वह तो स्वभावतः शीतल है। पर अग्निके संयोग से गर्म हो गया है। गर्मीको मिटाने का प्रयत्न किया जावे और वह दूर हो जावे तो जलका जो स्वभाव शीतलता है वह प्रगट हो जावेगा।

आत्मामें जो औदयिक परिणाम हैं उनको सहते हुए रागद्वेषको मिटानेकी कोशिश करो। ये रागद्वेष तो ठीक हैं क्षायोपशमिक ज्ञान भी तुम्हारा रहने वाला नहीं है। भइया! यह बात तो जरूर है कि हम मोह वगैरह को दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, क्योंकि ये बुरे हैं। इनसे आकुलता प्राप्त होती है। पर हम ज्ञान को मिटाने का प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि इससे हमें दुख नहीं होता। दुख देने वाली असली चीज तो मोह है। ज्ञानमें जो चीज आवे सो आवे, उससे हमारा कोई बिगाड़ होने वाला नहीं है पर उसमें राग-द्वेष नहीं करना चाहिये।

सम्यग्दृष्टि राग-द्वेषका त्याग करता है। वह समझता है कि राग-द्वेष हमारा नहीं है वह तो कर्मोदयसे हुआ है। हम तो इससे बिल्कुल पृथक् है। यह तो मिटने वाली चीज है इसे मिटाना ही चाहिये। सम्यग्दृष्टिके नियमसे सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र होता ही है। वह अपनी आत्माको जानता हुआ औदयिकभाव को छोड़ता है। मंदिरमें बैठकर भी हमने यदि अपना राग नहीं छोड़ा तो सब व्यर्थ है। हम अरिहंतका नाम लेते हैं पर जरा उसके अर्थ पर तो विचार कीजिये।

'अ' का अर्थ होता है अरि याने मोहनीय कर्म। 'र' का अर्थ होता है रज याने अज्ञान, अदर्शन व अंतराय। 'हंत' का अर्थ मारने वाला। जिसने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय इन ४ घातिया कर्मोंको नष्ट कर दिया है वे ही अरिहंत कहलाते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोणसे हम उनका पूजन करते है लेकिन उनके गुणोंको प्राप्त करनेका हम प्रयत्न नहीं करते—यही हमारी कमजोरी एवं मूर्खता है।

मनुष्य जब राग, द्वेष, मोह छोड़ देता है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है। उन्हें छोड़ने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, जब उनको वह परपदार्थ समझने लगता है तब उनसे हेयबुद्धि तो हो ही जाती है। राग, द्वेष, मोह और कषाय ये छोड़ने योग्य है। सामान्य व विशेष भावोंसे पृथक् होकर केवलज्ञान व वैराग्यको ही अपना स्वभाव मानना सम्यग्दृष्टिका कर्त्तव्य है। सम्यग्दृष्टिको मकान तो मिल गया। अब तो उसके कूड़े कचड़ेको झाड़ कर साफ करनेकी आवश्यकता है।

जो मोहादि हैं वही तो कूड़ा कचड़ा है।

सम्यग्दृष्टिने, जो कर्म व कषाय उसे डुबो रहे थे, उन सबको चूर कर दिया है। जिस तेज अग्नि ने वज्रको भस्म कर दिया वह तो शेष कूड़ा करकटको शीघ्र ही नष्ट कर देगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि शीघ्र ही अज्ञान, राग, द्वेष और मोहको नष्टकर सकता है।

जो लेशमात्र भी राग-द्वेषको माने वह अपनी आत्माको नहीं जान सकता है। जो आत्माको नहीं जानता वह जीव अजीवको नहीं जान सकता और जो जीव अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त कर सकता है?

जबसे यह संसार है हम हरएक पदार्थमें पागल हो जाते हैं और उसे अपना मान बैठे हैं। एक पर्यायमें आये तो दूसरी पर्यायको भूल जाते हैं। यथार्थमें ये अवस्थाएँ अस्थिर हैं अपनी नहीं हैं। ये तो पुद्गल-परिणमन हैं। समयको कोई रोक नहीं सकता। हम तुम तो ठीक ही हैं तीर्थङ्कर पद तक तो रुका नहीं। यदि तुम्हारा ही पद है तो रख लो उसे अपने पास तब जानें। लेकिन रहता नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि ये शरीर धन, ऐश्वर्य आदि हमारे नही है। हमारा तो जो स्थायीभाव ज्ञान है वही है।

भइया; एक बुढ़िया थी। उसके ३ लड़के थे। सो एक दिन एक पड़ोसीने विचार किया कि किसीका निमंत्रण किया जावे। उसने बुढ़ियासे आकर कहा—कि छोटे लड़के का नेवता किये जाता हूँ। बुढ़ियाने उत्तर दिया कि भाई किसी का भी नेवता कर जावो, हमें कोई उज्र नहीं, पर इतना अवश्य है कि तीनों ही ३-३ सेरका खाने वाले हैं। इसी प्रकार चाहे किसी भी भावनाका चिन्तन करो बात एक ही है।

भाव बहुतसे पैदा होते हैं। शांत परिणाम कभी होते हैं और कभी क्रोध रूप परिणाम हो जाते हैं। परन्तु ये स्थिर परिणाम नही हैं। इससे यह आत्माका स्वभाव नहीं हो सकता। मोह, कषाय, राग, द्वेष आत्मामें होवे परन्तु ये हैं अस्थायी ही। ये हमेशा टिकने वाले नही हैं। ज्ञानभाव ऐसा है जो आत्मामें नित्य है—अव्यभिचारी है।

ज्ञानमे कोई विपत्ति नहीं है, मोह नहीं हो तो कोई उपद्रव नही हो सकता। जहाँ दो वस्तुएं होती हैं वहीं तो झंझट पैदा हो जाती है। यदि शुद्ध दाल ही बनाई जावे तो उसमें कोई उपद्रव नही और यदि उसमें नमक मसाला डाला जावे, तो कभी रौना और कभी खारा ऐसी विशेषताएँ हो जाती हैं।

चिन्ताका विकल्प सब बिगाड़ करता है। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि जिस मनुष्यके जितनी कम चिन्ता होगी वह उतना ही सुखी होगा।

बुढ़िया का एक लड़का था। वह उसे खूब खिलाया करती थी। उस लड़केको कोई चिन्ता नहीं थी। वह आरामसे रहता था और खेला करता था। वह शरीरका काफी मजबूत था। उसके घरके सामनेसे राजाका हाथी निकला करता था। जब कभी वह लड़का हाथीकी सांकल पर लात रख देता था, हाथीकी यह मजाल न थी कि वह आगे बढ़ सके। हाथीको चिन्ता हुई कि हमसे बलवान आदमी यहाँ मौजूद है और वह कमजोर होने लगा। यह देखकर राजाने उसके कमजोर होनेका कारण ज्ञात किया और उस दिन लड़केको दरबारमें बुलाया।

उससे कहा—'हमारे यहाँ नौकरी करोगे ?'

उसने उत्तर दिया —'हमें क्या करना है नौकरीका, हम तो आरामसे रहते हैं। हमें तुम्हारी नौकरीकी आवश्यकता नही।'

राजाने कहा—'अच्छा इतना काम करना कि तुम्हारे घरके पास जो मंदिर है उसमें एक दीपक रख देना। हम तुम्हें ५००) माहवार देंगे। ये लेते जाओ रुपये।'

लड़केने सोचा कि इतने रुपये मिल रहे हैं और थोड़ा-सा ही तो काम है। उसने रुपये ले लिये और बड़ी खुशीके साथ घर आया।

जब वह लड़कोंके साथ खेल रहा था तो उसके मनमें यह चिन्ता पैदा हो गई कि दीपक जलाना है। दूसरे दिन जब उसने हाथीकी जंजीर पर अपना पैर रखा तो हाथी उसे खींच ले गया।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जब चिन्ता हो जाती है तो शरीर का बल अपने आप कम हो जाता है। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो चिन्ताको छोड़कर आत्मामें लीन रहो। अपनी समालोचना करो तो कल्याण हो जावे। उसकी तरफ अभी अपनी दृष्टि नहीं गई। दुनियां का यदि भला चाहते हो तो पहले अपना भला करो।

मोक्षका साक्षात् उपाय ज्ञान है। जिस प्रकार बादलोंमें सूर्य छिपा रहता है तब प्रकाश नहा रहता। पर जैसे जैसे वह घनपटल से दूर होता है वैसे ही ज्ञानके उदयसे आत्मा-का अज्ञानांधकार नष्ट हो जाता है। कर्मपटलसे यह आत्मा आच्छादित है। जैसे जैसे कर्मपटल दूर होंगे वैसे

वैसे आत्माका विकास होगा। कर्मपटल दूर करनेके लिये हमें ज्ञानको हासिल करना चाहिये।

अनन्त पर्यायोंको यदि नही जानते हो तो कोई नुकसान नहीं। भेदज्ञान हो जावे तो सन्तोष करो इससे अधिक समवसरणमें क्या मिलेगा ? हम अपने शरीरको कष्ट दें—तप करें, महातप करें और यदि ज्ञान नही हो तो हमारा कल्याण नही होगा। सतत ज्ञानका अभ्यास करो—इतना ही इसका तात्पर्य है।

एकमेः एव शरणम्

कोई हमारी रक्षा करने वाला नहीं है। ऐ प्राणी ! संसारमें ऐसा कोई जीव है जो मरने वाला न हो ? नहीं सभी मरणको प्राप्त होता है। यमरूपी सिंहका पैर जहां पड़ जाता है फिर उसकी कोई रक्षा करने वाला नहीं है। संसारमें कोई शरण नही है। सुर हो या असुर हो, तन्त्र हो या मन्त्र हो, मरने वाले जीवको कोई भी नही बचा सकता !

मृत्यु का नाश कोई कर नही सकता, लेकिन जन्मका नाश तो कर सकता है। जब जन्मका नाश हो जावेगा तो मृत्युका अपने आप नाश हो जावेगा। परन्तु सबसे बड़ा दुर्गण हममें यह है कि हम अपनी कम-जोरी बताते है। जो काम तीर्थकरने किया उस कामके करनेकी शक्ति हममें है। हम दिनरात आकुलता उत्पन्न करते रहते हैं कि अरे हमारा यह नष्ट हो गया, अरे ! हमारा तो सर्वनाश हो गया। इस बातकी ओर कोई भी विचार नही करता कि 'इस संसाररूपी वनमें अनन्तानन्त पुरुष विलीयमान हो गये है। तीर्थङ्कर तो बचे नहीं फिर हमारी क्या शक्ति है ?'

राजगृहीमें जहां भगवानने जन्म लिया वहाँ एक कुतिया भी नहीं दिखाई देती। हम प्रयत्न करते हैं कि हमारा स्मारक बन जावे। सूर्य तकको तो तीन दशायें होती है। हमारी क्या होगी—सो सोच लो।

एकत्व भावना

भवरूपी जो मरुस्थल है इसमें नाना प्रकारके दुख मौजूद हैं। आचार्योंका तात्पर्य यह है कि तुम अकेले ही हो, तुम्हारे कर्मोंके फलको तुम्हीं भुगतने वाले हो।

दो आदमियोंमें अधिक मित्रता थी। उन्होंने यह निश्चय किया था कि हम साथ ही त्यागी होंगे। जब एक आदमीने दूसरेसे कहा कि चलो हम त्यागी होनेके लिये तैयार हैं; इस पर उसने कहा कि थोड़ीसी कसर रह गई। इस प्रकार वह हर समय कह देता था। वह त्यागी मर कर स्वर्ग गया। परन्तु वह फिरसे उसके पास आया और त्यागव्रत धारण करनेके लिये अपने मित्रसे कहा। उसने फिरसे वही उत्तर दिया कि अभी थोड़ी-सी कसर रह गई है। देवने कहा—हम तुम्हारी कसर थोड़ी-सी देरमें निकाल देते हैं, तुम थोड़ा-सा काम करो। बीमार बन जाओ एक दिनके लिये।

देवके कथनानुसार वह बीमार पड़ गया। घरमें बड़ा तहलका मच गया। डाक्टर और वैद्य बुलाये जाने लगे। देव वैद्यका रूप धारण करके वहाँ आ गया। उसने उस कमरेसे सबको बाहर कर दिया और थोड़ासा दूध और एक सिगड़ीमें अग्नि मंगाई। उस दूधको अग्नि पर तपने को रख दिया।

इसके बाद उसने पूछा—तुम बताओ तुम्हारा सबसे प्रिय कौन है ? उसने उत्तर दिया कि हमारी माता हमें चाहती है। तदनन्तर उसने माताको बुलाया। और कहा, माताजी तुम्हारे लड़केकी तबीयत अभी ठीक हो सकती है, यदि तुम यह दवाई सहित दूध पी डालो। परन्तु इससे तुम्हारा स्वर्गवास अभी हो जावेगा। माताने कहा—हमारे तो तीन लड़के और है यदि यह न रहेगा तो हमारी सेवा तो दूसरे कर लेगें। इस प्रकार उसने पिता-पत्नी आदि जो भी उसके प्रिय थे सबको बुलाया परन्तु उसके पीछे मरनेको कोई तैयार नहीं हुआ।

अब उसे ख्याल आ गया। मनुष्यकी कसर तो कभी पूरी नहीं हो सकती और यदि आज दृढ़ निश्चय कर लें तो फिर कोई कठिन बात नहीं।

अपने स्वरूपको न जान करके और परपदार्थको ग्रहण करके हम यह सब कष्ट भुगत रहे हैं। हमारा साथ देने वाला कोई नही है।

जब हमने एकत्वपने को प्राप्त कर लिया तो हमने ही मोक्ष प्राप्त कर लिया। कोई भी हमारा भला बुरा करने-वाला नहीं है। हमें अपने को ही देखना चाहिये। एक आदमी स्वर्ग जाता है, और एक नरक में जाता है; एक अकेला शोकादि करके कर्मबंध करता है और एक ज्ञानी व्यक्ति कर्मको नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करता है। जो जैसा काम करेगा वही उसके फलको भुगतेगा। तुम्हारे हाथकी बात है, जो इच्छा हो सो पर्याय धारण कर लो।

परमार्थसे विचार करो तो आत्मा एक है। वह कर्मके निमित्तसे ही बंधयुक्त हो रहा है, यह बंध मिटे तो मोक्ष हो जाय।

✲

सागर के समान मनुष्य को गम्भीर होना चाहिये। सिंह के सदृश उसकी प्रकृति होना चाहिये। शूरता की पराकाष्ठा होना ही मनुष्य के लिये लौकिक और परमार्थिक सुख की जननी है। परमार्थिक सुख कहीं नहीं, केवल लौकिक सुख की आशा त्याग देना ही परमार्थ सुख की प्राप्ति का उपाय है। सुखशक्ति का विकास प्राकुलता के अभाव से होता है।

—गणेश वर्णी

१४

गागर में सागर

पूज्य वर्णी जी महाराज यद्यपि कवि नहीं थे पर एक कवि का हृदय उन्हें प्राप्त था। जितनी कोमल अनुभूतियां, जितना तीक्ष्ण दृष्टिकोण और अभिव्यक्ति की जितनी सामर्थ्य एक अच्छे कवि में होनी चाहिये, पूज्य वर्णी जी में उससे कुछ अधिक ही थी।

यह बहुत कम लोगों को ज्ञात है कि वर्णी जी चिन्तन के गहन क्षणों में कभी-कभी अपने विचारों को पद्यबद्ध भी करते थे। उनकी यह कविता पूर्णतः स्वान्तः सुखाय हुआ करती थी और कभी भी इसका पाठ, प्रचार या प्रकाशन नहीं हुआ करता था। प्रायः ये रचनायें बाबा जी की डायरी के पन्नों पर यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। इनका संकलन सबसे पहले श्री नरेन्द्र विद्यार्थी ने किया तथा एक सौ बीस दोहे वर्णी-वाणी के प्रथम दो भागों में प्रकाशित किये। हमें दस पद्य और ऐसे प्राप्त हुए हैं जो अब तक अप्रकाशित थे। पाठकों को बाबा जी के इस दुर्लभरूप की छवि का दर्शन कराने के लिये हम ये पद्य यहाँ प्रकाशित कर रहे है।

इन पद्यों मे विषय की गम्भीरता के साथ भाषा की सरलता और उदाहरणों की सहजता दर्शनीय है।

ये पद्य उस महान् चिन्तक की समय-समय की मनःस्थिति का भी अच्छा चित्राङ्कन प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिये होली के दिन जब सारे नगर में धूल, कीचड़ और गन्दगी की उछाल का माहौल बनता है तब बाबा जी इस वातावरण को रूपक बनाकर आत्मा की अन्तरंग शान्त परिणति और की बाह्य दाहक रागपरिणति वाली दशा पर ढाल कर कहते हैं—

जग में होरी हो रही, बाहर निकरें कूर।
जो घर बैठे आपने, काहे लागै धूर॥

जीवन के बीतते हुए दिनों का हिसाब पूज्य वर्णी जी कितनी बारीकी से रखते थे इसके दो उदाहरण हैं। अपनी छियन्त्तर वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उन्होंने लिखा—

सत्तर छह के फेर में, गया न मन का मैल।
खाँड लदा भुस खात है, बिन विवेक का बैल॥

इसी प्रकार अस्सी वर्ष की आयु पूर्ण होने पर उनकी अभिव्यक्ति की तीक्ष्णता देखिये—

अस्सी वर्ष की आयु में, कियो न आतम काम।
ज्यों आये त्यों ही गये, निशि दिन पीस्यो चाम॥

अब आप उनके शेष पद्यों का रसास्वादन कीजिये।

मंगलाचरण—

आदीश्वर जिन वन्द कर, आगम गुरु चित लाय।
अन्य वस्तु को त्याग कर मेटहु जगत उपाय॥

इस भववनके मध्यमें, जिन बिन जाने जीव।
भ्रमण-यातना सहनकर, पाते दुःख अतीव॥१॥
सर्वहितङ्कर ज्ञानमय, कर्मचक्र से दूर।
आत्म-लाभके हेतु तस, चरण नमूं हत कूर॥२॥

आत्मज्ञान

कब आवे वह सुभग दिन, जा दिन होवे सूझ।
परपदार्थको भिन्न लख, होवे अपनी बूझ॥३॥
जो कुछ है सो आपमें, देखो हिये विचार।
दर्पण परछाहीं लखत, श्वानहिं दुःख अपार॥४॥
आतम आतम रटनसे, नहिं पावहिं भव पार।
भोजनकी कथनी किये, मिटे भूख नहिं लार॥५॥
यह भवसागर अगम है, नाहीं इसका पार।
आप सम्हालि सहज ही, नैया होगी पार॥६॥

केवल वस्तुस्वभाव जो, सो है आतमभाव।
आतमभाव जाने बिना, नहिं आवे निज दाव ॥७॥
ठीक दाव आये बिना, होय न निजका लाभ।
केवल पांसा फैंकते, नहिं पौ बारह लाभ ॥८॥
जिसने छोड़ा आपको, वह जगमें मतिहीन।
घर घर मांगे भीखसी, बोल वचन अतिदीन ॥६॥
आत्म-ज्ञान पाये बिना, भ्रमत सकल संसार।
इसके होते ही तरे, भवदुख पारावार ॥१०॥
जो कुछ चाहो आतमा! सर्व सुलभ जग बीच।
स्वर्ग नरक सब मिलत है, भावहि ऊँच रु नीच ॥११॥
आज घड़ी दिन शुभ भई, पायो निज गुण-धाम।
मनकी चिन्ता मिट गई, घटहि विराजे राम ॥१२॥

ज्ञान

ज्ञान बराबर तप नहीं, जो होवे निर्दोष।
नही ढोलकी पोल है, पड़े रहो दुखकोष ॥१३॥
जो सुजान जाने नहीं, आपा-परका भेद।
ज्ञान न उसका कर सके, भववन का उच्छेद ॥१४॥
सर्व द्रव्य निजभावमें, रमते एकहि रूप।
याही तत्त्व प्रसादसे, जीव होत शिवभूप ॥१५॥
भेद-ज्ञान महिमा अगम, वचनगम्य नहि होय।
दूधस्वाद आवे नहीं, पीते मीठा तोय ॥१६॥

दृढ़ता और सदाचार

दृढ़ताको धारण करहु, तज कर खोटी चाल।
बिना नाम भगवानके, कटे न भवका जाल ॥१७॥

सुख की कुञ्जी

जगमें जो चाहो भला, तजो आदतें चार।
हिंसा, चोरी, झूठवच, और पराई नार ॥१८॥
जो सुख चाहत हो जिया! तज दो बातें चार।
पर-नारी, पर-चूगली, परधन और लबार ॥१६॥

गरीबी

दीन लखे मुख सबनको, दीनहिं लखे न कोय।
भलो विचारे दीनको, नर हु देवता होय ॥२०॥

आपत्ति

विपति भली ही मानिये, भले दुखी हो गात।
धैर्य्य, धर्म, तिय, मित्र ये, चारउ परखे जात ॥२१॥

नम्रता

ऊँचे पानी ना टिके, नीचे ही ठहराय।
नीचे हो जी भर पिये, ऊँचा प्यासा जाय ॥२२॥

भूलने योग्य भूल

भव-बन्धनका मूल है, अपनी ही वह भूल।
याके जाते ही मिटे, सभी जगतका शूल ॥२३॥
हम चाहत सब इष्ट हो, उदय करत कछु और।
चाहत हैं स्वातन्त्र्यको, परे पराई पौर ॥२४॥

सङ्कोच

हाँ-में-हाँ न मिलाइये, कीजे तत्त्व-विचार।
एकाकी लख आत्मा, हो जावो भवपार ॥२५॥
इष्टमित्र संकोचवश, करो न सत्पथघात।
नहि तो वसु नृप-सी दशा, अन्तिम होगी तात ॥२६॥

परपदार्थ

जो चाहत निजवस्तु तुम, परको तजहु सुजान।
परपदार्थ संसर्गसे, नहि कबहूँ कल्यान ॥२७॥
हितकारी निजवस्तु है, परसे वह नहि होय।
परकी ममता मेटकर, लीन निजातम होय ॥२८॥
उपादान निज आत्मा, अन्य सर्व परिहार।
स्वात्म-रसिक बिन होय नहि, नौका भवदधि पार ॥२६॥
जो सुख चाहो आपना, तज दे विषकी बेल।
परमें निजकी कल्पना, यही जगतका खेल ॥३०॥
जबतक मनमें बसन है, परपदार्थकी चाह।
तब लगि दुख संसारमें, चाहे होवे शाह ॥३१॥
परपरणति पर जानकर, आप आप जप जाप।
आप आपको याद कर, भवको मेटहु ताप ॥३२॥
पर-पदार्थ निज मानकर, करते निशिदिन पाप।
दुर्गतिसे डरते नहीं, जगत करहिं सन्ताप ॥३३॥
समय गया नहिं, कुछ किया, नहि जाना निजसार।
परपरणतिमें मगन हो, सहते दुःख अपार ॥३४॥
परमें आपा मानकर, दुखी होत संसार।
ज्यों परछाहीं श्वान लख, भोंकत बारम्बार ॥३५॥
यह संसार महा प्रबल, या में बैरी दोय।
परमें आपा कल्पना, धापरूप निज खोय ॥३६॥

जो सुख चाहत हो सदा, त्यागो पर अभिमान ।
आपवस्तुमें रम रहो, शिव-मग सुखकी खान ।।३७।।
आज काल कर जग मुआ, किया न आतमकाज ।
परपदार्थको ग्रहण कर, आई न नेकहु लाज ।।३८।।
जिनको चाहत तूं सदा, वह नहिं तेरा होय ।
स्वार्थ सधे पर किसीकी, बात न पूंछे कोय ।।३९।।

पर सङ्गति

सबसे सुखिया जगतमें, होता है वह जीव ।
जो परसङ्गति परिहरहि, ध्यावे आतम सदीव ।।४०।।
जो परसंगतिको करहि, वह मोही जग बीच ।
आतम अन्य न जानके, डोलत है दुठ नीच ।।४१।।
परका नेहा छोड़ दो, जो चाहो सुख रीति ।
यही दुःखका मूल है, कहती यह सद्-नीति ।।४२।।
जो सुख चाहो जीव तुम, तज दो परका संग ।
नहिं तो फिर पछतावगे, होय रंगमें भंग ।।४३।।
छोड़ो परकी संगति, शोधो निज परिणाम ।
ऐसी ही करनी किये, पावहुगे निजधाम ।।४४।।
अन्य-समागम दुखद है, या में संशय नाहिं ।
कमल-समागमके किये, भ्रमरप्राण नश जाहिं ।।४५।।

राग

भवदधि-कारण राग है, ताहि मित्र! निरवार ।
या बिन सब करनी किये, अन्त न हो संसार ।।४६।।
राग द्वेष मय आत्मा, धारत है बहु वेष ।
तिनमें निजको मानकर, सहता दुःख अशेष ।।४७।।
जगमें बैरी दोय हैं, एक राग अरु दोष ।
इनहीके व्यापार तें, नहिं मिलता सन्तोष ।।४८।।

मोह

आदि अन्त बिन बोध युत, मोहसहित दुःखरूप ।
मोह नाश कर हो गया, निर्मल शिवका भूप ।।४९।।
किसको अन्धा नहिं किया, मोह जगतके बीच ।
किसे नचाया नाच नहिं, कामदेव दुठ नीच ।।५०।।
जगमें साथी दोय हैं, आतम अरु परमात्म ।
और कल्पना है सभी, मोहजनक तादात्म ।।५१।।
'एकोऽहं' की रटनसे, एक होय नहिं भाव ।
मोहभावके नाशसे, रहे न दूजा चाव ।।५२।।

मंगलमय मूरति नहीं, जड़ मन्दिरके माँहि ।
मोही जीवोंकी समझ, जानत नहिं घट मांहि ।।५३।।
परिग्रह दुखकी खान है, चैन न इसमें लेश ।
इसके वशमें हैं सभी, ब्रह्मा विष्णु महेश ।।५४।।

रोकड़ (पूंजी)

जो रोकड़के मोह वश, तजता नाहीं पाप ।
सो पावहि अपकीर्ति जग, चाह, दाह,सन्ताप ।।५५।।
रोकड़ ममता छाँड़ि जिन, तज दीना अभिमान ।
कौड़ी नाहीं पासमें, लोग कहें भगवान ।।५६।।
रोकड़के चक्कर फँसे, नहिं गिनते अपराध ।
अखिल जीवका घात कर, चाहत हैं निज साध ।।५७।।
रोकड़से भी प्रेमकर, जो चाहत कल्याण ।
विषभक्षणसे प्रेमकर, जिये चहत अनजान ।।५८।।
रोकड़की चिन्ता किये, रोकड़ सम लघु कोय ।
रोकड़ आते ही दुखी, किस विधि रक्षा होय ।।५९।।
रोकड़ जानेसे दुखी, धिक् यह रोकड़ होय ।
फिर भी जो ममता करे, वह पग-पग धिक् होय ।।६०।।
रोकड़की चिन्ता किये, दुखी सकल संसार ।
परपदार्थ निज मानकर, नहिं पावत भवपार ।।६१।।
रोकड़ आपद मूल है, जानत सब संसार ।
इतने पर नहिं त्यागते, किस विधि उतरें पार ।।६२।।
साधु कहे बेटा ! सुनो, नहिं धन कीना पार ।
अंटी में पैसा धरें, क्या उतरोगे पार ।।६३।।
द्रव्यमोह अच्छा नहीं, जानत सकल जहान ।
फिर भी पैसाके लिये, करत कुकर्म अजान ।।६४।।
जिन रोकड़ चिन्ता तजी, जाना आतमभाव ।
तिनकी मुद्रा देखकर, क्रूर होत समभाव ।।६५।।

व्यवहार नयसे

रोकड़ बिन नहिं होत है, इस जग में निर्वाह ।
इसकी सत्ताके बिना, होते लोग तबाह ।।६६।।

लोभ

ज्ञानी तापस शूर कवि, कोविद गुण आगार ।
करिके लोभ - बिडम्बना, कीन्हा इह संसार ।।६७।।

सन्तोषी जीवन

इक रोटी अपनी भली, चाहे जैसी होय।
ताजी बासी मुरमुरी, रूखी सूखी कोय ।।६८।।
एक बसन तन ढकनको, नया पुराना कोय।
एक उसारा रहनको, जहाँ निर्भय रहु सोय ।।६९।।
राजपाटके ठाठसे, बढ़कर समझे ताहि।
शीलवान सन्तोषयुत, जो ज्ञानी जग मांहि ।।७०।।

कुसङ्गति

मूरखकी संगति किए, होती गुणकी हानि।
ज्यों पावकसंगति किये, घी की होती हानि ।।७१।।

दु:खशील संसार

जो जो दुख संसार में, भोगे आतमराम।
तिनकी गणना के किये, नहिं पावत विश्राम ।।७२।।

सुख की चाह

सुख चाहत सब जीव हैं, देख जगत जंजाल।
ज्ञानी मूर्ख अमीर हो, या होवे कंगाल ।।७३।।

भवितव्य

होत वही जो है सही, छोड़ो निज हंकार।
व्यर्थ वाद के किये से, नशत ज्ञान भण्डार ।।७४।।

दिव्य सन्देश

देख दशा संसार की, क्यों नहिं चेतत भाय।
आखिर चलना होयगा, क्या पण्डित क्या राय ।।७५।।
राम राम के जाप से, नहीं राममय होय।
घट की माया छोड़ते, आप राममय होय ।।७६।।

सुख

जो सुख चाहो मित्र तुम, तज दो बातें चार।
चोरी, जारी दीनता, और पराई नार ।।७७।।
जो सुख चाहो मित्र! तुम, तज दो परकी आश।
सुख नाहीं संसार में, सदा तुम्हारे पास ।।७८।।
जो सुख चाहो आत्मा ! परकी संगति त्याग।
लोहे की सगति पिटै, जगमें देखहु आग ।।७९।।
जो सुखकी है लालसा, छोड़ो व्यर्थ बलाय।
आतमगुण चिन्तन करो, यह ही मुख्य उपाय ।।८०।।
जो सुख चाहो देहका, तज दो बातें चार।
बहु भोजन, बहु जागना, बहु सोना, बहु जार ।।८१।।
जो सुख चाहो आत्मा ! तज दो बातें चार।
कुगुरु, कुदेव, कुधर्म अरु, दुखकर असदाचार ।।८२।।
जो सुख चाहो आत्मा ! परका छोड़ो संग।
परकी संगतिके किये, होत शान्ति में भङ्ग ।।८३।।
जो सुख चाहो आत्मा ! तज दो पर का संग।
परमें निज की कल्पना, यही जगत का अङ्ग ।।८४।।
आप बढ़ाई कारने, निन्दाकार्य करन्त।
उन मूढ़नके संगसे, होगा नहि दुख अन्त ।।८५।।
जो चाहत हित होय हम, तज दो पर का सङ्ग।
बात बनाना छोड़ दो, मनहिं बनाओ नङ्ग ।।८६।।
जो चाहत दुख से बचे, करो न परकी चाह।
परपदार्थ की चाहसे, मिटे न मनकी दाह ।।८७।।
जो सुख चाहो आपना, तज दो पर का नेह।
अन्य जनों की बात क्या, मीत न तुमरी देह ।।८८।।
जो निजपरिणति में रमे, त्याग सकल परपञ्च।
सो भाजन निज अमर सुख, दुख नहिं व्यापे रञ्च ।।८९।।

शान्ति

शान्तिमार्ग अति सुलभ है, परका छोड़ो मोह।
यही मार्ग कल्याणका, क्यों करते हो कोह ? ।।९०।।
चाहत जो मनशान्ति तुम, तजहु कल्पनाजाल।
व्यर्थ भरमके भूतमें, क्यों होते बेहाल ।।९१।।

आत्मज्ञान

गल्पवादमें दिन गया, विषयभोग में रात।
भोंदू के भोंदू रहे, रातों दिन बिललात ।।९२।।
आप आपकी बात कर, परको निज मत मान।
आत्मज्ञानके होत ही, हो आतमकल्यान ।।९३।।
शिवमारग निर्द्वन्द है, जो चाहो सो लेय।
मूरख माने द्वन्द में, नहिं जाने निज भेय ।।९४।।
जो संसार समुद्रसे, है तरने की चाह।
भेदज्ञान नौका चढ़ो, परकी छोड़ो राह ।।९५।।
जन तन धन विद्याविभव, नहिं दुर्लभ जग मीत।
पर दुर्लभ निजतत्त्व है, यातें तुम भयभीत ।।९६।।

जो चाहत निज तत्त्वको, परसे छांडहु नेह ।
नहिं तो फिर पछतावोगे, नर्क मिलेगा गेह ।।९७।।
कल्पतरू निज आतमा, परकी करते आश ।
सुधा-सिन्धुको छोड़कर, चाटत ओस हताश ।।९८।।
आतमनिधि को त्यागकर, घर घर डोलत दीन ।
निज पर के समझे बिना, यह मृग भटकत दीन ।।९९।।
निज निज खोजा पाइयां, यामें नाही फेर ।
ऊपर ऊपर जे फिरत, उनहिं लगत अतिदेर ।।१००।।
थोथी बातोंमें नही, मिलता आतमवाद ।
पानी मन्थन में नही, मिलता मक्खनस्वाद ।।१०१।।
जन्म गँमाया भोगमें, कीनी पर की चाह ।
दुखी हुआ संसार में, मिटी न मन की आह ।।१०२।।

आत्म-निर्मलता

अभिप्राय दूषित किये, नहि जानत निजधर्म ।
निर्मल आतमके सभी, कर्म होत सद्धर्म ।।१०३।।

संयम

मनुषजनम को पाय कर, संयम नाहिं धरन्त ।
हाथीसम होकर सभी, गर्दभ भार वहन्त ।।१०४।।

चातुर्य

बहु सुनबो कम बोलबो, सो है चतुर विवेक ।
तब ही तो हैं मनुजके, दोय कान जिभ एक ।।१०५।।

दया

चाहे कितना हू करो, तप-धारण अतिघोर ।
एक दया बिन विफल है, रात्रि बिना ज्यों भोर ।।१०६।।

असार संसार

राजा राणा रङ्क अरु, पण्डित चतुर सुजान ।
अपनी अपनी बीरियां, रहे न एकहु मान ।।१०७।।

परिग्रह

तजहु परिग्रह कामना, जो चाहत निजरूप ।
अर्थचाह जिनकी गई, तिन सम नाही भूप ।।१०८।।

परप्रपञ्च

परकी ममता छोड़ कर, भजलो आतमराम ।
याके कारण मिटत है, जीवन के यमधाम ।।१०९।।
छोड़ो परकी बात तुम, इसमें नहिं कुछ सार ।
परप्रपञ्चके कारने, होय न आत्म-सुधार ।।११०।।

नेह-मोह-माया

नेह दुःखका मूल है, यह जाने सब कोय ।
इसकी सङ्गति तिलोंका, घानी पेरन होय ।।१११।।
मोहोदयमें जीव के, होता है संकल्प ।
परमें आपा मानकर, करता नाना जल्प ।।११२।।
जिसने त्यागा मोहको, वह शूरों में शूर ।
जो इसके वश हो रहे, वह क्रूरोंमें क्रूर ।।११३।।
महिमा अपरम्पार है, मायावी की जान ।
ऊपरसे नीका लगे, भीतर विषकी खान ।।११४।।
करनेको कछु और है, मनमें ठाने और ।
वचनों में कुछ और है, इनकी जाओ न पौर ।।११५।।

अपनी भूल

परम धरम को पाय कर, सेवत विषय-कषाय ।
ज्यों गन्ना को पायकर, नींमहिं ऊँट चबाय ।।११६।।

खेद

खेद करो मत आतमा, खेद पापका मूल ।
खेद किये कुछ ना मिले, खेद करहु निर्मूल ।।११७।।

सदाचार

भवदुख सागर पारको, गुरुवच निश्चयधार ।
सदाचार नौका चढ़हु, उतरत लगहि न बार ।।११८।।
यह जग की माया विकट जो न तजोगे मित्र ।
तो बहुंगति के बीच में पावोगे दुखचित्र ।।११९।।
आपरूप के बोध से, मुक्त होत सब पाप ।
ज्यों चन्द्रोदय होत ही, मिटत सकल संताप ।।१२०।।
जो सुख चाहत आतमा, तजदो अपनी भूल ।
पर के तजने से कही, मिटे न निज की शूल ।।१२१।।

जो आनन्द-स्वभावमय, ज्ञानपूर्व अविकार।
मोहराज के जाल में, सहता दुःख अपार ॥१२२॥
जो सुख है निजभाव में, कहीं न इस जग बीच।
पर में निज की कल्पना, करत जीव सो नीच ॥१२३॥
जो नाहीं दुख चाहता, तज दे पर की ओट।
अगनी संगत लोह की, सहती घन की चोट ॥१२४॥
पर की संगति के लिये होता मन में रङ्ग।
लोह अगनि संगति पिटे, होत तप्त सब अङ्ग ॥१२५॥

गल्पवाद में दिन गया, सोवत बीती रात।
तोय विलोवत होत नहिं, कभी चीकने हात ॥१२६॥
जो चाहत दुःख से बचें, करो न पर की चाह।
परपदार्थ की चाह से, मिटे न मन की दाह ॥१२७॥

सोरठा

जो चाहत निजरूप, तजहु परिग्रह-कामना।
तिन सम नाहीं भूप, अर्थचाह जिनको नहीं ॥१२८॥

"यदि अन्तरङ्गसे रागादिक करनेका अभिप्राय आत्मासे निकल गया तब रागादिक होनेपर भी उनके स्वामित्वका अभाव होने से आत्मा अनन्त संसारका पात्र नहीं बनता। अभिप्राय ही संसारका जनक है। जिसे इस वृश्चिक डंकने नहीं डसा, वह संसारके बंधनसे मुक्त हो चुका। परन्तु हम अभिप्रायको निर्मल करनेकी चेष्टा नहीं करते। केवल दुराग्रहसे किसी मतके पक्षपातमें अपनी आत्माको पतन कर संसारको तुच्छ और अपनेको महान् माननेमें अपनेको कृतकृत्य मान लेते हैं। फल इसका यह होता है जो हम कभी भी शांतिके पात्र नहीं बनते। सत्यमार्ग तो यह है जो आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है उसे मोहने रागद्वेषात्मक बना रखा है। उस मोहको दूर कर रागद्वेषरूप विकारोंसे बचा लेना ही उसका कल्याण है।"

—अध्यात्म-पत्रावली—७७

चतुर्थ खण्ड

लेखमाला

उनके अक्षर—उनकी बात

पूज्य वर्णी जी की धारणा थी—"अपने आचरण से किसी को असुविधा या कष्ट न हो"। यही तो है वह साधना जो मनुष्य को उँचा उठाकर चारित्र के शिखर तक ले जाती है। जनरंजन कभी साधुता की कसौटी हो नहीं सकता—

जनता को प्रसन्न आज तक किसी से हुआ और न होगा और न हम इस प्रयास को करते हैं - परन्तु अपने द्वारा जो किसी को कष्ट न हो यह अवश्य ध्यान में रहता है

आ. शु. चि.
गणेश वर्णी
गया

का. व. १
सं २०१०

"रहिमन केहि न होत सुख, बढ़त देखि निज बेलि।" अपना रोपा बिरवा, सागर का जैन विद्यालय। उसके उत्कर्ष के लिए शुभ-कामना सन्देश वा आशीर्वाद देते हुए पूज्य वर्णी जी ने लिखा था—

यह संस्था समस्त बुंदेलखण्ड की आशा है हम हृदय से इसकी आचन्द्रार्क स्थायी उन्नति चाहते हैं इसकी उन्नति जैनधर्म की महती प्रभावना है अतः धर्मपरायण समाज इस संस्था का पूर्ण संरक्षण करेगी यही हमारी शुभ भावना है

आ. शु. चि.
गणेशवर्णी

ईसरी बाजार
हजारीबाग

१

सबसे बड़ा पाप–मिथ्यात्व

लेखक–श्री सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी

जहां कहीं पुण्य और पाप की चर्चा चलती है कि सब से बड़ा पुण्य पाप क्या है तो अधिकतर व्यक्ति जीवदया को सब से बड़ा पुण्य और जीवहिंसा को सब से बड़ा पाप मानते हैं। 'अहिंसा परमो धर्मः' यह जैनों का प्रसिद्ध वाक्य भी है। इसी से जैन घरानोंमें जन्मे छोटे छोटे बालक तक जीवजन्तुओं के घात से बहुत भय खाते हैं। दूसरे बच्चे जब बर्र, चूहा आदि को देखते ही मार डालते हैं, जैन बच्चे उन्हें बचाने की ही कोशिश करते हैं। इस तरह जीवदया को बड़ा पुण्य और जीवहिंसा को बड़ा पाप माना जाता है। किन्तु जैनधर्म मे हिंसा और अहिंसा का मतलब केवल इतना ही नहीं है किन्तु बहुत गम्भीर और ऊंचा है और जब हम उसके प्रकाश में देखते हैं तो हिंसा और अहिंसा का प्रचलित अर्थ केवल लौकिक ही प्रतीत होता है और इस लौकिक अर्थ ने हमारी दृष्टि उस परमधर्मरूप वास्तविक अहिंसा से एकदम हटा दी है।

विचारणीय यह है कि जिन प्राणियों के प्रति हम दया भाव रखते हैं वे प्राणी क्यों इस अवस्था को प्राप्त हुए। क्या कभी इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है। दूसरे शब्दों में संसारी जीव जो नाना गतियों में भ्रमण कर रहा है इसका कारण क्या है? क्यों यह सुख दुःख का भाजन बनता है? साधारण सा जानकार भी यही कहेगा कि अपने कर्मों के कारण ही वह भ्रमण करता है। तब पुनः प्रश्न होता है कि यह ऐसे कर्म करता क्यों है। जिससे उसे संसार में भटकना पड़ता है। इसका कारण है उसका अज्ञान। वह यही नहीं जानता मैं कौन हूं? क्या मेरा वास्तविक स्वरूप है? और मैं क्या से क्या हो गया हूं? अपने विषय में उसने कभी विचार नहीं किया। विचार किया भी तो सारा दोष कर्मों के सिर मढ़कर ही कृतकृत्य हो जाता है। वह यही मानने को तैयार नहीं होता कि ये कर्म उसी की गलती के परिणाम हैं।

कर्म के दो प्रकार हैं। भावकर्म और द्रव्यकर्म। जीव के रागादिरूप परिणामों को भावकर्म कहते हैं और उन भावों का निमित्त पाकर स्वयं ही जो पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमन करते हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। अज्ञानी जीव अपने में विभाव भावरूप परिणमन करता है। उन भावों का निमित्त पाकर कोई पुद्गल पुण्यप्रकृतिरूप परिणमन करता है और कोइ पापरूप परिणमन करता है। जीव के भावों में ऐसी शक्ति है कि उनका निमित्त पाकर पुद्गल स्वयं ही अनेक अवस्था धारण करते हैं। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। तथा इस जीव के विभावभाव भी स्वयं अपने से ही नहीं होते। यदि ये स्वयं अपने से हों तो ज्ञान दर्शन की तरह स्वभाव हो जांय और तब उनका नाश नहीं हो सकता। अतः ये भाव औपाधिक कहे जाते हैं क्योंकि अन्य निमित्त से होते हैं। वह निमित्त ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म हैं। ज्यों ज्यों द्रव्यकर्म उदयरूप परिणत होते हैं त्यों त्यों आत्मा विभावरूप परिणमन करता है। इस प्रकार आत्मा के प्रदेशों में रागादि के निमित्त से बंधे पुद्गलों के निमित्त से यह आत्मा अपने को भूलकर अनेक प्रकार के विपरीत भावरूप परिणमन करता है। इसके विभाव भावों के निमित से पुद्गलों में ऐसी शक्ति होती है कि जो आत्मा को विपरीतरूप परिणमाने में निमित्त बनती है। इस तरह भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होते हैं। इसी का नाम संसार है।

यद्यपि आत्मा कर्म के निमित्त से रागादिरूप परिणमन करता है तथापि रागादि आत्मा के निजभाव नहीं हैं। आत्मा तो चैतन्यगुणमय है। यह बात ज्ञानी तो जानता

है किन्तु अज्ञानी आत्मा को रागादिरूप ही जानता है। अभिप्राय यह है कि अनादिकाल से यह जीव पुद्गल कर्मके साथ मिला हुआ चला आता है और ऐसा होने से मिथ्यात्व रागद्वेषरूप विभाव परिणामों से परिणमता आता है। ऐसा परिणमते हुए यह स्थिति आई कि जीव अपने निज स्वरूप केवलज्ञान, केवलदर्शन, अतीन्द्रियसुख से भ्रष्ट तो हुआ ही किन्तु मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम के कारण 'मेरा निज स्वरूप अनन्त चतुष्टय है, शरीर सुख दुख मोह रागद्वेष ये सब कर्म की उपाधि है, मेरा स्वरूप नहीं है' ऐसी प्रतीति भी नही रही। इस प्रतीति के भी छूटने से जीव मिथ्यादृष्टि हुआ। मिथ्यादृष्टि होने से कर्मबन्ध किया। उसके उदय में चारों गतियों में भ्रमता है यह संसार की परिपाटी है।

इस प्रकार भ्रमण करते हुए जब किसी जीव का संसार निकट आ जाता है तब जीव सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। सम्यक्त्व को ग्रहण करनेपर पुद्गलपिण्डरूप मिथ्यात्वकर्म का उदय मिटता है तब मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम मिटता है। विभाव परिणाम के मिटने पर शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता है। इस तरह क्रमसे जीव पुद्गलकर्मसे तथा विभावपरिणाम से सर्वथा भिन्न होकर अपने अनन्तचतुष्टय स्वरूप को प्राप्त होता है और इस तरह संसार का अन्त होता है।

सारांश यह है कि जब तक अशुद्ध परिणमन है तब तक जीव का विभाव परिणमन है। उस विभाव परिणमन का अन्तरंग निमित्त तो जीव की विभावरूप परिणमन की शक्ति है और बहिरंग निमित्त मोहनीय कर्मरूप परिणमा पुद्गल पिण्डका उदय। मोहनीय कर्म के दो भेद-मिथ्यात्वरूप और चारित्रमोहरूप। जीव का विभाव परिणमन भी दो प्रकार का है—जीव का एक सम्यक्त्गुण है वही विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणमा है। उसका बहिरंग निमित्त मिथ्यात्वरूप परिणमा पुद्गलपिण्ड का उदय। जीव का एक चारित्र गुण है वह भी विभावरूप परिणमता हुआ विषय-कषायलक्षण चारित्रमोहरूप परिणमा है। उसका बहिरंग निमित्त है चारित्र मोहरूप परिणत पुद्गलपिण्ड का उदय। इनमें सब से प्रथम उपशम या क्षपण मिथ्यात्व कर्म का होता है। उसके बाद चारित्रमोहका उपशम अथवा क्षपण होता है।

जब जीव का संसार थोड़ा रहता है अर्थात् काललब्धि आती है तब उसे परमगुरु का उपदेश प्राप्त होता है कि ये जो शरीर आदि हैं, मोह रागद्वेष हैं, जिनको तू अपना जानता है और उनमें रत है वे तेरे नहीं है कर्मसंयोगकी उपाधि है। इत्यादि सप्त तत्त्वों और नौ पदार्थों के उपदेश से उसे जीवद्रव्य का विचार उत्पन्न होता है कि जीव का लक्षण तो शुद्ध चिद्रूप है। यह सब उपाधि तो कर्मसंयोग जन्य है। जिस समय इस प्रकार से दृढ़ प्रतीति होती है उसी समय समस्त वैभाविक भावों के प्रति त्यागभाव उपजता है शरीर सुख दुःख सब जैसे थे वैसे ही हैं केवल परिणामों में उनके प्रति जो स्वामित्वपना था वह छूट गया। उसी का नाम अनुभव और उसीका नाम सम्यक्त्व है।

पाण्डे राजमल्ल जी ने समयसार कलश की टीका में लिखा है कोई जानेगा कि जितना भी शरीर, सुख, दुःख, राग, द्वेष, मोह है, उसकी त्यागबुद्धि कुछ अन्य है कारण रूप है तथा शुद्ध चिद्रूप का अनुभव कुछ अन्य है, कार्यरूप है। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है-राग द्वेष, मोह, शरीर सुख दुःख आदि विभाव पर्यायरूप परिणत जीव के जिस काल में ऐसा अशुद्ध परिणामरूप संस्कार छूट जाता है उसी काल में उसके अनुभव है। उसका विवरण—जो शुद्ध चेतनामात्र का आस्वाद आये विना अशुद्ध भावरूप का परिणाम छूटता नहीं और अशुद्ध संस्कार छूटे विना शुद्ध स्वरूप का अनुभव होता नहीं। इसलिये जो कुछ है सच है।

यह जैन सिद्धान्त है जो बतलाता है कि जीव के संसार-भ्रमण का एकमात्र कारण उसका मिथ्याभाव है। वह जब तक नहीं मिटता तब तक समस्त त्याग, तपस्या, व्रत, चारित्र कार्यकारी नहीं हैं

सयमसार कलश में कहा है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरै र्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं,
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥१४२॥

कोई जीव दुष्कर तप और मोक्ष से विमुख कार्यों के द्वारा क्लेश पाते हैं तो पाओ। अन्य कोई जीव महाव्रत और तप के भार से भग्न होते हुए क्लेश पाते हैं तो

पाओ। जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है निरामयपद है और स्वयं संवेद्यमान है ऐसे ज्ञान को ज्ञानगुण के बिना किसी भी प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते।

इस आत्मज्ञान का प्रतिबन्धी एकमात्र मिथ्यात्व-भाव है। उसके छूटे बिना संसार से छुटकारा नहीं हो सकता। अतः सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है। यही आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

न हि मिथ्यात्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम् ॥

तीनों कालों और तीनों लोकों में प्राणियों का मिथ्यात्व के समान कोई बुरा अकल्याणकर नहीं है और सम्यक्त्व के समान कोई कल्याणकारी नहीं है। अतः

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीय-मखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवनि ज्ञानं चरित्रं च ॥
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में सर्व प्रथम पूर्णप्रयत्न के साथ सम्यक्त्व को सम्यकरूप से अपनाना चाहिये। क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

सम्यग्दर्शन के अनेक लक्षण शास्त्रों में विभिन्न दृष्टि कोणों से कहे हैं किन्तु वे लक्षण विभिन्न होने पर भी मूल में एक ही अभिप्राय को लिए हुए हैं। मिथ्यात्व का उदय रहते हुए उनमें से कोई भी सम्यक्त्व हो नहीं सकता। सच्चे देव शास्त्र गुरु का तीन मूढ़तारहित आठमदरहित और आठअंगसहित श्रद्धान या सप्त तत्त्व का श्रद्धान मिथ्यात्व के उदय में यथार्थ नहीं है। जब तक मिथ्यात्व का उदय है तब तक यथार्थ तत्त्व की प्रतीति सम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों आत्मा के गुण होने से आत्मस्वरूप हैं। अतः सम्यग्दर्शन का मूल आत्मप्रतीति, आत्मश्रद्धा और आत्मानुभूति है। आत्मानुभूति से शून्य सम्यक्त्व सम्यक्त्व नहीं है और आत्मानुभूति तथा मिथ्यात्व के अभाव का साहचर्य है जैसा ऊपर राजमल जी ने लिखा है। पं. आशाधर जी ने भी सागारधर्मामृत के पहले अध्याय में असंयमी सम्यग्दृष्टि को 'निश्चय सम्यग्दर्शनभाग् भवेन्' लिखा है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन ही यथार्थ सम्यग्दर्शन है जो मोहनीयकी सात प्रकृतियों के उपशम या क्षय से होता है इसी के होने से संसार सान्त होता है और इसी के अभाव में द्रव्यलिंगी अभव्य भी मुनिपद धारण करके ग्रैवेयक से ऊपर नहीं जाता। इसीको लेकर दौलतराम जी ने लिखा है—

'मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रैवक उपजायो।
पै निज आत्मज्ञान बिना सुख लेश न पायो ॥

इसका यह मतलब नहीं है कि मुनिपद धारण करने से अनन्तवार ग्रैवेयकों में उत्पन्न हुआ। किन्तु आत्मज्ञान के बिना सम्यक्त्वविहीन मुनिपद धारण करने से ग्रैवेयक तक ही जा सका, अन्यथा तो मोक्ष प्राप्त कर लेता।

इसको लेकर चारित्र के पक्षपाती यह कहते हैं कि सम्यक्त्व के बिना भी केवल चारित्र से ग्रैवेयक तक चला गया। उनका कथन ठीक है, किन्तु मोक्षमार्ग में उसकी कोई कीमत नहीं है। ग्रैवेयक तक जाकर भी रहेगा तो संसार में ही। संसार का अन्त तो सम्यक्त्वसहित चारित्र से हो सकता है। जिसे एक बार भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई वह नियम से चारित्र धारण करके मोक्ष जायेगा। किन्तु मुनिपद अनन्तवार धारण करने पर भी अभव्य अपने चारित्र के प्रभाव से सम्यक्त्व को धारण नहीं कर सकता। इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को ही भ्रष्ट कहा है, चारित्र से भ्रष्ट को भ्रष्ट नहीं कहा।

बाह्य त्यागरूपचारित्र सम्यक्त्व के बिना भी संभव हैं किन्तु सम्यक्त्व के लिये किसी बाह्य त्याग की आवश्यकता नहीं। आवश्यकता है वस्तुस्वरूप के ज्ञान के द्वारा स्वपर के ज्ञान की, हेय उपादेय के बोध की। नयचक्र में कहा है—

'जे णयदिट्ठीविहीणा ताण ण वत्थूसहाव उवलद्धि।
वत्थुसहावविहीणा सम्मादिट्ठी कहं होंति ॥'

जो नयदृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तुस्वभाव की उपलब्धि-ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तुस्वरूप के ज्ञानके बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

पं. आशाधर जी का असंयत सम्यग्दृष्टी तो जीवकाण्ड गोम्मटसार का प्रतिरूप है वह सर्वज्ञ की आज्ञा मानकर

केवल यह दृढ़श्रद्धान रखता है कि वैषयिकसुख हेय है और आत्मिकसुख उपादेय है। वह इन्द्रिय सम्बन्धी सुख भी भोगता है दूसरे जीवों को पीड़ा भी पहुँचाता है अर्थात् गोम्मटसार के शब्दों में न इन्द्रिय के विषयों से विरत है और न त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरत है, फिर भी पाप से लिप्त नहीं होता। पं. आशाधर जी के शब्दों में—

'अयमर्थो यथा तलवरेण मारयितुमुपक्रान्तश्चोरो यद्यत्तेन खरारोहणादिकं कार्यते तत्तत्करोति। तथा जीवोऽपि चारित्र-मोहोदयेन यद्यदत्मनीनं भावद्रव्यहिंसादिकं कार्यते तत्तदयोग्यं जानन्नपि करोत्येव दुर्निवारत्वात्स्वकाले विपच्यमानस्य कर्मणः।'

आशय यह है कि जैसे कोतवाल के द्वारा मारने के लिये पकड़ा गया चोर जो जो कोतवाल कराता है, गधे पर बैठाना आदि वह सब करता है उसी तरह जीव भी चारित्र मोह के उदय से जो जो वह भावहिंसा द्रव्यहिंसा आदि कराता है वह उसे अनुचित जानते हुए भी करता है क्योंकि अपने समय पर उदयमें आने वाला चारित्र मोहनीय दुर्निवार होता है।

समयसार कलश में जानने और करने का विश्लेषण बड़ी सुन्दररीति से किया है कि जो जानता है वह कर्ता नहीं और जो कर्ता है वह जानता नहीं। असल में सम्य-क्त्व प्रकट होने पर जीव की दृष्टि ही बदल जाती है उसका स्वामित्व-भाव चला जाता है। उसे संसार शरीर भोगों के प्रति अन्तरङ्ग से विरक्ति आती है। तभी तो पहली प्रतिमा वाले को समन्तभद्र स्वामी ने सम्यग्दर्शन-शुद्ध और संसार शरीर तथा भोगों से विरक्त कहा है। किसी भी बाह्य त्याग की कोई बात नहीं है। बाह्य त्याग हो और न सम्यग्दर्शन हो, न संसार शरीर और भोगों के प्रति आन्तरिक विरक्ति हो, तो उस त्याग का क्या मूल्य है? किन्तु आज केवल त्याग का मूल्य है सम्यग्दर्शन का नहीं। पंचमकाल जो है। अतः मिथ्यात्व-भाव के साथ ही व्रत चारित्र चलता है। वह भी चले किन्तु सम्यक्त्व-ग्रहण के लिये प्रयत्न तो करना चाहिये। शास्त्र स्वाध्याय के द्वारा दृष्टि को तो परिमार्जन करना चाहिये। जैसा पं. आशाधर जी ने लिखा है—

'ततः संयमलब्धिकालात्पूर्वं संसारभीरुणा भव्येन सम्यग्दर्शनाराधनायां नित्यं यतितव्यम्।''

इससे संयम का लब्धिकाल आने से पूर्व संसार से भयभीत भव्य को सम्यग्दर्शन की आराधना में सदा यत्नशील रहना चाहिये।

यह हमारी प्रेरणा है। अतः सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है क्योंकि वह जीवों की आत्माओं का महान घातक होने से महान हिंसारूप है। किसी के प्राणों का घात तो एक ही भव में दुःखदायी है। किन्तु मिथ्यात्व तो जीवके सुख सत्ता चैतन्यरूप निश्चयप्राणों का अादिकाल से घात कर रहा है। यही सब अनर्थों की जड़ है इसे मारे बिना जीवों का संसार के बन्धन से छुटकारा नहीं है—

कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रशस्तभाव ही संसार-बन्धनके नाशका मूल उपाय है। शास्त्रज्ञान तो उपायका उपाय है। यावत् हमारी दृष्टि परोन्मुख है, तावत् स्वोन्मुख-दृष्टिका उदय नहीं। यद्यपि ज्ञान स्वपरव्यवसायी है। परन्तु जब स्वोन्मुख हो तब तो स्वकीय रूपका प्रतिभास हो। ज्ञान तो केवल स्वरूपका प्रतिभासक है, परन्तु तद्रूप रहना, यह बिना मोहके उपद्रवके ही होगा। कहने और करनेमें महान् अन्तर है। आप जानते हैं, प्रथम सम्यग्दर्शनके होते ही जीवके पर पदार्थोंमें उदासीनता आजाती है। और जब उदासीनताकी भावना-दृढ़तम हो जाती हैं, तब आत्मा ज्ञाता-दृष्टा ही रहता है। अतः आतुर नहीं होना। उद्यम करना हमारा पुरुषार्थ है।

—अध्यात्म-पत्रावली-६६

२

आध्यात्मिक सुख के सोपान : गुणस्थान

बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री,

सुख दुख की स्थिति

जन्मके बाद मरण और उसके बाद पुनः जन्मग्रहण, इस प्रकार की जो जन्म-मरण की सतत परम्परा चलती है उसी का नाम संसार हैं। वह संसार चतुर्गतिस्वरूप है। प्राणी कभी तिर्यंच, कभी नारकी, कभी मनुष्य और कभी देव होता है। वह दुःखसे डरता है और सुख चाहता है। पर इच्छानुसार उसे वह सुख प्राप्त होता नहीं है, बल्कि वह दुखी ही अधिक रहता है। वह कभी इष्टके वियोगसे व्याकुल रहता है तो कभी अनिष्टके संयोगसे सन्तप्त दिखता है। इसका कारण यह है कि उसने यथार्थतः सुख-दुःखके स्वरूप और उनके कारणोंको समझा ही नहीं है। अभीष्ट बाह्य पदार्थोंके संयोगसे जो सुखका अनुभव होता है वह यथार्थतः सुख नहीं, सुखाभास है और वह भी स्थायी नहीं है, किन्तु विनश्वर है। इन्द्रिय विषयोपभोगजनित सुख उत्तरोत्तर तृष्णाका कारण होनेसे सन्तापका ही बढ़ाने वाला है[1]। ऐसे सुखके पश्चात् जो दुख अनिवार्यरूपेण प्राप्त होने वाला है वह अतिशय संक्लेशजनक होता है[2]।

वास्तविक सुख वही है जिसमें आकुलताका लेश न हो और जो स्थायी हो। ऐसा वह सुख अपने आपमें ही विद्यमान है, न कि क्षणनश्वर विषयभोगों में। वे विषयभोग तो उत्तरोत्तर तृष्णाके बढ़ाने वाले हैं, उनसे सन्ताप दूर होने वाला नहीं है[3]। वह निराकुल सुख परावलम्बनको छोड़कर स्वावलम्बी हो जानेपर ही सम्भव है। उस सुखके कारण हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। वस्तुस्वरूपको जानकर उसपर दृढ़तापूर्ण श्रद्धा होना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। वस्तुकी यथार्थताका बोध हो जाना सम्यग्ज्ञान है। वस्तुस्वरूपको जानकर—हेय व उपादेयको समझकर[4]—तदनुरूप आचरण करना ही सम्यक्चारित्र है।

यह प्रायः सभी जानते हैं कि अधिक भोजन करना अथवा प्रकृतिके प्रतिकूल भोजन करना दुःखदायक है, पर सबमें उस प्रकारकी दृढ़ता होती नहीं है। यही कारण है जो कितने ही स्वादलोलुपी आसक्तिके वश होकर प्रतिकूल या अधिक भोजन करके रोगको निमंत्रण देते हैं व कदाचित् मृत्युके ग्रास भी बन जाते हैं। यह है ज्ञानके होते हुए भी समीचीन दृष्टि या सम्यग्दर्शनका अभाव। सम्यग्दृष्टि

---

१. तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
मित्यात्मवान् विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ।।
बृ. स्वयम्भूस्तोत्र ८२

२. सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते,
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां,
धृतः शरीरेण मृतः स जीवति ।।

३. स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेव पुंसां,
स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्ति-
रितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्वः ।।
बृ. स्व. स्तोत्र ३१

स धर्मो यत्र नाधर्मः तत् सुखं यत्र नासुखम् ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ।।
आत्मानुशासन ४६

४. त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुण-दोषनिबन्धनौ ।
यस्यादान-परित्यागौ स एव विदुषाम्वरः ।।
आत्मानु० १४५

चारित्रमोहके उदयवश परपदार्थों का उपयोग करता हुआ भी अनासक्तिपूर्वक करता है वस्व को स्व और पर को पर समझता है ।

गुणस्थान

दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम और परिणामरूप अवस्थाविशेषोंके होनेपर उत्पन्न होने वाले जिन मिथ्यात्व आदि परिणामोंसे जीव देखे जाते हैं या परिचयमें आते हैं उन्हें गुणस्थान कहते हैं[1] ?

जीवके स्वभावभूत ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप गुणोंके उपचय और अपचयसे जो उनके स्वरूपमें भेद होता है उसे गुणस्थान कहा जाता है[2] ।

दूसरे शब्द से गुणस्थानको जीवसमास भी कहा जाता है[3] । जीवसमासका अर्थ है जीवोंका संक्षेप, अर्थात् जहां अनन्तानन्त जीवोंका संक्षेप या संकोच होता है उनका नाम जीवसमास है और वे चौदह हैं[4]- मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यङ्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्णकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली । ये गुणस्थान मोक्षरूपी महलके शिखरपर चढ़ने के लिये सोपानों (सीढ़ियों) के समान माने गये हैं[5] ।

१ मिथ्यादृष्टि—मिथ्याका अर्थ अयथार्थ या विपरीत और दृष्टिका अर्थ श्रद्धा या रुचि होता है । अभिप्राय यह कि जीवाजीवादि तत्त्वार्थोंका जो अश्रद्धान अथवा विपरीत श्रद्धान होता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं[6] ।

जिस प्रकार पित्तज्वरसे पीडित मनुष्यको मधुर रस नहीं रुचता—वह कड़ुवा प्रतीत होता है—उसी प्रकार मिथ्यादर्शन के उदयमें जीवको आत्महितकर धर्म नहीं रुचता है[7] । मिथ्यादृष्टि जीव जिनप्रणीत प्रवचनपर—आप्त, आगम और पदार्थ पर—श्रद्धा नहीं करता, किन्तु वह अन्य मिथ्यादृष्टियों द्वारा उपदिष्ट अथवा अनुपदिष्ट अयथार्थ वस्तुस्वरूपको रुचिकर मानना है[8] ।

---

१. (क) जेहिंदु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं
जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरिसीहिं ।।
पंचसंग्रह (भा. ज्ञानपीठ) १-३; गो. जीवकण्ड ८

(ख) मोहस्योदयतो जीवः, क्षयोपशम-तद्द्वयात् ।
पारिणामिकभावस्थो गुणस्थानेषु वर्तते ।।
हरिवंशपुराण ३-७९

२ गुणा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति स्थानं । ज्ञानादिगुणानामेवोपचयापचयकृतः स्वरूपभेदः, गुणानां स्थानं गुणस्थानम् । शतक. मल. हेम. वृत्ति ६, पृ. १४।२.; कर्मस्तव. गो. वृत्ति १, पृ. ७०.

३. (क) एत्तो इमेसि चोद्दसण्हं जीवसमासाणं मग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि चोद्दसचेव ट्ठाणाणि णादव्वाणि भवंति । षट्खण्डागम १, १, १, पु. १, पृ. १२.

(ख) जीवाश्चतुर्दशसु गुणस्थानेषु व्यवस्थिताः मिथ्यादृष्टयः......चेति । एतेषामेव जीवसमासानां निरूपणार्थं चतुर्दश मार्गणास्थानानि ज्ञेयानि । सर्वार्थसिद्धि १-८.

४. जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः, चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासाः, तेषां चतुर्दशानाम्, चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः । धवला पु. १, पृ. १३०.

५. गुणस्थानेषु परमपद-प्रासाद-शिखरारोहणसोपानेषु । कर्मस्तव दे. स्वो. वृत्ति १,

६. तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाणं होइ अत्थाणं । संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं ।। भगवती-आराधना ५६; पंचसं. १-७; धव. पु. १, १६३ उद्धृत; शतकचू. ६, पृ. ६ उद्धृत ।

७. मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।
णय धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ।।
पंचसं, (भा. ज्ञा.)१-६; धवला पु. १,पृ. १६२ उद्धृत त. भाष्य सिद्ध. वृत्ति ८-१०, पृ. १३६ उद्धृत गो. जी. १७.२

८. मिच्छाइट्ठी जीवो-उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ।।
पंचसं. (भा. ज्ञा.) १-८; कर्मप्रकृति. उप. क. २५; त. भा. सिद्ध. पृ. ८-१०, पृ. १३८ उ.; गो. जी. १८.

मिथ्यात्वके वशीभूत हुआ प्राणी आप्त, आगम और पदार्थ सभीका विपरीत श्रद्धान करता है। उदाहरणार्थ आप्त यथार्थ वही हो सकता है जो सर्वज्ञ होता हुआ वीतराग हो—राग-द्वेषसे रहित हो[1]। ऐसे आप्तके द्वारा जो वस्तुस्वरूपका उपदेश दिया जाता है वही आत्महितकर होनेसे उपादेय होता है। इस प्रकार आप्तके वीतराग होने पर भी मिथ्यात्वसे विमूढमति प्राणी उससे संसारवर्धक धन-सम्पत्ति व सन्तान आदिकी याचना करता है व इसी उद्देशसे उसकी पूजा व स्तुति आदिमें भी प्रवृत्त होता है। वह यह नहीं समझता कि जो राग-द्वेषसे रहित हो चुका है वह हमारी पूजा व स्तुति आदिसे प्रसन्न होकर न तो कुछ दे सकता है और न इसके विपरीत निन्दासे वह हमारा कुछ अनिष्ट भी कर सकता है। यह वस्तुस्थिति है। फिर भी पूजक व स्तोताके द्वारा निर्मल अन्तःकरणसे की गई पूजा व स्तुति आदि निरर्थक भी नहीं जाती। किन्तु उसके आश्रयसे जो उसके पुण्यकर्म का बन्ध होता है उससे पूजक को यथायोग्य अभीष्ट सुखसामग्री स्वयमेव प्राप्त होती है[2]। इसके लिये धनञ्जय कविका उदाहरण दिया जा सकता है। कहा जाता है कि धनञ्जय कविके पुत्रको सर्पने काट लिया था। ऐसे समयमें भी वे अपने प्रारब्ध अनुष्ठानमें दृढ़ रहे। उन्होंने विषापहार स्तोत्रकी रचना की। इस स्तोत्रके प्रभावसे कहिये या उनके प्रबल पुण्यकर्मके उदयसे कहिये, उनका पुत्र जीवित रहा। इस स्तोत्रके अन्तमें उन्होंने यही कहा है कि हे भगवन् ? इस प्रकारसे आपकी स्तुति करके भी मैं दीन बनकर किसी प्रकारके वरकी याचना नहीं करता। कारण यह कि मांगना दीनताका लक्षण है, यह तो लोकप्रसिद्ध है ही, साथ ही आप उपेक्षक भी हैं—रागसे रहित व निर्ग्रन्थ होनेसे कुछ देनेमें असमर्थ भी हैं। इसीलिये मैं लौकिक किसी प्रकारकी याचना न करके केवल यही चाहता हूं कि मेरी भक्ति सदा आपके विषयमें बनी रहे[3]।

इस मिथ्यात्वके साथ रहने वाले मिथ्यादृष्टिके ज्ञानको, उसके यथार्थ होनेपर भी, मिथ्याज्ञान कहा जाता है। कारण यह कि उसे उन्मत्त (पागल) के समान सत्-असत् के विषय में विवेकपूर्ण दृढ़ता नहीं रहती[4]।

---

१. (क) आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ।।
रत्नक. श्रा ५.

(ख) यो विश्वं वेदवेद्यं जनन-जलनिधेर्भङ्गिनः पारदृश्वा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलङ्कं यदीयम् ।
तं वन्दे साधुवन्द्यं सकल गुणनिधिं ध्वस्तदोष-द्विषन्तं,
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलनिलयं केशवं वा शिवं वा ।।
अकलंक······

२. न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः,
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।।
वृ. स्वयम्भूस्तोत्र ५७.

३. इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्,
वरं न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छायातरुं संश्रयतः स्वतः स्यात्
कश्छायया याचितयात्मलाभः ।।
अथास्ति दित्सा यदि वोपरोधात्,
त्वय्येव सक्तां दिश भक्तिबुद्धिम् ।
करिष्यते देव तथा कृपां मे
को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरिः ।।

४ (क) मति-श्रुतावधयो विपर्ययश्च । सदसतोरविशेषाद्-यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् । त. सूत्र १, ३१-३२.

(ख) तत्र मिथ्यादर्शनोदयवशीकृतो मिथ्यादृष्टिः । तेषु मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टिरित्यभिधीयते यत्कृतं तत्त्वार्थाश्रद्धानम् । तत्र ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितानि त्रीण्यपि ज्ञानानि मिथ्याज्ञानव्यपदेशभाञ्जि भवन्ति । त. वार्तिक ६, १, १२.

(ग) मिच्छा अलियं अतथ्यं दृष्टिर्दर्शनं मिच्छादिट्ठी जेसिं जीवाणं ते मिच्छादिट्ठी विवरीयदिट्ठी, अण्णहादिट्ठयमत्थं अण्णहा विचिन्तेति मिच्छत्तस्य उदएण । यथा—मद्यपीत-हृत्पूरकभक्षित-पित्तोदयव्याकुलीकृतपुरुषज्ञानवत् । मिच्छत्तं यथार्थावस्थितरुचिप्रतिघातकारणम् । शतकचूर्णि ६, पृ. ७ । १.

(घ) घड-पड-थंभादिपयत्थेसु मिच्छाइट्ठी जहावगमं सद्दहतो वि अण्णाणी उच्चदे, जिणवयणे सद्दहणाभावादो । गो. जी. जीवका. टीका १८ उद्धृत ।

२ सासादन सम्यग्दृष्टि—मिथ्यात्वके उदयका अभाव हो जानेपर प्राप्त हुए प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके कालमें जब कमसे कम एक समय और अधिकसे अधिक छह आवली मात्र काल शेष रह जाता है तब अनन्तानुबन्धी क्रोधादिमेंसे किसी एकके उदयमें आ जानेपर जिसकी अन्तरात्मा कलुषित कर दी गई है, अर्थात् जो उस सम्यक्त्व से च्युत हो चुका है पर अभी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं हुआ है, उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। आसादनका अर्थ सम्यक्त्वकी विराधना है, उससे सहित होनेके कारण इस गुणस्थान की 'सासादनसम्यग्दृष्टि' यह संज्ञा सार्थक ही है[1]। इसे स्पष्ट करते हुए यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार कोई पर्वतके शिखरसे गिरकर जब तक भूमिमें नहीं आता तब तक जो उसकी बीच की स्थिति होती है उसीके समान जो भव्य जीव उपशम सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो चुका है, पर मिथ्यात्वको अभी प्राप्त नहीं हुआ है—उसके अभिमुख है—उसे सासादनसम्यग्दृष्टि जानना चाहिये[2]।

दूसरे प्रकारसे उसकी निरुक्ति इस प्रकार भी की जाती है—आय का अर्थ लाभ सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति है, 'आयं सादयति इति आसादनम्' अर्थात् जो उस आयको नष्ट करता है उस अनन्तानुबन्धी कषायके उदयका नाम आसादन है (यहां 'आय' में 'य' का लोप हो गया है)। उस आसादनसे जिसकी समीचीन दृष्टि सहित है उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं। अथवा उपर्युक्त अनन्तानुबन्धीके उदयरूप आशादनासे सहित होनेके कारण इस गुणस्थान का दूसरा नाम साशादनसम्यग्दृष्टि है। अथवा सम्यक्त्वरूप रसके आस्वादनसे सहित होनेके कारण इसका तीसरा नाम सास्वादनसम्यग्दृष्टि भी है[3]।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि—जिन कोदों (एक मादक तुच्छ धान्य) की शक्ति कुछ क्षीण हो चुकी है और कुछ शेष बच रही है। उनके उपयोग से जिस प्रकार कुछ थोड़ासा कलुष परिणाम होता है उसी प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व नामक दर्शन मोह-प्रकृति के उदय से जिस जीव के तत्त्वार्थ का कुछ श्रद्धान भी होता है और कुछ

---

१ (क) यदुदयाभावेऽनन्तानुबन्धिकषायोदयविधेयीकृतः सासादनसम्यग्दृष्टिः। तस्य मिथ्यादर्शनस्योदये निवृत्ते अनन्तानुबन्धिकषायोदयकलुषीकृतान्तरात्मा जीवः
सासादनसम्यग्दृष्टिरित्याख्यायते। त. वा. ६, १, १३.

(ख) आसादनं सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेन वर्तते इति सासादनः विनाशितसम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते। धवला पु १, पृ. १६। ४.

(ग) आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे। अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥
गो. जीवकाण्ड १६.

२ सम्मत्त-रयणपव्वयसिहरादो मिच्छभावसमभिमुहो। णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणेयव्वो ॥ पंचसं (भा. ज्ञा.) ६; गो. जीवकाण्ड २०.

३ आयम् उपशमिकसम्यक्त्वलाभलक्षणं सादयत्यपनयतीत्यासादनमनन्तानुबन्धिकषायवेदनम् नैरुक्तो य-शब्दलोपः। सति हि तस्मिन्ननन्तसुखफलदो निःश्रेयसतरुबीजभूत औपशमिकसम्यक्त्वलाभो जघन्यतः समयेनोत्कृष्टतः षड्भिरावलिकाभिः सीदत्यपगच्छतीति सह आसादनेन वर्त्तत इति सासादनः; सम्यगविपर्यस्ता दृष्टिजिनप्रणीतवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः, सासादनश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्चेति सासादनसम्यग्दृष्टिः, तस्य गुणस्थानं सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। अथवा सहाशातनयाऽनन्तानुबन्ध्युदयलक्षणया वर्त्तत इति साशातनः स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, तस्य गुणस्थानम्। अथवा सह सम्यक्त्वलक्षणतत्त्वरसास्वादनेन वर्तते, सम्यक्त्वरसं नाद्यापि सर्वथा त्यजतीति कृत्वा सास्वादनः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्च, तस्य गुणस्थानं सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमिति। शतक मल. हेम. वृत्ति ६, पृ. १५।१.

अश्रद्धान भी होता है उसे सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इसी कारण उसके मति आदि तीन ज्ञान भी अज्ञान से मिश्रित होते हैं[1]।

इस गुणस्थानमें वर्तमान जीवकी दृष्टि या श्रद्धा समीचीन भी होती है और मिथ्या भी होती है। इसीलिये उसे सम्यङ्मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। इसके लिये यह उदाहरण दिया जाता है कि जिस प्रकार दही में गुड़के मिला देनेपर उन दोनोंका स्वाद पृथक् पृथक् उपलब्ध नहीं होता, किन्तु मिला हुआ वह विजातीय रूपमें उपलब्ध होता, है; उसी प्रकार सम्यङ्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीयका उदय होने पर न तो केवल यथार्थ तत्त्वश्रद्धा होती है और न मिथ्या भी, किन्तु वह मिश्रित रूपमें होती है[2]। दूसरा एक उदाहरण यह भी दिया जाता है कि जिस प्रकार नालिकेर द्वीपवासी किसी मनुष्यके यहां आकर भूखसे पीड़ित होनेपर भी उसके सामने रखे गये ओदन (भात) आदिके प्रति न तो उसकी रुचि होती है और न अरुचि भी। इसका कारण यह है कि इस प्रकारका भोजन उसने कभी देखा ही नहीं है। इसीप्रकार सम्यङ्मिथ्यादृष्टि जीव की न तो जीवादि-तत्त्वोंके प्रति रुचि ही होती है और न अरुचि भी, किन्तु मिश्रित रूपमें विजातीय तत्त्वश्रद्धा ही उसकी होती है[3]। वह अन्तर्मुहूर्त काल तक इस स्थितिमें रहकर या तो सम्यग्दृष्टि हो जाता है या फिर मिथ्यादृष्टि होता है। इस गुणस्थानकी विशेषता यह है कि ऐसा जीव संयम या देशसंयम को ग्रहण नहीं कर सकता, आयुका बन्ध भी इस गुणस्थान में नहीं होता, तथा सम्यक्त्व या मिथ्यात्व रूप जिन परिणामोंमें उसने आयुका बन्ध किया है उन्हीमें जाकर उसका मरण होता है—यहां मरण नहीं होता[4]।

४ असंयतसम्यग्दृष्टि—जिसकी दृष्टि या तत्त्वविषयिक श्रद्धा तो यथार्थ है, पर जो संयत नहीं है—व्रतोंसे रहित है—उसे असंयतसम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी चार और मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व इन सात प्रकृतियोंका उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाने से जीव सम्यक्त्वको तो प्राप्त कर लेता है पर चार अप्रत्याख्यानावरण व चार प्रत्याख्यानावरण कषायोंके उदय के विद्यमान होनेसे वह देशसंयम और सकलसंयमको प्राप्त नहीं कर पाता[5]। वह तत्त्वों का श्रद्धान करता है, मोक्षसुखकी इच्छा करता है, अरिहंत आदिकी भक्तिमें उद्यत रहता है, अविरतिके आश्रयसे होने वाले कर्म बन्धको जानता है, राग-द्वेष दुखके कारण हैं यह भी जानता है तथा सावद्ययोगविरतिसे प्राप्त होनेवाले सुखकी भी इच्छा करता है; फिर भी उक्त अप्रत्याख्यानावरणादिके उदयके कारण वह संयमके ग्रहणमें असमर्थ रहता है। इतना अवश्य है कि वह चारित्रमोहके उदयवश पापाचरण करता हुआ भी उसे हेय ही समझता है और उसके लिये आत्मनिन्दा भी करता है[6]।

इस गुणस्थानमें उक्त सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षयसे

---

१. (क) सम्यङ्मिथ्यात्वोदयात् सम्यङ्मिथ्यादृष्टिः। सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थ-श्रद्धानाश्रद्धानरूपः सम्यङ्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते। अतएवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि इत्युच्यन्ते। त. वार्तिक ९, १, १४.

(ख) सम्मत्तगुणेण तओ विसोहई कम्ममेव स मिच्छत्तं।
सुज्झंति कोद्दवा जह मदणा ते ओसहेणेव ॥
जं सव्वहा विसुद्धं तं वेवइय भवइ कम्म सम्मत्तं।
मिस्सं अद्धविसुद्धं भवे असुद्धं च मिच्छत्तं ॥
तिव्वाणुभावजोगो भवइ हु मिच्छत्तवेयणिज्जस्स।
सम्मत्ते अइमंदो मिस्से मिस्साणुभावो य ॥

(ग) मयणकोद्दवभोजी अणप्पवसयं णरो जहा जाइ।
सुद्धाई उ ण सुज्झइ मिस्सगुणा वा वि मिस्साई ॥
सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु।
विरयाविरएण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ॥
शतक. चूर्णि ९, पृ. ७/२.

२. पंचसं. (प्रा. ज्ञा.) १-१०; धव. पु. १, पृ. १७० उ.; गो. जी. २२.

३. शतक. बृ. चूर्णि ९.

४. गो. जी. २३-२४.

५. गो. जीवकाण्ड २९.

६. शतक. बृचूर्णि ९. पृ. ७-८; शतक. मल. हेम. वृत्ति ९, पृ. १९. सागारधर्मामृत १.०००

जिसने क्षायिक सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया है वह फिर कभी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता, वह कमसे कम अन्तर्मुहूर्त कालमें और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम कालमें मुक्तिको प्राप्त कर लेता है[१]।

उन्हीं सात प्रकृतियोंके उपशमसे जिस जीवने औपशमिक सम्यक्त्वको प्राप्त कर लिया है वह उपशमसम्यग्दृष्टि कहलाता है। औपशमिक सम्यक्त्वका जघन्य व उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है[२]। उपशमसम्यग्दृष्टि परिणामोंके अनुसार मिथ्यात्वको प्राप्त हो सकता है, सासादन गुणस्थान को प्राप्त हो सकता है, सम्यङ्मिथ्यात्वको प्राप्त हो सकता है, और वेदकसम्यक्त्वको भी प्राप्त कर सकता है[३]।

दर्शनमोहनीयके भेदभूत सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे वेदक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका वेदन या अनुभवन होता है, इसीलिये उसे वेदकसम्यक्त्व कहा जाता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी यही कहलाता है। दर्शनमोहनीयके भेदभूत सम्यक्त्व प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंसे उदयाभावरूप क्षय, उन्हींके सदवस्थारूप उपशम तथा देशघाती स्पर्धकोंके उदयस्वरूप क्षयोपशमके होनेपर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसका क्षायोपशमिक यह नाम सार्थक ही है। इसीको वेदकसम्यक्त्व भी कहा जाता है, कारण कि वह सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयका अनुभव करने वाले जीवका आत्मपरिणाम है, अथवा आगममें वह वेदक नामसे प्रसिद्ध है[४]।

उक्त तीनों सम्यग्दर्शनों में औपशमिक और क्षायिक निर्मल हैं क्योंकि वे मलजनक सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे रहित हैं। परन्तु क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनके साथ जो उस सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय रहता है वह यद्यपि तत्त्वार्थश्रद्धान के नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है, पर उसके निमित्तसे उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष सम्भव हैं। जिस प्रकार अनेक लहरोंके समूहमें अवस्थित एक ही जल चंचल रहता है उसी प्रकार आप्तादिविषयिक श्रद्धानभेदों में यह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व चंचल रहता है। जैसे-अपने द्वारा प्रतिष्ठापित जिनबिम्बादिमें 'यह मेरा देव है' तथा अन्यके द्वारा प्रतिष्ठापित जिनबिम्बादि में 'यह दूसरे का देव है' इस प्रकार उस सम्यक्त्वप्रकृति के उदयसे श्रद्धामें जो चंचलता रहा करती है उसे चलदोष कहा जाता है।

जिस प्रकार स्वभावतः शुद्ध सुवर्ण मलके संसर्गसे मलिन होता है उसी प्रकार प्रकृत क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जो शंकादिरूप मलसे मलिनताको प्राप्त होता है, यह मलदोषका लक्षण है।

जिस प्रकार वृद्ध पुरुषके हाथमें स्थित रहकर भी लाठी कम्पायमान रहती है उसी प्रकार प्रकृत सम्यक्त्व में अरिहंतादिविषयिक श्रद्धाके होते हुए भी वह कुछ अस्थिर रहा करती है। जैसे-सब अरिहन्तोंमें अनन्तशक्ति के समान होनेपर भी यह देव—शान्तिनाथ जिनेन्द्र-शान्तिके करनेमें समर्थ हैं, इत्यादि प्रकार का जो अस्थिर श्रद्धान होता है उसका नाम अगाढ़ दोष है[५]।

---

१. षट्खण्डागम पु. ४, सू. १, ५, ३१७ व १४-१५, पृ. ४८१ व ३४६,४७.; सर्वार्थसिद्धि १-८, पृ. ६४ व ५५.

२. षट्खण्डागम पु. ४, सू. १, ५, ३२१-२२, पृ. ४८३.

३. धवला पु. १, पृ. १७१-७२.

४. दर्शनमोहनीयभेदस्य सम्यक्त्वप्रकृतेः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयाभावलक्षणे क्षये तेषामेव सदवस्थालक्षणे उपशमे च उदयनिषेकदेशघातिस्पर्धकस्योदयात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धानं भवेत्, तदेव वेदकमित्युच्यते, सम्यक्त्वप्रकृत्युदयमनुभवतः आत्मनः परिणामत्वात् वेदकमित्यागमप्रसिद्धत्वाद्वा।
गो. जीवकाण्ड मन्दप्र. टीका २५.

५. जो पुण वेदयसम्मादिट्ठी सो सिथिलसद्दहणो थेरस्स लट्ठिग्गहणं व सिथिलग्गाहो कुहेउ-दिट्ठंतेहि झडिदि विराहओ। (धवला पु. १, पृ. १७५);
वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता। स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥
स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते। अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपिचेष्टते ॥
तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः। मलिनं मलसंगेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥
लसत्-कल्लोलमालासु जलमेकमिवावस्थितम्। नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा ॥
समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम्। देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥
अन. ध. २, ५७-६१; गो. जी. जी. प्र. टी. २५ उद्धृतः

सम्यग्दर्शनका यह माहात्म्य है कि उसकी प्राप्तिके पूर्व जो जीव अपरीतसंसारी-अनन्तसंसारी-था वह उसके-प्राप्त हो जाने पर परीतसंसारी हो जाता है-उसका वह संसार अनन्तता से रहित होकर अधिक से अधिक अर्धपुद्गलपरिवर्तन मात्र शेष रह जाता है[1]। सम्यग्दर्शनके प्रभाव से मोक्षमार्गसे बहिर्भूत मिथ्यादृष्टि मुनिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि गृहस्थको भी मोक्षमार्गमें स्थित हो जानेके कारण श्रेष्ठ माना गया है[2]। इसके अतिरिक्त उक्त सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जीव नारक आदि निन्द्य अवस्थाओंको भी प्राप्त नहीं करता[3]।

५ संयतासंयत-प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय होनेसे जिसके सकल संयमरूप परिणाम तो नहीं होता, किंतु देश संयम होता है, उसे संयतासंयत-पचमगुणस्थानवर्ती श्रावक कहते हैं। वह एक साथ त्रसहिंसासे विरत और स्थावर-हिंसासे अविरत होता है, इसीलिये उसे विरताविरत या संयतासंयत कहा जाता है। उसकी आप्त, आगम और पदार्थोंके विषयमें श्रद्धा बराबर होती है[4]।

जो प्रत्याख्यान—व्रत या संयमको—पूर्ण रूपसे आवृत (आच्छादित) किया करती हैं उन्हें प्रत्याख्यानावरण तथा जो उसे अल्परूपमें आवृत किया करती हैं उन्हें अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहा जाता है। अ-प्रत्याख्यानमें 'अ' का अर्थ अल्प या ईषत् अभीष्ट रहा है। उक्त अप्रत्याख्यानावरण कषायोंके उदयक्षयसे तथा प्रत्याख्यानावरण कषायों-के उदयसे यह पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक अपनी अल्प-शक्ति अनुसार विरतिको ग्रहण करके एक-दो आदि अन्तिम पर्यन्त व्रतों (प्रतिमाओं) को ग्रहण करता है, इसीलिये उसे देशयति या संयतासंयत कहा जाता है। वह परिमितका उपभोग करता है और अपरिमित अनन्तका परित्याग करता है। इसीलिये वह परलोकमें अनन्तसुख का भोक्ता होता है[5]।

---

१. एगो अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि कादूण सम्मत्तंगहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि। धवला प्र. ४, पृ. ३·५.

२. गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्। अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।।
रत्नक. श्रा. ३३.

३. सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-तिर्यङ्नपुंसक-स्त्रीत्वानि। दुष्कुल-विकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ।।
रत्नक. श्रा. ३५.

४. पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु। थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ।।
जो तसवहाउ विरदो अविरदओ तह य थावर वहादो। एक्कसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ।।
गो. जीवकाण्ड ३०-३१,

५ (क) पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ।।
गो. जी ३०.

(ख) आवरयन्ति य पच्चक्खाणं अप्पमवि जेण जीवस्स।
तेणाऽपच्चक्खाणावरणा णणु होई अप्पत्थे ।।
सव्वं पच्चक्खाणं जेणावरयन्ति अभिलसन्तस्स।
तेण उ पच्चक्खाणावरणा भणिया णिरुत्तीहिं ।।
सम्मद्दंसणसहिओ गेण्हन्तो विरइमप्पसत्तीए।
एक्कव्वयाइ चरिमो अणुमइमेत्तोत्ति देसजई ।।
परिमियमुवसेवन्तो अपरिमियमणंतयं परिहरंतो।
पावइ परम्मि लोए अपरिमियमणंतयं सोक्खं ।।
शतक- चूर्णि ६, पृ. ८।१. उद्धृत।

६ प्रमत्तसंयत—जिसके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन बारह कषायोंके उदयाभाव से संयम तो होता है, पर संज्वलन चार और नौ नोकषायोंके तीव्र उदयसे उसे मलिन करने वाला प्रमाद भी साथमें रहता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। चार विकथा (स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा), क्रोधादि चार कषायें, पांच इन्द्रियां, निद्रा और प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद माने जाते हैं। इनमें संयमकी विरोधी चर्चाको विकथा कहा जाता है। अन्य कषायें आदि अनुभवगम्य हैं[1]। दूसरे प्रकार से मदिरा, इन्द्रियविषय, कषाय, निद्रा और विकथा इन पांचमेंसे किसी एक को अथवा सभीको प्रमाद माना जाता है। जिस प्रकार रागसे प्रमादको प्राप्त हुआ जीव गुण-दोषको नहीं सुनता है—उनका विचार नहीं करता है—उसी प्रकार जो गुप्ति और समितिके विषयमें प्रमादसे युक्त होता है उसे प्रमत्तविरत जानना चाहिये[2]।

७ अप्रमत्तसंयत—चार संज्वलन और नौ नोकषायोंका उदय जब मन्दताको प्राप्त हो जाता है तब पूर्वोक्त प्रमादके विनष्ट हो जानेपर जिसका संयम निर्मलताको प्राप्त हो गया है वह अप्रमत्तसंयत कहलाता है। वह स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्तके भेदसे दो प्रकारका है। जो व्यक्त व अव्यक्त सब प्रकारके प्रमादसे रहित होकर भी उपशमश्रेणि अथवा क्षपक श्रेणि पर आरूढ नहीं हो रहा है उसे स्वस्थान अप्रमत्त कहा जाता है। तथा जो प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिसे वृद्धिगत होने वाला वेदकसम्यग्दृष्टि अप्रमत्तसंयत, अधःकारण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन परिणामविशेषोंके साथ संक्रमणविधिसे चार अनन्तानुबन्धी कषायोंका विसंयोजन करता है—उन्हें अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषायों और नौ नोकषायोंरूप परिणमाता है, तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त विश्राम करता हुआ उक्त तीनों परिणामोंके आश्रयसे तीन दर्शनमोह प्रकृतियोंको उपशान्त कर द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि हो जाता है, अथवा उनका सर्वथा क्षय करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि हो जाता है, पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रमत्तसे अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त इन दोनों गुणस्थानों में हजारों बार परिवर्तन करता हुआ उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होता है व अप्रत्याख्यानावरणादि बारह कषायों और नौ नोकषायोंके उपशमन या क्षपणमें उद्यत होता है वह सातिशय अप्रमत्त कहलाता है। यह सातिशय अप्रमत्त उक्त

---

१ संजलण-णोकसाणुदयादो संजदो हवे जम्हा।
मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ।।
वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि।
सयलगुण-सीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ।।
विकहा तहा कसाया इन्दिय-णिद्दा तहेव पणयो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा दु पण्णरस ।।
गो. जी. ३२-३४. (सम्यग्दर्शनादिषु गुण-शीलेषु कुशलानुष्ठानेषु अनवधानमनादरः प्रमादः इति लक्षणस्य विकथादिषु पञ्चदशस्वपि विद्यमानत्वात्। प्रमाद्यति जीवः कुशलानुष्ठात् प्रच्यवते अनेनेति प्रमाद इति निरुक्तिसद्भावात्। मं. प्र. टीका ३४.)

२ (क) पमत्तो य सो संजओ. य सो पमत्तसंजओ, अ (?) पच्चक्खाणावरणोदयरहिओ संजलणाणं उदए वट्टमाणो पमायसहिओ पमत्तसंजओ। "विकहा कसाय विकडे इन्दिय-णिद्दा-पमायपंचविहो। एए सामन्नतरे जुत्तो विरओऽवि हु पमत्तो ।। जह रागेण पमत्तो ण सुणइ दोसं गुणं च बहुयंपि। गुत्ती-समिइपमत्तो पमत्तविरओ त्ति णायव्वो ।।" शतक. चू. ६, पृ. ८।१.

(ख) प्रमाद्यति स्म संयमयोगेषु सीदति स्मेति
पूर्ववत् कर्तरि क्तप्रत्यये प्रमत्तः अथवा प्रमदनं प्रमत्तः, प्रमत्तः प्रमादः, स च मदिरा-विषय-कषाय-निद्रा-विकथानां पञ्चानामन्यतमः, सर्वे वा। शतक. मल. हेम. वृत्ति ६, पृ. १६। २.

इक्कीस मोहप्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय करता हुआ उपशम अथवा क्षपक श्रेणि पर आरूढ होता है। विशेष इतना है कि उपशमश्रेणिपर तो औपशमिकसम्यग्दृष्टि और क्षायिकसम्यग्दृष्टि दोनों ही चढ़ सकते हैं, परन्तु क्षपक-श्रेणि पर केवल क्षायिकसम्यग्दृष्टि ही चढ़ता है। वेदकसम्यग्दृष्टि दोनोंमेंसे किसी भी श्रेणिपर आरुढ नहीं हो सकता इसीलिये उसका पूर्वोक्त प्रकारसे द्वितीयोपशमसम्यग्दृष्टि अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि होना अनिवार्य होता है[१]।

यह सातिशय अप्रमत्तसंयत उक्त इक्कीस मोहप्रकृतियों-का उपशम अथवा क्षय करनेके लिये जो तीन करण किये जाते हैं उनमेंसे प्रथम अधःप्रवृत्तकरणको करता है। इस अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। इसमें नाना जीवों की अपेक्षा उपरितन समयवर्ती जीवोंके जो विशुद्ध-परिणाम होते हैं वे चूंकि अधस्तन समयवर्ती जीवों के परिणामोंसे संख्या और विशुद्धिकी अपेक्षा समान होते हैं, इसीलिये उनका 'अधःप्रवृत्तकरण' यह सार्थक नाम है[२]। अथाप्रवृत्तकरण और यथाप्रवृत्तकरण इसीके नामान्तर हैं। करण का अर्थ परिणाम होता है।

८ **अपूर्वकरण संयत**—पूर्वोक्त प्रकारसे वह सातिशय अप्रमत्त अधःप्रवृत्तकरणके कालमें प्रतिसमय अनन्तगुणी वृद्धिके क्रमसे विशुद्ध होता हुआ साता आदि पुण्य प्रकृतियों के चतुःस्थान-पतित अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणा बांधता है, असाता आदि पापप्रकृतियोंके द्विस्थानगत अनुभागको प्रतिसमय अनन्तगुणा हीन बांधता है, तथा सब ही बन्ध-प्रकृतियोंके संख्यात हजार स्थितिबन्धापसरणोंको करता है। इन कार्योंको करता हुआ जब वह अधःप्रवृत्तकरणको विताकर उक्त दोनों श्रेणियोंमेंसे किसी एकमें प्रविष्ट होता है तब वह उसके प्रथम समयमें अपूर्वकरण परिणामोंका आश्रय लेता है। यही अपूर्वकरण गुणस्थान कहलाता है[३]।

इस गुणस्थानमें आगे आगे विसदृश समयों में स्थित जीव जिन परिणामोंको प्राप्त करते हैं वे पूर्वमें नीचेके समयोंमें कभी प्राप्त नहीं हुए, इसीलिये उनका अपूर्वकरण यह नाम सार्थक ही है[४]। इन परिणामोंकी अपेक्षा अधः-स्तनसमयवर्ती कोई भी जीव उपरितन समयवर्ती जीवों से कभी समान नहीं होता, किन्तु एकसमयवर्ती जीव उन परिणामों में विवक्षित परिणाम की अपेक्षा परस्परमें समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं[५]।

इस प्रकारके अपूर्वकरण परिणामोंसे युक्त जीव उसके प्रथम समयसे लेकर गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण, स्थितिकाण्डक-घात और अनुभागकाण्डकघातके द्वारा इक्कीस मोहप्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय करनेमें उद्यत होते हैं[६]।

करणका अर्थ परिणाम होता है, यह निर्दिष्ट किया जाता है। प्रकारान्तरसे उसका अर्थ क्रिया भी होता है। यह अपूर्वकरणसंयत पूर्वनिर्दिष्ट गुणश्रेणि आदि चारके साथ अपूर्वस्थितिबन्धरूप पांचवां कार्य भी करता है। ज्ञाना-वरणादि कर्मोंकी स्थिति जो पूर्वमें दीर्घ बांधी जाती है उसे अपवर्तना (अपकर्षण) करणके द्वारा अल्प करना, इसे स्थितिघात कहा जाता है। इसी प्रकार पूर्वबद्ध प्रचुर रस (अनुभाग) को अपवर्तनाकरण के द्वारा अल्प करना, इसका नाम रसघात या अनुभागघात है। उपरितन स्थितिवाले कर्मप्रदेशपिण्डको अपवर्तनाकरणके द्वारा नीचे लाकर उसका अन्तर्मुहूर्तमात्र उदयक्षणके आगे शीघ्र से शीघ्र क्षय करनेके लिये प्रत्येक समय असंख्यातगुणित वृद्धि के क्रमसे रचना करना, इसे गुणश्रेणि कहते हैं। अबध्यमान अशुभप्रकृतियोंके प्रदेशपिण्डको असंख्यातगुणित वृद्धिके क्रमसे बध्यमान प्रकृतियोंमें जो ले जाया जाता है, यह गुणसंक्रम कहलाता है। कर्म की स्थिति अशुद्धिके वश जो पूर्वमें दीर्घ बांधी गई थी उसे यहां विशुद्धिके वश अल्प

---

१ गो. जीवकाण्ड जी. प्र. टीका ४७.

२ गो. जीवकाण्ड ४८.

३ गो. जी. मं. प्र. टीका ५०.

४ पंचसं. (भा. ज्ञा.) १८; गो. जी. ५१.

५ गो. जी. ५२.

६ गो. जी. मं. प्र. टीका ५४.

प्रमाण में बांधता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विशुद्धिके बढ़ते जानेसे यहां ये पांचों कार्य अपूर्व ही अपूर्व होते हैं। यह अपूर्वकरणसंयत उपशमक और क्षपकके भेदसे दो प्रकारका है[1]। इस गुणस्थानमें एक साथ प्रविष्ट हुए नाना जीवोंके परस्परमें अध्यवसायस्थानके भेदरूप निवृत्ति होती है, इसलिये इसका 'निवृत्ति' यह दूसरा भी सार्थक नाम प्रसिद्ध है[2]।

९ अनिवृत्तिकरणसंयत—अनिवृत्तिकरणका काल भी अन्तर्मुहूर्त मात्र है, पर वह अपूर्वकरणके कालसे संख्यातगुणा हीन है। इस गुणस्थानमें एक समयमें प्रविष्ट अनेक जीवोंमें जिस प्रकार शरीरके आकार, वर्ण, अवगाहना और लिंग आदि बाह्य तथा ज्ञान-दर्शनादिरूप अभ्यन्तर अवस्थाओंसे भेद सम्भव है उस प्रकार जिन विशुद्धपरिणामोंसे उनमें परस्पर भेद सम्भव नहीं है, अर्थात् जो एक समयवर्ती जीवोंके सर्वथा समान होते हैं, उनका नाम अनिवृत्तिकरण है। निवृत्तिका अर्थ भेद है, उनमें चूंकि विशुद्धिकी अपेक्षा वह निवृत्ति सम्भव नहीं है, इसीलिये उनका 'अनिवृत्ति' यह सार्थक नाम है। जिस गुणस्थानमें इस प्रकारके परिणाम हुआ करते हैं उसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते है। अनिवृत्तिकरणकालके जितने समय हैं उतने ही वे परिणाम हैं। इस प्रकार उसके प्रथम समय में प्रविष्ट त्रिकालवर्ती नाना जीवोंके वे सर्वथा समान होते हैं। द्वितीय समयमें प्रविष्ट त्रिकालवर्ती नाना जीवोंके भी परिणाम सर्वथा सदृश होते हैं, किन्तु वे प्रथम समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे अनन्तगुणी विशुद्धिसे युक्त होते हैं। इसी प्रकार तृतीयादि अन्तिम समयवर्ती जीवों तक वे परिणाम सर्वथा समान होते हुए उत्तरोत्तर अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए होते हैं[3]।

प्रकारान्तरसे इस गुणस्थानको अनिवृत्ति बादरसाम्परायगुणस्थान भी कहते हैं। इस गुणस्थानको प्राप्त बहुत जीवोंके परस्पर सम्बन्ध रखने वाला जो अध्यवसायस्थान होता है उसकी जो व्यावृत्ति या परस्पर भिन्नता है उसका नाम निवृत्ति है, 'संसरति पर्यटति संसारमनेनेति सम्परायः, इस निरुक्तिके अनुसार सम्पराय शब्दसे कषायोदय अभिप्रेत है, इस प्रकार जो संयत अध्यवसायकी निवृत्तिसे रहित और बादर (स्थूल) कषायके उदयसे सहित होता है उसे अनिवृत्ति बादरसम्पराय और उसके गुणस्थानको अनिवृत्ति बादरसम्परायगुणस्थान कहते हैं। यह भी उपशमक और क्षपकके भेदसे दो प्रकारका है। इनमें जो क्षपक है वह चार प्रत्याख्यानावरण, चार अप्रत्याख्यानावरण, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जाति, आतप, उद्योत, स्थावर, साधारण, सूक्ष्म, नौ नोकषाय तथा सज्वलन क्रोध, मान और माया इस प्रकार बीस मोह प्रकृतियां, तीन दर्शनावरण और तेरह नाम प्रकृतियोंका क्षय करता है तथा उपशमक उन्हींका आगमोक्त विधिसे उपशम करता है[4] इसका विशेष व्याख्यान षट्खण्डागम[5] और कर्मप्रकृति आदि कर्मग्रन्थों में किया गया है।

१० सूक्ष्मसाम्पराय—जिस प्रकार कुसुम्भी रंगसे रँगे हुए वस्त्रके धो देने पर वह अव्यक्त सूक्ष्मरंगसे युक्त होता है उसी प्रकार सूक्ष्मकृष्टिगत अनुभागको प्राप्त संज्वलन लोभमात्र कषायका उदय जिसके शेष रहता है उसे सूक्ष्मसराग या सूक्ष्मसाम्परायसंयत कहते हैं। यह सूक्ष्मलोभ यथाख्यातचारित्र को प्रगट नही होने देता, इससे वह सूक्ष्मसाम्पराय संयत यथाख्यातचारित्रसे युक्त जीवसे कुछ ही हीन होता है। वह उपशमक और क्षपकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमें उपशमक तो पूर्वमें अनिवृत्तिकरण

---

१ शतक. मल. हेम. वृत्ति ९, पृ. १७। १८.

२ " पृ. १७-१८.

३. पं च सं. (भा.ज्ञा.) २०-२१; गो. जी ५६-५७.

४. शतक. मल. हेम. वृत्ति ९, पृ. १८-१९.

५. जीवस्थान चूलिका पु. ६, पृ.

संयतके द्वारा जिस लोभके अनुभागको सूक्ष्मकृष्टिरूप किया गया था उसे उपशमाता है और क्षपक उसका निर्मूलतः क्षय करता है[1]।

११ उपशान्तकषाय–जिस प्रकार निर्मली फलके चूर्णसे युक्त जल अथवा कीचड़से रहित शरत्कालीन तालाबका जल निर्मल होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण मोहके उपशान्त हो जानेसे जो निर्मल यथाख्यातचारित्र को प्राप्त कर चुका है वह उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ कहलाता है[2]।

केवलज्ञान और केवलदर्शनके आच्छादक ज्ञानावरण दर्शनावरण और मोहनीय को छद्म कहा जाता है। यद्यपि अन्तराय कर्म उक्त ज्ञान-दर्शनका आच्छादक नहीं है, फिर भी उसके रहनेपर वे ज्ञान-दर्शन उत्पन्न नहीं होते तथा उसके नष्ट हो जाने पर वे उत्पन्न होते हैं, इस अन्वय-व्यतिरेकके कारण उस अन्तराय कर्मको भी छद्मके अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। इस प्रकार जो चार घातिकर्मरूप छद्ममें स्थित होते हैं वे छद्मस्थ कहलाते हैं। इनमें जो माया और लोभ कषायके उदयरूप रागसे सहित होते हैं उन्हें सरागछद्मस्थ और जो उस रागसे रहित हो जाते हैं उन्हें वीतराग छद्मस्थ कहा जाता है। यहां क्रोधादि कषायोंके उपशान्त कर देने वाले वीतराग छद्मस्थ अभिप्रेत हैं। इन उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थोंके गुणस्थानका नाम उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान है[3]।

उपशमश्रेणिके अपूर्वकरणादि चार गुणस्थानोंमें यह अन्तिम है। इस गुणस्थानका काल अन्तर्मूहूर्त मात्र है। तत्पश्चात् उपशमको प्राप्त कराये गये मोहके उदयमें आ जानेसे जीवका नियमसे इस गुणस्थानसे पतन हुआ करता है।

१२ क्षीणमोह–सम्पूर्ण मोहका क्षय हो जानेसे जिसका अन्तःकरण स्फटिक मणिके पात्रमें स्थित जलके समान स्वच्छ हो चुका है उसे क्षीणकषाय कहा जाता है। यह भी पूर्वोक्त प्रकारसे वीतराग छद्मस्थ होता है। इस क्षीणकषायवीतराग छद्मस्थके गुणस्थानका नाम क्षीण-मोह वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान है[4]। पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पाँच निर्ग्रन्थोंमें प्रकृत क्षीणमोह संयत चौथा है। क्षपकश्रेणि पर आरूढ हुआ जीव सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानसे सीधा इस गुणस्थानमें आता है। उस क्षपकश्रेणि पर आरूढ हुए जीवकी मुक्ति सुनिश्चित है। उपशमश्रेणि पर आरूढ हुए जीवके समान उसका पतन नहीं होता। उपशम श्रेणिपर आरूढ हुआ जीव भी अधिकसे अधिक चार बार ही उसपर आरूढ होता है, तत्पश्चात् वह भी क्षपक श्रेणि पर आरूढ होकर नियम से मुक्तिको प्राप्त करता है[5]।

---

१. गो. जी. ६०.

२. पंचसं. (भा. ज्ञा.) २४; गो. जी. ६६.

३. तत्र च्छाद्यते केवलं ज्ञानं दर्शनं चात्मनोऽनेनेतिच्छद्म ज्ञानावरण-दर्शनावरण-मोहनीयान्तरायकर्मोदयः। इह यद्यपि केवलज्ञान–दर्शनयोराच्छादकत्वेनान्तरायं कर्म्म न प्रसिद्धम्, तथाप्यन्वयव्यतिरेकमात्रापेक्षया तथोच्यते-सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादानादपगमानन्तरं चोत्पादादिति। छद्मनि तिष्ठतीति छद्मस्थः। स च सरागोऽपि भवतीति अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणम्। वीतो रागो माया-लोभकषायोदयरूपो यस्य स वीतरागः, स चासौ छद्मस्थश्चेति वीतरागछद्मस्थः। स च क्षीणकषायोऽपि भवति, तस्यापि यथोक्तरागापगमात्, ततस्तद्-व्यवच्छेदार्थमुपशान्तकषायग्रहणम् कषम् (संसारम्) अयन्ते गच्छन्त्येभि प्राणिन इति कषाया क्रोधादयः, उपशान्ता उपशमिता विद्यमाना एव सङ्क्रमणोद्वर्त्तनादिकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषाया येन स उपशान्तकषायः, स चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्चेत्युपशान्तकषाय-वीतरागच्छद्मस्थः, तस्य गुणस्थानम्। शतक. मल. हेम. वृत्ति ६, पृ. २०/१.

४. पंचसं. (भा.ज्ञा.) २५; गो.जी. ६२.

५. अट्ठसु संजमकंडएसु च चत्तारि चेव कसायउवसामणयारा / धवला पु, १०, पृ. २९४.

१३ सयोगिकेवली–पूर्वोक्त क्षीणकषाय गुणस्थानके कालके अन्तिम भागमें जो एकत्व वितर्क-अविचार नामका दूसरा शुक्लध्यान होता है उसके प्रभावसे उक्त गुणस्थानके अन्तिम समय के अनन्तर उत्तर समयमें ज्ञानावरण, दर्शना-वरण और अन्तराय नामक तीन घातिकर्मोंके नष्ट कर देनेपर जिसके क्षीणकषायके अन्तिम समयवर्ती अज्ञानको नष्ट कर देने वाला केवलज्ञान प्रगट हो चुका है तथा उसके साथ ही जो क्षायिक सम्यक्त्व, चारित्र, ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन नौ केवललब्धियों का स्वामी हो चुका है उसे योगसे सहित होनेके कारण सयोगि-केवली कहा जाता है। केवलका अर्थ है सहायतासे रहित वह इन्द्रिय, प्रकाश, शब्द एवं लिंग आदि की सहायताके बिना उत्पन्न हुए ज्ञान और दर्शनसे सहित है इसलिये केवली और योगसहित है इसलिये सहयोगी है, इस प्रकार 'सहयोगि केवली' यह सार्थक नाम है। इसके अतिरिक्त वह घातिकर्मोंको जीतता है, अथवा सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्लध्यानके द्वारा योगनामक कर्मका निरोध करता है, इसलिये उसको जिन भी कहा जाता है। यद्यपि यह जिनशब्द सामान्य निर्जरासे युक्त होनेके कारण असंयतसम्यग्दृष्टि आदि क्षीणकषाय पर्यन्त सभीमें प्रवृत्त है, फिरभी विशेष निर्जराके कारण मुख्यरूपमे तेरहवें गुणस्थानवर्ती सयोगिकेवली ही जिन कहलाते हैं[१]।

योग, वीर्य, शक्ति, उत्साह और पराक्रम ये समानार्थक शब्द हैं। वह योग मन, वचन और कायके भेदसे तीन प्रकार का है। यह तीनों ही प्रकारका योग प्रकृत तेरहवें गुणस्थानवर्ती केवलीके सम्भव है। उनमें मनोयोग मनः-पर्यय ज्ञानी आदिके द्वारा अथवा अनुत्तर आदि देवोंके द्वारा जीवादि किसी तत्त्वके विषयमें पूछे गये केवलीकी मनसे ही होने वाली देशनामें सम्भव है। वचनयोग उनकी सामान्यसे होने वाली देशना आदिमें रहता है। काययोग उनके गमन और पलकों के उन्मेष-निमेष आदिमें रहता है। इस तीन प्रकारके योगके साथ रहनेसे वे सयोग या सयोगी तथा केवल-असहाय ज्ञान-दर्शन-के स्वामी होनेसे केवली होते हैं, इन सयोगिकेवलीके गुणस्थानका नाम सयोगिकेवली गुणस्थान है[२]।

१४ अयोगिकेवली—जो केवली मन, वचन व कायकी क्रियारूप योगोंसे रहित होकर समस्त आस्रवोंका निरोध करता हुआ नवीन कर्मोंके बन्धसे रहित हो चुका है तथा जिसने शैलेश्य भावको — अठारह हजार शीलोंके स्वामित्व-को—प्राप्त कर लिया है वह अयोगिकेवली कहलाता है।

शैलेश्य के प्रकार

प्राकृत शब्द सेलेसी है। उसके संस्कृतशब्द शैलेश्य, शैलेशी, शैलर्षि और से अलेसी हैं। शैलेश्यका अर्थ १८००० शीलों का स्वामित्व है, यह निर्दिष्ट किया जा चुका है। शैलेशी-शैलोंके स्वामी मेरु पर्वतका नाम शैलेश है, उसकी जो स्थिरता है उसे शैलेशी कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि अयोगिकेवलीकी जो मेरुके समान स्थिरता है वही उनकी शैलेशी अवस्था है। अथवा जो पूर्वमें अशैलेश था वह अभूततद्भावसे शैलेशी हो जाता है। शैलर्षि-शैल (पर्वत) के जो स्थिर ऋषि अयोगिकेवली है वह शैलर्षि कहलाता है। से अलेसी-'से' यह अव्यय प्रस्तुत वस्तुका परामर्शक होता है, तदनुसार उससे प्रकृतमें अयोगिकेवली अभीष्ट है, 'अलेस' का अर्थ लेश्यासे रहित है, यहाँ 'अ' का लोप हो जानेसे सेलेसी रह गया है, जिसका अर्थ लेश्या-से रहित होता ही है। अयोगिकेवली लेश्यासे रहित होते ही हैं[३]।

---

१. गो. जी. (मं.प्र. टीका) ६४.

२. शतक. मल. हेम. वृत्ति ६, पृ. २०-२१.

३. गो. जी. ६५ (म. प्र. टीका)। (शीलभेदोंके लिये देखिये मूलाचार का शीलगुणाधिकार, भा. २, पृ. १५१-७२)
सेलेसो इर मेरु सेलेसी होति जा तयाऽचलता। होतुं व असेलेसी सेलेसी होति थिरताए।।
अथवा सेलोव्व इसी सेलेसी होति सो थिरताए। से व अलेसी होती सेलेसी होतऽलोवातो।।
सीलंव्व समाधाणं णिच्छयतो सव्वसंवरो सो य। तस्सेसो सेलेसी होति तदवत्थो।।
विशेषा. भा. ३६६३-६५.

उक्त तीनों योगोंमें प्रत्येक बादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञान उत्पन्न होनेके बाद केवली जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे कुछ कम पूर्वकोटि काल तक विहार करके जब अन्तर्मुहूर्तमात्र आयु शेष रह जाती है तब शैलेशी अवस्थाकी प्राप्तिके अभिमुख होते हैं। उस समय वे प्रथमतः बादर काययोगके द्वारा बादर मनोयोगका और वचनयोगका निरोध करते हैं, तत्पश्चात् सूक्ष्म काययोगके आश्रयसे बादर काययोगका निरोध करते हैं। इसका कारण यह है कि बादर काययोगके रहते सूक्ष्म योगका निरोध करना अशक्य होता है। तत्पश्चात् समस्त बादर काययोगका निरोध हो जानेपर सूक्ष्म काययोगके आश्रयसे वे सूक्ष्म वचनयोग व मनोयोग का निरोध करते हैं। अब जो सूक्ष्म काययोग शेष रह जाता है उसका वे सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यानका चिन्तन करते हुए अपने बलसे ही निरोध करते हैं, क्योंकि उस समय अन्य कोई आश्रयणीय योग नहीं रहता। इस प्रकार पूर्णतया योगका निरोध हो जानेपर वे समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति शुक्लध्यानका चिन्तन करते हुए ह्रस्व पाच अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ और लृ) के उच्चारणमात्र कालमें शैलेशीकरणमें प्रविष्ट होते हैं।

योग और लेश्यारूप कलंकसे रहित यथाख्यातचारित्र रूप शीलके ईश (स्वामी) को शीलेश कहा जाता है, उदर (पेट) आदिके छेदोंकी पूर्तिवश आत्मप्रदेशोंके संकुचित हो जानेसे जो उस शीलेश की तृतीय भागसे हीन शरीरकी अवगाहना रह जाती है उसमें अवस्थान होना, यही उस शीलेशकी शैलेशी है। वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन अघातिकर्मोंकी असंख्यातगुणित श्रेणिसे तथा शेष आयु कर्मकी यथावस्थित श्रेणिसे निर्जरा करना, यही शैलेशीकरण कहलाता है। संसार में स्थित वह अयोग अथवा अयोगी केवली इस शैलेशीकरणों में प्रविष्ट होकर उसके अन्तिमसमय में प्रकृति-स्थिति आदि चार प्रकार के कर्म-बन्धनसे रहित होता हुआ औदारिक, तैजस और कार्मण इन तीन शरीरोंको छोड़ देता है व फलके बन्धनके टूट जानेसे स्वभावतः ऊपर उचटनेवाले एरण्ड बीज (अण्डी) की गतिके समान ऊर्ध्वगतिसे एक ही समयमें सीधा लोकके अन्तमें जा पहुँचता है। लोकान्तसे ऊपर न जानेका कारण गमनके निमित्तभूत धर्मास्तिकायका अभाव है। वहां पहुँचकर वह संसारसे मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है और सादि-अनन्तकाल तक परमानन्द—स्वरूप सुख का अनुभव करता है। यही अयोगकेवली का गुण-स्थान है।

---

१ शतक. मल. हेम. वृत्ति ६, पृ. २१.
शतक चूर्णि ६, उद्धृत गा. १-१५ पृ. ६-१०;

३

भगवान महावीर की अध्यात्म देशना

डा० पं० पन्नालालजी, साहित्याचार्य, सागर (म. प्र.)

लोक—व्यवस्था—

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्यों के समूह को लोक कहते हैं। इनमें सुख-दुःख का अनुभव करनेवाला, अतीत घटनाओं का स्मरण करनेवाला, तथा आगामी कार्यों का संकल्प करनेवाला द्रव्य, जीव-द्रव्य कहलाता है। जीवद्रव्य में ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण विद्यमान हैं। उन गुणों के द्वारा इसका बोध स्वयं होता रहता है। पुद्गल द्रव्य स्पष्ट ही दिखाई देता है। यद्यपि सूक्ष्म पुद्गल दृष्टिगोचर नही होता तथापि उनके संयोगसे निर्मित स्कन्ध-पर्याय इंद्रियों के अनुभव में आता है और उसके माध्यम से सूक्ष्म पुद्गल का भी अनुमान कर लिया जाता है। जीव और पुद्गल के चलने में जो सहायक होता है उसे धर्म द्रव्य कहा गया है और जो उक्त दोनों द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है वह अधर्म द्रव्य कहलाता है। पुद्गल द्रव्य और उसके साथ सम्बद्ध जीवद्रव्य की गति तथा स्थिति को देखकर उनके कारणभूत धर्म अधर्म द्रव्य का अस्तित्व अनुभव में आता है। समस्त द्रव्यों के पर्यायों के परिवर्तन में जो सहायक होता है उसे काल द्रव्य कहते हैं। पुद्गल में परिवर्तित पर्याय दृष्टिगोचर होती है, इससे काल द्रव्य का अस्तित्व जाना जाता है। जो सब द्रव्यों को निवास देता है वह आकाश कहलाता है। इस तरह आकाश का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

जीवादि छह द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्तिक है—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से सहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य-दृश्य है। शेष पांच द्रव्य अमूर्तिक हैं—रूपादि से रहित होने के कारण इन्द्रियग्राह्य नहीं हैं। जीवद्रव्य, अपने ज्ञानगुण से सबको जानता है और पुद्गल द्रव्य उसके जानने में माध्यम बनता है इसलिये कोई द्रव्य मूर्तिक हो अथवा अमूर्तिक, जीव के ज्ञान से बाहर नहीं रहता। पुद्गल द्रव्य के माध्यम होने की बात परोक्ष ज्ञान इन्द्रियाधीन ज्ञान में ही रहती है, प्रत्यक्ष ज्ञान में नहीं।

असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश के भीतर सब द्रव्यों का निवास है इसलिये सब द्रव्यों का परस्पर संयोग तो हो रहा है पर सबका अस्तित्व अपना-अपना स्वतन्त्र रहता है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव रहता है इसलिये संयोग होने पर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं करता है। यह लोक की व्यवस्था अनादि अनन्त है। इसे न किसी ने उत्पन्न किया है और न कोई इसे नष्ट कर सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और घटपटादिरूप पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्य से पृथक् हैं, इसमें किसी को सन्देह नहीं परन्तु कर्म नोकर्म रूप जो पुद्गल द्रव्य, जीव के साथ अनादिकाल से लग रहा है, उसमें अज्ञानी जीव भ्रम में पड़ जाता है। वह, इस पुद्गल द्रव्य और जीव को पृथक् पृथक् अनुभव न कर एकरूप ही मानता है—जो शरीर है वही जीव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार पदार्थों के संयोग से उत्पन्न हुई एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति ही जीव कहलाती है। जीव नाम का पदार्थ, इन पृथ्वी आदि पदार्थों से भिन्न पदार्थ नहीं है। शरीरके उत्पन्न होने से जीव उत्पन्न होता है और शरीर के नष्ट होने से जीव नष्ट हो जाता है। जब जीव नाम का कोई पृथक् पदार्थ ही नहीं है तब पर-लोक का अस्तित्व स्वतः समाप्त हो जाता है। यह जीव-

विषयक अज्ञान का सबसे बृहद् रूप है। यह चार्वाक का सिद्धान्त है तथा दर्शनकारों ने इसे नास्तिक दर्शनों में परिगणित किया है।

आत्मा का स्वरूप—

अनेक पदार्थों से भरे हुए विश्व से आत्मा का पृथक् अस्तित्व स्वीकृत करना आस्तिक दर्शनों की प्रथम भूमिका है। आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करने पर ही अच्छे-बुरे कार्यों का फल तथा परलोक का अस्तित्व सिद्ध हो सकता है। अमृतचन्द्र आचार्य ने आत्मा का अस्तित्व प्रदर्शित करते हुए कहा है—

> अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
> गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।।

पुरुष—आत्मा है और वह चैतन्यस्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण नामक पौद्गलिक गुणों से रहित है, गुण और पर्यायों से तन्मय है तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से सहित है।

किसी भी पदार्थ का वर्णन करते समय आचार्यों ने दो दृष्टियाँ अङ्गीकृत की हैं—एक दृष्टि स्वरूपोपादान की है और दूसरी दृष्टि पररूपापोहन की। स्वरूपोपादान की दृष्टि में पदार्थ का अपना स्वरूप बताया जाता है और पररूपापोहन की दृष्टि में पर-पदार्थ से उसका पृथक्करण किया जाता है। पुरुष—आत्मा चैतन्यरूप है, यह स्वरूपोपादान दृष्टि का कथन है और स्पर्शादि से रहित है, यह पररूपापोहन दृष्टि का कथन है। देख, तेरा आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है, ज्ञाता द्रष्टा है और उसके साथ जो शरीर लग रहा है वह पौद्गलिक पर्याय है। यह जो स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण अनुभवमें आते हैं वे उसी शरीर के धर्म हैं, उन्हें तू आत्मा नहीं समझ बैठना। तेरा यह आत्मा सामान्य विशेष रूप अनेक गुणों तथा स्वभाव और विभाव-रूप पर्यायों से सहित है। साथ ही परिणमनशील होने से उत्पाद व्यय और ध्रौव्य से युक्त है।

अध्यात्म शब्दका अर्थ—

उपर्युक्त प्रकार से परपदार्थों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व स्वीकृत करना अध्यात्म की प्रथम भूमिका है। 'आत्मनि इति अध्यात्मम्' इस प्रकार अव्ययीभाव समास के द्वारा अध्यात्म शब्द निष्पन्न होता है और उसका अर्थ होता है आत्मा में अथवा आत्मा के विषय में। अशुद्ध और शुद्ध के भेद से जीव का परिणमन दो प्रकार का होता है। जिसके साथ नोकर्म, द्रव्य कर्म और भावकर्म रूप परपदार्थ का संसर्ग हो रहा है, ऐसा संसारी जीव अशुद्ध जीव कहलाता है, और जिसके साथ उपर्युक्त पर-पदार्थ का संसर्ग नहीं है, ऐसा सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध जीव कहलाता है। अशुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमें अन्य धातुओं के संमिश्रण से अशुद्धता आ गई है और शुद्ध जीव उस सुवर्ण के समान है जिसमें से अन्य धातुओं का संमिश्रण अलग हो गया है। जिस प्रकार चतुर स्वर्णकार की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि इस स्वर्ण में अन्यद्रव्य का संमिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव की दृष्टि में यह बात अनायास आ जाती है कि आत्मा में अन्य द्रव्य का संमिश्रण कितना है और स्वद्रव्य का अस्तित्व कितना है। जिस पुरुष ने स्वद्रव्य—आत्मद्रव्य में मिले हुए परद्रव्य का अस्तित्व पृथक् समझ लिया वह एक दिन स्वद्रव्य की सत्ता से परद्रव्य की सत्ता को नियम से निरस्त कर देगा, यह निश्चित है।

स्वभाव-विभाव—

शरीर को नोकर्म कहते हैं। यह नोकर्म स्पष्ट ही पुद्गल द्रव्य की परिणति है इसीलिये तो स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण से सहित है। इससे आत्मा को पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की पहली सीढ़ी है। ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म, पौद्गलिक होने पर भी इतने सूक्ष्म हैं कि वे इन्द्रियों के द्वारा जाने नहीं जा सकते। साथ ही आत्मा के साथ इतने घुले-मिले हुए हैं कि एक भव से दूसरे भव में भी उसके साथ चले जाते हैं। उन द्रव्य कर्मों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना यह अध्यात्म की दूसरी सीढ़ी है।

द्रव्यकर्म के उदय से होने वाला विकार, आत्मा के साथ इस प्रकार तन्मयीभाव को प्राप्त होता है, कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी जीव भी भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। अग्नि का

स्पर्श उष्ण है तथा रूप भास्वर है, पर जब वह अग्नि पानी में प्रवेश करती है तब अपने भास्वररूप को छोड़कर पानी के साथ इस प्रकार मिलती है कि सब लोग उस उष्णता को अग्नि की न मानकर पानी की ही मानने लगते हैं। 'पानी उष्ण है' यह व्यवहार उसी मान्यतामूलक है। इसी प्रकार द्रव्यकर्म के उदय में होनेवाले रागादिक विकारी भाव, आत्मा के साथ इस खूबी से मिलते हैं कि अलग से उनका अस्तित्व अनुभव में नहीं आता। तन्मयीभाव से आत्मा के साथ मिले हुए रागादिक विकारी भावों को आत्मा से पृथक् अनुभव करना अध्यात्म की तीसरी सीढ़ी है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है। वह समझता है कि स्वभाव कहीं बाहर से नहीं आता, वह स्व में सदा विद्यमान रहता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्वभाव का द्रव्य के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव रहता है। और विभाव, वह कहलाता है जो स्व में पर के निमित्त से उत्पन्न होता है। जब तक पर का संसर्ग रहता है तब तक वह विभाव रहता है और जब पर-संसर्ग छूट जाता है तब वह विभाव भी दूर हो जाता है। जैसे शीतलता पानी का स्वभाव है, वह कहीं बाहर से नहीं आती; परन्तु उष्णता पानी का विभाव है, क्योंकि वह अग्नि के संसर्ग से आती है। जब तक अग्नि का संसर्ग रहता है तब तक पानी में उष्णता रहती है और जब अग्नि का संसर्ग दूर हो जाता है तब उष्णता भी दूर हो जाती है। ज्ञान-दर्शन, आत्मा का स्वभाव है, यह कहीं बाहर से नहीं आता, परन्तु रागादिक विभाव हैं, क्योंकि वे द्रव्यकर्म की उदयावस्था से उत्पन्न होते हैं और उसके नष्ट होते ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए उनका आत्मा के साथ त्रैकालिक तन्मयीभाव नहीं है। इस प्रकार पर-पदार्थ से भिन्न अपनी आत्मा के अस्तित्व का अनुभव करना अध्यात्म का प्रयोजन है।

अध्यात्म और स्वरूप-निर्भरता—

ज्ञानी जीव अपने चिन्तन का लक्ष्य बाह्यपदार्थों को न बनाकर आत्मा को ही बनाता है। वह प्रत्येक कारण-कलाप को आत्मा में ही खोजता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग आदि के प्रसङ्ग इस जीव को निरन्तर प्राप्त होते रहते हैं। अज्ञानी जीव ऐसे प्रसङ्गों पर सुख-दुःख का कारण अन्य पदार्थों को मानकर उनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करता है; जबकि ज्ञानी जीव, उन सभी का कारण अपनी परिणति को मानकर बाह्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना से दूर रहता है। ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैंने जो भी अच्छा-बुरा कर्म किया है उसी का फल मुझे प्राप्त होता है। दूसरे का दिया हुआ सुख-दुःख यदि प्राप्त होने लगे तो अपना किया हुआ कर्म व्यर्थ हो जाय। पर ऐसा होता नहीं है।[1]

ज्ञानी जीव की यह श्रद्धा रहती है कि मैं पर-पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण-पर्यायों से अभिन्न आत्मतत्व हूँ, तथा उसी की उपलब्धि के लिये प्रयत्नशील हूँ। इसकी उपलब्धि, अनादिकाल से श्रुत, परिचित और अनुभूत काम, भोग, बन्ध की कथा से नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति तो परपदार्थों से लक्ष्य हटाकर स्वरूप-विनिवेश—अपना उपयोग अपने आप में ही स्थिर करने से—हो सकती है। अध्यात्म के सुन्दर उपवन में बिहार करनेवाला पुरुष, बाह्य-जगत् से पराङ्मुख रहता है। वह अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव का ही बारबार चिन्तन कर उसमें बाधा डालनेवाले रागादि विकारी भावों को दूर करने का प्रबल प्रयत्न करता है। द्रव्यकर्म की उदयावस्था का निमित्त पाकर यद्यपि उसकी आत्मा में रागादि विकारभाव प्रगट हो रहे हैं तथापि उसकी श्रद्धा रहती है कि यह तो एक प्रकार का तूफान है, मेरा स्वभाव नहीं है, मेरा स्वभाव तो अत्यन्त शान्त है—पूर्ण

१— स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा, फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा॥

—अमितगति आचार्य,

वीतराग है। पदार्थ को जानना, देखना ही मेरा काम है। उसमें इष्ट-अनिष्ट की कल्पना करना मेरा काम नहीं है। मैं तो अबद्धस्पृष्ट तथा पर से असंयुक्त हूँ। अध्यात्म इसी आत्मनिर्भरता के मार्ग को स्वीकृत करता है।

यद्यपि जीव की वर्तमान में बद्ध-स्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्व में प्राप्त हो रहे हैं। तथापि, अध्यात्म, जीव के अबद्धस्पृष्ट और उसके फलस्वरूप रागादिरहित—वीतराग स्वभाव की ही अनुभूति कराता है। स्वरूप की अनुभूति कराना ही अध्यात्म का उद्देश्य है अतः संयोगज दशा और संयोगज भावों की ओर से वह मुमुक्षु का लक्ष्य हटा देना चाहता है। उसका उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणी ! यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं करता है तो इस संयोगज दशा और तज्जन्य विकारों को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा ?

ज्ञानी जीव, कर्म, नोकर्म और भाव कर्म से तो आत्मा को पृथक् अनुभव करता ही है परन्तु ज्ञेय-ज्ञायक भाव और भाव्य-भावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भाव्य से पृथक् अनुभव करता है। जिस प्रकार दर्पण, अपने मे प्रतिबिम्बित मयूर से भिन्न है, उसी प्रकार आत्मा, अपने ज्ञान में आये हुए घट पटादि ज्ञेयों से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण, ज्वालाओं के प्रतिबिम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्य ताप से उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा, अपने अस्तित्व में रहने वाले सुख-दुःख रूप कर्म के फलानुभव से रहित है। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं[1] निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन से तन्मय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नही है। ज्ञानी यह भी[2] मानता है कि ज्ञान दर्शन लक्षण वाला एक शाश्वत आत्मा ही मेरा है, संयोग लक्षण वाले शेष समस्त भाव मुझसे बाह्य हैं।

इस प्रकार के भेदविज्ञान की महिमा बतलाते हुए भी अमृतचन्द्र सूरि ने समयसार कलश में कहा है—

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन ।।

आज तक जितने सिद्ध हुए हैं वे भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे सब भेद विज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

अध्यात्म और नय-व्यवस्था--

वस्तु स्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मों को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो परस्पर विरोधी दो धर्मों में से एक को प्रमुख तथा दूसरे को गौण कर, विवक्षानुसार, क्रम से ग्रहण करता है। नयों का विवेचन करनेवाले आचार्यों ने उनका शास्त्रीय—आगमिक और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि की नय विवेचना में उसके निश्चय तथा व्यवहार भेदों का निरूपण है। इस विवेचना में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नयविवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय

१— **अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।**
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ।।
—कुन्दकुन्द आचार्य, समयसार, गाथा-३८

२— **एको मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।**
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।
—कुन्दकुन्द आचार्य, नियमसार, गाथा-१०२

रहता है। जिस प्रकार वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि, आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। इस दृष्टि में शुद्ध-बुद्ध एक आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशाएँ व्यवहार सत्य हैं। इसीलिये उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का विवेचन करनेवाली दृष्टि को परमार्थ और व्यवहार दृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय दृष्टि आत्मा के शुद्धस्वरूप को दिखलाती है और व्यवहार दृष्टि अशुद्ध स्वरूप को। अध्यात्म का लक्ष्य शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने का है इसलिये वह निश्चय दृष्टि को प्रधानता देता है। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करना, निश्चय दृष्टि का कार्य है, और कर्म के निमित्त से होनेवाली आत्मा की परिणति को ग्रहण करना व्यवहार दृष्टि का विषय है। निश्चय दृष्टि, आत्मा में काम, क्रोध मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करती। चूँकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अतः उन्हें पुद्गल मानती है[1] इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के विकल्प जीव के स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय दृष्टि उन्हें स्वीकृत नहीं करती। इन सब को आत्मा कहना व्यवहार दृष्टि का कार्य है।

अध्यात्म, निश्चयदृष्टि—निश्चय नय को प्रधानता देता है, इसका यह अर्थ ग्राह्य नहीं है कि वह व्यवहार दृष्टि को सर्वथा उपेक्षित कर देता है। आत्मतत्व की वर्तमान में जो अशुद्ध दशा चल रही है उसका सर्वथा निषेध कैसे किया जा सकता है? यदि उसका सर्वथा निषेध किया जाता है तो उसे दूर करने के लिये मोक्ष मार्ग रूप पुरुषार्थ व्यर्थ सिद्ध होता है। अध्यात्म की निश्चय दृष्टि का अभिप्राय इतना ही है कि हे प्राणी! तू इस अशुद्ध दशा को आत्मा का स्वभाव मत समझ। यदि स्वभाव समझ लेगा तो उसे दूर करने का तेरा पुरुषार्थ समाप्त हो जायगा। आत्मद्रव्य शुद्धाशुद्ध पर्यायों का समूह है, उसे मात्र शुद्ध पर्याय रूप मानना संगत नहीं है। जिस पुरुष ने वस्त्र की मलिन पर्याय को ही वस्त्र का वास्तविक रूप समझ लिया है वह उसे दूर करने का पुरुषार्थ क्यों करेगा? वस्तुस्वरूप के विवेचन में अनेकान्त का आश्रय ही स्व-पर-हितकारी है, अतः अध्यात्मवादकी दृष्टि उस पर होना अनिवार्य है।

अध्यात्म और कार्य-कारणभाव—

कार्य की सिद्धि में उपादान और निमित्त इन दो कारणों की आवश्यकता रहती है। उपादान वह कहलाता है जो स्वयं कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त वह कहलाता है जो उपादान की कार्यरूप परिणति में सहायक होता है। मिट्टी, घट का उपादान कारण है और कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि निमित्त कारण हैं। जिस मिट्टी में बालू के कणों की प्रचुरता होने से घटाकार परिणत होने की योग्यता नहीं है उसके लिये कुम्भकारादि निमित्त कारण मिलने पर भी उससे घट का निर्माण नहीं हो सकता। इसी प्रकार जिस स्निग्ध मिट्टी में घटाकार परिणत होने की योग्यता है, उसके लिये यदि कुम्भकारादि निमित्त कारणोंका योग नहीं मिलता है तो उससे भी घट का निर्माण नहीं हो सकता। फलितार्थ यह है कि घट की उत्पत्ति में मिट्टीरूप उपादान और कुम्भकारादिरूप निमित्त - दोनों कारणों की आवश्यकता है। इस अनुभव सिद्ध और लोकसंमत कार्य-कारण भाव का निषेध न करते हुए अध्यात्म, मुमुक्षु प्राणी के लिये यह देशना भी देता है कि तू आत्मशक्ति को सबसे पहले संभाल, यदि तू मात्र निमित्त कारणों की खोजबीन में उलझा रहा, और अपनी आत्मशक्ति की ओर लक्ष्य नहीं किया, तो उन निमित्त कारणों से तेरा

१— एए सव्वे भावा पुग्गल दव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥ —समयसार, गाथा-४४

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ – समयसार, गाथा-५५

कौन-सा कार्य सिद्ध हो जायगा ? जो किसान, खेत की भूमि को तो खूब संभालता है परन्तु बीज की ओर दृष्टि-पात नहीं करता, उस संभाली हुई खेत की भूमि में यदि सड़ा घुना बीज डालता है तो उससे क्या अंकुर उत्पन्न हो सकेंगे ? कार्यरूप परिणति उपादान की होनेवाली है इसलिए उसकी ओर दृष्टि देना आवश्यक है। यद्यपि उपादान निमित्त नहीं बनता और निमित्त उपादान नहीं बनता यह निश्चित है, तथापि कार्य की सिद्धि के लिए दोनों की अनुकूलता अपेक्षित है, इसका निषेध नहीं किया जा सकता।

अध्यात्म और मोक्षमार्ग—

'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है। इस मान्यता को अध्यात्म भी स्वीकृत करता है परन्तु वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की व्याख्या को निश्चयनय के सांचे में ढाल कर स्वीकृत करता है। उसकी व्याख्या है—पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा का निश्चय होना सम्यग्दर्शन है। पर पदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा में ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और परपदार्थों से भिन्न ज्ञाता द्रष्टा आत्मा में लीन होना सम्यक् चारित्र है। इस निश्चय अथवा अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति होने पर ही यह जीव मोक्ष को प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। इसलिये मोक्ष का साक्षात् मार्ग यह निश्चय रत्नत्रय ही है। देव, शास्त्र, गुरु की प्रतीति अथवा सप्त तत्व के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन, जीवादि तत्वों के जानने रूप सम्यग्ज्ञान और व्रत समिति गुप्ति आदि आचरण रूप सम्यक् चारित्र·· यह व्यवहार रत्नत्रय, यदि निश्चय रत्न-त्रय की प्राप्ति में सहायक है तो वह परम्परा से मोक्ष मार्ग होता है। व्यवहार रत्नत्रय की प्राप्ति अनेक बार हुई पर निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के बिना वह मोक्ष का साधक नहीं बन सकी।

निश्चय रत्नत्रय आत्मा से सम्बन्ध रखता है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह मोक्ष मार्ग में प्रयोजनभूत जीवा-जीवादि पदार्थों के श्रद्धान और ज्ञान को तथा व्रत, समिति, गुप्ति रूप आचरण को हेय मानता है। उसका अभिप्राय इतना ही है कि इन सबका प्रयोजन आत्म श्रद्धान ज्ञान और आचरण में ही संनिहित है, अन्यथा नहीं। इसलिये इन सब को करते हुए मूल लक्ष्य की ओर दृष्टि रखना चाहिये।

नव पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकृत करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है—

> **भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्ण पावं च।**
> **आसव संवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥**

मूलार्थ—निश्चय नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नौ पदार्थ सम्यग्दर्शन हैं। यहाँ विषय और विषयी में अभेद करते हुए नौ पदार्थों को ही सम्यग्दर्शन कह दिया है। वस्तुतः ये सम्यग्दर्शन के विषय हैं।

जीव[1] चेतना गुण से सहित तथा स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द से रहित है। जीव के साथ अनादि काल से कर्म-नोकर्म रूप पुद्गल का सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्वदशा में यह जीव, शरीर रूप नोकर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मान कर उसमें अहंकार करता है—'इस रूप मैं हूँ' ऐसा मानता है। इसलिये सर्व प्रथम इसकी शरीर से पृथकता सिद्ध की जाती है। उसके बाद ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म और रागादिक भाव कर्मों से इसका पृथकत्व दिखाया जाता है। कहा गया है—हे भाई। ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं अतः पुद्गल के हैं, तू इन्हें जीव क्यों मान रहा है ?

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके अजीव कहने में कोई खास बात नहीं है किन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव

१— अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं॥ —समयसार, गाथा-४९

के साथ घुल मिलकर अनित्य तन्मयीभाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव मानना सम्यक्त्व की प्राप्ति में साधक है। रागादिक भाव अजीव हैं। गुणस्थान, मार्गणा, जीव समास आदि भाव अजीव है, यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। यहाँ 'अजीव है' इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीव की स्वाभाविक परिणति नहीं हैं। यदि जीव की स्वभाव परिणति होती तो त्रिकाल में भी इनका अभाव नहीं होता परन्तु जिस पौद्गलिक कर्म की उदयावस्था में ये भाव होते हैं उसका अभाव होने पर ये सब स्वयं विलीन हो जाते हैं।

संसारचक्र से निकल कर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट कर देता है इसलिये आस्रव पदार्थ के विवेचन के पूर्व ही इसे सचेत करते हुए कहा गया है कि हे मुमुक्षु प्राणी ! तू मोक्षरूपी महानगर की यात्रा के लिये निकला है। देख, कहीं बीच में पुण्य के प्रलोभन में नही पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभन में पड़ा तो एक झटके में ऊपर से नीचे आ जायगा, और सागरों पर्यन्त के लिये उसी पुण्य महल में नजर कैद हो जायगा। दया, दान, व्रताचरण आदि के भाव, लोक में पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापों में प्रवृत्तिरूप भाव, पाप कहे जाते हैं। पुण्य के फलस्वरूप पुण्य प्रकृतियों का बन्ध होता है और पाप के फलस्वरूप पाप प्रकृतियों का। जब उन पुण्य पाप प्रकृतियो का उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख-दुःख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध इस जीव को संसार में ही रोकने वाला है। स्वतन्त्रता की इच्छा करने वाला मनुष्य जिस प्रकार लोहश्रृङ्खला से दूर रहना चाहता है उसी प्रकार स्वर्णश्रृङ्खला से भी दूर रहना चाहता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को बन्धन की अपेक्षा पुण्य और पाप को एक समान मानना आवश्यक है। सम्यग्दर्शन, पुण्यरूप आचरण का निषेध नहीं करता किन्तु उसे मोक्ष का साक्षात् कारण मानने का निषेध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव, अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है, परन्तु श्रद्धा में यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है और उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है।

संक्षेप में जीव द्रव्य की दो अवस्थाएं हैं—एक संसारी और दूसरी मुक्त। इनमें संसारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने से उपादेय है। संसार अवस्था का कारण आस्रव और बन्ध तत्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण संवर और निर्जरा है। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं—१ मिथ्यात्व २ अविरमण ३ कषाय और ४ योग। इन भावों का यथार्थरूप समझ कर उन्हें आत्मा से पृथक् करने का पुरुषार्थ सम्यग्दृष्टि जीव के ही होता है।

आस्रव का विरोधी तत्व संवर है अतः अध्यात्म ग्रन्थों में आस्रव के अनन्तर संवर की चर्चा आती है।[1] आस्रव का रुक जाना संवर है। जिन मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग रूप परिणामों से आस्रव होता है उनके विपरीत सम्यक्त्व, संयम, निष्कषाय वृत्ति और योग-निग्रह-रूप गुप्ति से संवर होता है। अध्यात्म में इस संवर का मूल कारण भेद-विज्ञान को बताया है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न है अतः उनसे भेद-विज्ञान प्राप्त करने मे महिमा नहीं है। महिमा तो उन रागादिक भाव कर्मों से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने में है जो तन्मयी भाव प्राप्त होकर एक दिख रहे हैं। मिथ्यादृष्टि जीव, इस ज्ञानधारा और मोहधारा को भिन्न-भिन्न नही समझ पाता, इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमें तत्काल राग-द्वेष करने लगता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव उन दोनों धाराओं के अन्तर को समझता है इसलिये वह किसी पदार्थ को देखकर उसका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी-द्वेषी नही होता। जहां यह जीव, रागादिक को अपने

१— आस्रव निरोधः संवरः। तत्वार्थ सूत्र—उमास्वामी

ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके सम्बन्ध से होने वाले राग-द्वेष से बच जाता है। राग-द्वेष से बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्ष को उखाड़ना है तो उसके पत्ते नोंचने से काम नहीं चलेगा किन्तु उसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। राग-द्वेष की जड़ है भेद-विज्ञान का अभाव। अतः भेद-विज्ञान के द्वारा उन्हें अपने स्वरूप से पृथक समझना, यही उनको नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। मोक्षाभिलाषी जीव को इस भेदविज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिये जब तक कि ज्ञान, ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता।

सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणित कर्म परमाणुओं की निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति समय हो रही है। पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नहीं होता। क्योंकि जितने कर्म परमाणुओं की निर्जरा होती है उतने ही कर्म परमाणु आस्रवपूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण, उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्म परमाणुओं का आस्रव और बन्ध नहीं होता। ऐसी निर्जरा सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है। सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्दृष्टि जीव का प्रत्येक कार्य निर्जरा का साधक हो जाता है। वास्तव में सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्य मरण को प्राप्त नहीं होता और अरतिभाव से मदिरा पान करने वाला पुरुष मद को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भोगोपभोग में प्रवृत्ति करता हुआ भी बन्ध को प्राप्त नहीं होता। सुवर्ण, कीचड़ में पड़ा रहने पर भी जंग को प्राप्त नहीं होता और लोहा थोड़ी सी सर्द पाकर जंग को प्राप्त हो जाता है, यह सुवर्ण और लोहा की अपनी अपनी विशेषता है।

यद्यपि आत्मा और पौद्गलिक कर्म दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं और दोनों में चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर है, फिर भी अनादि काल से इनका एक क्षेत्रावगाहरूप संयोग बन रहा है। जिस प्रकार चुम्बक में लोहा को खींचने की और लोहा में खींचे जाने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म रूप पुद्गल को खींचने की और कर्म रूप पुद्गल में खीचे जाने की योग्यता है। अपनी अपनी योग्यता के कारण दोनों का एक क्षेत्रावगाह रूप बन्ध हो रहा है। इस बन्ध का प्रमुख कारण स्नेहभाव-रागभाव है। जिस प्रकार धूलि-बहुल स्थान में व्यायाम करने वाले पुरुष के शरीर के साथ जो धूलि का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण शरीर में लगा हुआ स्नेह-तैल है उसी प्रकार कार्मणवर्गणा से भरे हुए इस संसार में योग रूप व्यायाम को करनेवाले जीव के साथ जो कर्मों का सम्बन्ध होता है उसमें प्रमुख कारण उसकी आत्मा में विद्यमान स्नेह, रागभाव ही है। सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिये वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है। परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता इसलिये करोड़ों वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु उसका वह धर्माचरण भोगोपभोग की प्राप्ति के उद्देश्य से होता है, कर्मक्षय के लिये नहीं।[1]

समस्त कर्मों से रहित आत्मा की जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते है। मोक्ष शब्द ही इसकी पूर्व होने वाली बन्ध अवस्था का प्रत्यय कराता है। जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ पुरुष बन्ध के कारणों को जानता है तथा बन्ध के भेद और उनकी तीव्र मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। बन्धन से मुक्त होने के लिये तो छेनी और हथौड़ा लेकर उसके छेदने का पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार अनादि काल से कर्मबन्धन में पड़ा हुआ यह जीव कर्मबन्धन के कारणों

१— सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि।
धम्मंभोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं॥ —समयसार, गाथा-२७५

को जानता है तथा उसके भेद और तीव्र मन्द या मध्यम अवस्था की श्रद्धा भी करता है पर इतने मात्र से वह कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। उसके लिये तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्चारित्ररूप पुरुषार्थ करना पड़ता है। इस पुरुषार्थ को स्वीकृत किये बिना कर्म-बन्धन से मुक्त होना दुर्भर है। हे प्राणी! मात्र ज्ञान और श्रद्धान को लिये हुए तेरा सागरों पर्यन्त का दीर्घकाल यों ही निकल जाता है परंतु कर्मबन्धन से मुक्त नही हो पाता, परन्तु उस श्रद्धान और ज्ञान के साथ जहां सम्यक् चारित्र रूप पुरुषार्थ को अंगीकृत करता है वहां तेरा काम बनने में विलम्ब नहीं लगता। यहां तक कि अन्तर्मुहूर्त में भी काम बन जाता है। प्रज्ञा-भेदविज्ञान के द्वारा कर्म और आत्मा को अलग अलग समझकर आत्मा को ग्रहण करना चाहिये और कर्म को छेदना चाहिये।

इस प्रकार अध्यात्म, जीवा-जीवादि पदार्थों की व्याख्या अपने ढंग से करता है।

सम्यग्ज्ञान की व्याख्या में अध्यात्म, अनेक शास्त्रों के ज्ञान को महत्व नहीं देता। उसका प्रमुख लक्ष्य पर-पदार्थ से भिन्न और स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न आत्म-तत्व के ज्ञान पर निर्भर करता है। इसके होने पर अष्टप्रवचन-मातृ का जघन्य श्रुत लेकर भी यह जीव बारहवें गुणस्थान तक पहुंच जाता है, और अन्तर्मुहूर्त के भीतर नियम से केवलज्ञानी बन जाता है। परन्तु आत्मज्ञान के बिना ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्वों का पाठी होकर भी अनन्त काल तक संसार में भटकता रहता है। अन्य ज्ञानों की बात जाने दो, अध्यात्म तो केवल-ज्ञान के विषय में भी यह चर्चा प्रस्तुत करता है कि केवल-ज्ञानी निश्चय से आत्मा को जानता है और व्यवहार से लोकालोक को।[1] यह ठीक है कि केवल-ज्ञानी की आत्मज्ञान में ही सर्वज्ञता निहित है परन्तु यह भी निश्चित है कि केवल-ज्ञानी को अन्य पदार्थों को जानने की इच्छारूप कोई विकल्प नहीं होता।

अध्यात्म, यथाख्यातचारित्र को ही मोक्ष का साक्षात् कारण मानता है क्योंकि उसके होने पर ही मोक्ष होता है। महाव्रत और समिति के विकल्प रूप जो सामायिक तथा छेदोपस्थापना आदि चारित्र हैं वे पहले ही निर्वृत्त हो जाते हैं। औपशमिक यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साक्षात्-साधक नहीं है। उसे धारण करनेवाला उपशान्त मोह गुणस्थान वर्ती जीव नियम से अपनी भूमिका से पतित होकर नीचे आता है, परन्तु क्षय से होनेवाला यथाख्यात चारित्र मोक्ष का साधक नियम से है। उसके होने पर यह जीव उसी भव से मोक्ष को प्राप्त करता है। स्वरूप में स्थिरता यथाख्यात चारित्र से ही होती है।

इस प्रकार अध्यात्म की देशना में निश्चय-रत्नत्रय अथवा अभेदरत्नत्रय ही मोक्ष का साक्षात् मार्ग है। व्यवहार-रत्नत्रय अथवा भेदरूप-रत्नत्रय, निश्चय का साधक होने के कारण उपचार से मोक्ष मार्ग माना जाता है।

महावीरस्वामी की इस अध्यात्मदेशना को सर्वप्रथम कुन्दकुन्दस्वामी ने अपने ग्रन्थों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका समयसार तो अध्यात्म का ग्रन्थ माना ही जाता है पर प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार तथा अष्ट पाहुड़ आदि ग्रन्थों में भी यथाप्रसङ्ग अध्यात्म का अच्छा समावेश हुआ है। कुन्दकुन्दस्वामी की विशेषता यह रही है कि वे अध्यात्म के निश्चयनय सम्बंधी पक्ष को प्रस्तुत करते हुए आगम के व्यवहारपक्ष को भी प्रकट करते चलते हैं। कुन्दकुन्द के बाद हम इस अध्यात्म-देशना को पूज्यपाद के समाधितन्त्र, इष्टोपदेश में पुष्कलता से पाते हैं। योगेन्द्र देव का परमात्म प्रकाश और योगसार भी इस विषय के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। प्रकीर्णक स्तम्भ के रूप में आचार्य पद्मनन्दी तथा पण्डित प्रवर आशाधरजी ने भी इस धारा को समुचित प्रश्रय दिया है। अमृतचन्द्र सूरि ने कुन्दकुन्दस्वामी के अध्यात्म रूप उपवन की सुरभि से संसार को सुरभित किया है। यशस्तिलक चम्पू तथा नीति वाक्यामृत के कर्ता सोमदेवाचार्य की 'अध्यात्मामृ-तनरङ्गिणी' भी इस विषय का एक उत्तम ग्रन्थ है।

❋

१-- जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणयेण केवली भगवम्।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि नियमेण अप्पाणं ॥ —नियमसार, गाथा–१५८

४

पूज्य वर्णी जी के प्रशंसक—श्री मुकुन्द शास्त्री 'खिस्ते'

लें० श्री ग्रमृतलालजी शास्त्री, वाराणसी ।

प्रशममूर्ति पूज्य पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य ग्रनेक विशेषताग्रों के धनी थे । यही कारण है कि समस्त जैन विद्वानों की भांति शताधिक ब्राह्मण विद्वान् भी उनके प्रशंसक रहे, जिनमें श्रद्धेय कवि जी पं० मुकुन्द जी शास्त्री 'खिस्ते' साहित्याचार्य ग्रग्रगण्य थे । ग्रापका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रारम्भिक जीवन· मार्गशीर्ष कृष्णा तृतीया वि० सं० १९५१ में ग्रापका जन्म काशी में श्री पं० भैरवनाथ जी खिस्ते एवं श्रीमती शकुनादेवी के यहाँ हुग्रा था । इनका गोत्र काश्यप, कुलदेवता रेणुका ग्रौर धर्म था वैष्णव । जब ग्राप केवल दो वर्ष के ही हो पाये थे कि पिता जी का निधन हो गया । बेचारी विधवा माँ ने ग्रापका ग्रौर ग्रापके बड़े भाई नारायण शास्त्री का, जो सात वर्ष के हो चुके थे, पालन-पोषण किया ग्रौर प्रारम्भिक शिक्षा भी दिलायी ।

बाबा का संरक्षण एवं शिक्षण—वैयाकरणकेसरी श्री पं० रामचन्द्र शास्त्री काले, जो काशीवास के लिए महाराष्ट्र से ग्राये हुए थे, परमवृद्ध होने से स्थानीय विद्वत्समाज में 'बाबा'—नाम से सम्बोधित किये जाते थे। एक दिन ग्राप जिस समय गङ्गातट पर गये, उसी समय कवि जी भी वहाँ जा पहुँचे । परिचय पूछने के पश्चात् बाबा ने कहा—ग्रब तुम ग्रपने को ग्रनाथ नहीं, सनाथ समझो, हम तुम्हारे बाबा हैं इत्यादि । फिर बाबा ने ग्रपने द्रव्य से ग्राप दोनों भाइयों का यज्ञोपवीत संस्कार करवाया ग्रौर स्वयं ही व्याकरण पढ़ाना प्रारम्भ किया । कुछ ही वर्षों में ग्रापने लघुकौमुदी से लेकर पातञ्जल महाभाष्य तक का ज्ञान करा दिया ।

न्याय-साहित्य का ग्रध्ययन बाबा ग्रनेक शास्त्रों के ग्रधिकारी विद्वान् थे, ग्रतः कविजी उन्हीं के पास ग्रन्य शास्त्र पढ़ना चाहते थे, पर उनका निधन हो जाने से ग्रन्य गुरुग्रों के पास जाना पड़ा । शास्त्रार्थ-महारथी श्री पं० रामशास्त्री भण्डारी के निकट ग्रापने नव्य एवं प्राचीन न्याय का ग्रध्ययन किया ग्रौर महामहोपाध्याय कविरत्न पं० रामचन्द्र शास्त्री से ग्राचार्य ग्रन्तिम खण्ड तक के साहित्य शास्त्र का । उन दिनों परीक्षा की ग्रपेक्षा शास्त्रार्थ का महत्त्व ग्रधिक था, फिर भी ग्रापने खण्डशः परीक्षा देकर 'साहित्याचार्य' उपाधि प्राप्त की । समय-समय पर शास्त्रार्थ एवं समस्यापूर्ति की सभाग्रों में भी भाग लेते रहे । ग्यारह सभाग्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर ग्यारह विजय-पदक भी ग्रापने सञ्चित किये थे । ग्राशु-कवि होने से स्थानीय विद्वत्समाज में ग्राप 'कवि जी' कहे जाते थे ।

यह एक संयोग की बात है कि ग्रापको तीनों गुरु एक ही नाम के प्राप्त हुए थे ।

ग्रध्यापन— प्रथमतः ग्रापने स्थानकवासी जैन साधुग्रों को, जो चातुर्मास के निमित्त से काशी में ठहरे हुए थे, न्याय-व्याकरण पढ़ाना प्रारम्भ किया । ग्रापके स्पष्ट उच्चारण, विशिष्ट ग्रध्यापन शैली एवं विद्वत्ता से वे

इतने प्रभावित हुए कि आग्रहपूर्वक आपको अपने साथ महाराष्ट्र लिवा ले गये। पूर्वजों की जन्मभूमि देखने की लालसा से आप महाराष्ट्र चले गये, पर प्राय: प्रतिदिन पैदल चलने तथा भोजन बनाने की कठिनाई से वहाँ अधिक नहीं रह सके, काशी लौट आये और आते ही श्री शङ्कर संस्कृत महाविद्यालय में प्रधानाध्यक के पद पर नियुक्त हो गये।

पूज्य वर्णी जी से भेंट— सन् १९१९ में स्याद्वाद महाविद्यालय को एक विद्वान् साहित्य-मर्मज्ञ की आवश्यकता थी। उन दिनों केवल विज्ञप्ति प्रकाशित करा देने से अच्छे अध्यापक नहीं मिलते थे। अतः पूज्य वर्णी जी अपने गुरु पं० अम्बादास जी के साथ स्थानीय प्रतिष्ठित विद्वानों से मिले। सभी ने कवि जी को बुलाने का सुझाव दिया। फलतः कवि जी के घर गये। पूज्य वर्णी जी के मधुर व्यवहार से आप बहुत प्रभावित हुए और इसीलिए उनके आग्रह को टाल नही सके।

स्याद्वाद महाविद्यालय में नियुक्ति—सन् १९१९ में कवि जी की स्याद्वाद महाविद्यालय में नियुक्ति हुई। उस समय स्याद्वाद महाविद्यालय में धर्मशास्त्र आदि विषयो के पृथक्-पृथक् अध्यापक रहे, पर सर्वाधिक प्रतिष्ठा थी पं० अम्बादास जी की। कुछ ही दिनों के पश्चात् वैसी ही प्रतिष्ठा कवि जी को प्राप्त हुई, जो अन्त तक बनी रही। प्रतिदिन नियत समय से पहले आना, बाद में जाना, जैन एवं जैनेतर साहित्य के छोटे-बड़े सभी ग्रन्थों को सुबोध शैली मे अक्षरशः पढ़ाना, ग्रन्थ-ग्रन्थियों को ऐसे ढग से सुलझाना कि अल्पज्ञ भी समझ जांय और सभी के साथ आत्मीय व्यवहार – इत्यादि विशेषताओं से सभी छात्र प्रभावित हो गये।

आकर्षक वैदुष्यपूर्ण अध्यापन की चर्चा सुनकर स्थानीय अन्य संस्थाओं के अधिकारियों ने आपको अधिक वेतन का प्रलोभन देकर अपने यहाँ आने का आग्रह किया, पर आपने स्याद्वाद नही छोड़ा। अन्यत्र न चले जांय— यह सोचकर स्याद्वाद ने ही आपका मासिक वेतन पैंतालीस रु० मासिक कर दिया। स्याद्वाद छोड़ते समय तक आपका यही वेतन रहा।

सन् १९३० में स्थानीय श्रीचन्द्र कालेज के वरिष्ठ अधिकारी आपके घर गये। उन्होंने बहुत आग्रह किया आप स्याद्वाद से श्री चन्द्र० में आ जाइये। यह आपके घर के निकट है और यहाँ वेतन भी अधिक मिलेगा। आपने इस आग्रह को स्वीकार नही किया। अन्ततो गत्वा आपने स्याद्वाद से बचे समय (अपराह्न) में श्रीचन्द्र० जाने का आग्रह स्वीकार कर लिया। सन् १९४० तक आपने दोनों संस्थाओंकी सेवा की। श्री चन्द्र० में तीन घंटा प्रतिदिन पढ़ाते थे। वेतन था पचास रु० मासिक।

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (क्वींस कालेज) में नियुक्ति—सन् १९४० में राज० सं० म० विद्यालय के प्रिन्सिपल डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने प्रस्तुत महाविद्यालय में आचार्य कक्षाओं के छात्रों को साहित्य पढ़ाने के लिए आपको आमंत्रित किया। अधिक वेतन, सञ्चित कोष (प्रोवीडेण्ट फण्ड), पेंसिन और अधिक अवकाश की सुविधाओं को देखकर आपने दोनों ही संस्थाओं से अवकाश लेकर वहाँ का कार्य प्रारम्भ कर दिया और एक वर्ष के उपरान्त स्थायी हो जाने पर दोनों संस्थाओं में त्यागपत्र दे दिया। स्याद्वाद के अधिकारियों एवं छात्रों के साथ आपका वात्सल्य जीवन के अन्त तक पूर्ववत् बना रहा।

स्वनामधन्य स्व० डॉ० सम्पूर्णानन्द जी के भगीरथ प्रयत्न से यह महाविद्यालय जब (सन् १९५७) वा० संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप मे परिणत हुआ, तब आप इसमें साहित्य विभाग के अध्यक्ष बना दिये गये। सन् १९६१ तक इसी पद पर रहे, बाद में रिटायर हो गये।

सम्मानित प्राध्यापक—विश्वविद्यालयीय विद्वत्परिषद् के प्रस्ताव के आधार पर आप प्रस्तुत वा० सं० विश्वविद्यालय के सम्मानित प्राध्यापक सन् १९६२ में हुए। इस निमित्त से आपको जीवन के अन्त तक प्रतिमास दो सौ रुपये प्राप्त होते रहे।

साहित्यिक कार्य आपने काव्यप्रकाश की अप्रकाशित भीमसेनी संस्कृतटीका का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया, जो मूल ग्रन्थ के साथ विद्याभवन चौखम्भा से प्रकाशित है। आप ही के द्वारा सम्पादित 'रत्नावली' पुस्तक कई

वर्षों तक यू. पी. बोर्ड के इण्टर के कोर्स में निर्धारित रही। जैन ग्रन्थ—यशस्तिलक चम्पू के दोनों भागों के सम्पादन में अथ से इति तक आपका भरपूर सहयोग पं० सुन्दरलाल जी को प्राप्त रहा। बीसियों अनुसन्धाताओंने अपने अनुसन्धेय ग्रन्थ आपसे आद्योपान्त पढ़े और मार्ग दर्शन भी प्राप्त किया। 'सारस्वती सुषमा' और 'भारत-श्री:' आदि स्थानीय संस्कृत पत्रिकाओं में आपकी समस्या-पूर्तियाँ एवं विशिष्ट लेख समय-समय पर मुद्रित होते रहे।

अभिनन्दन—सन् १९४० में आपके स्थानीय तथा बाहर के सहस्राधिक शिष्यों ने कृतज्ञतावश आपका अभिनन्दन गुरुपूर्णिमा के दिन किया था। अभिनन्दन पत्र के साथ एक थैली भी समर्पित की गयी थी। वि सं. २०१८ में स्थानीय नूतन गणेशोत्सव मण्डल द्वारा और वि. सं. २०२३ में भागीरथी ट्रस्ट आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, चुनार (उ. प्र.) द्वारा आपका अपूर्व अभिनन्दन किया गया था तथा अभिनन्दनपत्र भी समर्पित किया गया था।

अपूर्व प्रभाव--आपने पचास वर्षों तक स्थानीय तीनों संस्थाओं के अतिरिक्त अपने घर पर भी जिन छात्रों को पढ़ाया, वे सदा के लिए आपके हो गये। उन पर आपका अपूर्व प्रभाव रहा। किसी भी विद्वान् को गुरु न मान सकने वाले उच्छृङ्खल छात्र भी आपको गुरु मानते रहे और आदर भी करते रहे। कुछ शिष्य तो इतने भक्त रहे कि गुरुपूर्णिमा के दिन आपके चरणों का प्रक्षालन करके अपने मस्तक पर लगाते रहे, चन्दन चर्चते रहे, आरती उतारते रहे, माला चढ़ाते रहे और स्वयं की बनाई गुरु-स्तुति का सस्वर पाठ करते रहे, अथ च मिष्टान्न एवं फलों के साथ एकमास के पूरे वेतन को भी सभक्ति समर्पित करते रहे। अब यह प्रथा समाप्त हो रही है, इससे संभव है कतिपय पाठक इन पंक्तियों पर विश्वास न करें। करें या न करें, यह सर्वथा सत्य है। जैसा मैं देखता रहा वैसा ही लिखा है। जैन छात्रों की अपेक्षा जैनेतर छात्र अधिक गुरुभक्त होते हैं और प्राय: निश्छल भी।

उदार मनोवृत्ति—श्रद्धेय कविजी अपने परिवार के प्रति जितने उदार थे, उतने ही अपने सम्बन्धियों, मित्रों, विद्वानों एवं छात्रों के प्रति भी। बड़ी पुत्री की ससुराल से जब लक्ष्मी की छाया उठ गयी तब आपने अपनी पुत्री और दामाद को अपने पास रख लिया। इनके बच्चों का लालन-पालन किया, पढ़ाया-लिखाया, विवाह किया और फिर उन्हें जीविका भी दिलायी। कविजी ने अपने वृद्ध ससुर को बीसियों वर्षों तक अपने यहाँ रखा और तन मन धन से सेवा भी की। स्थानीय हनुमान घाट पर एक वयोवृद्ध ब्राह्मण विद्वान् अपने परिवार के साथ रहते थे, असहाय थे। कविजी ने बीसियों वर्षों तक इन्हें आर्थिक सहायता दी और बारी-बारी से उनके निधन होने पर अपनी ही ओर से दाह संस्कार से तेरहीं तक का सारा प्रबन्ध किया। निर्धन छात्रों को आप अपनी ओर से दाल-चावल, आटा और ईंधन के लिये रुपये भी समय-समय पर देते रहे।

गम्भीर आघात—आप ७९ वर्ष तक पूर्ण स्वस्थ रहे। इसका कारण था संयम। आप सदा एक ही बार भोजन करते रहे। सोते समय प्रतिदिन आध सेर दूध पीते रहे। जीवन में एक बार भी सिनेमा नहीं देखा। केवल तम्बाकू खाने का ही आपको व्यसन रहा। जीवन के अन्तिम ८० वें वर्ष के उत्तरार्ध में आपको कमजोरी का अनुभव हुआ। चिरन्तन गङ्गास्नान का नियम टूट गया और बाहर जाना-आना भी बन्द हो गया। चुपचाप घरमें बैठे या लेटे रहने लगे। गत दीपावली के अवकाश में आपके मझले दौहित्र—श्री दिनकर भट्ट बिलासपुर से, जहाँ वे डिग्री कॉलेज में पढ़ाते थे, पत्नी को लिवाने रीवां गये। वहाँ पहुँचते ही उनके पेट में असह्य दर्द उठा, डॉ. को बुलाया गया, उनकी सलाह से अस्पताल में भर्ती किया गया, दवा चालू हुई पर दर्द बढ़ता ही गया। प्रभात होते-होते प्राणान्त हो गया। विधवा पत्नी ने अपने पिताजी से, जो वहीं के कॉलेज में प्राध्यापक हैं, सती होने की अनुमति मांगी। वे कुछ समझाना ही चाहते थे कि इतने में उसका भी निधन हो गया। दोनों का दाह संस्कार एक ही चिता पर किया गया। इस घटना से समूचे रीवां में शोक छा गया। सहस्राधिक नर नारियों के नेत्रों से आँसू छलक उठे। यही समाचार जब कविजी के पास आया तो वे ऐसे रोये कि रोने को भी रोना आ जाय। रोते-रोते मूर्छित हो गये। दवा से

होश में तो आये, पर अवस्था चिन्तनीय होती गयी। अपने-आप उठना भी संभव नहीं रहा। खाना-पीना छूट गया और काया गलती ही गयी। बड़ी लड़की और पुत्र-वधू दिनरात सेवा में लगी रहीं। घर पर और कोई उपस्थित भी नहीं रहा। अन्त में ३ जनवरी सन १९७४ के सायंकाल ६।। बजे स्वर्गवास हो गया। अब नकलची परीक्षार्थियों के इस युग में ऐसे विद्वान का होना संभव नहीं।

आप अपने पीछे दो पुत्र—श्री पं. गजानन शास्त्री बी. ए., व्याकरणाचार्य, श्री चन्द्रशेखर शास्त्री एम. एस. सी. दौहित्र कमलाकर भट्टभट्ट एम. ए. साहित्याचार्य, पुत्र-वधू, ज्येष्ठ पुत्री एवं छोटे-छोटे दस पौत्र एवं दौहित्रों को छोड़ गये हैं। भौतिक सम्पत्ति के नाम पर कुछ भी नहीं छोड़ सके। उदारचेता होने से कुछ संचय नहीं कर पाये थे। विश्वविद्यालयीय संचित कोष से तीस हजार रु. मिले थे, उन्हें एक स्थानीय व्यापारी डकार गया। हाँ, पहले कुछ मास तक व्याज अवश्य देता रहा। पोष्टाफिस या बैंक में आपने कभी खाता नहीं खोला, न किसी का जीवन बीमा ही किया था।

मैंने आपके पास मध्यमा से आचार्य अन्तिम खण्ड तक के सभी साहित्यिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। जैन साहित्य के भी बीसियों ग्रन्थ आपके पास पढ़े थे। राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में पहले किसी जैन छात्र का नाम नहीं लिखा जा सकता था, पर श्रद्धेय कविजी ने डॉ. मङ्गलदेवजी से अनुमति लेकर अपने विभाग के रजिस्टर में मेरा नाम लिखा था। शास्त्री तथा आचार्य कक्षा के कोर्स का पूरा अध्ययन मैंने उक्त संस्था में ही उनके पास किया था। मेरे ऊपर आपकी सदैव कृपादृष्टि रही।

जब भी कभी प्रसङ्ग आता था आप वर्णीजी भी प्रशंसा किया करते थे। मृत्यु से पहले भी जब मैं उनके घर गया पूज्य वर्णीजी की प्रशंसा सुनने को मिली। जैन समाज में सम्प्रति जितने भी साहित्याचार्य हैं, प्रायः वे सभी आपके शिष्य या प्रशिष्य हैं। मनीषि-मूर्धन्य पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य भी आपके शिष्य हैं।

पूज्य वर्णीजी के प्रशंसक ऐसे सुचरित विद्वान् को कभी भुलाया नहीं जा सकेगा।

—अमृतलाल जैन

संसारमें जहाँ तक गम्भीर दृष्टिसे देखा गया शान्ति का अंश भी नहीं। मैं, तूं, कह कर जन्मका अन्त हो जाता है, परन्तु जिस शान्तिके अर्थ व्रत, अध्ययन, उपवास का परिश्रम उठाया जाता है उस मूल वस्तु पर लक्ष्य नहीं जाता। कह देना कोई कठिन वस्तु नहीं। द्रव्यश्रुतमात्र कार्यकारी नहीं. क्योंकि यह तो पराश्रित है। वही चेष्टा हमारे प्राणियोंको रहती है। भावश्रुत की ओर लक्ष्य नहीं। अतः जलमन्थनसे घृतकी इच्छा रखनेवालेके सदृश हमारा प्रयास विफल होता है। अतः कल्याण पथ पर चलने वाले प्राणियोंको शुद्ध वासना बनाना ही हितकर है।

—अध्यात्म-पत्रावली—३८

५

'जैन-दर्शन में लोक-मंगल की भावना'

श्री मिश्रीलाल जैन एडवोकेट गुना (म. प्र.)

तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि आचार्यों द्वारा श्रुत-परम्परा के आधार पर संकलित की गई है, अतः दिव्य-ध्वनि में लोकमंगल की भावना ही जैनदर्शन में लोकमंगल की भावना के रूप में मूर्त हुई है। भगवान महावीर लोक-कल्याण के आदर्श थे; उनका जीवन लोककल्याण के लिये समर्पित जीवन था। स्व-कल्याण में लोक-कल्याण समाहित है। शुद्धात्मतत्त्व के अन्वेषण में भौतिक सुखों का परित्याग करने वाले व्यक्ति के हृदय में वात्सल्य, करुणा, स्नेह और भ्रातृत्व के भाव स्वतः अंकुरित और पल्लवित हो जाते हैं। ये भाव मुक्तिपन्थ और लोक-कल्याण के प्रारम्भिक चरण हैं।

जैन-दर्शन का आधार निवृत्तिमूलक है किन्तु स्व-कल्याण में लोक-कल्याण का निषेध कहाँ? तीर्थंकर का सम्पूर्ण जीवन तथा दिव्यध्वनि में मुखरित सन्देश इस सत्य के उज्ज्वल प्रमाण हैं। तीर्थंकर की दिव्यध्वनि का खिरना ही लोकमंगल के हेतु है। जैनाचार्य समन्तभद्र ने इस सत्य को सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है—

अनात्मार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते॥

शिल्पी के करस्पर्श से बजता हुआ मुरज क्या कुछ अपेक्षा करता है? उसी प्रकार तीर्थङ्कर प्राणिमात्र के हित का उपदेश देते हैं।

महावीरकालीन भारत में यज्ञीय हिंसा को धर्म का आवरण प्रदान कर दिया गया था। —'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।' स्वयं ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये पशुओं का निर्माण किया, अतः वेदविहित हिंसा, हिंसा नहीं होती। — 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।' जब हिंसा युगधर्म थी, तब भगवान महावीर ने 'अप्पा सो परमप्पा' का निर्घोष किया।

'अहिंसा परमो धर्मः' इस एक वाक्य में ही विश्वधर्म का सार तथा अहिंसा का चरम आदर्श समाहित है। अहिंसा में विश्वशांति का कल्याणकारी भविष्य निहित है। हिंसा शत्रुता की वर्द्धिका है।

सयंऽतिवायए पाणे अदुवन्नेहिं घायए।
हणंतं वाऽणुजाणइ वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

जैनदर्शन के अनुसार निवृत्ति, मुक्तिदायी तथा जीव का अन्तिम लक्ष्य है। प्रवृत्ति भी वही मान्य है जो सदाचरण द्वारा समाज को नियन्त्रित करे। अनेकान्त-स्याद्वाद निवृत्ति और प्रवृत्ति के समन्वय का सूचक है। यह वैचारिक अहिंसा के स्थापन में सहायक है।

धर्म वही है, जो लोकमंगल में सहायक हो। आचार्यों ने जगत् को पवित्र करने वाले उसके उद्धारक कल्पवृक्ष के समान दयामूलक धर्म को नमस्कार किया है।—

पवित्रीक्रियते येन येनैवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पाङ्घ्रिपाय वै॥

जैन-धर्म का परम उद्देश्य सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा से लोकमंगल का एवं निवृत्ति की अपेक्षा से मुक्ति का शाश्वत मार्ग प्रशस्त करना है। तीर्थंकर भगवान् महावीर की वात्सल्यपूरित वाणी में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य चार सद्भावनायें मुखरित हुई हैं।

समस्त प्राणियों के कल्याण भी कामना मैत्रीभावना है। यह मैत्रीभावना ही मनुष्य की आचारसंहिता है। शान्तिपाठ में पूजा के उपरान्त व्यक्ति और समष्टि के मंगल की कामना की जाती है।

लोक-कल्याण की भावना जैसी जैन-धर्म और जैन-साहित्य में सर्वत्र बिखरी हुई है, वैसी उदात्त भावना अन्यत्र दुर्लभ है। अपरिग्रह के सिद्धान्त में लोक-कल्याण का सन्देश है। भगवान् महावीर का उपदेश है कि मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने संग्रह के उपयोग का अधिकारी केवल अपने को न समझे, उसका उचित व्यक्तियों में उचित वितरण करे।

असंविभागी न हु तस्य मोक्खो।

देवाधिदेव ने जाति, धर्म, वर्ण, लिंग आदि के भेद का तिरस्कार करते हुये कहा है कि कर्म ही ब्राह्मणत्व या शूद्रत्व का निर्णायक है। उन्होने उपेक्षित एवं तिरस्कृत शूद्रवर्ग को धर्माचरण का अधिकार दिया।

महाकवि भूधर ने दिव्य-ध्वनि की प्रशस्ति में कहा है—

वीर हिमाचल तें निकसी,
गुरु गौतम के मुखकुण्ड ढरी है।
मोह-महाचल भेद चली,
जग की जड़ता-तप दूर करी है॥
ज्ञान-पयोनिधि मांहि रली,
बहु-भंग-तरंगनि सों उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति
मैं अंजुरी निजशीश धरी है॥
या जग-मंदिर में अनिवार
अज्ञान अंधेर छयो अतिभारी।
श्री जिनकी धुनि दीपशिखा सम,
जो नहिं होत प्रकाशनहारी॥
तो किस भांति पदारथ पांति,
कहां लहते रहते अविचारी।
या विधि संत कहे धनि है,
धनि है जिनवैन बड़े उपकारी॥

हे जिनवाणी! तू पवित्र गंगानदी की भाँति वीर-हिमाचल से निकलकर गौतमरूपी कुण्ड में गिरी है। वहाँ से चलकर तू मोहरूपी पर्वत का भेदन कर संसार के अविवेकरूपी संताप को दूर करती हुई ज्ञानरूपी सागर में जाकर गिरी है, जिसमें सप्तभंगरूपी लहरें उछला करती हैं। ऐसी पवित्र जिनवाणी को मैं हाथ जोड़ कर नमस्कार करता हूँ।

संसाररूपी मन्दिर में निविड़ अन्धकार व्याप्त है। दीपशिखा की भाँति भगवान् की दिव्यध्वनि यदि प्रकाश न करती, तो संसार के पदार्थ कैसे ज्ञात होते? सज्जन पुरुष इसीलिये उपकारी जिनवचनों का साधुवाद करते हैं।

विपरीत विचारधारा तथा अन्य धर्मों के प्रति समन्वय की भावना लोकमंगल तथा पारस्परिक सौमनस्य के लिये आवश्यक है। भगवान् महावीर का धर्म वीतरागता की नींव पर खड़ा है। वीतराग किसी धर्म, सम्प्रदाय, विचार-धारा या व्यक्ति के प्रति राग-द्वेष नहीं करता। वह सत्य का अन्वेषण तथा सत्य का ही आश्रयण करता है। जैन-दर्शन का स्याद्वाद इसी समन्वय की भावना को पल्लवित करता है। दर्शन के अतिरिक्त आचरण में भी माध्यस्थ्य तथा तटस्थता का उपदेश इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति का द्योतक है। भगवान् महावीर ने दुराग्रह, पक्षपात या अन्धश्रद्धा को प्रोत्साहित नहीं किया। भगवान् महावीर के अनुयायियों में इसी निष्पक्ष समन्वय भावना के दर्शन होते हैं।

इतिहास और संस्कृति के प्रकाण्ड विद्वान वासुदेवशरण अग्रवाल हेमचन्द्र जी के सन्दर्भ में लिखते है कि 'विचार के क्षेत्र में हेमचन्द्र आने वाले युग के ऋषि थे। हेमचन्द्र की समन्वय बुद्धि में हिन्दी के आठ सौ वर्षों का रहस्य ढूँढ़ा जा सकता है। प्रसिद्ध है महाराज कुमारपाल के साथ आचार्य हेमचन्द्र भी सोमनाथ के मन्दिर में गये और उनके मुख से यह अमर उद्गार निकला—

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

संसाररूपी बीज के अंकुर को हरा करने के लिये मेघरूप रागद्वेष आदि विकार जिसके मिट चुके हैं। मेरा प्रणाम उसके लिये हैं, वह फिर ब्रह्मा, विष्णु, शिव या तीर्थंकर कोई भी क्यों न हो?

इस प्रकार की उदात्त वाणी धन्य है, जिन हृदयों में

इस प्रकार की उदारता प्रकट हो, वे धन्य हैं। इस प्रकार की भावना राष्ट्र के लिये अमृत बरसाती है।'

विक्रम की आठवीं शती के दिग्गज विद्वान हरिभद्र-सूरि भी स्पष्ट और निश्चित शब्दों में अपने निष्पक्षपात और ऋजुभाव को व्यक्त करते हैं।—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

महावीर की वाणी के प्रति मेरा पक्षपात नही है और न कपिल आदि के प्रति मेरा वैरभाव है। मेरा तो यही मत है कि जिसका वचन युक्तिसंगत हो, वह ग्राह्य है।

आपत्तिग्रस्त मनुष्य की सेवा करना आवश्यक धर्म है। भगवान् महावीर ने कहा कि समर्थ होकर भी संकटापन्न व्यक्ति की सेवा से विमुख होना महामोहनीय कर्म है। जो मनुष्य अपने इस प्रकार के कर्त्तव्य से उदासीन हो जाता है, वह धर्म से सर्वथा पतित हो जाता है। उक्त पाप के कारण वह सत्तर कोड़ा-कोड़ि सागर—चिरकाल तक जन्म-मृत्यु के चक्र में उलझा रहेगा। सत्य के प्रति अभिमुख न हो सकेगा। यदि कोई साधु भी अपने समीपस्थ रोगग्रस्त साधु की सेवा छोड़कर तपश्चरण में लग जाता है, तो वह संघ में रहने योग्य नही है। सेवा ही धर्म है।—

असंगि होय परिजणस्स संगिण्हयाए अब्भुट्ठेयव्वम भवई।

जो अनाश्रित और निराधार है, तुम उन्हें आश्रय दो।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी करुणा का उपदेश देते हुये कहा—जो प्यासा है, भूखा है, उसे दुखित देखकर दुखित होना तथा उसके प्रतिकार के उपाय करना अनुकम्पा है।

सेवा का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये भगवान् महावीर ने कहा—

'वेयावच्चेण तित्थयर-नाम-गोत-कम्मं निबंधइ।

सेवा करने से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है।

आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में भगवान् का शासन सर्व संकटों का उन्मूलक है। वही अक्षुण्य तथा सर्वोदय तीर्थ है।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तरम्।
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

प्रकोष्ठ की देहरी पर स्थित प्रदीप जिस प्रकार कक्ष के अभ्यन्तर और बाह्य दोनों को द्युतिमान् करता है, उसी प्रकार प्रभु की वाणी में ध्वनित सन्देश बाह्य और आभ्यन्तर, शरीर और आत्मा, व्यक्ति और विश्व दोनों को आलोकित करते है।

❊

"जितने अंश में रागादिक न्यून हों वही धर्म है। बाह्यव्यापारसे जितनी उपरमता हो वही रागादिक की कृशता में हेतु है। जितना बाह्य परिग्रह घटे उतनी ही आत्मा म मूर्च्छा के अभाव से शान्ति आती है और जो शान्ति है वही मोक्षमार्ग की अनुभावक है, अतः जहाँ तक बने, यही पुरुषार्थ कीजिये। सर्व से आभ्यन्तर निवृत्ति रखिये। क्योंकि तत्त्व निर्वृत्तिरूप है। "यथा निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्।" स्वाध्याय को आचार्य महाराज ने अन्तरंग तप में गिना है। और श्री कुन्दकुन्दस्वामी ने आगमज्ञान ही त्यागियों के लिये मुख्य बताया है। और आगमज्ञान का मुख्य फल भेदज्ञान है।"

—अध्यात्म-पत्रावली—६४